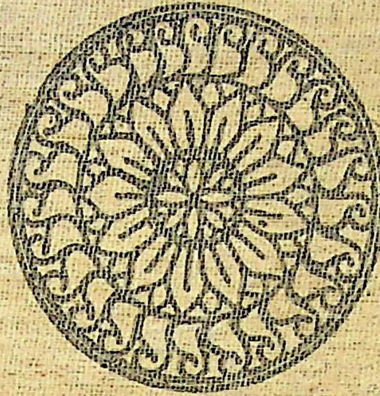
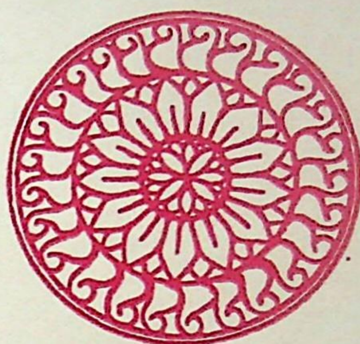


॥पं. रामशरणशास्त्रिस्मृतिविशेषाङ्कः॥

DR. RAM SHARAN SHASTRI
COMMEMORATION VOLUME



॥पं. रामशरणशास्त्रिस्मृतिविशेषाङ्कः॥

DR. RAM SHARAN SHASTRI COMMEMORATION VOLUME

I S S N 0016–4461

Journal of
Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha
(formerly : *Journal of Ganganatha Jha Research Institute*)

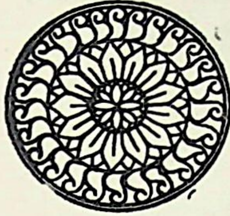
A Journal devoted to Oriental Studies in general
and Indological studies in particular

Vols. XXXVIII–XXXIX (1982–83)

पं. रामशरणशास्त्रिस्मृतिविशेषाङ्कः

Published by
G. C. Tripathi, M.A., PH.D., DR. PHIL.
Principal
Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad–2
India.

Vols. XXXVIII & XXXIX Jan. 1982—Dec. 1983



JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA KENDRIYA SANSKRITA VIDYAPEETHA

Editors

G. C. Tripathi

Maya Malaviya



Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha

Chandrashekhar Azad Park

ALLAHABAD-2

1985

The Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha is a constituent Institute of *Rashtriya Sanskrit Sansthan,* Delhi, which is run under the auspices of the Ministry of Education and Culture, Govt. of India.

गङ्गानाथप्रसृमरयशश्चन्द्रिकाधौतहर्म्यं
कूजद्विद्वद्विहगनिवहानेकपीताभिरामम् ।
काले काले कुसुमितनवान्वेषणाऽऽमोदिताशं
विद्यापीठं जयतु जगतां भूयसे मङ्गलाय ।।

—खिस्ते-उपाह्वस्य बटुकनाथशास्त्रिण:

Annual Subscription

Inland : Rs. 40/-, Foreign : $ 10/-

(including postage and registration charges)

Price of this double volume : *Rs.* 80/- *or* $ 20/-

Printed at The Indian Press (Pvt.) Ltd., Allahabad.

JOURNAL
OF THE
GANGANATHA JHA
KENDRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA

Vols. XXXVIII & XXXIX Jan. 1982—Dec. 1983

CONTENTS

ENGLISH

EDITORIAL NOTE

The present volume of the *Journal of G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha* is respectfully dedicated to the sacred memory of a rare savant of Indic learning who selflessly and untiringly worked for promotion and propagation of Sanskrit under very difficult personal circumstances, yet who abhorred publicity, abstained from self-praise and who was humility incarnate.

Pt. Ramsharan Shastri has carved out a special place for himself in the realm of modern Sanskrit literature by composing the famous prose romance *Kaumudīkathākallolinī* which simultaneously seeks to illustrate the *sūtras* of Pāṇini in the order of *Siddhāntakaumudī*. It is a masterpiece of modern Sanskrit prose writing. His other work titled *Brahmasūtra-bhāṣya-pañcaka-samīkṣaṇam* is a fine example of how deep and subtle metaphysical thoughts can be expressed and communicated with facility by means of extremely simple and chaste Sanskrit.

Shastriji has been deeply associated with our Vidyapeetha. This association became deeper when after his retirement he started living at Allahabad.

By honouring the memory of Pt. Ramsharan Shastri we are honouring the type of an erudite traditional scholar who advantageously imbibes in himself the modern and critical outlook towards his heritage and who works mutely believing in the maxim of *Karmaṇyevādhikāras te* shunning all publicity and mindless to the public opinion about himself.



डॉ० रामशरण त्रिपाठी शास्त्री
(१९०८—४-१२-१९७७)

डॉ० रामशरण शास्त्री : एक परिचय

संस्कृत के जिन अप्रतिम विद्वान्, व्याकरण, न्याय एवं वेदान्त के सूक्ष्मतत्त्वों के मर्मज्ञ तथा यशस्वी गद्यकार की सप्तम पुण्यतिथि (५ दिसम्बर, १९८४) पर यह सारस्वत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए विद्यापीठ अपने को कृतकृत्य अनुभव कर रहा है, विनय विनम्रता एवं आर्जव की प्रतिमूर्ति वे डॉ० रामशरण शास्त्री एक ऐसे मनस्वी संस्कृत विद्वान् थे जिन्होंने अत्यन्त विषम पारिवारिक परिस्थितियों के बीच, अनेक व्यक्तिगत कठिनाइयों और समस्याओं को झेलते हुए भी माँ शारदा की सेवा के लिये समय निकाला और मूक तथा शान्त भाव से, अर्थ और यश की कामना से बहुत दूर रह कर, निष्काम भाव से संस्कृत की सेवा की।

डा० रामशरण त्रिपाठी का जन्म उत्तर प्रदेश में अवस्थित बाँदा जिले के यमुना-कूलवर्ती सुरम्य ग्राम 'मरका' में ३० दिसम्बर, १९०८ को हुआ था। इनके पूर्वज मूलतः कान्यकुब्ज (कन्नौज) के निवासी थे जो अपने आश्रयदाता परमारवंशीय राजाओं और सामन्तों के साथ धीरे-धीरे भ्रमण करते हुए फतेहपुर जनपद में आकर बस गये थे। परमारवंशीय क्षत्रिय अपने इन कुलगुरुओं का विशेष सम्मान किया करते थे। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व जब परमारों के एक उत्साही और पराक्रमी सेनानायक चैनसिंह ('चाँगू बाबा') ने फतेहपुर में यमुना को पार कर उसके दक्षिण में अवस्थित भूमि पर अधिकार करके, वहाँ ठाकुरों के बारह गाँवों को बसाया तो अपने 'उपाध्याय' (पुरोहित) एवं उसके पुत्रों को इन समस्त गाँवों का आध्यात्मिक गुरु एवं पुरोधा नियुक्त किया। इन बारह गाँवों का उपाध्यायत्व श्री रामशरण शास्त्री के समय तक अविच्छिन्न भाव से चला आया जहाँ बसने वाले 'पवाँर' ठाकुर आज भी इस वंश को अतुल सम्मान प्रदान करते हैं।

श्री रामशरण त्रिपाठी के पितामह ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अपनी गणना से भूमिगत द्रव्य का पता लगाने में उन्हें विशेष दक्षता प्राप्त थी। मध्यप्रदेश के एक रजवाड़े में अपने गणित द्वारा महल की दीवार में गड़े किसी स्वल्प धन का सही पता बता कर उन्होंने वहाँ के पण्डितों को चकित कर दिया था। किंवदन्ती है कि उससे ईर्ष्याग्रस्त होकर पण्डितों ने आभिचारिक मारण प्रयोग द्वारा उनका वहीं वध करवा दिया और वे अपने एकमात्र द्वादशवर्षीय अल्पवयस्क पुत्र श्री गिरिधारी प्रसाद त्रिपाठी को अकेला छोड़ कर विदेश में ही दिवंगत हो गये।

अल्पवयस् में पिता का देहान्त हो जाने के कारण श्री गिरधारी प्रसाद त्रिपाठी को अपना अध्ययन बीच में ही छोड़ कर परिवार के भरण-पोषण की ओर

ध्यान केन्द्रित करना पड़ा किन्तु इसकी कमी उन्होंने अपने पाँचों पुत्रों के लिये उत्तम शिक्षा की व्यवस्था करके की। उनके द्वितीय पुत्र ने संस्कृत-व्याकरण, साहित्य एवं वेदान्त के अध्ययन में विशेष सफलता प्राप्त की और वे १९१९ ई० में रायपुर (म० प्र०) मण्डल में अवस्थित प्रसिद्ध ऐतिहासिक तीर्थ-स्थान राजिम (राजीवलोचन) की संस्कृत पाठशाला में प्राचार्य नियुक्त हो गये।

श्री रामशरण त्रिपाठी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा मरका से १४ मील की दूरी पर अवस्थित बबेरू नामक तहसील-मुख्यालय के विद्यालय में प्राप्त की और वहाँ से हिन्दी-मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। इस समय तक आपके मन में यह विश्वास बद्धमूल हो गया था कि शैक्षणिक दृष्टि से प्रगति करने के लिये पारम्परिक संस्कृत ज्ञान के साथ-साथ अंग्रेजी का ज्ञान भी परमावश्यक है। अतः एक दिन रात्रि में घर में बिना किसी को बताए हुए वे अपने एक मित्र के साथ नाव लेकर भरी यमुना को पार करके असोथर आये और वहाँ से कानपुर पहुँचे क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि कानपुर में कुछ ऐसे विद्यालय हैं जिनमें पारम्परिक और आधुनिक, दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती है। कानपुर रेलवे स्टेशन पर बैठे हुए जब दोनों सोच ही रहे थे कि कहाँ चला जाए तो एक धूर्त्त ने दोनों को देखा और उनसे अन्तरंगता विकसित करके उसने जान लिया कि ये दोनों कौन हैं और किस उद्देश्य से घर से निकले हैं। उसने बताया कि मैं स्वयं मध्यप्रदेश में एक विद्यालय का संचालक हूँ जिसमें ऐसी शिक्षा की व्यवस्था है। उसने दोनों को प्रवेश का आश्वासन दिया और उनको साथ लेकर दमोह जिले के किसी गाँव में आया। यहाँ आकर दोनों को पता चला कि उस व्यक्ति की एक नाटक मण्डली है जिसमें भाग लेने के लिये वह इसी प्रकार कम वयस् के बालकों को पकड़ लाया करता है। शारीरिक यातनाओं के बल पर इन दोनों से भी बलात् कई मास तक रामलीला मण्डली में विभिन्न पात्रों की भूमिकाएँ करवाई गईं। एक दिन रात्रि में उस धूर्त की अनुपस्थिति में श्री त्रिपाठी उस कारावास से भाग निकले और ३५ मील का जंगली रास्ता पैदल पार करके समीपस्थ रेलवे स्टेशन पहुँचे। वहाँ से अनेक कष्ट और असुविधाएँ सहते हुए ये दो-तीन दिन के उपरान्त भूखे-प्यासे अपने बड़े भाई के पास राजिम पहुँचे।

राजिम में रह कर त्रिपाठी जी ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य की प्रथम दीक्षा प्राप्त की। थोड़े ही समय में संपूर्ण लघुकौमुदी और तद्गत शास्त्रार्थ उन्हें कण्ठस्थ हो गया और वे अध्यापन कार्य में अपने बड़े भाई की सहायता करने लगे। यहाँ रहते हुए उन्होंने रघुवंश, किरातार्जुनीय, भट्टिकाव्य एवं दशकुमार-चरित का अध्ययन एवं अध्यापन किया और ज्येष्ठ भ्राता से ही ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर 'मुहूर्तचिन्तामणि', 'शीघ्रप्रबोध', 'बृहज्जातक' तथा 'जातकालंकार' आदि ग्रन्थ पढ़े। अपने कौमुदीकथाकल्लोलिनी नामक गद्यकाव्य के उपसंहारात्मक

श्लोक में उन्होंने अग्रज श्री मुक्तादत्त त्रिपाठी को अपने 'आद्यगुरु' के रूप में श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम किया है—

(नन्नमेह) भ्रात्रे ममाद्यगुरवे श्री मुक्तादत्तविदुषे स्तात् ।

उन दिनों जौनपुर मण्डल के उकनी ग्राम में अवस्थित श्री भोलानाथ संस्कृत महाविद्यालय की बड़ी ख्याति थी। इससे निकले छात्र व्याकरण के परिनिष्ठित विद्वान् एवं शास्त्रार्थ प्रक्रिया में अत्यन्त पटु माने जाते थे। निर्वाणवेद विद्यालय, प्रयाग एवं बाद में गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य पं० कमला कान्त मिश्र (जो ट्यूबिंगन वि० वि०, प० जर्मनी के प्रो० पाउल थीमे के भी गुरु रहे) ने भी यहीं अध्ययन किया था। उस समय इस विद्यालय में पं० जयदेव शर्मा त्रिपाठी अध्यापन किया करते थे जिन्होंने काशी में पं० तात्या शास्त्री से व्याकरण का पाण्डित्य अर्जित किया था और जिनका गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के तत्कालीन प्राचार्य प्रो० वेनिस विशेष सम्मान करते थे। विद्यालय की सर्वतोमुखी ख्याति ने त्रिपाठी जी को भी आकृष्ट किया और कौमुदी, मनोरमा, शेखर तथा भाष्य के विशिष्ट अध्ययन के लिये वे राजिम छोड़ कर उकनी आ गये तथा पं० जयदेव त्रिपाठी के स्नेहपूर्ण संरक्षण में विद्याभ्यास करने लगे। सन् १९२४ से १९२९ तक लगभग पाँच वर्ष वे वहाँ रहे और व्याकरण के साथ-साथ न्याय एवं अद्वैत-वेदान्त का भी उन्होंने वहाँ दत्तचित्त होकर अध्ययन किया। १९२९ ई० में उन्होंने मध्यमा की परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की।

उकनी नागरिक सुविधाओं से रहित और संचार साधनों से विहीन एक छोटा सा पिछड़ा हुआ गाँव था और बहुत कुछ आज भी ऐसा ही है। आटे की चक्की भी उन दिनों गाँव से कई मील दूर बादशाहपुर नामक स्थान में थी। आवास एवं भोजन की जिन असुविधाओं को झेलते हुए तत्कालीन विद्यार्थी निष्ठापूर्वक विद्योपार्जन किया करते थे, वह आज के दुर्ललित संस्कृत छात्र के लिये कल्पनातीत है। हर दो-तीन मास में भोजनार्थ अन्न लाने के लिये बाँदा जिले में स्थित अपने गाँव तक पैदल आना, अनाज लेकर जाना, हर पखवारे सिर पर गेहूं की पोटली लादकर आटा पिसवाने बादशाहपुर जाना, प्रतिदिन दुपहर में पाठ के बाद चूल्हे पर दाल चढ़ा कर स्नान करने जाना, लौट कर दाल के उफान के कारण बुझे हुए उसकी गीली लकड़ियों के कारण पुनः कठिनाई से जलाना और विवर्द्धित क्षुधा के कारण जल्दी-जल्दी में चार-पाँच कच्ची-पक्की रोटी सेंक कर बुझे हुए चूल्हे के कारण अधपकी रह गई दाल से खाना, यह रोज का क्रम था। अपराह्ण में प्रातः पढ़ा हुआ पाठ दुहराना, समझना एवं आवश्यक होने पर लिखना तथा रात्रि में दुपहर की अवशिष्ट एक-दो रोटियाँ खाकर सो जाना, सामान्यतः यह दिनचर्या हुआ करती थी। अपने गुरु पं० जयदेवमणि त्रिपाठी एवं उनके पुत्र, ज्येष्ठ गुरुभ्राता. पं० रामशिरोमणि

त्रिपाठी के प्रति त्रिपाठी जी की आजीवन अगाध श्रद्धा रही। उनका एक चित्र सदैव उनके पास रहता था और उनका स्मरण और चर्चा होने पर वे भाव-विगलित हो जाया करते थे। अपने सर्वप्रथम प्रकाशित ग्रन्थ "सरल ज्योतिर्विज्ञान" को उन्होंने एक अपार श्रद्धा-पूरित उत्सर्ग पत्र के साथ अपने गुरुजी को समर्पित किया है। उत्सर्ग-पत्र के साथ गुरुजी का चित्र भी है जिसके नीचे निम्न श्लोक अंकित है—

उकनीग्रामवास्तव्याः कौमुदीकृत्कुलोद्भवाः।
श्रीजयदेवशर्माणो राजन्ते गुरवो मम।।

"सिद्धान्तादर्श" के मंगलाचरण श्लोक में उकनीवासी गुरुजी को— "नमस्कृत्योकनीसद्गून् गुरूनथ वृषाकपी" शब्दों से प्रणाम किया गया है। उकनी ग्राम को वे विद्या के क्षेत्र में काशी-तुल्य माना करते थे जैसा कि अन्यत्र (वेदान्तसार—भावबोधनी) विहित मंगलाचरण से स्पष्ट है—माधवोमाधवौ नत्वा काशीकल्पोकनीगुरून्।

उकनी में अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त त्रिपाठी जी ने उच्चतर अध्ययन के लिये काशी के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में प्रवेश लिया। किन्तु कुछ मास अध्ययन करने के उपरान्त ही आप एक सीलनदार और खटमलों से भरी कोठरी में रहने के कारण दुःसाध्य और दीर्घकालिक ज्वर से पीड़ित हो गये। इस पर आपके बड़े भाई आकर आपको गाँव ले गये, जहाँ धीरे-धीरे आपने स्वास्थ्य लाभ किया। घरवालों ने फिर उन्हें काशी वापिस नहीं जाने दिया। इस बीच चित्रकूट में अक्षय-वट पर अवस्थित "श्रीरामनाम संस्कृत विद्यालय" के व्यवस्थापक 'ब्रह्मचारी जी' को त्रिपाठी जी के गाँव में रहने का समाचार मिला। इस समय तक बाँदा जनपद में उनके अप्रतिम वैदुष्य और सौम्य स्वभाव की कीर्ति दूर तक फैल चुकी थी। ब्रह्मचारी जी अपने विद्यालय के लिये किसी व्याकरण के अध्यापक की खोज में थे। उन्होंने त्रिपाठी जी से संपर्क स्थापित करके उनसे चित्रकूट चले आने का आग्रह किया। त्रिपाठी जी ने आग्रह स्वीकार किया और चित्रकूट आ गये। यहाँ उन्होंने लगभग तीन वर्ष अध्यापन किया।

चित्रकूट में वे पाठशाला की एक कोठरी में रहा करते थे। उनके उस समय के एक शिष्य श्री बैजनाथ शास्त्री आज उस पाठशाला के प्रबन्धक हैं और चित्रकूट में प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले रामायण-मेले से घनिष्ठतया संबद्ध रहते हैं। ये अपने गुरु का अपार श्रद्धा के साथ स्मरण किया करते हैं। उनके तत्कालीन परम सुहृत्, कर्वी संस्कृत कालेज के भूतपूर्व प्राध्यापक पं० श्री रामसिपाही शास्त्री अभी पर्याप्त सक्रिय हैं और बड़े प्रेम से उनके संस्मरण सुनाया करते हैं। दोनों के अनुसार त्रिपाठी जी प्रातः मन्दाकिनी स्नान के अनन्तर नित्य प्रति अग्निहोत्र किया करते थे। सदैव

दुग्ध-धवल शुभ्र वस्त्र एवं उत्तरीय अथवा रामनामी दुपट्टा धारण किये रहते थे जो उनके गौरवर्ण के उच्छ्रित शरीर पर बहुत फबता था। अध्यापन कार्य उन दिनों प्रायः दिन भर चला करता था। त्रिपाठी जी स्वयं श्लोक रचना में तो प्रवीण थे ही, स्मरण शक्ति अच्छी होने से संस्कृत साहित्य के अगणित श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे, फलतः विद्यालय के प्राङ्गण की दीवारों पर, द्वारदेश के ऊपर तथा कक्षों के अन्दर उन्होंने गेरू से बनाई गई स्याही से अनेक सुभाषित लिख डाले थे जिनमें त्रिपाठी जी द्वारा स्वरचित एवं शाब्दिक चमत्कार से पूर्ण कुछ कूट श्लोक इतने कठिन थे कि विद्यार्थी उनका अर्थ समझने में अपने को असमर्थ पाते थे। निःस्पृही इतने कि एक बार कलकत्ता के किसी मारवाड़ी सेठ ने जब गुप्तदान के रूप में उन्हें कुछ स्वर्ण प्रदान किया तो उसे तत्काल पाठशाला को दे डाला। चित्रकूट में व्यतीत किये तीन वर्ष त्रिपाठी जी के लिये शैक्षणिक दृष्टि से बड़े सार्थक रहे। इन दिनों वे क्षेत्र के अच्छे-अच्छे विद्वानों के संपर्क में आये जिनके साथ वार्तालाप, शास्त्रार्थ आदि के द्वारा ज्ञान में और प्रौढ़ता आई। उधर अध्यापन के द्वारा विद्या परिमार्जित और परिष्कृत हुई। और सर्वाधिक लाभ तो यह हुआ कि उस शैक्षणिक वातावरण में रह कर आप अनेक लेख, कविताओं एवं ग्रन्थों का प्रणयन करने में समर्थ हुए। जिन ग्रन्थों की प्रारम्भिक रूपरेखा और तत्संबन्धित टिप्पणियाँ आपके पास लिखी रखी थीं उन्हें आपने अन्तिम रूप दिया और उनकी शुद्ध तथा स्पष्ट प्रतिलिपियाँ तैयार कीं।

उनकी इस समय प्रारम्भ या परिसमाप्त की गई बड़ी कृतियों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१. सिद्धान्तादर्श
२. सिद्धान्तकौमुदी की (राजीवलोचनी) संस्कृत व्याख्या
३. सरलज्योतिर्विज्ञान
४. मुक्तावली की 'बालबोधनी' नामक टीका
५. पत्रिकाओं में लेख-कविताएँ आदि।

इनमें सिद्धान्तादर्श सबसे प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें लेखक ने कौमुदी के दुरूह सूत्रों के ऊपर पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष-समन्वित शास्त्रार्थ प्रक्रिया समझाते हुए, उनके अर्थ एवं महत्त्व आदि की विशद विवेचना करने वाली, एक विस्तृत संस्कृत व्याख्या लिखी है। लेखक का मत है कि सिद्धान्तकौमुदी एक दुर्गम अरण्य की भाँति है जहाँ मार्ग विषम एवं दुर्बोध शब्दों की कँटीली झाड़ियों से अवरुद्ध है और दुरूह पंक्तियाँ पथ पर बैठे सिंहों की भाँति अध्येता-यात्री को संत्रस्त करती रहती हैं।

इसी कान्तार में छात्रों को सुगम मार्ग पर चलाने के लिये इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है—

नमस्कृत्योकनीसद्गून् गुरूनथ वृषाकपी ।
कौमुदीविपिने छात्रान् व्याख्यामार्गं प्रदर्शये ।
सूत्रादिविषमे शब्दकण्टकिद्रुमम‌ण्डिते ।
सूक्ष्मा यत्र····पंक्तिर्हरयो यत्र शेरते ।।*

यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाया । अब इसका संपूर्ण हस्तलेख भी उपलब्ध नहीं है । इसका प्रकाशन एक बार संभवतः चौखम्बा, वाराणसी से होना निर्धारित हुआ था और दो फार्म छपे भी थे पर कार्य आगे नहीं बढ़ा ।

सिद्धांतकौमुदी की 'राजीवलोचनी' अथवा 'औकनीय' व्याख्या हस्तलेख के रूप में पञ्चसंध्यन्त सुन्दर, सुस्पष्ट अक्षरों में लिखी हुई हस्तलेख के रूप में उपलब्ध है । इस पर संवत् १९८७ पड़ा हुआ है जिससे स्पष्ट है कि यह सन् १९३० में पूर्ण हो गई थी । छोटी-छोटी अन्य पञ्जिकाओं में लिखी हुई टिप्पणियों से स्पष्ट है कि यह व्याख्या और आगे भी लिखी गई थी किन्तु उसकी शुद्ध और अन्तिम प्रतिलिपि तैयार नहीं हो सकी ।

'सरल ज्योतिर्विज्ञान' हिन्दी भाषा में निर्मित एक पद्यबद्ध रचना है । इसमें ज्योतिषियों के लिये सरल भाषा में फलित ज्योतिष के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । विविध प्रकार के मुहूर्त्त, जन्म कुण्डली बनाने की विधि एवं विविध स्थानों पर ग्रहों का फल आदि विषय हिन्दी के कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई आदि छन्दों में और संस्कृत के वसन्ततिलका, भुजंगप्रयात, शार्दूलविक्रीडित इत्यादि छन्दों में बड़ी मनोरमता के साथ वर्णित हैं । पुस्तक का कुछ अंश प्रारम्भ में चित्रकूट से प्रकाशित 'चित्रकूटाश्रम' नामक हिन्दी पत्रिका में धारावाहिक रूप से छपा था । बाद में आगरा पहुँचने पर सन् १९३९ में त्रिपाठी जी ने इसे 'मशहूर जन्त्री कार्यालय' से प्रकाशित करवा दिया । यह ग्रन्थ ज्योतिष के प्रारम्भिक ज्ञान के लिये बहुत लोकप्रिय हुआ और तबसे इसके आठ संस्करण हो चुके हैं ।

मुक्तावली की 'बालबोधनी' की शुद्ध प्रतिलिपि कुछ चित्रकूट में और कुछ १९३२ ई० में त्रिपाठी जी के चित्रकूट की सेवावृत्ति छोड़ कर राजिम वापिस चले जाने के बाद बड़े भ्राता पं० मुक्तादत्त त्रिपाठी की सहायता से राजिम में तैयार की

---

*ये श्लोक स्मृति से उद्धृत किये गये हैं । मूल हस्तलेख में अब यह प्रथम पृष्ठ नष्ट हो चुका है ।

गई थी। इसके प्रकाशन के संबन्ध में भी त्रिपाठी जी उदासीन रहे। अब इसके प्रत्यक्षखण्ड की व्याख्या का प्रकाशन विद्यापीठ द्वारा प्रस्तावित है।

चित्रकूट में रह कर त्रिपाठी जी ने अत्यन्त परिष्कृत भाषा एवं मनोरम गद्य-शैली में कुछ प्रौढ़ संस्कृत निबन्ध लिखे जिनमें प्राचीन रूढ़िवादी पण्डितों से आधुनिकता की चुनौती स्वीकार करने और समय के साथ बदलने का आह्वान किया गया था। ये निबन्ध प्रायः भारत धर्म महामण्डल, काशी से प्रकाशित "सूर्योदय" नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत पत्रिका में छपा करते थे। इन निबन्धों में "भारतावनत्युन्नति-बीजविमृष्टिः" (दो खण्डों में) तथा "आवश्यकमन्यभाषासूक्ष्मज्ञानम्" विशेष उल्लेखनीय है। कविताएँ हिन्दी तथा संस्कृत दोनों में थीं। हिन्दी की कविताएं कवित्त और सवैया आदि प्राचीन छन्दों में बद्ध ब्रजभाषा में भी हैं और मैथिलीशरण गुप्त द्वारा उस समय विशेष लोकप्रिय बना दिये गये हरिगीतिका छन्द में बद्ध खड़ीबोली में भी। इनमें से कुछ 'चित्रकूटाश्रम' पत्रिका में छपी हैं और कुछ का प्रकाशन स्थल अभी अज्ञात है। ब्रज एवं खड़ी बोली दोनों में समान अधिकार से आप प्रायः वृद्धावस्था तक अच्छी काव्य-रचना करते रहे। सन् १९३२ तथा ३३ में आपकी लिखी कुछ कहानियाँ भी विविध पत्रिकाओं में छपी प्राप्त होती हैं।

त्रिपाठी जी को अभी अपने संस्कृत ज्ञान और उपलब्धियों से संतोष नहीं था। वे आगे पढ़ना और जीवन में कुछ आगे बढ़ना चाहते थे। चित्रकूट में अध्यापन करते हुए यह संभव नहीं था, अतः सन् १९३२ ई० के उत्तरार्द्ध में कभी त्रिपाठी जी ने चित्रकूट की सेवावृत्ति छोड़ दी और 'कलकत्ता संस्कृत एसोसिएशन' द्वारा संचालित 'काव्यतीर्थ' की परीक्षा की तैयारी करने के लिये राजिम आ गये। इस परीक्षा से संबन्धित निम्नतर परीक्षाएँ वे उकनी में रहते हुए ही उत्तीर्ण कर चुके थे। १९३३ ई० में नागपुर केन्द्र से परीक्षा में बैठकर उन्होंने प्रथम श्रेणी में 'काव्यतीर्थ' की उपाधि प्राप्ति की। संभवतः इसी वर्ष राजिम में रहते हुए उन्होंने अपने अग्रज की सहायता से सिद्धान्त मुक्तावली की "बालबोधनी" टीका की शुद्ध प्रतिलिपि तैयार की जिसे वे चित्रकूट में ही प्रारम्भ कर चुके थे। इस प्रतिलिपि में दोनों भ्राताओं का हस्तलेख प्राप्त होता है।

"काव्यतीर्थ" करने के उपरान्त उन्होंने आगे लाहौर में पढ़ने की योजना बनाई। कहा जा चुका है कि पारम्परिक संस्कृत विद्या के क्षेत्र में भी त्रिपाठी जी आधुनिकता के पक्षपाती थे। पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर का ओरियन्टल कालेज उन दिनों उदार एवं आधुनिक विचारों से युक्त संस्कृत शिक्षण पद्धति के लिये विख्यात था। इसके प्राचार्य एक अंग्रेज संस्कृत विद्वान् श्री ए० सी० वूल्नर थे जिनकी An Introduction to Prakrit पुस्तक आज भी समादृत है। यहाँ की उच्चतम उपाधि का नाम 'शास्त्री' था जिसका संस्कृत जगत् में बड़ा सम्मान था। पाठ्यक्रम के

व्यापक और विस्तृत आयाम की दृष्टि से पंजाब की 'शास्त्री' को पारम्परिक संस्कृत विद्या के क्षेत्र में विश्वविद्यालयीय एम०ए० का पर्याय मानना उचित होगा क्योंकि इसमें वैदिक सूक्तों और निरुक्त से लेकर व्याकरण-महाभाष्य और कादम्बरी तक सभी विषयों के प्रतिनिधि-ग्रन्थ निर्धारित थे। त्रिपाठी जी को व्याकरण में आचार्य करने के स्थान पर यह अधिक रुचा और वे अग्रज से आग्रह करके उनके साहाय्य से लाहौर चले गये।

शास्त्री परीक्षा का पाठ्यक्रम यद्यपि सामान्यतः दो वर्षों का था किन्तु मेधावी छात्रों के लिये इसे एक वर्ष में भी देने की व्यवस्था थी। त्रिपाठी जी ने परीक्षा में निर्धारित अधिकांश ग्रन्थ पहले ही पढ़ रखे थे। जो विषय नहीं पढ़े थे उनका एक वर्ष में पर्याप्त अभ्यास करके वे प्रथम वर्ष के अन्त में ही १९३४ ई० में संपूर्ण परीक्षा में बैठे और अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के कारण परीक्षार्थियों के बीच द्वितीय स्थान प्राप्त किया। परीक्षा के स्तर का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उस वर्ष लगभग २५० परीक्षार्थियों में केवल ३० ही उत्तीर्ण हुए थे।

शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर पंजाब वि० वि० से संस्कृत विषय लेकर एम०ए० करने वाले छात्रों को उन दिनों एम०ए० के साथ-साथ एम० ओ० एल्० (मास्टर ऑफ् ओरिएन्टल लर्निङ्) की एक अतिरिक्त उपाधि प्रदान की जाती थी जिसका भारतीय विद्या के क्षेत्र में बड़ा महत्त्व था अतः शास्त्री जी भी एम०ए० की तैयारी करने लगे और जीविका-निर्वाहार्थ स्थानीय सनातन धर्म कालेज में अंशकालिक अध्यापक भी हो गये। इन्हीं दिनों राधास्वामी मत के प्रख्यात धर्म-गुरु एवं दयालबाग (आगरा) के संस्थापक श्री साहब जी महाराज का धर्म प्रचार एवं प्रवचन के प्रसंग में लाहौर पधारना हुआ। साहब जी महाराज उच्चकोटि के विद्वान्, चिन्तक एवं वक्ता थे। इन सबके साथ उनमें गुणग्राहकता का गुण कूट-कूट कर भरा हुआ था। बहुत सारे निर्णय वे अपने प्रातिभ ज्ञान के सहारे लिया करते थे। वे इस समय किसी अच्छे संस्कृत पण्डित की खोज में थे जो राधास्वामी मत के दार्शनिक सिद्धान्तों को भारतीय दर्शन की मूल धारा से जोड़ सके और वेदों से लेकर आधुनिक युग तक इस मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक विकास प्रदर्शित कर सके। संयोगवश किसी प्रसंग में शास्त्री जी से साक्षात्कार होने पर साहब जी महाराज को लगा कि उन्हें वह व्यक्ति मिल गया जिसकी उन्हें वर्षों से खोज थी। वे शास्त्रीजी की धवल-शुभ्र वेश-भूषा, सुसंस्कृत एवं विनम्र वाणी तथा मधुर व्यवहार से बड़े प्रभावित हुए। उन दिनों पंजाब के संस्कृत विद्वानों में आदरणीय मालवीय जी की भाँति सिर पर श्वेत उष्णीष और कन्धे पर उत्तरीय के साथ लंबा कुर्ता और धोती पहनने का रिवाज था। शास्त्री जी भी यही धारण करते थे और स्वयं साहब जी महाराज भी इसी वेशभूषा में रहा करते थे।

१९३४ में शास्त्री जी दयालबाग आ गये। उन्हीं दिनों आर० ई० आई० (राधास्वामी-एजूकेशनल-इंस्टीट्यूट) कालेज में संस्कृत और हिन्दी के अध्यापन हेतु एक प्राध्यापक का स्थान रिक्त हुआ और शास्त्री जी की सेवाएँ उसमें ले ली गईं। दार्शनिक विचारधारा वाली योजना शनैः-शनैः, विशेषतः साहबजी महाराज के स्वर्गवास के अनन्तर, समाप्त सी हो गई।

दयालबाग में शास्त्री जी १९ वर्ष, अर्थात् सन् १९५३ तक रहे। यहाँ 'सरल ज्योतिर्विज्ञान' का प्रकाशन (प्रथम संस्करण १९३९) हुआ। भारतीय इतिहास से संबधित एक अंग्रेजी ग्रन्थ का सन् १९४२ में उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया और इंटरमीडियेट तथा बी० ए० के छात्रों के लिये उन्होंने १९५२ में संस्कृत व्याकरण एवं रचना का नई पद्धति से सरल एवं सुस्पष्ट विवेचन करने वाला "संस्कृत-रचनानुवाद-रत्नाकर" नामक ग्रन्थ लिख कर प्रकाशित किया (प्रीमियर पब्लिशिंग हाउस, बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा, १९५२)। सन् १९४८ में आगरा वि० वि० से हिन्दी तथा सन् १९५२ में संस्कृत विषय लेकर एम० ए० की परीक्षाएँ भी उन्होंने अत्यन्त विषम पारिवारिक परिस्थितियों में उत्तीर्ण कीं।

इन 'विषम पारिवारिक परिस्थितियों' का भी कुछ विवरण देना यहाँ उचित प्रतीत होता है। जिस समय शास्त्री जी चित्रकूट में पढ़ाते थे उन दिनों वहाँ बाँदा जनपद के गिरवाँ गाँव के एक छात्र श्री रविकिरण त्रिवेदी भी पढ़ा करते थे। इनका अपने गुरु के प्रति इतना प्रगाढ़ श्रद्धाभाव विकसित हो गया था कि उनके राजिम वापिस चले जाने पर वे अत्यन्त व्याकुल हुए और अन्ततः एक दिन अपनी नव-विवाहिता पत्नी को घर छोड़ कर वे विवाह की ही पीली धोती पहने अनेक कष्ट सहते हुए राजिम पहुँचे और शास्त्री जी के पास रह कर उनसे व्यक्तिगत रूप से आगे पढ़ने लगे। उनके लाहौर चले जाने पर वे कुछ दिन के लिये अपने गाँव वापिस आ गये और दयालबाग पहुँच जाने पर पुनः गुरुजी के पास आकर उनकी सेवा करते हुए रहने लगे। यह क्रम तीन-चार वर्ष चला। इस बीच रविकिरण जी का पारिवारिक दायित्व कुछ ऐसा बढ़ गया कि उन्हें अपने गुरुजी का साथ छोड़ कर गाँव वापिस जाना पड़ गया। किन्तु वे उनके भोजनादि की व्यवस्था किये बिना, उनको नितान्त अकेला छोड़कर लौटना भी नहीं चाहते थे अतः उन्होंने गिरवाँ जाकर वहाँ के जमींदार और एक सुप्रतिष्ठित कांग्रेसी नेता श्री पं० रामप्रसाद मिश्र से इसकी साभिप्राय चर्चा की और थोड़े ही समय में उनकी द्वितीय पुत्री सुश्री रामदासी का विवाह शास्त्री जी के साथ जून १९३८ में संपन्न हो गया।

सन् १९४४ ई० में शास्त्री जी के सबसे बड़े भाई पं० बालगोविन्द त्रिपाठी का देहान्त हो गया जो कुछ वर्षों पूर्व दिवङ्गत हुए पिताजी के निधन के उपरान्त गाँव में परिवार का भरण-पोषण कर रहे थे। इससे शास्त्री जी को जो आघात पहुँचा उसे तो वे किसी प्रकार झेल गये किन्तु उससे बड़ा वज्रपात अभी होना था। सन्

१९४६ ई० के सितम्बर मास में क्रमशः ६, ४ और १ वर्ष की तीन संतानों को छोड़ कर, केवल आठ वर्ष के दाम्पत्य जीवन के उपरान्त, मात्र कुछ मास की रुग्णता के अनन्तर उनकी जीवन-संगिनी का असमय में निधन हो गया। मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल २६ वर्ष की थी। इस कुलिशाघात ने धैर्य के उस धराधर को भी हिलाकर रख दिया। वेदना की तरंगों से तरलित भावों का ज्वार गांभीर्य के उस समुद्र की मर्यादा भंग करके उमड़ पड़ा। एक लम्बी कविता का जन्म हुआ जिसकी प्रथम पंक्ति थी—

'दासी' होते हुए रही जो घर की रानी,
हमें छोड़कर चली गई रह गई कहानी।

एक स्थान पर आगे वे लिखते हैं कि 'इस समय इच्छा तो ऐसी होती है कि छाती पर पत्थर बाँध कर यमुना में कूद जाऊँ और जल-समाधि ले लूँ, पर तीन छोटे-छोटे बच्चों का अबोध मुंह देख कर, यह भी तो नहीं किया जाता।' लगता है ऐसे भीषण संकट की घड़ी में उन्होंने अपने कौटुम्बिक जनों की ओर बड़ी आशाभरी दृष्टि से निहारा कि उनमें से कोई आकर उनको थोड़ा-सा सहारा दे सके और बच्चों के लिये मातृत्व के अभाव की कुछ पूर्ति कर सके किन्तु शीघ्र ही उनकी समझ में आ गया कि इस स्वार्थमय जगत् में व्यक्ति को स्वयं ही अपना सहारा बनना पड़ता है— मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम (नैषध, १.१३६)। भाभी, साली एवं माँ, थोड़े-थोड़े दिन के लिये सभी आकर औपचारिकता सी पूर्ण करके वापिस लौट गये। कुछ के सामने अपना परिवार था, कुछ के सामने सुनहला भविष्य था। मातृविहीन बच्चों के पास कौन रुकता? लोगों ने पुनर्विवाह की सलाह दी, जिसे उन्होंने दृढ़ता के साथ एकदम ठुकरा दिया। स्वावलम्ब को संबल बनाकर वे एकाकी इस दुर्गम और कण्टकाकीर्ण कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ निकले। बच्चों को उन्होंने माँ के प्यार के अभाव की अनुभूति कभी नहीं होने दी। माता का वात्सल्य और पिता का संरक्षण दोनों एक साथ बच्चों को उनसे प्राप्त होते रहे। केवल यही नहीं, परिचारकों की दुर्लभता के कारण, भोजन बनाने, बर्तन माँजने और झाड़-पोंछे से लेकर राशन की दूकान से अनाज लाकर आटा पिसाने और दूध लाने तक के घर के काम वे अकेले ही करते रहे। उनकी उस काल में रचित एक कविता की निम्न दो पंक्तियों से स्वावलम्ब के प्रति उनकी आस्था और उनके आत्मविश्वास की सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त होती है—

स्वावलम्ब सिद्धान्त हमारा
सदाचार जीवन-संबल।
स्वार्थ-पिच्छिला शिला धरा पर
दौड़ें इसके बल केवल॥

इन सब गार्हस्थिक कर्त्तव्यों के साथ कालेज में अध्यापन और एक-दो ट्यूशन तो साथ-साथ चला ही करते थे, आश्चर्य आज यह सोच कर होता है कि इन परिस्थितियों में भी उन्होंने विद्या-व्यसन और अध्ययन नहीं छोड़ा तथा पत्नी की मृत्यु के अगले दो वर्षों में ही आगरा विश्वविद्यालय से अध्यापक के रूप में व्यक्तिगत परीक्षार्थी होकर उन्होंने हिन्दी साहित्य में एम० ए० की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की, जो उस समय के लिये निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। किन्तु कालेज में हिन्दी अध्यापन से शास्त्री जी को मानसिक संतोष होनेवाला नहीं था। उनका मुख्य विषय सदा से संस्कृत ही रहा था अतः दो वर्ष पश्चात् वे एम० ए० संस्कृत की परीक्षा में बैठे और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। साहित्यशास्त्र (काव्य प्रकाश) में उन्होंने १०० में से ९६ तथा व्याकरण और अनुवाद के प्रश्न-पत्र में ९८ अंक प्राप्त किये थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् दयालबाग का आर० ई० आई० कालेज मुख्यतः वाणिज्य, विज्ञान एवं कृषि का कालेज बन कर रह गया। संस्कृत के उच्चस्तरीय अध्यापन का वहाँ कोई अवसर न था। उधर शास्त्रीजी संस्कृत के ही अध्ययन-अध्यापन को पूर्णतया समर्पित थे अतः प्रयाग के श्री हृदयनाथ कुंजरू की सलाह मान कर सन् १९५३ में आप मुरादाबाद चले आये और वहाँ के के० जी० के० स्नातकोत्तर महाविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक हो गये। यह कालेज उन दिनों संपूर्ण रुहेलखण्ड क्षेत्र का अत्यन्त प्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थान था और इसमें कला-विभाग में ही लगभग दस विषयों में एम० ए० का अध्यापन हुआ करता था। बाद में उसी वर्ष आपको इसी पद पर बलवन्त राजपूत कालेज (आगरा) तथा सेन्ट जॉन्स कालेज (आगरा) भी बुलाया गया किन्तु आप मुरादाबाद छोड़ कर नहीं गये।

सन् १९५३ में उत्तर प्रदेश में सर्वत्र हिन्दी-माध्यम से अध्यापन प्रारम्भ हो गया था किन्तु हिन्दी व्याख्याओं के अभाव में दर्शन शास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन में बड़ी कठिनाई का अनुभव किया जा रहा था। शास्त्री जी को वेदान्त में पहले से रुचि थी अतः उन्होंने सदानन्द प्रणीत 'वेदान्तसार' की व्याख्या लिखना प्रारम्भ किया। सन् १९३० के आस-पास जब उन्होंने 'न्याय सिद्धान्त मुक्तावली' की 'बालबोधनी' व्याख्या लिखी थी तब कोई सोच भी नहीं सकता था कि हिन्दी व्याख्याओं के माध्यम से संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्यापन हो सकता है। दो-एक ग्रन्थों की जो हिन्दी व्याख्याएँ उपलब्ध भी थीं उन्हें यदि भूल से भी संस्कृत के छात्र अपने साथ विद्यालय ले आते थे तो उन्हें गुरु की तीव्र भर्त्सना का पात्र होना पड़ता था, किन्तु अब युगधर्म परिवर्तित हो चुका था। अतः व्याख्या संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी लिखी गई। छः मास में समाप्त हुई और अगले छः मासों में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से उनके द्वारा स्थापित एक नवीन पुस्तकमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित भी हो गई (वेदान्तसार : भावबोधनी संस्कृत हिन्दी

टीका सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९५४)। यह पुस्तक अत्यन्त लोकप्रिय हुई और पिछले तीस वर्षों में इसके अनेक संस्करण हुए। इसके बाद **वेदान्तसार** के कुछ अन्य हिन्दी संस्करण भी निकले। चौखम्बा संस्थान के बँटवारे के बाद इसके कवर-पृष्ठ को परिवर्तित करके और कोई नया लेखक-नाम देकर भी कुछ नये संस्करण बना लिये गये पर इसकी लोकप्रियता उसी प्रकार आज भी अक्षुण्ण है।

वेदान्तसार के प्रकाशन के पश्चात् शास्त्री जी की प्रवृत्ति रचनात्मक साहित्य की ओर हुई। संस्कृत में गद्यसाहित्य की कमी सुविदित है अतः उत्कृष्ट काव्य निर्माण क्षमता होते हुए भी वे गद्य लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। किन्तु उनका वैयाकरण वाला पक्ष तो अपने स्थान पर था ही, उसे उपेक्षित करना संभव नहीं था, अतः **'कौमुदी-कथाकल्लोलिनी'** की परिकल्पना ने जन्म लिया। उनकी इच्छा हुई कि एक ऐसा प्रौढ़ गद्यकाव्य का निर्माण किया जाए जिसे पढ़ कर पाठक परोक्षतः व्याकरण के समस्त प्रयोगों से भी परिचित हो जाए। भट्टिकाव्य पद्यात्मक है। पाणिनि के समस्त सूत्रों के प्रयोग भी उसमें नहीं प्राप्त होते। इसके अतिरिक्त इस युग में **अष्टाध्यायी** क्रम की अपेक्षा **सिद्धान्तकौमुदी** का क्रम ही पठन-पाठन में अधिक मान्य है अतः उन्होंने अपने सामने लक्ष्य रखा कि एक ऐसे गद्यकाव्य का निर्माण हो जिसमें साहित्यिक सरसता के साथ साथ, क्रम से सिद्धान्तकौमुदी के समस्त सूत्रों के दृष्टान्त अथवा प्रयोग अनुस्यूत हों। सूत्रों को पाद टिप्पणी के रूप में देने का निर्णय किया गया। कथा के आधार के रूप में कथासरित्सागर में वर्णित नरवाहनदत्त-वृत्तान्त का चयन किया गया।

'कल्लोलिनी' एकादश कल्लोलों में विभाजित है जिनमें क्रमशः सन्धि, कारक, समास-स्त्री प्रत्यय, समास-तद्धित, तद्धित-द्विरुक्त, गण, प्रक्रिया, कण्ड्वादि प्रभृति विषयों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की विशेषता यह है कि कथा-प्रवाह व्याकरण के द्वारा कहीं उपहत नहीं होता और पाठक अनायास ही तत्तत् सूत्रों के प्रयोगों को हृदयंगम करता चलता है। एक ही प्रकरण से संबन्धित इतने सारे प्रयोगों का कथा में संयोगवश उपस्थित प्रसंग में सफलतापूर्वक निर्वाह कर ले जाना, वास्तव में एक दुष्कर कार्य है। व्याकरण के दुर्लभ प्रयोगों के साथ-साथ विरोध, परिसंख्या, श्लेष, उपमा तथा उत्प्रेक्षादि अलंकारों की रमणीय छटा भी ग्रन्थ में सर्वत्र दर्शनीय है। शास्त्री जी की संस्कृत साहित्य जगत् में ख्याति बहुत कुछ इसी ग्रन्थ पर आधारित है। यह ग्रन्थ सन् १९६१ में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ था और अब दस वर्षों से भी अधिक समय से दुष्प्राप्य है। जिसके पास यह उपलब्ध है वे संस्कृत लेखन में प्रौढ़ि प्राप्त करने की दृष्टि से समय-समय पर इसका पारायण करते रहते हैं। पं० श्रीनिवास शास्त्री ने अपने **'सूर्यप्रभा किंवा**

वैभवपिशाचः' नामक संस्कृत उपन्यास में कल्लोलिनी की प्रशस्ति में निम्न आर्या गुम्फित की है—

दीक्षितपदानुयाता व्याकरणक्षीरपूरिता वितता ।
कल्लोलिनी सुललिता ग्राह्या रामशरणस्य ।।

कौमुदी कथाकल्लोलिनी की रचना १९५९ में पूर्ण हो गई थी। मुद्रण कार्य काशी में चलता रहा। शास्त्री जी के पास अब जो समय बचने लगा उसे वे वेदान्त अनुशीलन में लगाने लगे। ब्रह्मसूत्र उनकी प्रिय पुस्तक थी। जब भी समय मिलता, उसको लेकर बैठ जाते और उसके विविध पक्षों पर चिन्तन करने लगते। उसके तत्त्वार्थ के परिज्ञान के लिये उन्होंने उस पर रचित समस्त प्रमुख भाष्यों का भी अध्ययन कर डाला। तब उनकी इच्छा हुई कि ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न आचार्यों की जो वैविध्य-पूर्ण व्याख्याएँ हैं उनका एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए। नियमित कार्य करने के लिये कोई उद्देश्य होना अपेक्षित था। अनेक वर्षों से शास्त्री जी की पी-एच० डी० करने की इच्छा थी अतः 'एक पन्थ दो काज' की उक्ति सार्थक करते हुए उन्होंने इसी विषय पर शोधकार्य हेतु आगरा विश्वविद्यालय से अपना पञ्जीकरण करा लिया और दो-ढाई वर्षों के परिश्रम से ही सन् १९६२ के अन्त में संस्कृत भाषा में अपना शोध प्रबन्ध लिख कर विश्वविद्यालय में जमा कर दिया। उस विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा में लिखित संभवतः यह प्रथम शोध प्रबन्ध था। १९६३ ई० में उन्हें 'डॉक्टरेट' की उपाधि प्राप्त हुई और उसके कुछ वर्षों पश्चात् उनके प्रकाशक चौखम्बा संस्थान ने काशी ग्रन्थमाला (सं० २१३) में 'ब्रह्मसूत्रप्रमुख-भाष्यपञ्चकसमीक्षणम्" शीर्षक से सन् १९७१ में इसका प्रकाशन किया। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र पर शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ आचार्यों की व्याख्याओं की समीक्षा करते हुए उनके सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सुगम, सुबोध तथा सरल है। सन्धियों का प्रयोग भी कम से कम किया गया है। दर्शन के दुरूह क्लिष्ट एवं जटिल विषय को कैसे सर्वजनसुलभ और अत्यन्त सुबोध बनाया जा सकता है, इसका यह ग्रन्थ सुन्दर निदर्शन है और यदि शास्त्रीय विषयों का इस प्रकार की सुगम शैली और प्राञ्जल भाषा में विवेचन किया जाए तो संस्कृत की व्यापकता में शीघ्र ही तीव्र गति से अभिवृद्धि होगी। सन् १९७१ के जून मास में शास्त्री जी ने दो वर्ष की अवधि वृद्धि के पश्चात् के० जी० के० कालेज मुरादाबाद की सेवावृत्ति से अवकाश ग्रहण किया। उनके अनेक कृतज्ञ, गुरुभक्त और श्रद्धालु शिष्य उत्तर भारत में यत्र-तत्र सेवारत हैं और उनमें से तीन क्रमशः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय तथा गढ़वाल विश्वविद्यालय में आचार्य (एवं विभागाध्यक्ष) का पद अलंकृत कर रहे हैं।

शास्त्रीजी ने अनेक प्रकीर्ण संस्कृत श्लोकों एवं कविताओं का निर्माण किया था। दुःख का विषय है कि उनमें से अधिकांश काल कवलित हो गईं। अपनी रचनाओं को सुरक्षित रखने या मुद्रित करवाकर उनका प्रचार-प्रसार करने की ओर शास्त्रीजी ने कभी ध्यान नहीं दिया। संस्कृत पद्यों में पत्राचार करना आपको प्रिय था। छात्रावस्था से ही आप अपने कुछ साथियों को श्लोकबद्ध पत्र ही लिखते रहे। इनमें एक श्री सत्यनारायण शर्मा को लिखे गये कुछ पत्र कुछ वर्ष पूर्व तक उपलब्ध थे, अब नहीं हैं। पंजाबी वि० वि० पटियाला के प्रो० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त को (जो उस वर्ष उनके सहयोगी परीक्षक थे) एक बार उन्होंने जो पद्यात्मक पत्र लिखा था उसका अन्तिम श्लोक संभवतः इस प्रकार था—

अतोऽग्रे भवद्भिः सविश्रब्धि कार्यं
वधानं ददद्भिः स्वसौविध्यसाध्यम्।
विधेयं विधेयं भवेयं यथाऽहं
यथाकालमुक्तः कृतः कारितोऽर्थः॥

आगरा के मूर्धन्य संस्कृत मनीषी एवम् आशुकवि पं० शारदाचरण दीक्षित से भी उनका एक बार पद्यात्मक पत्राचार हुआ था जो सहृदयों के मनोरञ्जन हेतु इस परिचय के अन्त में दिया गया है। अपने अत्यन्त प्रतापी किन्तु वीतराग एवं जीवन्मुक्तोपम श्वशुर के निधन पर एवं ज्योतिष्पीठाधिप श्री कृष्णबोधाश्रम एवं उनके शिष्य श्री विष्णु बोधाश्रम के मुरादाबाद आने पर निर्मित दो-दो पद्य भी किसी प्रकार सुरक्षित रह गये हैं। वे भी नीचे दिये जा रहे हैं जिनसे उनकी काव्य-रचना की कुछ बानगी मिल सकती है। कुछ वर्ष पूर्व इस विद्यापीठ ने यहाँ से प्रकाशित **'वाणीविलसितम्'** की द्वितीय भंगी में उनकी "पितुः परिदेवनम्" नामक कविता के कुछ अंश प्रकाशित किये थे। पिता के साथ-साथ माता का भी कर्त्तव्य निभाने के कारण शास्त्रीजी का अपनी संतान पर बहुत स्नेह था। १९६२ ई० में जब उनके बड़े पुत्र को उच्चतर अध्ययन हेतु प० जर्मनी जाना पड़ा तो वे उसे छोड़ने बम्बई तक गये। उन दिनों विदेश जाने के लिये मुख्यतया जलमार्ग ही व्यवहृत होता था। पुत्र को बिदा करके जब वे घर लौटे तो उसके वियोग में पितृसुलभ स्नेहातिरेक से भावनाओं की जो ऊर्मियाँ उनके हृदयोदधि में उमड़ीं उन्हें उन्होंने बड़ी मार्मिकता के साथ उपर्युक्त कविता में अंकित किया है।

शास्त्रीजी पदशास्त्र पारावारीण थे। उनकी शब्द संपदा असीम थी। व्याकरण पर उनका असाधारण अधिकार था और नये-नये शब्द गढ़ने की उनमें अद्वितीय क्षमता थी। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति यदि काव्य-निर्माण करेगा तो उसमें शब्दालंकारों का ही प्राचुर्य होगा। अनुप्रास, यमक, श्लेष, विरोध और परिसंख्या, ये ही उनके प्रिय अलंकार हैं। अनुप्रास एवं यमक के प्रयोग के लिये **'वाणीविलसितम्'** की प्रथम भंगी में प्रकाशित उनका सरस्वती-वन्दना परक निम्न मंगलाचरण श्लोक उल्लेखनीय है—

मान्दीतमोपनयना नयनाभिरामा
रामा रमारमणनाभिसरोजभूतेः ।
भूतेर्गिरां वितरणे तरणे सहाया-
हायार्णवे च सवताद् भवतापनुत्तौ ।।

सन् १९५२ में एक बार मेरठ कालेज के संस्कृत विभागाध्यक्ष श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री को केवल एक श्लोक का एक पत्र उन्होंने भेजा था जिसके १७ अर्थ निकलते थे। बाँदा जनपद के खत्री पहाड़ पर अवस्थित विन्ध्यवासिनी के मन्दिर के मुख्य द्वार पर उनके द्वारा निर्मित एक श्लोक लगा हुआ है जिसके, उनके अनुसार, ३५ अर्थ हैं। इस श्लोक की व्याख्या में उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तक भी छपाई थी—

शिवदास्यपि या कमला
विन्ध्यपि खत्र्यद्रिविन्ध्यनगनिष्ठा ।
अवतु सदा वसुहस्ता
सापर्णा नोऽन्नपूर्णापि ।।

सेवानिवृत्ति के अनन्तर कुछ समय बाँदा एवं भुवनेश्वर में व्यतीत करने के उपरान्त शास्त्री जी सन् १९७२ से प्रयाग में अपने कनिष्ठ पुत्र डा० रमाचरण त्रिपाठी के पास रहे, जो संप्रति मनोविज्ञान विभाग में आचार्य तथा अध्यक्ष हैं। अपने बड़े पुत्र को उन्होंने जान बूझकर संस्कृत ही पढ़ाई जिससे कुलपरंपरागत विद्या सुरक्षित रहे। सबसे छोटी संतान अपर्णा का विवाह एक चिकित्सक से उन्होंने किया था जो संप्रति वाराणसी में अवस्थित शासकीय चिकित्सालय में वरिष्ठ शल्य-चिकित्सक हैं। अपर्णा भी बसन्त कालेज में मनोविज्ञान की प्राध्यापिका हैं। प्रयाग में शास्त्री जी ने लगभग साढ़े पाँच वर्ष व्यतीत किये। उस समय आपका आवास विद्यापीठ के समीप ही था और यहाँ आयोजित भाषणों तथा उत्सवों में आपकी प्रायः नियमित उपस्थिति रहती थी। इनके द्वारा इस विद्यापीठ में सन् १९७६ में पठित ' पाणिनिः पश्यतोहरः'' नामक लेख हम विद्यापीठ शोधपत्रिका के भाग ३४, अंक १-२ (१९७८) में प्रकाशित कर चुके हैं। सन् १९७३ में इस विद्यापीठ के तत्कालीन प्राचार्य और राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के वर्तमान निदेशक डा० मण्डन मिश्र के सौप्रस्थानिक समारोह के अवसर पर शास्त्री जी ने विद्यापीठ की ओर से एक बहुत सुन्दर अभिनन्दन पत्र उन्हें भेंट किया था।

इसी तीर्थराज में लगभग ५।। वर्ष निवास करने के उपरान्त ४ दिसम्बर १९७७ को एक अल्पकालिक सांघातिक रोग के कारण शास्त्री जी का स्वर्गवास हो गया। रुग्णावस्था में भी उनकी विद्या उनको उसी प्रकार उपस्थित थी और कुछ जिज्ञासा होने पर वह सिद्धान्तकौमुदी की पंक्तियाँ—उसी प्रकार अविकृत रूप में उद्धृत किया करते थे। शास्त्री जी स्वभाव से अत्यधिक सौम्य, नितान्त उदारमना, अतिशय शान्त, अतीव विनम्र और परम कारुणिक थे जो मन से भी कभी किसी का

अहित-चिन्तन नहीं करते थे। इस प्रकार का गंभीर, उदात्त और गरिमामय व्यक्तित्व अपवाद-स्वरूप ही देखने को मिलता है। मित भाषी इतने थे कि विकत्थन तो दूर, स्वयं अपने विषय में बात करते हुए भी किसी ने उन्हें नहीं सुना होगा। पारिवारिक सदस्यों से भी वे अपने विषय में कभी कोई बात नहीं करते थे जिससे उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है जो कुछ ऊपर लिखा गया है वह मुख्यतः विविध अप्रत्यक्ष स्रोतों से संकलित है।

इस अंक में प्रकाशित शास्त्री जी का यह चित्र सन् १९७२ के प्रारंभ में भुवनेश्वर में खिचवाया गया था। चित्र घर पर आ जाने के उपरान्त शास्त्री जी ने इसके नीचे निम्न श्लोक बना कर छपवा दिया जो उनके निरतिशय वैनम्र्य का अद्वितीय परिचायक है—

चरणद्वयबाहुर्यो ह्यपर्णा यत्कुटीरिका।
अर्द्धाङ्गः सशरीरोऽपि स रामशरणः पुरः॥



शास्त्री जी द्वारा निर्मित कुछ श्लोक

ज्योतिष्पीठाधीश्वरं श्री १०८ कृष्णबोधाश्रमं तच्छिष्यं श्री १०८ विष्णुबोधाश्रमञ्चाधिकृत्य मुरादाबादनगरे तयोः स्वागतावसरे (१९५७)

पापान् कर्षति वर्षति प्रियवचः कीलालकल्पं च यः
बुद्धिं बोधयते यतः पथि हृषीकाणीह नेनीयते।
ओङ्कारीयति शङ्करेण वपुषा सत्यं निषेसिक्त्यृतम्
लब्ध्वा स्वागतिका वयं सुकृतिनः तं कृष्णबोधाश्रमम्॥१॥

विश्वस्मिन् विषुणानकार्यनिपुणान् चेक्रीयते सद्गुणान्
धर्माणामुपदिष्टिवृष्टिकरणैर्योऽहर्निशं निःश्रमम्।
अद्य स्वागतिका वयं सुकृतिनः प्राप्यात्मसन्मन्दिरे
तं श्रीशङ्करबाहुयुग्मसुयुजं श्रीविष्णुबोधाश्रमम्॥२॥

स्वकीयं श्वशुरं स्वातन्त्र्यसेनान्यं वीतरागं श्रीरामप्रसादमिश्रमहोदयमधिकृत्य तन्निधनावसरे

मत्वा विश्वं विनाशि स्वतनुमपि तथा का कथा वैभवानां
हित्वाऽऽसक्तिं रसादीननुभवविषयं यो हि कुर्वन्नलिप्तः।
स्वात्मानन्दानुभूतिं निजनयबलमेवावगच्छन्नलं यः
तन्वा गुप्तावपीहानवहितिसुकृती देहयुक्तोऽपि मुक्तः॥१॥

रागद्वेषादियुग्मप्रविरहितमना यो मनाङ् नातिदर्शी
हर्षी स्वीयाश्रितानां सुखविभवमुदा सर्वसन्मार्गदर्शी।
वर्षी सापत्न्यमूर्धन्यशिरसि सततं स्वाशिषां शत्रुकर्षी
मिश्रो रामप्रसादो गिरिगुरुगिरवाँग्रामगेहो विदेहः॥२॥

———

Dr. Ram Sharan Tripathi,
Kavyatirth, Shastri, M.A , Ph. D.
Department of Sanskrit

3, K. G. K. College,
MORADABAD.

निद्धद्वरिष्ठा: —

Date 30।६।६६

श्रीशारदाचरणदीक्षितसुधयुपास्या:,
वाङ्मध्वरिन्दम सुवक्त्रनुपमेयवाच:।
विद्वत्प्रकाण्डहरयोऽर्चितसाधवो मे
प्रोन्नायका: सुरगिरां नतिभावका: स्यु: ॥१॥

श्रीमताम्—
सुसंस्कृतास्निग्धविदग्धचातुरीतुरी सुरीति ग्रथितं सुवर्णकम्।
अलभ्यलभ्यं न्वनु हिताय तोषितुं शक्ता नत्रापि दलं फलं मुदाम् ॥२॥

इदानीम्—
नह्यस्ति शब्दं न्वधुना सुरगी: सुपात्रमाहात्म्यमीयत यया पटुभि: प्रनाण्या।
अक्षय्यमेतदधुनातन बोद्धुपाशा: द्रव्यं विनार्ध्यपफलं परमन्तमाहु: ॥३॥
किन्तु— दीक्षितपदानुयाता वासवदत्तेयकथाब्धिसम्पाता।
कल्लोलिनी सुविततां गाढा श्रीशारदापादै: ।४।

अत:—
चेत: शान्तिमुपैति, शारदपदै: प्रक्षाल्य कल्लोलिनी,
शुद्धैधिष्ण्यत एवमत्र विदुषां तादृङ्मनीषाजुषाम्।
श्रीशारङ्गधीन् परिमार्ष्टि दिव्यसारिता कल्लोलिनी जाह्नवी,
इत्यालोच्य भवेन भावनतया मूर्ध्नि स्वकीये धृता ॥५॥

सम्मति:— मक्षिका मक्षिकास्थाने मकरार्थ: प्रदर्शित:।
मेदिन्यमरयोर्वाच स्पष्टये चापि हलायुधे ॥६॥

"अन्यो व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थ: प्रवृत्त्यर्थस्ततोऽन्यथा।
'गमेर्डो:' प्रत्यये जाते न मनुष्यो गवाभिध: ॥७॥

प्रयागस्थ श्रीगङ्गानाथझा-केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठीयप्राचार्यवर्य डा० श्री गयाचरणमिश्रमहोदयानाम् स्थानान्तरगमनावसरे समवेतैः समुद्गतसौहृदय्यैः तदीयसुहृद्भिः, पीठाश्रितैः पदाधिकारिभिः, सदस्यैश्च

सादरभरं सप्रश्रयोपचयञ्च समर्पिताः, शुभाशंसनप्रसूनाञ्जलयः

प्रोद्यदनवद्यविद्याविद्योतितान्तःकरणाः,

नैतदविदितमत्र भवतां यद्भवद्भिः श्रीगङ्गानाथझामहोदयाद्यनेकविद्वद्वृन्द-परम्परापरिष्कृते, मृद्वीकानीकाशनिर्यन्मधुररसनिर्झरीभूतमाधुरीभाग्यभाग्भिर्गीर्भिः सुरसरस्वतीसमाराधनेन धन्यातिधन्यतां नीते, प्रयागस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे, अद्यावधि प्राचार्यपदमलङ्कुर्वाणानाम्, समुपलब्धप्राच्यपाश्चात्योभयविद्वद्विशारदिम्नाम्, भारतीयसंस्कृति-संस्कृतप्रचारप्रसारोद्योगप्रसृमरमहिम्नाम्, श्रीमताम् अस्मात् स्थानान्तरगमनावसरे भावत्काभिशंसनप्रसूनाञ्जलिप्रदानव्यतिकरेण समवेताः सद्भाग्यशालितां नीताः।

ज्ञानविज्ञानशोभितशेमुषीकाः,

समुपलब्धविश्वविख्यातीनाम्, नैकश्रीशोभाजुषाम्, परमविदुषाम्, विद्वद्वरेण्यश्रीपट्टाभिराम-शास्त्रिणाम्, आत्मवैदुष्यापचयाय कृतानेकमीमांसक (दुरूण मीमांसक-) दुर्दुरूढप्रतिष्ठापितनिष्ठाः, मीमांसाशास्त्रपरिनिष्ठाः शिष्याः श्रीमन्तः, अवशिष्टस्मृतीनां प्रेष्ठशिष्यसंस्कृतोच्छ्रितीनाम्, भारतीयप्रधानमन्त्रिणाम्, श्रीलालबहादुरशास्त्रिणाम्, ससम्मानाहूतिं पुरस्कृत्य, नैकनेतृनीतिचर्चितायां नगरीमचर्चिकायाम्, भारतीयप्रासाददेहल्यामिव देहल्याम्, पदपल्लवतल्लजमादधानाः, तत्रादिमकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठमतिष्ठिपन्। यत्र च तदवधि मृतप्रायमरिमरः अप्रत्याशितां समभ्युन्नतिं, भवदनध्यासितपीठे सञ्जातामवलोक्य भारतीयशासनैः स्वातन्त्र्योत्तरीयमन्यदपि केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठपञ्चकम् स्थापयत्। अखिलभारतीयसंस्कृतसम्मेलनस्य कर्णधारतां भवतां संस्कृताभ्युन्नायकेषु प्रमुखं, विशिष्टं शीर्षण्यञ्च स्थानम्। राष्ट्रियसंस्कृतविकासयोजनासंघटित-वैदिकसमितिसदस्यानां श्रीमताम्.

'संस्कृतं वर्धतां नित्यं संस्कृतश्रीः समेधताम्'

'संस्कृतविदुत्समादृतावेव भवदुदि' इति भावनया गीर्वाणगीर्गरिमोन्नायनमेव जीवनलक्ष्यमिति संस्कृतविदुत्समादृतावेव भवदृदि परमानन्दसन्दोहो द्रुमः।

दिल्ली-तिरुपतिविद्यापीठयोः प्राचार्यचरणाः, संस्कृतादरभाजनसमाजिताः श्रीमन्तः अनुसन्धित्सूनां सौकर्याय अनुसन्धानकक्षम् एव इत्तमात्मकार्यकाले प्रयागस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे भवतामेव संरक्षकतायां अन्यानपि तैः अमहत्त्वशिक्षाकक्षान् उदजीघटन्। गंगानाथझाशताब्दीं भवतामेव संरक्षकतायां संस्कृतपीठीयपुस्तकालयस्य अभ्यानेष्वपि तेषां समस्तक्रियाकलापानां समुद्भूतम्। चिरकालादागतेहृत्य कर्मचारिचेतनाधृतिप्रमनाकरणस्य, संस्कृतपीठीयपुस्तकालयस्य समभ्युद्यत। चिरकालादागते हृत्य कर्मचारिचेतनाधृतिप्रमनाकरणस्य च श्रेयस्विनः श्रीमन्त एव। एवमन्यभवन्तो भवन्तः केन्द्रसम्भवान् केन्द्रीयसंस्कृतपुस्तकालयस्थापनस्य च श्रेयस्विनः श्रीमन्त एव। अनुशासननीति-रीतिनिरताः, स्वीयेन सौजन्येन, औदार्येण, गाम्भीर्येण, भावात्म अनुभावयन्तः, अनुशासननीतिरीतिनिरताः, सदाचारेण, प्रेम्णा, कारुण्येन, सौहार्देन च तेषां वदान्यताम् निजाश्रितानां प्रशंसाभिः समयं गमयन्ति स्म।

किं बहुना —

आन्वीक्षिकीन्यायतत्त्व, मीमांसानुश्रुता तथा।
विशिष्टविद्वद्देशीयमण्डनत्वं त्वयि त्रयम्॥१॥

प्राचार्यस्य पदं स्वयुग्रमदिह श्रीमण्डनो मण्डनः।
गंगानाथमहानुभावपदवीं केन्द्रीयपीठे भवान्॥
वैशारद्यमिताद्य गम्यमिति तत्त्वात्सम्मतिम्नः फलम्।
यत्तत्साम्मतसाम्मनस्यमिति तो वायुः प्रसंस्थानगः॥२॥

प्रयागस्थश्रीगङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठीयप्राचार्यवर्य डा० श्री मण्डनमिश्रमहोदयानाम् स्थानान्तरगमनावसरे

समवेतैः समुदात्तसौहृदय्यैः तदीयसुहृद्भिः, पीठाश्रितैः पदाधिकारिभिः सदस्यैश्च

सादरभरं सप्रश्रयोपचयञ्च समर्पिताः, शुभाशंसनप्रसूनाञ्जलयः

प्रोद्यदनवद्यधिषणाविद्योतितान्तःकरणाः,

नैतदविदितमत्र भवतां मद्यमयोः श्रीगङ्गानाथझामहोदयानेकविद्वद्वृन्द-

परम्परापरिस्यन्दिते, मृद्वीकानीकाशनिर्यन्मधुररसनिर्झरीभूतमाधुरीभाग्यभागिभिर्गीर्भिः सुरसरस्वतीसमाराधनेन

धन्यातिधन्यतां नीते, प्रयागस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे, अद्यावधि प्राचार्यपदमलङ्कुर्वाणानाम्, समुपलब्ध-

प्राच्यपाश्चात्योभयविद्वद्विशारदिम्नाम्, भारतीयसंस्कृति-संस्कृतप्रचारप्रसारोत्सुकप्रसृमरमहिम्नाम्, श्रीमताम्

अस्मात् स्थानान्तरगमनावसरे भावत्काभिशंसनप्रसूनाञ्जलिप्रदानव्यतिकरेण समवेताः सद्भाग्यशालितां नीताः।

ज्ञानविज्ञानशोभितशेमुषीकाः,

समुपलब्धविश्वविख्यातीनाम्, नैकश्रीशोभाजुषाम्, परमविदुषाम्, विद्वद्वरेण्यश्रीपट्टाभिराम-

दुराप मीमांसक मीमांसाशास्त्रप्रतिष्ठाः शिष्याः

शास्त्रिणाम्, आत्मवैदुष्यापच्छायाकृतानेकभाषासक्दुर्दुरूटप्रतिष्ठानिष्ठाः, भारतीयप्रधानमन्त्रिणाम्, श्रीलालबहादुरशास्त्रिणाम्,

श्रीमन्तः, अवशिष्टस्मृतीनां प्रेष्ठस्थेष्ठसंस्कृतोच्छ्रितीनाम्, भारतीयप्रासादे हल्यामिव देहल्याम्,

ससम्मानाहूतिपुरस्कृत्य, नैकनेतृनीतिचर्चितायां नगरीभचर्चिकायाम्, भारतीयप्रासादेहल्याभिव देहल्याम्,

ससम्मानाहूति पुरस्कृत्य, नैकनेतृनीति चर्चितायां ... मूर्धन्यं च तदवधि भूतप्रायामरगिरः

पदपल्लवतल्लजमादधानाः, तत्रादिम केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठमतिष्ठिपन्। यश्च तदवधि भूतप्रायामरगिरः

अप्रत्याशितां समभ्युन्नतिं, भवदनधानीयुतेषु पीठे श्रूयते भवतोऽद्य भारतीयहासैकस्तत्स्तरीयमन्यदपि

केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठपञ्चकमस्थापयत्। अखिलभारतीयसंस्कृतसम्मेलनस्य कर्णधाराणां भवतां

संस्कृताभ्युन्नायकेषु प्रमुखं, विशिष्टं शीर्षण्यञ्च स्थानम्। राष्ट्रियसंस्कृतविकासयोजनासंघटित-

केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठपञ्चकमस्थापयत्।

संस्कृताभ्युन्नायकेषु प्रमुखं, विशिष्टं शीर्षण्यञ्च स्थानम्।

वैदिकसमितिसदस्यानां श्रीमताम्-

'संस्कृतं वर्धतां नित्यं संस्कृतश्रीः समेधताम्'

'संस्कृतं वर्धतां नित्यं संस्कृतश्रीः समेधताम्' संस्कृतविद्वत्समादृतो भवद्हृदि इति भावनया गीर्वाणगौरवमेतत् जीवनलक्ष्यमिति संस्कृतविद्वत्समादृतावेव भवद्हृदि इति भावनया गीर्वाणगीर्गरिमोत्ता यतनेव जीवनलक्ष्यमिति संस्कृतविद्वत्समादृतावेव भवद्हृदि

इति भावनया गीर्वाणगीर्गरिमोन्नायनमेव जीवनलक्ष्यमिति संस्कृतादरभाजनसमाजिता: श्रीमन्तः परमानन्दसन्दोहो द्रुमः।

दिल्ली-तिरुपतिविद्यापीठयोः प्राचार्यचरणाः, संस्कृतादरभाजनसमाजिताः श्रीमन्तः अनुसन्धानकक्षम्, केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे अनुसन्धित्सूनां सौकर्याय अनुसन्धानकक्षम्, एव इत्यात्मकार्यकाले प्रयागस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे अनुसन्धित्सूनां सौकर्याय भवतामेव संरक्षकतायां गंगानाथझाशताब्दीं उदजीघटन्। गंगानाथझाशताब्द्यां भवतामेव संरक्षकतायां, संस्कृतपीठीयपुस्तकालयस्य अन्यानपि तौ अमहत्त्वशिक्षाकक्षान् उदजीघटन्। गंगानाथझाशताब्द्यां पाकरणस्य, संस्कृतपीठीयपुस्तकालयस्य अन्यानपि तौ अमहत्त्यशिक्षाकक्षान् उदजीघटन्। चिरकालादागतेहत्यकर्मचारिवेतनाघातिममतापाकरणस्य, संस्कृतपीठीयपुस्तकालयस्य समभुद्रयत। चिरकालादागतेहत्य कर्मचारिवेतनाघातिममतापाकरणस्य श्रीमन्तः एवं। एवमनभवन्तो तुलाभवन्तः केन्द्रसम्मान् केन्द्रीयसंस्कृतपुस्तकालयस्योपदापनस्य च श्रेयस्विनः श्रीमन्तः एवं। एवमत्र भवन्तो तुलाभवन्तः केन्द्रसम्मान् भावम् अनुभावयन्तः, अनुशासननीतिरीतिनिरताः, स्तीयेन सौजन्येन, औदार्येण, गाम्भीर्येण, सदाचारेण, प्रेम्णा, कारुण्येन, सौहार्देन च तेषां वदान्यानां तामितानां निजाश्रितानां प्रशंसाभिः समयं गमयन्ति स्म।

किं बहुना —

आन्वीक्षिकीनयनलय, मीमांसानुश्रुता तथा।
विशिष्ट विद्वद्देशीयमण्डनत्वं त्वयि वयम्॥१॥

प्राचार्यस्य पदं स्वयमुपभदिह श्रीमण्डनो मण्डनः।
गंगानाथमहानुभावपदवी केन्द्रीयपीठे भवान्॥
वैशारद्यमितोद्य गद्यमिति तत्त्वत्सम्मतिमतः फलम्।
यत्तत्साम्मतसाम्मनस्यमिति तो वायुः प्रसंस्थानगः॥२॥

श्री:

१.१.५८

स्वर्गीय श्रद्धेय आदरणीय बा की स्मृति में.

मत्वा विश्वं विनाशि स्वतनुमपि तथा का कथा वैभवानाम्.
हित्वाऽऽसक्तिं रसादीननुभवविषयं यो हि कुर्वन्नलिप्तः।
स्वात्मानन्दानुभूतिं निजनयबलमेवावगच्छन्नलं यः,
तं वा गुप्तावपीहानवहितसुकृती देहयुक्तोऽपि मुक्तः। १

रागद्वेषादियुग्मप्रविरहितमना यो मनाङ्नर्गतिदर्शी,
हर्षी स्वीयाश्रितानां सुखविभवमुदा सर्वसन्मार्गदर्शी।
वर्षी सापत्नमूर्धन्यशिरसि सततं स्वाशिषां शत्रुकर्षी,
मिश्रो रामप्रसादो गिरिगुरुगिरवाँ ग्रामगेहो विदेहः॥

कणान् कर्षति वर्षति प्रियवचः कोलालकल्पं चयः।
बुद्धिं बोधयते यतेः पथि हृषीकाणीह नेनीयते।
ओङ्कारीयति शङ्करेण वपुषा सत्यं निसेसित्यृतम्,
लब्ध्वा स्वागतिका वयं सुकृतिनः तं कृष्णबोधाश्रमम् ॥ २॥

विश्वस्मिन् विगुणान् अकार्यनिपुणान् चेक्रीयते सद्गुणान्।
धर्माणामुपदिष्टिवृष्टिकरणे योऽहर्निशं निःश्रमम्।
अद्य स्वागतिका वयं सुकृतिनः प्राप्यात्मसन्मन्दिरे,
तं श्री शङ्कर बाबुअग्रजम् सुभुजं श्रीविष्णुबोधाश्रमम्, ३

अपभ्रंश साहित्य का सौन्दर्य

डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय

वाराणसी

In the present article, light has been thrown on the originality, freshness and beauty of imagination and ideas in the *Apabhraṃśa* literature.

बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में जर्मनी के विद्वान् श्री पिशेल, डॉ० हरमन याकोबी, श्री चिमन लाल डाह्या भाई दलाल, श्री पांडुरंग गुणे, मुनि-जिनविजय जी, श्री नाथूराम प्रेमी, प्रो० हीरालाल जैन, श्री आदिनाथ उपाध्ये, परशु-राम लक्ष्मण वैद्य, पं० राहुल सांकृत्यायन, हरिवल्लभ भयाणी, पं० हरप्रसाद शास्त्री तथा डॉ० शाहिदुल्ला आदि पंडितों की तपस्या, अनुसंधान, संपादन-प्रकाशन से अप-भ्रंश साहित्य का जो भांडार प्रकाश में आया वह अमूल्य है। आचार्य भामह, दंडी, रुद्रट, राजशेखर, भोज आदि पंडितों और अलंकारशास्त्रियों के उल्लेखों से अपभ्रंश भाषा के विशाल साहित्य का आभास तो होता था पर इनकी प्राप्ति से प्रकाश का एक नया क्षितिज उद्भासित हुआ। जो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं उनकी संख्या अर्द्ध सहस्र तक पहुँच गई है। इसमें प्रबन्धकाव्य—महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक काव्य सभी प्रकार के काव्य ग्रंथ हैं। इसमें महापुराण, पुराण, चरित, कथा, रास, स्तुति, स्तोत्र, फाग, चाँचर, चउपई, कुलक संधि आदि अनेक काव्य रूपों में रचनाएँ निर्मित मिलती हैं। इनमें मानव जीवन की विविध भावनाओं और विचारों की जो अभिव्यक्ति मिलती है, वह अद्भुत है। इसमें एक ओर जहाँ स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, रामसिंह, जोइन्दु, देवसेन, कनकामर, जिनप्रभ, जिनपद्म, शालिभद्र, जैसे जैनी साधकों के चिंतन की चिंतामणि है तो दूसरी ओर सरहपा, काण्हपा आदि चौरासी सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी। एक ओर जहाँ यहाँ धार्मिक भावनाओं और आदर्शों से ओत-प्रोत शलाका पुरुषों का उदात्त जीवन चरित प्राप्त होता है तो दूसरी ओर 'संदेश रासक', 'मुंजरास', हेमचंद्र के दोहों 'प्राकृत पैंगलम्' आदि काव्य ग्रन्थों में प्रेमपूरित लौकिक

रस की मर्मस्पर्शी भावधारा प्रवाहित मिलती है। अज्ञात कविवृन्दों के छंदों में जो प्रेम-श्रद्धा-भक्ति के बीजबिन्दु मिलते हैं उनके प्रवाह और प्रभाव से हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग-भक्तिकाल निर्मित हुआ। सन्तों के काव्यों की पृष्ठभूमि तैयार हुई। प्रेम और शृङ्गार के कवियों की भावभूमि बनी। इस प्रकार इस साहित्य का सौंदर्य मात्र अपने तक सीमित न रह कर आगे के साहित्य पर अपना प्रभाव और प्रकाश बिखेरने में समर्थ हुआ।

अपभ्रंश साहित्य का सौन्दर्य स्वतःस्फूर्त है। इसकी इस शक्ति का स्पष्ट प्रमाण महाकवि कालिदास विरचित 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का वह दोहा है जिसमें राजा पुरुरवा राजसंस्कृति के सभी कायदा-कानून, नाट्यशास्त्रियों द्वारा निर्देशित संस्कृत में ही बोलने की बाध्यता को तोड़कर प्रिया विरह की अपनी सहज प्रेमिल भावनाओं को अपभ्रंश भाषा के दोहा छंद में ही अनायास मुखरित करता है—

'मइँ जाणिग्रँ मिग्रलोयणी णिसिग्ररु कोइ हरेइ।
जाव ण णवतडि सामलो धाराहरु बरिसेइ॥'

बादलों की घनघोर घटा छायी हुई है। बिजली चमक रही है। उसे लगता है कि इतनी चमक उसकी प्रिया उर्वशी के अलावा और किसकी हो सकती है? हो-न-हो काला बादल जैसा कोई राक्षस उसकी प्रिया को हरे लिए जा रहा है। पर काले-काले बादल जब बिजली की तड़तड़ाहट के साथ धरासार वर्षा करने लगे तब कहीं उसका भ्रम दूर हुआ कि यह मेरी प्रिया नहीं, बिजली है, काला राक्षस नहीं बादल है। इस दूहा विद्या (अपभ्रंश) में निकली इस स्वाभाविक वाणी को विक्षिप्त राजा का प्रलाप कहकर संतोष भले ही कर लिया जाय पर वास्तविक बात यह है कि कालिदास जैसे पीयूषवर्षी कवि लोकभाषा के इस मार्मिक छंद में रचना करने का लोभ नहीं संवरण कर सके होंगे और मौका तथा बहाना ढूँढ़कर ऐसे छंदों को लिख ही दिया।

पर यह आकस्मिक घटना नहीं थी। यदि ऐसा होता तो अपभ्रंश के सौन्दर्य का सोता सूख गया होता, पर इसके ठीक विपरीत इसके सौन्दर्य का आकर्षण दिन-प्रतिदिन और अधिक बढ़ता ही गया। संस्कृत साहित्य में माघ, भारवि और श्रीहर्ष की वाग्विदग्धता, शब्दगुम्फन, आलंकारिकता, अनुप्रासों की छटा, यमकों की घटा, विकट पदबंध, बुद्धिवैभव जनित उक्तियाँ तथा गद्य के क्षेत्र में सुबाहु, दण्डी और बाण के परिष्कृत वाग्विलास की तुलना में अपभ्रंश के सहज-सुकुमार, मर्मस्पर्शी, ओज-शौर्य सम्पन्न, वीरता-तप-त्याग से संकलित अव्याज मनोहर इन कविताओं का अपना अलग सौन्दर्य और आकर्षण है, इसे अब स्पष्टतः स्वीकार कर लिया गया है पर संक्षेप में इसे देख लेना भी आवश्यक है।

अपभ्रंश साहित्य में प्रेम, शृङ्गार आदि कोमल भावनाओं की सरस उद्भावनाओं का अद्भुत सौन्दर्य प्राप्त होता है। जैन काव्य, जैनेतर सिद्ध-नाथपंथी काव्य-

धाराएँ भी उससे अछूती नहीं हैं। यह समझना उचित नहीं है कि अपभ्रंश के जैनी कवि सर्वथा विरक्त होते हैं और उन्हें निवृत्ति, विरक्ति और निर्वेदात्मक शान्त रस का चित्रण ही काम्य होता है। वे ऐसा करते हैं पर यह उनके अन्त की परिणति है प्रारम्भ और मध्य की नहीं। जैन कवि यह भलीभाँति जानता है कि संपूर्ण जीवन को विरक्तिमय बना देना प्रकृति के विपरीत है। जिस धर्म ने ऐसा किया वह नष्टप्राय हुआ। पर शृङ्गार में ही हमेशा गोते लगाते रहना भी श्रेयस्कर नहीं है इसे भी जैन कवि भलीभाँति जानता है। अतः जैन कवि प्रेय और श्रेय का अद्भुत सम्मिश्रण अपने अपभ्रंश काव्यग्रन्थों में करता है। वह शम या विरक्ति को सोद्देश्य मानते हुए भी सांसारिक समृद्धि,रूप-वैभव, शृंगार-सजाव, विलास, कामासक्ति तथा प्रेम विभोरता का ऐसा वास्तविक चित्र उपस्थित करता है कि जीवन का भोगपक्ष साक्षात् मूर्तिमान होकर सामने आ खड़ा होता है और पाठक को आत्मविभोर कर देता है। महाकवि 'स्वयंभू' ने अपने ''पउम चरिउ' (पद्मचरित-रामायण) में सीता के सौन्दर्य का ऐसा मनोरम वर्णन किया है जिसमें शृङ्गार भावना भी है और राम और सीता के स्वाभाविक प्रेम की झाँकी भी। राम जब सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं तो सीता अपने नयन कटाक्ष से उसका वर्जन करती हैं—

हरि पहरंतु पसंसिउ जावेंहि। जाणइ-णयण कडक्खिय तावेंहिं।

उनकी मंथरगति कलहंस की सुन्दर चाल की तरह मस्तानी है, उनकी कटि क्षीण है तो नितंब सविस्तर। लोचन सुललित हैं तथा पीठ पर वेणी ऐसी हिल रही है मानो चंदनलता पर नागिन डोल रही हो—

''थिर कलहंस-गमण गइ-मंथर। किस मज्झारें णियंवे सुवित्थर।
सुललिय-लोयण ललिय पसण्णहँ। णं वरइत्त मिलिय वर-कण्णहँ।
डोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि। चंदण-लयहिं ललइ ण णाइणि।

इसी प्रकार महाकवि 'पुष्पदंत' ने अपने तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार (महापुराण) में कृष्ण और गोपियों के प्रेम-शृङ्गार भावना से ओत-प्रोत जड़ता, मूढ़ता, प्रगलभता और भोलेपन का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है। गोपियाँ कृष्ण द्वारा तोड़ी हुई मथानी का मोल प्रेमालिंगन से चुकाने की माँग करती हैं। कृष्ण की छाया से उनकी पीली चोली काली पड़ जाती है तो भोली-भाली गोपिकाएँ उसकी कालिमा दूर करने के लिए उसे जल से प्रक्षालित करती हैं—

''एयहि मोल्लु देउ आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु में प्रंगणु,
काहिवि गोविहि पंडुरु चेलउं। हरि-तणु तेएँ जायउं कालउं,
मूढ जलेण काइं पक्खालइ, णिय-जडत्तु सहियहिं दक्खालइ।

हेमचंद के दोहे, संदेसरासक, मुंजरासो, 'प्राकृतपैंगलम्' के दोहे-छन्द, प्रेम-

श्रृंगार की भावनाओं के संचित भंडार ही हैं। इनमें तो स्वयंभू, पुष्पदंत, त्रिभुवन की शास्त्रीयता, पांडित्य, अलंकार, पिंगल की विशेष रुझान भी नहीं है। इनमें ग्राम्य जीवन की सरलता-निश्छलता, निराडंबरता और सहज आकर्षणजन्य सौन्दर्य है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

हेमचंद्र के दोहों में शौर्य और प्रेम की अद्भुत धूपछाहीं छवि मिलती है। यहाँ के नायक का जन्म दो तरह से नागा (व्यर्थ) चला जाता है। पहला यदि उसने तीखे घोड़े पर चढ़कर भट के सिर पर खड्ग भग्न नहीं किया और दूसरे गोरी (प्रियतमा) को गले नहीं लगाया —

"एहु जम्मु नग्गहं गियउ भड-सिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खाँ तुरिय न माणिया गोरी गलि न लग्गु।"

यहाँ के नायक-नायिकाओं में लुक-छिप कर प्रेम करने की आदत कम है। ये भरे भौन में नैनन से चोरी-चोरी बातें नहीं करते। यह घर-आँगन का प्रेम नहीं, जीवन के कर्म क्षेत्र में हँसते-हँसते प्राण न्योछावर कर देने वाला प्रेम है। प्रिय को युद्धक्षेत्र में जाना ही जाना है। प्रियतमा का उससे फिर मिलना हो या न हो, क्या ठिकाना। पर क्या हुआ—"प्रिया के लिए तो अगलित स्नेह में निवटा (पका) हुआ प्रिय यदि लाखों योजन चला जाय और सौ वर्ष में भी यदि मिले तो भी हे सखि, सौख्य (प्रेम) का स्थान वही रहता है।

"अगलिअ-नेह निवट्टाहं जोअण लक्खु वि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ।

फिर यह विरह-व्याकुल प्रिया इतनी दूर और इतने समय के बाद लौटे हुए प्रिय से मात्र मिलकर ही संतोष कर लेगी ? नहीं। उसे तो एक ऐसा अकृत (अपूर्व) कौतुक करना पड़ेगा। वह तो प्रिय के सर्वांग में ऐसे पैठ जायेगी जैसे पानी मिट्टी के नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है—अंग-प्रत्यंग में भीन जाता है।

जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवं सव्वगे पइसीसु॥

निश्चित ही ऐसा प्रेम प्रगाढ़ होगा। प्रिय में कोई दोष नहीं देख-सुन पायेगा। प्रिया सखी से कहती है कि यदि प्रिय कहीं सदोष दिखाई पड़ा हो तो मुझसे निभृत (एकांत) में ऐसे कहो कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके। पर ऐसा एकांत कहाँ मिलेगा ?

भण सहि निहुअउँ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेवं ण जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥

यह कोई नई बात नहीं है कि प्रेम को देखकर दुर्जनों के मन में गाँठ पड़ जाती है। उन्हें दोष दिखाई देने लगता है। वे गरजने लगते हैं। विरह के दिनों में तो इनकी और बन आती है पर "अरे खल मेघ अब मत गरज, देखता नहीं है कि लवण पानी में विलीन हो रहा है, वियोगदग्ध झोंपड़ा भींग रहा है और इतने दिन की विरह की मारी प्रिया आज प्रिय के प्रेम रस में सराबोर हो रही है'—

लोण विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेह म गज्जु।
बालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु॥

वियोग की क्षीणता की संयोग क्षणमात्र में पूर्ति कर देता है, इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है—विरहिणी का अब काक के शकुन पर विश्वास नहीं रहा। मुड़ेर पर उसकी आवाज सुनते-सुनते उसके कान पक गये पर प्रिय नहीं आया लेकिन काग है कि बोलता ही जा रहा है। विक्षोभ से कौए को उड़ाती नायिका ने प्रिय को सहसा देख लिया। आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गयी थीं पर प्रिय के दर्शन से खुशी की लहर में दुबली कलाई फूलकर इतनी मोटी हो गई कि आधी चूड़ियाँ तड़-तड़ टूटकर बिखर पड़ीं—

वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टु तडत्ति॥

अब्दुल रहमान के 'संदेश रासक' तथा 'प्रबन्ध 'चिंतामणि' 'पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह' में मुंज-मृणालवती सम्बन्धी दोहों में भी प्रेम-विरह की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। संदेश रासक की विरहिणी कहती है कि—'मेरा प्रिय मेरे अन्त-स्तल में सुनार की तरह उत्कंठा जाग्रत करता रहता है, क्योंकि पहले तो वह विरह की आग में जलाता है फिर आशा के जल से सींचता है'—

सुन्नारह जिम मह हियउ पिअ उक्किंख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जलि सिंचेइ॥

ऐसी ही सहज अभिव्यक्ति मृणालवती के सौन्दर्य की प्रशंसा में मुंज द्वारा कहे गये इस दोहे में है—"गत यौवन की याद में मृणालवती तुम इतनी दुःखी क्यों हो रही हो? क्या तुम यह नहीं जानती कि मिश्री चूर-चूर भी हो जाये तो भी चूरे उतने ही मीठे बने रहते हैं" :

मुंज भणइ मुणालवइ गउ जुब्बणु मति झूरि।
जो सक्कर सय खण्ड किअ तो वि स मिट्ठी चूरि॥

पर हेमचन्द्राचार्य संगृहीत दोहों का सौन्दर्य मात्र इतने तक ही सीमित नहीं

है। उसमें शौर्य, वीरता, वीरांगनाओं का अपने वीर पतियों की शूरता पर सहज गर्व सम्बन्धी नवीन प्राणस्पंदी उक्तियों का सौन्दर्य अपने ढंग का निराला है। युद्ध क्षेत्र में पति का लड़ते-लड़ते मर जाना इनके लिए गौरव की बात है पर वही प्रिय यदि पीठ दिखाकर भाग आता तो वह सखियों के बीच कितनी लजाती—

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेज्जंतु वयंसियहु, जइ भग्गा घर एंतु॥

पर ऐसी धीर पत्नी का पति वीर ही हो सकता है। वह रणछोड़ भगोड़ा नहीं हो सकता। उसे थोड़े होने की भी चिन्ता नहीं होती। वह अपनी प्रिया से कहता है कि 'हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत। ऐसा तो कायर लोग कहते हैं। मुग्धे ! जरा आकाश की ओर तो निहारो ! वहाँ एक ही चन्द्रमा प्रकाश बिखेरने में समर्थ है, पर बहुत सारे तारे नहीं'—

अह्मे थोवा रिउ बहुअ, कायर एव भणंति।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु, कइ जण जोण्ह करंति॥

अपभ्रंश में शौर्य, शृङ्गार, धर्म, नीति सम्बन्धी ऐसे दोहों का अद्‌भुत लोक दिखाई पड़ता है। यहाँ भय और आशंका नाम की कोई चीज दिखाई नहीं पड़ती। भविष्य की चिन्ता नहीं सताती। यहाँ गागर में सागर का खारा पानी नहीं, अमृत रस भरा है। अपभ्रंश के काव्यग्रन्थों में प्रायः इसी प्रकार की नितनूतनता, सहज सौन्दर्य, भरपूर ताजगी, निष्कलुष प्रेम, दिनकर का ओज और ज्योत्सना की स्निग्धता सर्वत्र मिलेगी।

इस साहित्य का यह सौन्दर्यात्मक पक्ष जीवन को निराशा से उबारकर आशा की ओर प्रेरित कर देता है। इन कवियों ने जीवन के सुख-दुःख में भी 'समरसता' स्थापित करने की चेष्टा की और उस 'परम महासुख' में इस प्रकार विलीन हो जाने का उपदेश दिया, जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है—

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएँहि, तिमि धरणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणें जइ पुणु ते सम णित्त॥

इसी प्रकार देवसेन, रामसिंह, जोइन्दु जैसे जैन मुनियों में अपभ्रंश की जो अध्यात्म और रहस्यवादी धारा प्रवाहित हुई, उसका भी अपना अलग सौन्दर्य है। उनकी रचनाओं में उदारता, चारित्रिक शुद्धता, लक्ष्य की महानता, समरस भाव की साधना, गुरु की महत्ता, संकीर्ण ज्ञान एवं ग्रन्थों का विरोध, आत्मज्ञान की श्रेष्ठता, सांसारिक विषयों के त्याग की पूत भावनाएँ बड़े ही सहज सरल ढंग से अभिव्यक्त

हुई हैं । जीवन को सुन्दरतम बनाने में इनकी महती भूमिका है । ये कवि बड़ी सहृदयता और उदारता के साथ सभी देवताओं और धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, देवों का देह में निवास मानते हैं और कोई भेद-भाव नहीं मानते । आज भी ऐसी मान्यताओं की कितनी सार्थकता है, सहज विचारणीय है—

सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्द वि सो बुद्ध ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ।
एवंहि लक्खण लक्खियउ, जो पर णिक्कलु देउ ।
देहहं मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ ।

जोइन्दु के 'योगसार' से

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश साहित्य का सौन्दर्य ऐसा है जिसमें मानव जीवन को आन्दोलित करने की अद्भुत क्षमता है । इसमें मूल्यवत्ता, मानवता, काव्य-वैभव, विचारों की उदात्तता और चिन्तन की चिन्तामणि निहित है । निःसंदेह अपभ्रंश का काव्य-सौन्दर्य अप्रतिम है ।

भारतीय कला में बुद्ध-जन्म

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

इलाहाबाद

Buddha's nativity was an epoch making event which attracted Indian artists to carve it in stone. The author, in this paper, describes in detail various scenes of the Buddha's nativity which are sometimes identified by scholars with the *śālabhañjikā* motifs.

बुद्ध-जन्म भारतीय जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जन-जन में व्याप्त जन्म, जरा, ज्वर और जीर्णता के कष्ट से छुटकारा दिलाने का मार्ग प्रशस्त करके गौतम बुद्ध ने एक नए युग का प्रवर्तन किया था। उनके चार आर्य सत्यों ने तृष्णा को जीतने की जो मध्यमार्गी दिशा दिखाई, उस पर चलकर निर्वाण (आवागमन के चक्र के दुःखों से छुटकारा) पाना सहज हो गया था। ऐसे महायोगी और दीनबन्धु का जन्म वस्तुतः एक असाधारण और महत्त्वपूर्ण घटना थी। जीवन के बहुआयामी सतरंगे पक्षों को उजागर करने वाले भारतीय कलाकारों की दृष्टि से बुद्ध-जन्म की घटना भी छिपी न रह सकी। उन्होंने इसे भी भाव-विभोर होकर भाँति-भाँति से उत्कीर्ण किया है।

बुद्ध-जन्म को आँकने वाले कलाकारों के समक्ष बौद्ध साहित्य का बृहद् भण्डार उपलब्ध था जिसमें गौतम बुद्ध के सर्वांग जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र आलेखित थे। गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन से कहे गए 'यदा यदा हि धर्मस्य....' और गोस्वामी तुलसीदास द्वारा दोहराए गए वचन 'जब जब होइ धरम की हानी....' बुद्ध-जन्म के विषय में भी सार्थक समझे गए थे। देवता भी चाहते थे कि बुद्ध-धरती पर अवतरित हों और मानवता को जीवन के दुःखों से छुटकारा दिलाकर कल्याए का मार्ग प्रशस्त करें। और ऐसा ही हुआ।

साहित्यिक साक्ष्य

कपिलवस्तु शाक्य गणराज्य की राजधानी था। वहाँ के राजा शुद्धोधन के दो रानियाँ थीं—महामाया और प्रजापती। दोनों बहनें थीं और पड़ोस के नगर

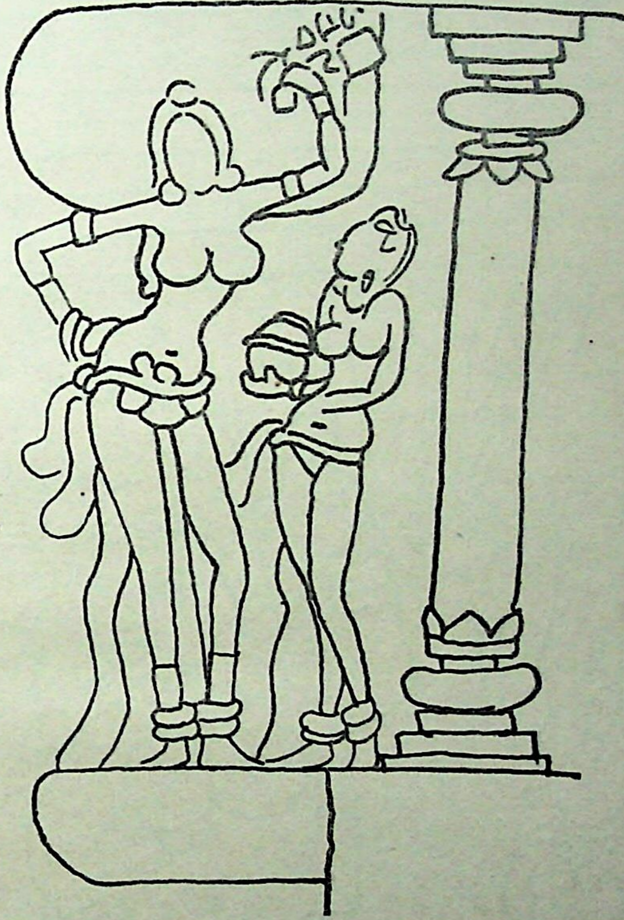
देवदह के राजा की पुत्रियाँ थीं। एक दिन महामाया ने स्वप्न में आकाश से अपनी ओर आते हुए एक श्वेत षड्दन्ती हाथी के आकार का एक झिलमिलाता नक्षत्र देखा जो निकट आकर रानी की दाईं कुक्षि में प्रवेश कर गया। स्वप्न की व्याख्या में राजदरबार के ज्योतिषी-पण्डितों ने कहा कि रानी एक पुत्र को जन्म देंगी जो यदि राज्य करेगा तो चक्रवर्ती सम्राट् होगा और यदि जन-कल्याण करेगा तो महात्मा होगा। और रानी गर्भवती हो गईं। गर्भ के दिन पूरे होने पर, स्थानीय परम्परानुसार रानी ने अपने नैहर देवदह जाने की इच्छा प्रकट की जिसे राजा ने अविलम्ब स्वीकार किया और राजकीय गरिमा के साथ प्रजापती तथा सेविकाओं के संसर्ग में महामाया की यात्रा का प्रबन्ध करवा दिया। दोनों नगरों के बीच में लुम्बिनि नाम का एक शाल-वन था। महामाया वहाँ विश्राम के लिए रुकीं। वसंत की सुहावनी ऋतु थी। सभी शालवृक्ष सुरभित पुष्पों से लदे हुए थे। उनकी शाखाओं पर रंग-बिरंगे पक्षी चहचहा रहे थे। लुम्बिनिवन की वासंती शोभा देखकर महामाया ने शालभंजिका क्रीड़ा करनी चाही (शालभंजिका पूर्वी भारत में स्त्रियों की एक लोकप्रिय उद्यान-क्रीड़ा थी जिसमें संभवतः वे पुष्पित शालवृक्षों की कोमल टहनियों को तोड़कर एक-दूसरे पर प्रहार करके खेलती थीं)। ज्यों ही उन्होंने एक शालवृक्ष की कुसुमित शाखा को पकड़ना चाहा वह स्वयं झुककर उनके हाथ में आ गई और उसी समय उन्हें प्रसव-वेदना की अनुभूति हुई। एक हाथ से शालवृक्ष की डाल पकड़े और दूसरे से बहन प्रजापती के कंधे का सहारा लिए खड़े ही खड़े महामाया ने बोधिसत्त्व को जन्म दिया जिसे रेशमी पट पर प्राप्त करने के लिए इन्द्र, ब्रह्मा आदि चारों लोकपाल तत्काल उपस्थित हो गए। बोधिसत्त्व जन्म लेते ही धरती पर खड़े हो गए और उन्होंने सात डग भरे। तत्पश्चात् आकाश से प्रकट हुये दो नागों ने उन्हें क्रमशः उष्ण और शीतल जल से स्नान करवाया और वहाँ उपस्थित होकर देवताओं और अप्सराओं ने नाच-गाकर हर्ष प्रकट किया।[1]

दैवी चमत्कार

बुद्ध-जन्म की यह कहानी बड़ी रोचक है क्योंकि इसमें रहस्यमय दैवी चमत्कार समाविष्ट है। डाल का अपने-आप झुक जाना, खड़े-खड़े बालक को जन्म देना, जन्म लेते ही बालक का खड़ा होना और सात डग भरना, आकाश से प्रकटे नागों द्वारा बालक को स्नान करवाना आदि सभी घटनाएँ दैवी चमत्कार से ओत-प्रोत हैं। अपने इन दैवी चमत्कारिक स्वरूपों के कारण ही बुद्ध-जन्म उनके जीवन की चार प्रमुख घटनाओं में से एक समझी जाने लगी थी। अन्य तीन घटनाएँ थीं महाभिनिष्क्रमण

---

१. निदानकथा जातक; मज्झिमनिकाय, २३/२, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार सरकार, १९५८, पृ॰ १८७ एवं आगे।



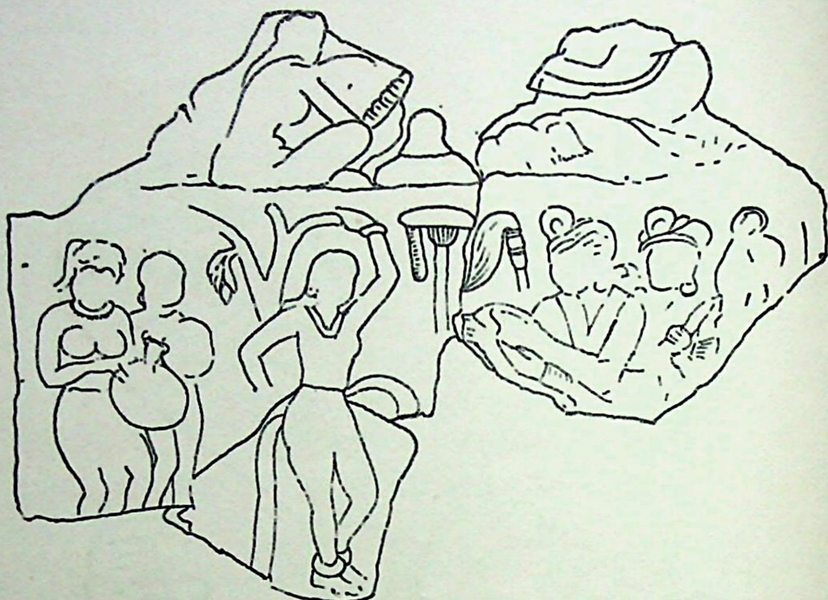
१. इक्ष्वाकु कला, नागार्जुनकोण्ड



२. कौशाम्बी, इलाहाबाद-संग्रहालय



३. मथुरा-कला, मथुरा-संग्रहालय



४. कौशाम्बी, इलाहाबाद-संग्रहालय



५. अमरावती, बृटिश संग्रहालय, लन्दन

(गृह-त्याग), सम्बोधि (बुद्धत्व की प्राप्ति) एवं महापरिनिर्वाण (मृत्यु)। बुद्ध के जीवन की इन चारों घटनाओं को भारतीय कलाकारों ने अपनी छेनी से तराश कर अमर बना दिया है।

बुद्ध-जन्म के लुभावने दृश्य भारतीय कला की निधि हैं जो देश के ही नहीं वरन् विदेशों के भी अनेक संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। इन दृश्य-फलकों में केन्द्रीय विषय-वस्तु तो "एक वृक्ष के नीचे उसी की एक डाल पकड़कर खड़ी एक नारी-मूर्ति" है जो शालभंजिका प्रतीक की प्रतिकृति जान पड़ती है। किन्तु यह शालभंजिका इसलिए नहीं कही जा सकती है क्योंकि इन दृश्य-फलकों में और भी मानव-आकृतियों का समायोजन है जो स्पष्टतः बुद्ध-जन्म का संकेत देता है। बुद्ध-जन्म के दृश्यों में मायादेवी को राजकीय गरिमा से मण्डित दिखाया गया है। एक भी दृश्य में उन्हें वृक्ष का आलिंगन करते हुए नहीं अंकित किया गया है। इसके विपरीत शालभंजिका मूर्तियों को एक अल्हड़ युवती के रूप में उत्कीर्ण किया गया है जो अपने सलोने रूप और मोहक मुद्राओं से एक कामिनी और रमणी की छवि झलकाती है।

हीनयान कला में बुद्ध-जन्म

नागार्जुनकोण्ड से एक प्रस्तर-खण्ड पर केवल रेखांकन पाया गया है जिसमें माया के समक्ष एक पात्र लिए उनकी सेविका उनके मुख की ओर निहार रही है।[२] कौशाम्बी से प्राप्त एक अन्य फलक में माया के एक ओर हाथ जोड़े एक सेविका तथा दूसरी ओर एक स्तंभ है जिसके ऊपर शीर्ष के पशु की आकृति बहुत स्पष्ट नहीं है।[३] ये दोनों फलक निश्चय ही शालभंजिका प्रतीक के नहीं, अपितु बुद्ध-जन्म के अंकन प्रस्तुत करते हैं।

मथुरा कला के एक फलक में महामाया के एक ओर प्रजापती और दूसरी ओर इन्द्र को उत्कीर्ण किया गया है जो रेशमी वस्त्र पर बोधिसत्त्व को लेने के लिए समुद्यत हैं।[४] बुद्ध-जन्म की घटना को और विस्तार से उजागर करने वाले दृश्य-फलक कौशाम्बी, अमरावती, नागार्जुनकोण्ड से तथा गांधार कला में प्राप्त हुए हैं। कौशाम्बी से प्राप्त एक शुंगयुगीन फलक दो टुकड़ों में मिला है। अधिक नष्ट हो जाने पर भी बुद्ध-जन्म का दृश्य अत्यन्त स्पष्ट है। दृश्य में मायादेवी अपने बाएँ हाथ से वृक्ष की डाल पकड़े हैं तथा उनका दायाँ हाथ कट्यवलम्बित मुद्रा में है। अवशिष्ट

---

२. द्र० पी० आर० रामचन्द्र राव, दि आर्ट ऑव नागार्जुनकोण्ड, मद्रास १९५६, फलक ५६।

३. द्र० प्रमोदचन्द्र, दि स्टोन स्कल्पचर इन दि इलाहाबाद म्यूजियम, फलक २९, चित्र ७४।

४. द्र० उदयनारायण राय, शालभंजिका, इलाहाबाद १९७९, फलक ७।

फलक में एक ओर इन्द्र आदि देवताओं की तीन आकृतियाँ हैं जो करबद्ध हैं और दूसरी ओर वाद्य यंत्रों को लिए दो अप्सराएँ हैं। माया और लोकपालों के बीच में माला से अलंकृत एक छत्र और एक चामर आकाश में स्थित दिखाए गए हैं जो एक ओर माया के राजत्व के तथा दूसरी ओर बुद्ध की उपस्थिति के प्रतीक हैं।[५] बुद्ध को हीनयान विचारधारा के अनुसार मानव रूप में अंकित करना वर्जित था।

अमरावती-स्तूप के अण्ड पर लगाया गया एक उत्कीर्ण शिला-फलक इस समय लंदन के बृटिश म्यूजियम में संगृहीत है। इस शिला-फलक पर चार दृश्य हैं—१. माया का स्वप्न-दर्शन, २. राजदरबार में स्वप्न की व्याख्या, ३. बुद्ध-जन्म और ४. नवजात शिशु का शाक्यवंश के यक्ष को दान। वस्तुतः ये चारों दृश्य एक ही कथानक से संबद्ध हैं। बुद्ध-जन्म के दृश्य में आकर्षक त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी महामाया ने बाएँ हाथ से वृक्ष की डाल पकड़ी है और दायाँ कटि पर स्थित है। वे अलंकृत केशपाश और चूडामणि, कर्णकुण्डल, वैकक्ष्यक हार, अंगद, कंकण, मेखला तथा नूपुर आदि विभिन्न आभूषणों से विभूषित हैं। उनके बाएँ पार्श्व में एक दासी है और दाएँ पार्श्व में एक रेशमी पट पकड़कर चारों लोकपाल खड़े हैं। पट पर सात पदचिह्न बने हैं जो बोधिसत्त्व के द्वारा जन्म लेते ही सात डग भरने का प्रतीकात्मक दृश्य समुपस्थित करते हैं। बीच में एक रिक्त आसन है जो बुद्ध की उपस्थिति का द्योतक है।[६]

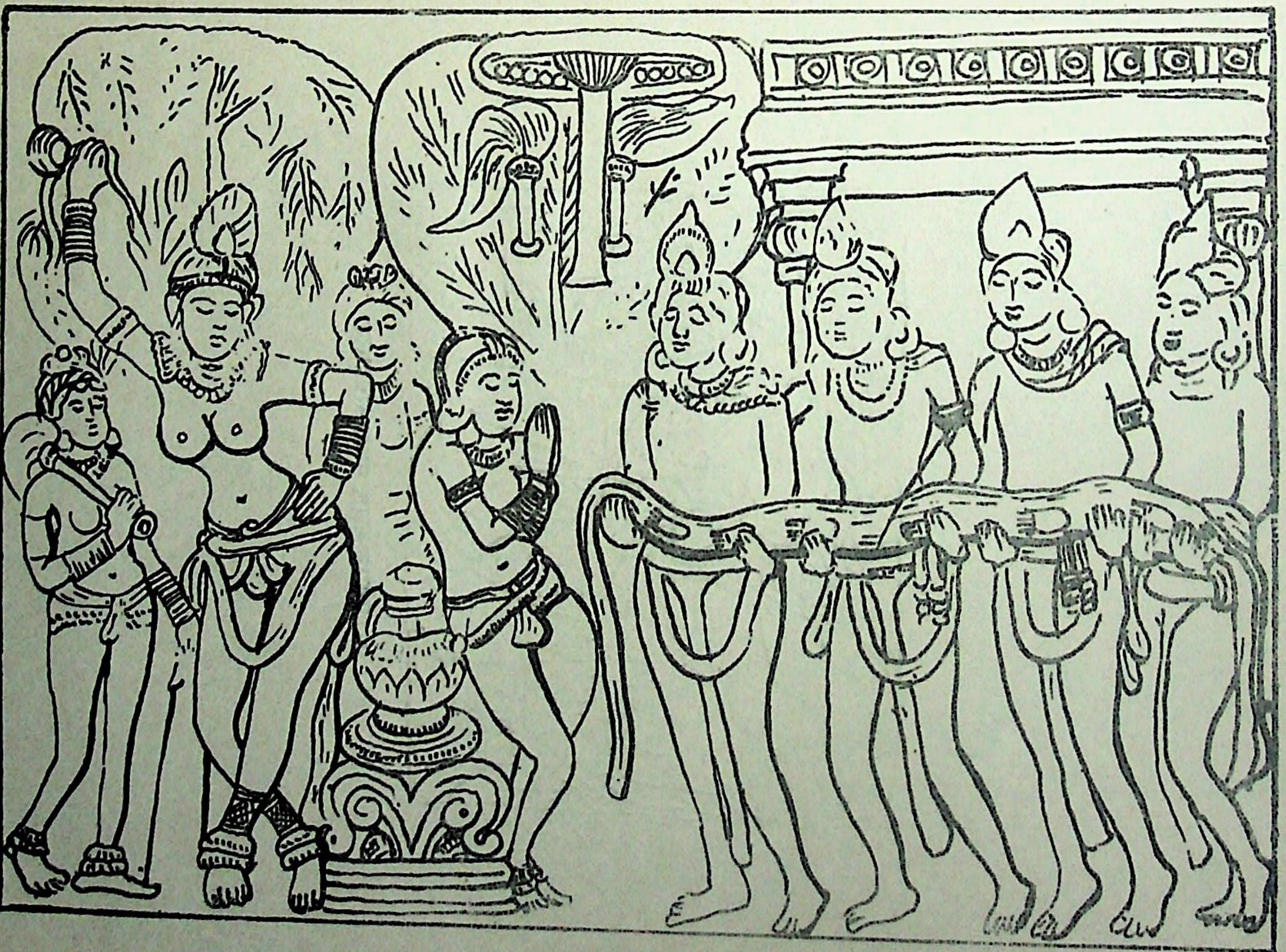
लगभग ऐसे ही कुछ दृश्य-फलक नागार्जुनकोण्ड की इक्ष्वाकु-कला में भी उपलब्ध हुए हैं। नागार्जुनकोण्ड की कला वस्तुतः अमरावती शैली का ही विकास-चरण है। एक दृश्य-फलक में कटिहस्ता माया के अतिरिक्त सप्तपदचिह्नांकित दुकूल पट लिए हुए चार दिक्पाल, उनका स्वागत करती हुई प्रजापती, एक चामरग्राहणी तथा एक अन्य दासी उत्कीर्ण है। उसी दृश्य में दूसरे वृक्ष के नीचे अंतरिक्ष में स्थित एक छत्र तथा उसके अगल-बगल दो चामर हैं। इस दृश्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतरिक्ष में स्थित छत्र और चामर निश्चय ही बोधिसत्त्व की उपस्थिति के प्रतीक हैं, क्योंकि रानी के राजत्व को दर्शाने के लिए एक चामरग्राहणी अलग से है ही। फलक के मध्य में उलटे त्रिरत्न की आकृति वाले आसन पर एक पद्मांकित मंगल-कलश रक्खा है।[७] नागार्जुनकोण्ड के ही एक अन्य फलक में छः दासियाँ और आकाश में उड़ते-गाते, मोद मनाते विद्याधरों की चार आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। इस फलक

---

५. द्र० वही, फलक ३ ए।

६. द्र० डगलस बैरेट, स्कल्पचर्स फ्रॉम अमरावती इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन १९५४, फलक ७, सं० ४४।

७. द्र० उदयनारायण राय, उपर्युक्त, फलक २।



६. इक्ष्वाकु कला, नागार्जुनकोण्ड



७. गांधार कला, मथुरा-संग्रहालय



८. गांधार कला, इलाहाबाद-संग्रहालय



९. गांधार कला, बर्लिन-संग्रहालय



१०. गांधार कला, कराची-संग्रहालय

में मंगल-कलश के निकट ही एक ऊँचा रिक्त आसन भी उकेर दिया गया है।[८] यह रिक्त आसन का प्रतीक भी बुद्ध अथवा बोधिसत्व की उपस्थिति का द्योतक है।

महायान कला में बुद्ध-जन्म

बुद्ध-जन्म गांधार-कला का भी एक अत्यंत प्रिय विषय रहा है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक की गांधार-कला इस बात के साक्ष्य उपस्थित करती है। प्राथमिक उत्कीर्ण फलकों में प्रायः बोधिसत्त्व को मायादेवी की दाईं कुक्षि से बाहर आते हुए संकेतित किया गया है। किन्तु कालान्तर में उन्हें भूमि पर समपाद मुद्रा में खड़े हुए दिखलाया गया है। बोधिसत्त्व का यह अधूरा एवं पूरा मानवी रूपांकन वस्तुतः महायान बौद्ध विचाराधारा का प्रतिफल था जो ब्राह्मण धर्म के भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित होकर हीनयान की संकुचित विचारधारा को त्यागकर विकासवादी हो रहा था। विष्णु और शिव के ही समान अपने इष्टदेव की प्रतिमा गढ़ने के लिए बौद्ध अनुयायी भी समुत्सुक थे। परिणामस्वरूप बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की सैकड़ों-हजारों सुन्दर प्रतिमाओं का निर्माण संभव हो सका।

गांधार शैली में बुद्ध-जन्म का एक-एक दृश्य-फलक मथुरा, इलाहाबाद, पटना, पेशावर तथा बर्लिन के संग्रहालयों में है। मथुरा से प्राप्त गांधार-फलक में भारी-भरकम वस्त्राभूषण एवं केशभूषा से अलंकृत और त्रिभंग मुद्रा में खड़ी मायादेवी दाएँ हाथ से वृक्ष की डाल पकड़े हैं तथा बायाँ हाथ प्रजापती के कंधे पर रखकर सहारा ले रही हैं। उनकी दाईं कुक्षि से बालक सिद्धार्थ का जन्म लेते एवं शक्र द्वारा उन्हें कौशेय पट पर प्राप्त करते दिखाया गया है। फलक में दाईं ओर एक सेविका खड़ी है जिसके दाएँ हाथ में कमण्डलु और बाएँ हाथ में व्यजन जैसा उपकरण है।[९]

इलाहाबाद-संग्रहालय वाले फलक में सात मानव आकृतियाँ हैं। मध्य में प्रजापती के कंधे का सहारा लेकर तथा दाएँ हाथ से शालवृक्ष की टहनी पकड़कर मायादेवी आकर्षक त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं। प्रजापती को भी अपने दोनों हाथों से मायादेवी को सहारा देते हुए प्रदर्शित किया गया है। गांधार शैली की विशिष्ट वेश-भूषा धारण किए मायादेवी की मुखमुद्रा शान्त है। उनकी दाईं कुक्षि से बाहर आते बालक को शक्र अपने अंक में उठाने के लिए समुद्यत हैं। उनके पीछे श्रद्धा से हाथ जोड़े ब्रह्मा खड़े हैं। सबसे बाईं ओर एक अन्य लोकपाल अपने दाएँ हाथ से वस्त्र उछालकर नवजात शिशु का स्वागत कर रहा है, साथ ही साथ अपने बाएँ हाथ की तर्जनी को मुँह पर रखकर वह बुद्ध-जन्म की चमत्कारिक घटना पर विस्मय भी प्रकट

---

८. द्र० वही, फलक ३।

९. द्र० वही, फलक ७।



९. गांधार कला, र्बलिन-संग्रहालय



१०. गांधार कला, कराची-संग्रहालय

में मंगल-कलश के निकट ही एक ऊँचा रिक्त आसन भी उकेर दिया गया है।[८] यह रिक्त आसन का प्रतीक भी बुद्ध अथवा बोधिसत्व की उपस्थिति का द्योतक है।

महायान कला में बुद्ध-जन्म

बुद्ध-जन्म गांधार-कला का भी एक अत्यंत प्रिय विषय रहा है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक की गांधार-कला इस बात के साक्ष्य उपस्थित करती है। प्राथमिक उत्कीर्ण फलकों में प्रायः बोधिसत्त्व को मायादेवी की दाईं कुक्षि से बाहर आते हुए संकेतित किया गया है। किन्तु कालान्तर में उन्हें भूमि पर समपाद मुद्रा में खड़े हुए दिखलाया गया है। बोधिसत्त्व का यह अधूरा एवं पूरा मानवी रूपांकन वस्तुतः महायान बौद्ध विचाराधारा का प्रतिफल था जो ब्राह्मण धर्म के भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित होकर हीनयान की संकुचित विचारधारा को त्यागकर विकासवादी हो रहा था। विष्णु और शिव के ही समान अपने इष्टदेव की प्रतिमा गढ़ने के लिए बौद्ध अनुयायी भी समुत्सुक थे। परिणामस्वरूप बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की सैकड़ों-हजारों सुन्दर प्रतिमाओं का निर्माण संभव हो सका।

गांधार शैली में बुद्ध-जन्म का एक-एक दृश्य-फलक मथुरा, इलाहाबाद, पटना, पेशावर तथा बर्लिन के संग्रहालयों में है। मथुरा से प्राप्त गांधार-फलक में भारी-भरकम वस्त्राभूषण एवं केशभूषा से अलंकृत और त्रिभंग मुद्रा में खड़ी मायादेवी दाएँ हाथ से वृक्ष की डाल पकड़े हैं तथा बायाँ हाथ प्रजापती के कंधे पर रखकर सहारा ले रही हैं। उनकी दाईं कुक्षि से बालक सिद्धार्थ का जन्म लेते एवं शक्र द्वारा उन्हें कौशेय पट पर प्राप्त करते दिखाया गया है। फलक में दाईं ओर एक सेविका खड़ी है जिसके दाएँ हाथ में कमण्डलु और बाएँ हाथ में व्यजन जैसा उपकरण है।[९]

इलाहाबाद-संग्रहालय वाले फलक में सात मानव आकृतियाँ हैं। मध्य में प्रजापती के कंधे का सहारा लेकर तथा दाएँ हाथ से शालवृक्ष की टहनी पकड़कर मायादेवी आकर्षक त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं। प्रजापती को भी अपने दोनों हाथों से मायादेवी को सहारा देते हुए प्रदर्शित किया गया है। गांधार शैली की विशिष्ट वेश-भूषा धारण किए मायादेवी की मुखमुद्रा शान्त है। उनकी दाईं कुक्षि से बाहर आते बालक को शक्र अपने अंक में उठाने के लिए समुद्यत हैं। उनके पीछे श्रद्धा से हाथ जोड़े ब्रह्मा खड़े हैं। सबसे बाईं ओर एक अन्य लोकपाल अपने दाएँ हाथ से वस्त्र उछालकर नवजात शिशु का स्वागत कर रहा है, साथ ही साथ अपने बाएँ हाथ की तर्जनी को मुँह पर रखकर वह बुद्ध-जन्म की चमत्कारिक घटना पर विस्मय भी प्रकट

---

८. द्र० वही, फलक ३।

९. द्र० वही, फलक ७।

कर रहा है। प्रजापती के पीछे दो सेविकाएँ हैं जो क्रमशः व्यजन और कमण्डलु लिए हैं। इस फलक में बाईं ओर ऊपर आकाश में उत्कीर्ण दो दुन्दुभियाँ और दाईं ओर नागदन्त पर लटकती मालाएँ बुद्ध-जन्म के अवसर पर देवताओं द्वारा मोद मनाने और अप्सराओं द्वारा उनका अभिषेक-शृंगार करने का भाव प्रकट करती हैं।[१०]

पटना-संग्रहालय में प्रदर्शित बुद्ध-जन्म वाले दृश्य-फलक में सबसे दाईं ओर एक मण्डप में बुद्ध की प्रतिमा भी उकेर दी गई है। फलक में त्रिभंग मुद्रा में मायादेवी, सहारा देती प्रजापती, बाईं ओर चारों लोकपाल जिनमें सबसे आगे पट पर बोधिसत्त्व को लेते हुए इन्द्र, दाईं ओर तीन सेविकाएँ जिनमें सबसे आगे वाली के हाथों में कमण्डलु और व्यजन है, दाएँ ऊपर आकाश में तीन अप्सराएँ और बाएँ ऊपर नाचते-गाते तीन देवता उत्कीर्ण किए गए हैं।[११]

पेशावर वाले दृश्य-फलक में मायादेवी, प्रजापती, दो सेविकाएँ और दो लोकपाल उकेरे गए हैं। सम्पूर्ण दृश्यांकन ऊपर वर्णित किए गए फलकों जैसा ही है।[१२]

बुद्ध-जन्म का जो दृश्य-फलक बर्लिन-संग्रहालय में है उसमें लोकपालों, देवताओं और सेविकाओं को मिलाकर कुल दस मानव आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। शाल-वृक्ष की टहनी पकड़े त्रिभंग मुद्रा में मायादेवी और उन्हें सहारा देती प्रजापती बीच में उत्कीर्ण हैं। बाईं ओर माया के निकट खड़े शक्र माया की दाईं कुक्षि से जन्म लेते बोधिसत्त्व को कौशेयपट पर ले रहे हैं। शक्र की पहचान उनके विशिष्ट किरीट से स्पष्ट है। उनके पीछे विस्मय की मुद्रा में संभवतः ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा के पीछे हाथ जोड़े एक अन्य लोकपाल अंकित है। प्रजापती के दाईं ओर कमण्डलु और व्यजन लिए एक तथा आगे बढ़ने के लिए समुद्यत दूसरी सेविका के अंकन हैं। आकाश में बाईं ओर दो तथा दाईं ओर एक देवता उत्कीर्ण हैं जो मायादेवी और नवजात शिशु की ओर अत्यन्त श्रद्धा से निहार रहे हैं।[१३]

कराची और लाहौर के संग्रहालयों में भी बुद्ध-जन्म का एक-एक फलक है। इन फलकों में थोड़ी भिन्नता है। इनमें बोधिसत्त्व को माया की कुक्षि से निकलता

---

१०. द्र० प्रमोदचन्द्र, उपर्युक्त, फलक ४७, चित्र ११०।

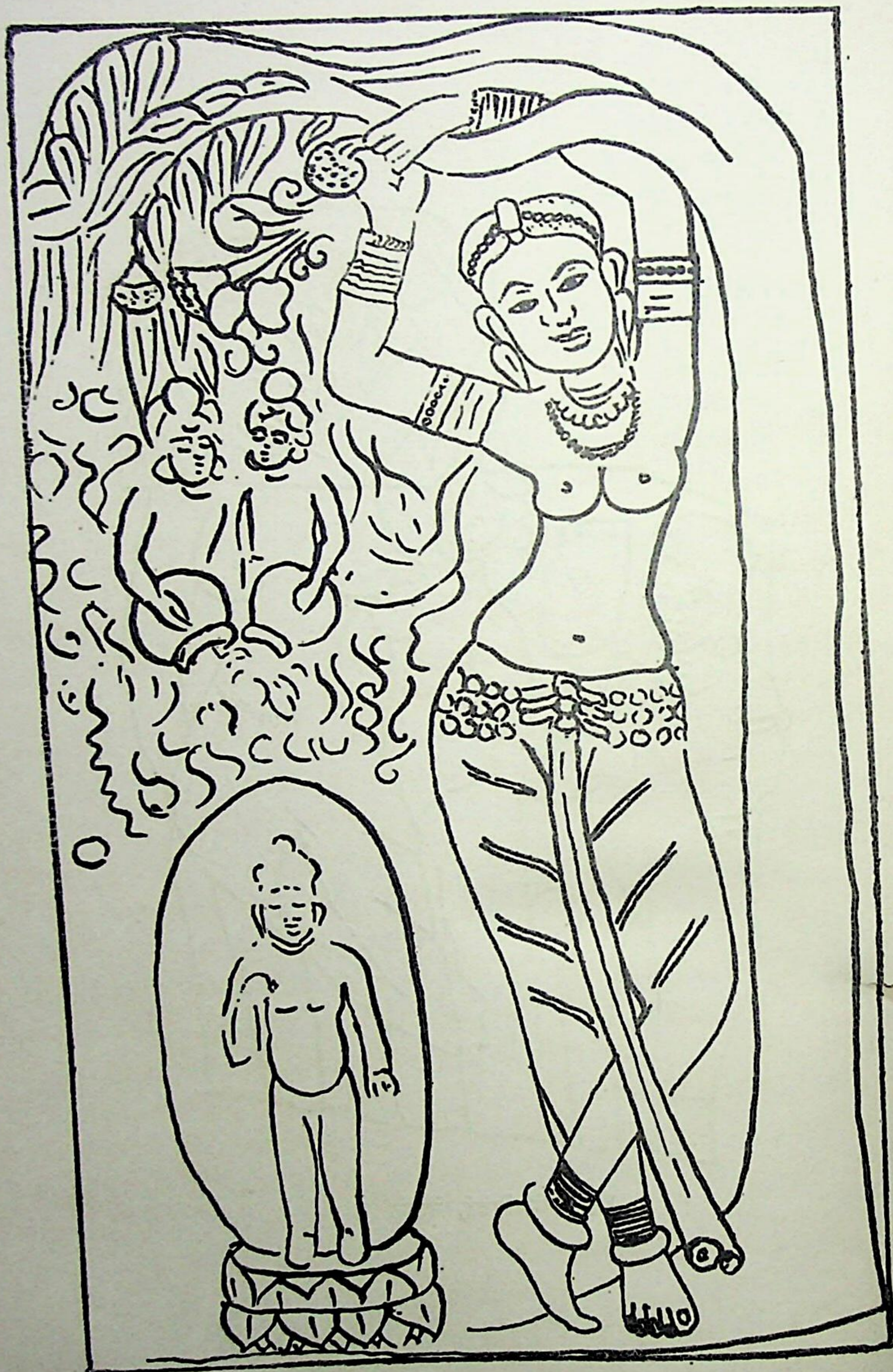
११. द्र० परमेश्वरी लाल गुप्त, पटना म्यूज़ियम कैटालॉग ऑव एण्टीक्विटीज़, पटना १९६५, फलक ८।

१२. द्र० हेराल्ड इङ्गहोल्ट, गांधार आर्ट इन पाकिस्तान, न्यूयार्क १९५७, कैटालॉग एवं चित्र सं० १३।

१३. द्र० मैडेलीन हल्लेड, दि गांधार स्टाइल, लन्दन १९६८, फलक ८५।



११. रुम्मिनिदेई, नेपाल



१२. देवपट्टन, नेपाल

हुआ न दिखाकर उन्हें भूमि पर खड़ा दिखाया गया है। वस्तुतः ये फलक न केवल बुद्ध-जन्म हो जाने के बाद का दृश्य समुपस्थित करते हैं वरन् महायान विचारधारा में विकास का लक्षण भी प्रकट करते हैं जिसमें बुद्ध को सम्पूर्ण रूप से मानव आकृति में उत्कीर्ण करना स्वीकार कर लिया गया था। समपाद मुद्रा में बोधिसत्त्व को अंकित करके कलाकार ने उनका वह चमत्कारिक स्वरूप प्रकट किया है जिसमें उन्होंने जन्म लेते ही खड़े होने तथा सात डग भरने का दैवी और मानवेतर कार्य सम्पादित किया था।

कराची-संग्रहालय वाला बुद्ध-जन्म का दृश्यांकन भाव-सृष्टि एवं कला-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यन्त मनोहर है। चन्द्र-कुण्डल, एकावली तथा चौड़े झांझर पहने, बाएँ हाथ को प्रजापती के कंधे पर रखकर और दाएँ से शालवृक्ष की टहनी पकड़े मायादेवी की त्रिभंग मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। बाईं ओर बालक बोधिसत्त्व भूमि पर खड़े हैं और शक्र सत्वर गति से आगे बढ़कर उन्हें उठाने जा रहे हैं। इस फलक में भी अपने ऊँचे किरीट से वे स्वयमेव पहचाने जा सकते हैं। उनके पीछे विस्मय की मुद्रा में और उत्तरीय फहराते संभवतः ब्रह्मा हैं। बाएँ ऊपर आकाश में दुन्दुभि बजाकर मोद मनाते देवता तथा दाएँ ऊपर एक वीणा बजाती और दूसरी नाचती हुई अप्सराएँ हैं। प्रजापती के पीछे दो सेविकाएँ हैं जिनमें आगे वाली ने कमण्डलु और व्यजन धारण कर रक्खा है।[१४] लाहौर-संग्रहालय वाले फलक में भी मायादेवी, प्रजापती, दो सेविकाएँ तथा तीन देवता उत्कीर्ण हैं और मायादेवी तथा शक्र के बीच बोधिसत्त्व को भूमि पर खड़ा दिखाया गया है।[१५]

जिस लुम्बिनिवन में सिद्धार्थ जन्मे थे वहाँ पर एक गाँव है रुम्मिनिदेई। 'इसी गाँव के निकट रूपमदेहि का मंदिर है जिसकी मुख्य प्रतिमा वस्तुतः बुद्ध-जन्म का ही एक दृश्य-फलक है। इसमें शालवृक्ष की एक शाखा को पकड़कर खड़ी माया की आकृति को स्थानीय लोग 'रूपमदेहि' मानकर उसकी पूजा करते हैं' यह बात श्री पी० सी० मुकर्जी के सन् १८९९ ई० में तथा डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के सन् १९२७ ई० में स्वयं रुम्मिनिदेई जाने पर प्रकट हुई। रूपमदेहि का यह मंदिर अशोक की उस लाट के निकट है जिस पर लिखा है कि यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था—'हिद बुधे जाते शाक्यमुनीते'। रूपमदेहि के इस दृश्य-फलक में माया के अतिरिक्त प्रजापती, इन्द्र आदि दो देवता तथा खड़ी मुद्रा में नन्हा बोधिसत्त्व उत्कीर्ण है।[१६] महायान विचारधारा के प्रभाव से उत्खचित मानव रूप में बोधिसत्त्व की आकृति एवं कला शैली के आधार पर इसका निर्माण कुषाणकाल में हुआ होगा।

---

१४. द्र० हेराल्ड इङ्गहोल्ट, उपर्युक्त, कैटालॉग एवं चित्र सं० १४।
१५. द्र० वही, कैटालॉग एवं चित्र सं० १५।
१६. द्र० राधाकुमुद मुकर्जी, अशोक, दिल्ली १९६२, फलक १३।

कुषाणयुगीन मथुरा-शिल्प में भी बुद्ध-जन्म का एक इसी प्रकार का अंकन पाया गया है। लाल पत्थर के लगभग तीन फिट लम्बे और ९ इंच चौड़े इस फलक पर बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं—बुद्ध-जन्म, सम्बोधि, प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण—को उत्कीर्ण किया गया है। बुद्ध-जन्म के दृश्य में बाएँ हाथ से प्रजापती के कंधे का सहारा लिए तथा ऊपर उठे दाएँ हाथ से शालवृक्ष की डाल पकड़े हुए मायादेवी त्रिभंगी मुद्रा में वृक्ष के नीचे खड़ी हैं। उनके सामने इन्द्र खड़े हैं जिनके हाथों में नवजात शिशु यानी बोधिसत्त्व समपाद मुद्रा में उत्कीर्ण किए गए हैं।[१७] मायादेवी तथा प्रजापती के खड़े होने की मुद्रा बिल्कुल गांधार कला वाले फलकों जैसी ही है।

गुप्तयुगीन कला में बुद्ध-जन्म

सारनाथ से प्राप्त तथा वहीं के पुरातत्व-संग्रहालय में प्रदर्शित सवा सात फीट ऊँचे एक गुप्तयुगीन फलक पर भी नीचे से क्रमशः बुद्ध-जन्म, सम्बोधि, प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण के दृश्य उत्कीर्ण हैं। बुद्ध-जन्म वाले दृश्य में मायादेवी को अपने दोनों ऊपर उठे हुए हाथों से शालवृक्ष की टहनियाँ पकड़े हुए त्रिभंग मुद्रा में खड़ी दिखाया गया है। उनके बाएँ एक सेविका खड़ी है जो अपने लटकते बाएँ हाथ में कमण्डलु तथा ऊपर उठे दाएँ हाथ में चामर पकड़े है। चामर-दण्ड को उसने अपने कंधे पर रख लिया है। मायादेवी की दाईं ओर आगे-पीछे दो पुरुष बैठे हैं। आगे वाला पुरुष मायादेवी की दाईं कुक्षि से जन्म लेने वाले शिशु को अपने दोनों हाथों से उठा रहा है। यह पुरुष-आकृति निश्चयतः इन्द्र की है। भक्तिभाव से पीछे बैठी हुई दूसरी आकृति ब्रह्मा अथवा किसी देवता की हो सकती है। फलक में बैठी हुई पुरुष-आकृतियों के ऊपर एक विकसित कमल पर बोधिसत्त्व खड़े हैं तथा फनधारी दो उड़ते हुए पुरुष कलश उड़ेलकर उनको जलाभिषेक करा रहे हैं। इस प्रकार छोटे से दृश्य में कलाकार ने बुद्ध-जन्म, जन्म लेते ही उनके द्वारा भरे गए सात डग और आकाश से प्रकटे दो नागों द्वारा बुद्ध का जलाभिषेक एक साथ उत्कीर्ण कर दिया है।[१८] वस्तुतः सारनाथ का यह बुद्ध-फलक छोटा होते हुए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है।

बुद्ध-जन्म की यह कला-परम्परा गुप्तोत्तर काल में भी अक्षुण्ण बनी रही थी। इसका एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण नेपाल के देवपट्टन नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। ९वीं शती ई० के ८४ × ३३ से० मी० के आयताकार एक फलक में मायादेवी एक वृक्ष के नीचे उसकी एक डाल को अपने दोनों हाथों से लपेटकर त्रिभंगी मुद्रा में

---

१७. द्र० राज्य-संग्रहालय, लखनऊ की प्लास्टर प्रतिकृति।

१८ द्र० बेन्जामिन रोलैण्ड, इण्डियन आर्ट ऐण्ड आर्कीटेक्चर, लन्दन १९५३, फलक ८४।

खड़ी हैं। उन्होंने अपने केशपाश को मोती की लड़ी से सजाया है। उनके हाथों में कंगन, कानों में लम्बे कुण्डल, भुजाओं में भुजबन्द, गले में ग्रैवेयक और कण्ठहार, कटि पर तिलड़ी मेखला तथा पैरों में कटक सुशोभित हैं। कटि के नीचे का भाग साड़ी से आवृत है। मायादेवी के पार्श्व में एक विकसित पद्म पुष्प पर एक अण्डाकार फलक के मध्य बोधिसत्त्व सिद्धार्थ समपाद मुद्रा में खड़े हैं। ऊपर दो उड़ती हुई मानव आकृतियाँ (नाग ?) कलश उड़ेलकर उनका जलाभिषेक कर रही हैं।[१९]

इस प्रकार भारतीय कला में बुद्ध-जन्म को साकार करने वाली परम्परा एक सहस्र वर्षों से भी अधिक समय तक निरन्तर लोकप्रिय बनी रही।

१९. द्र० वाल्डश्मिट नेपाल, लन्दन/कलकत्ता १९६९, फलक १३।

सूतसंहिता में मंत्रोपासना

डॉ० रमाकान्त झा

जौनपुर

The word *mantra* means that which expels the fear of the world by concentration (*manana*) on the truth. *Manana* and *trāṇa* are the two attributes of mantra. Through mantra, one gets relief from the pains of the world and attains *Parama Śiva*. The *Praṇava, Sāvitrī, ātma* and *ṣaḍakṣara* are the main potential *mantras*. *Sūtasaṃhitā* points out the nature, method of worship and the merits of these mantras and gives prominence to Śiva above all the deities.

सामान्यरूप से 'मंत्र' शब्द किसी देवता को सम्बोधित कर वैदिक सूत्र या प्रार्थनापरक वैदिकमंत्र अर्थ में प्रयुक्त होता है । प्रार्थनापरक 'यजुस्' जो किसी देवता को उद्दिष्ट कर बोला गया हो, यथा—'ॐ नमः शिवाय' आदि भी मंत्र कहलाता है ।[१] कोशग्रन्थों में मंत्र को वेद का भाग-विशेष कहा गया है ।[२] मनुस्मृति (२।१६) भी इसी अर्थ में मंत्र का प्रयोग करती है ।

सूतसंहिता 'मंत्र' शब्द के अर्थकथन में प्रतीकात्मक रूप से आध्यात्मिक दृष्टि अपनाती है और मनन तथा त्राणरूप होने के कारण उसे मंत्र शब्द से अभिहित करती है ।[३] तत्त्वमनन से संसारभय को दूर करने वाला ही 'मंत्र' है—'मननात्तत्त्वं पदस्य त्रायते महतो भयात्' ।[४]

मनन और त्राण ये मंत्र के दो धर्म हैं । परनाद अथवा परस्फुरण का नाम

---

१. वामन सदाशिव आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ७७४ ।

२. (क) वेदभेदे गुह्यवादे मंत्रः । अमरकोश ३।३।१६७ ।

(ख) वेदभेदः स च मंत्रस्वरूपभागः। शब्दकल्पद्रुम, तृ० भा०, पृ० ६१५ ।

(ग) मंत्रो वेदविशेषे स्यात् । मेदिनीकोश १२८।७४ ।

३. मननत्राणरूपत्वान्मंत्र इत्यभिशब्दितः । सूतसंहिता ४।४।९ ।

४. सू० सं ४।४।९ तात्पर्यदीपिका टीका ।

ही मनन है। मनन परशक्ति के महान् वैभव की अनुभूति है—उसके पारमैश्वर्य का उपभोग है। अपूर्णता अथवा संकोचमय भेदात्मक संसार के प्रशमन को रक्षा अथवा त्राण कहते हैं। इस प्रकार शक्ति के वैभव या विकास-दशा में मननयुक्त तथा संकोच या सांसारिक अवस्था में त्राणमय, विश्वरूप विकल्प को कवलित कर लेने वाला अनुभव ही 'मंत्र' है।[५] वस्तुतः संसार से मुक्ति दिलाने और परम शिव से मिलाने के कारण ही 'मंत्र' मनन और त्राणरूप है।[६] इसी सन्दर्भ में सूतसंहिता कुछ ऐसे मंत्रों का विवेचन प्रस्तुत करती है, जिनका सम्बन्ध संसारभयमुक्तिपूर्वक परमतत्त्व के साक्षात्कार से है। ऐसे मंत्रों में 'प्रणव', 'सावित्री' (गायत्री), 'आत्ममंत्र' और 'षडक्षर मंत्र' प्रमुख हैं। इन मंत्रों के वाच्यवाचक स्वरूपों का सूतसंहिता ने साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है और इन मंत्रों की उपासनाविधि एवं उनसे प्राप्त होने वाले लाभों का संकेत दिया है।

प्रणव मंत्र

अमरकोश में 'ॐकार' और 'प्रणव'—इन दोनों शब्दों को समानार्थक एवं परस्पर में एक दूसरे का पर्यायवाची माना गया है।[७] पतञ्जलि ने 'प्रणव' अर्थात् ओङ्कार को ईश्वर का वाचक और उसके वाच्यार्थ ईश्वर के चिन्तन को परम श्रेयस्कर कहा है, क्योंकि 'प्रणव' के जप से विघ्नों का अभाव और आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।[८] सूतसंहिता भी एकाक्षर ओङ्काररूप 'प्रणव' को ब्रह्म का वाचक मानती है और 'पर' तथा 'अपर' रूप से उसको दो भागों में बाँटती है।[९] सूतसंहिता का यह विभाजन निश्चितरूप से टीका के प्रकाश में 'प्रणव' के उपनिषत् प्रतिपादित परापर भेद से प्रभावित है।[१०]

सत्यज्ञानानन्दैकरसस्वरूप मायातीत शिवरूप परब्रह्म ही 'परप्रणव' है, क्योंकि वह कारणान्तर की बिना अपेक्षा किए ही नवीन अर्थात् विकाररहित

---

५. मननमयी निजविभवे निजसंकोचमये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मंत्रशब्दार्थः॥ महार्थमञ्जरी, डा० अवस्थी—"मंत्र और मातृकाओं का रहस्य", पृ० १८९ में उद्धृत।

६. मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति च परे शिवे।
मननत्राणधर्मित्वात्तेन मंत्रा इति स्मृताः॥ नेत्रतंत्र ११ अधिकार।

७. ओङ्कारप्रणवौ समौ। अमरकोश १.४।

८. तस्यवाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगसूत्र १.२७-२९।

९. परापरविभागेन प्रणवस्तु द्विधा मतः। सू० सं०, ४.५.१ ब।

१०. "एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः" इतिश्रुतौ यदुक्तं द्वैविध्यं तदभिप्रेत्याह—परापरविभागेनेति। सू० स० ४.५.१ तात्पर्यदीपिका टीका।

कूटस्थ नित्य परमानन्द प्रकाशक होने के कारण ही 'प्रणव' शब्द का वाच्यार्थ होता है।[११]

सूतसंहिता के अनुसार 'अपर प्रणव' साक्षात् शब्दरूप है। यतः 'अपर' शब्दरूप 'प्रणव' परब्रह्मरूप 'प्रणव' की प्राप्ति का साधन है, अतः वह भी 'प्रणव' शब्दाभिधेय है।[१२] यह प्रणव समस्त वेदों का सार है। ब्रह्मा ने ऋग्वेदादि से साररूप में अकार, उकार तथा मकार को निकालकर उन्हीं तीनों अक्षरों के मेल से 'ओङ्कार' (प्रणव) तत्त्व को अभिव्यक्त किया है। उसी 'ओङ्कार' में शिवतत्त्व प्रतिबिम्बित होता है।[१३] ज्ञात, अज्ञात, संदिग्ध तथा आकाशादि अर्थ विषय में प्रश्न किए जाने पर उत्तर में 'ओम्' इस शब्द का बाहुल्येन प्रयोग होता है, अतः यह सर्वावभासक है। सर्वावभासक 'प्रणव' की जपपूर्वक उपासना से सर्वमंत्रजप की फलप्राप्ति होती है, अतः इस मंत्र के विधिपूर्वक जप करने का निर्देश है।[१४] ऋषि, छन्द, देवादि ज्ञान पुरस्सर मंत्र ही जपयोग्य होता है, अतः प्रणव तथा उसके अकारादि अक्षरत्रय के ऋषि आदि का निर्देश है। प्रणव मंत्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्री, देवता शम्भु, शक्ति बिन्दुयुक्त अकार तथा मकार एवं इस मंत्र का विनियोग मोक्ष अर्थ में होता है।[१५] 'प्रणव' जप के समय अकार, उकार तथा मकार के क्रमशः ऋषि, छन्द, देवता आदि का निम्न तालिका के अनुसार स्मरण अपेक्षित है।

---

११. परः परतरं ब्रह्मप्रज्ञानन्दादिलक्षणम्।
प्रकर्षेण नवं यस्मात्परंब्रह्मस्वभावतः॥ सू० सं० ४।५।१२।

१२. अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दरूपः सुनिर्मलः।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः॥
परमप्रणवप्राप्तिहेतुत्वात्प्रणवोऽथवा। सू० सं० ४।५।१३।

१३. तथा तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा द्विजोत्तमाः।
अजायन्त क्रमेणैव कोटि-सूर्यसमप्रभाः।
अकारश्च तथोकारो मकारश्चेति सुव्रताः।
तानेकधा समभरदज ओमित्यति प्रभुः।
तस्मिन्नेव शिवः साम्बः सर्ववस्त्ववभासकः।
प्रतिबिम्बितवांस्तेन प्रणवस्तस्य वाचकः॥ सू० सं० ४।५।१३-१५।

१४. सू० सं० ४।५।१७-२३।

१५. ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मंत्रस्य गायत्रं छन्द उच्यते।
परमात्माभिधः शम्भुर्देवता परिकीर्तिता॥
अकारो बिन्दुसंयुक्तः शक्तिरस्य द्विजोत्तमाः।
उकारश्च मकारश्च द्वयं बीजं प्रकीर्तितम्।
मोक्षार्थे विनियोगोऽस्य प्रोक्तो वेदान्तवेदिभिः॥ सू० सं० ४।५।२४-२६

	अ	उ	म
ऋषि—	अग्नि	वायु	सूर्य
छन्द—	गायत्री	त्रिष्टुप्	बृहती
देवता—	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र
वर्ण—	रक्त	शुक्ल	कृष्ण
अवस्था—	जाग्रत	स्वप्न	सुषुप्ति
स्थान—	भूमि	अन्तरिक्ष	स्वर्ग
स्वर—	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
वेद—	ऋक्	यजुस्	साम
अग्नि—	गार्हपत्य	दक्षिण	आहवनीय
काल—	प्रातः	मध्याह्न	सायम्
गुण—	सत्त्व	रजस्	तमस्
क्रिया—	सृष्टि	स्थिति	संहार
विनियोग—	उत्पत्ति में	स्थिति में	नाश में[१६]

आगे प्रणव मंत्र के न्यास का भी निर्देश है । अँगूठा से लेकर कनिष्ठा की सभी संधियों में अकारादि अक्षरों में प्रत्येक का न्यास करना चाहिए । वर्णन्यास के अनन्तर उन्हीं अँगुलियों में अकारादि समुदायात्मक प्रणव का न्यास करना चाहिए । पुनः अकारादि वर्णत्रय का विभाग करके नाभि, हृदय और मूर्धा में प्रत्येक का न्यास और फिर उन्हीं स्थानों में समस्त समुदित प्रणव का न्यास, तदुत्तर हृदयादि स्थान में 'भूः', 'अग्निः', 'आत्मनः' इन अंगमंत्रों का न्यास करना चाहिए । न्यासपूर्वक दश लाख प्रणव मंत्र के जप से मंत्रसिद्धि, षट्कर्मसिद्धि, अष्ट-विभूतिसिद्धि, सर्वपापमुक्ति और स्वतः सिद्धमुक्ति की प्राप्ति होती है ।[१७]

सावित्री मंत्र

सूतसंहिता 'सावित्री मंत्र', जिसे गायत्री मंत्र के नाम से जाना जाता है, का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करती है । यह ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध मंत्र है । इसका 'सावित्री' नाम 'सविता'—सूर्य को सम्बोधित करने के कारण पड़ा है । इसका 'गायत्री' नामकरण भी विशेष महत्त्व रखता है । 'गायत्री' वह वाक्शक्ति या नादशक्ति है, जो 'गायति' अर्थात् गान करती है । इस गान का रहस्यार्थ है, सम्पादन । साथ ही जो 'त्रायते' त्राण या रक्षा करती है अथवा जिसके गान या

---

१६. सू० सं० ४।५।२७-३३ ।

१७. सू० सं० ४।५।३४-४१ ।

विहित उच्चारण से त्राण हो अथवा जिसके सम्पादन से रक्षा हो, वही 'गायत्री' है। यज्ञोपवीत संस्कार के समय ब्रह्मचारी को इसी मंत्र का उपदेश दिया जाता है। इस मंत्र की उपासना से शरीर, मन और प्राणशक्ति में वृद्धि होती है और बुद्धि स्फीत हो जाती है। उपासक को ज्ञान का अविच्छिन्न प्रकाश प्राप्त होता है, अतः 'गायत्री' को वेदमाता कहा गया है। सावित्री मंत्र की जपविधि में व्याहृतियों का विशेष महत्त्व है, अतः सूतसंहिता सात व्याहृतियों का निर्देश देती है। सूतसंहिता के अनुसार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् इन सात व्याहृतियों के ऋषि, छन्द और देवता निम्नलिखित हैं—

सप्तव्याहृति	ऋषि	छन्द	देवता
भूः	अत्रि	गायत्री	अग्नि
भुवः	भृगु	उष्णिक्	वायु
स्वः	कुक्षि	अनुष्टुप्	अर्क
महः	वसिष्ठ	बृहती	बृहस्पति
जनः	गौतम	पंक्ति	वरुण
तपः	कश्यप	त्रिष्टुप्	इन्द्र
सत्यम्	अंगिरस्	जगती	विश्वेदेव

इन व्याहृतियों का सर्वत्र (यज्ञकर्म तथा प्राणायामादि क्रियाओं में) विनियोग होता है।[१८]

सावित्री-मंत्र के ऋषि विश्वामित्र, छन्द गायत्र, देवता सूर्य और अधिदेवता शिव हैं। सावित्री त्रिपदा और चतुष्पदा भी होती है। जपकार्य में त्रिपदा तथा पूजाकार्य में चतुष्पदा सावित्री जानी जाती है।[१९] चौबीस अक्षरों वाली यह सावित्री आठ अक्षरों से त्रिपदा और छः अक्षरों से चतुष्पदा मानी गयी है। त्रिपदा में एक पद में आठ अक्षर और चतुष्पदा में एक पद में छः अक्षर होते हैं। 'ओमापो ज्योतिः' यह सावित्री का शिर है। इस शिरोभूत मंत्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द अनुष्टुप् एवं देवता परमात्मा हैं। इस मंत्र का विनियोग इष्टफल प्राप्ति में होता है।[२०] सावित्री

---

१८. सू० सं० ४।६।१-५।

१९. विश्वामित्रो मुनिश्छन्दो गायत्रं देवता रविः।
सावित्र्या वेदविच्छ्रेष्ठाः शिव एवाधिदेवता॥
त्रिपदा सा ऽस्तु सावित्री षड्भिर्वर्णैश्च चतुष्पदा।
जपे सा त्रिपदा ज्ञेया पूजायां वा चतुष्पदा। सू० सं० ४।६।६-७।

२०. ओमापोज्योतिरित्येतद् गायत्र्याः शिर उत्तमम्।
ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मंत्रस्यच्छन्दोऽनुष्टुप्प्रकीर्तितः।
देवता परमात्मैव प्रोक्तो वेदार्थवेदिभिः।
यथेष्टसाधने चास्य विनियोग उदाहृतः। सू० सं० ४।६।८-९।

त्रिपदा, षट्कुक्षि तथा पंचशीर्षका है । सावित्री के स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरावयवों का क्रम अधोलिखित है—

त्रिपाद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ।
षट्कुक्षि—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व तथा अधः ।
पञ्चशीर्ष—व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त तथा ज्योतिष् ।
नाभि—अष्टादश पुराण ।
स्थूल शरीर—सम्पूर्ण विश्व ।
उदर—आकाश ।
स्तनद्वय—गायत्रादि छन्द ।
हृदय—धर्मशास्त्र ।
भुजद्वय—न्यायशास्त्र ।
मुख—अग्नि ।
कर्णद्वय—सेश्वर तथा निरीश्वर सांख्य ।
लक्षण—मीमांसा ।
चेष्टा—अथर्ववेद ।
मूर्धा—ब्रह्मा ।
शिखा—रुद्र ।
आत्मा—विष्णु ।
सूक्ष्म शरीर—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा प्रभृति वेदान्तवाक्य ।
अन्तर्यामी—साक्षात् परम शिव ।[२१]

सावित्री के उपर्युक्त शरीरावयवों में प्रायः सम्पूर्ण विश्व समाविष्ट हो गया है । इस व्यापक दृष्टि का एकमात्र लक्ष्य इस मंत्र की महत्ता प्रकट करना है। गायत्री मंत्र के ऋगादि त्रिपादों का तथा व्याकरणादि पंचशीर्षों का संकेत अन्यत्र भी मिलता है। 'तात्पर्यदीपिका' के लेखक माधवमंत्री ने 'सावित्री हृदय' के श्लोक को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है ।[२२] इस मंत्र के न्यास का भी संकेत है। चौबीस अक्षरों वाले सावित्रीमंत्र का पादांगुष्ठ से लेकर मूर्धा तक के २४ स्थानों में अक्षर-क्रम से न्यास का विधान है । इस चौबीस अक्षरात्मक मंत्र की जपविधि में ध्यातव्य

---

२१. सूतसंहिता ४।६।१०-१७ अ ।

२२. उक्तं हि सावित्रीहृदये—"ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो भवति यजुर्वेदो द्वितीयः सामवेदस् तृतीयः" इति सू० सं० ४।६।११ ता० टीका ।

उक्तं हि सावित्रीहृदये—व्याकरणमस्याः प्रथमं शिरो भवति शिक्षा द्वितीयं....ज्योतिषामयनं पञ्चमम् । सू० सं० ४।६।१५ ता० टीका ।

चम्पकादि २४ वर्णों (रंगों) का भी निर्देश है । जप्य मंत्रों में 'सावित्री' सर्वश्रेष्ठ मंत्र है ।[२३]

मंत्रार्थ

सूतसंहिता 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' इस गायत्री मंत्र का अर्थनिर्देश भी करती है । इस मंत्र का अर्थ है—

जो अन्तर्यामी रूप से विद्यमान देवता है, वह हम लोगों की बुद्धि को प्रेरित करे । उस स्वप्रकाश सर्वसाक्षी प्रेरक देवता के सभी प्राणियों के द्वारा सेवनीय पाप-नाशक तेज का हम ध्यान करते हैं । वह सत्यज्ञानादि लक्षण, स्वमायाकृत शिवादि संज्ञा प्राप्त, सूर्यमण्डल में उसके प्रेरकरूप में स्थित, इन्द्रियातीत परब्रह्म है । हम वही ब्रह्म हैं, इस प्रकार का अनुभव करते हैं ।[२४]

सूतसंहिता के टीकाकार के अनुसार मंत्रार्थ निर्देश का उपयोग यह है कि जपविधि में जप्यमंत्रार्थ भूत देवता का ज्ञान आवश्यक है ।[२५] अर्थज्ञान के बिना मंत्रजप अभीष्ट फलदायक नहीं होता है । सावित्री मंत्र के उपर्युक्त अर्थ से सूतसंहिता का व्यापक आध्यात्मिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, जिसमें परमात्मा को उच्च स्थान प्राप्त है ।

सूतसंहिता सावित्री मंत्र के अर्थग्रहण में परम्परा को महत्त्व देती है और यह स्पष्ट कहती है कि इस अर्थ को गुरु से प्राप्त करके और उन्हें दक्षिणा देकर २४ लाख

---

२३. सू० सं० ४।६।१७ अ-२८ ।

२४. यो नोऽस्माकं धियश्चित्तान्यन्तर्यामि स्वरूपतः ।
प्रचोदयात्प्रेरयेच्च तस्य देवस्य सुव्रताः ।।
दीप्तस्य सर्वजन्तूनां प्रत्यक्षस्य स्वभावतः ।
सवितुः स्वात्मभूतं तु वरेण्यं सर्वजन्तुभिः ।।
भजनीयं द्विजा भर्गस्तेजश्चैतन्यलक्षणम् ।
तच्छब्दवाच्यं सर्वज्ञं जगत्सर्गादिकारणम् ।।
स्वमायाशक्तिसंभिन्नं शिवरुद्रादिसंज्ञितम् ।
नीलग्रीवं विरूपाक्षं साम्बमूर्त्युपलक्षितम् ।।
आदित्यदेवतायास्तु प्रेरकं परमेश्वरम् ।
आदित्येनापरिज्ञातं वयं धीमह्युपास्महे ।। सूतसंहिता ४।६।३१-३६ अ ।

२५. यतो जपविधौ जप्यमंत्रार्थभूतदेवता प्रतिपत्यर्थमवश्यं मंत्रार्थो ज्ञात यो-ऽतस्तत् प्रतिपत्तये सावित्रीमंत्रं संगृह्य व्याचष्टे । सू० सं० तात्पर्य टीका ।

मंत्र का जप प्रसन्न मन से करना चाहिए।[२६] प्रातः नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक एक हजार गायत्रीमंत्र का जप करना चाहिए । इस मंत्र के जप एवं इससे हवन करने से पापमुक्ति तथा सर्वविध अभीष्टसिद्धि होती है।[२७] सावित्री-मंत्र की उपासना से शिवस्वरूप का ज्ञान होता है, अतः इस मंत्र का मानव जीवन में विशेष महत्त्व है।

सूतसंहिता प्रतिपादित 'गायत्री' का यह व्यापक स्वरूप "गायत्री वा इदं सर्वम्" (छा० उप० ३।१२।१) इस उपनिषद् वाक्य का विवेचन प्रतीत होता है, जिसके स्थूल-सूक्ष्म शरीरावयवों में सम्पूर्ण चराचर जगत् अनुस्यूत है।

आत्ममंत्र

सूतसंहिता में हंम' को 'आत्ममंत्र' की संज्ञा दी गयी है। यह मंत्र ब्रह्मस्वरूप-ज्ञानविषयक विद्योत्पत्ति का कारण है। इस मंत्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्र, देवता आत्मा, शक्ति 'स' और बीज 'हम्' है।[२८] यहाँ पर 'श' का अन्तः 'ष', उसका अन्त 'स' और उसका अन्त 'ह है। यही मिलकर 'हंस' बनता है।[२९]

शक्ति और बीज रूप से विभक्त इस मंत्र का अर्थ परमशिवरूप 'हंस' है। शिवशक्त्यात्मक होने से यह परममंत्र माना जाता है।[३०]

आचार्यों के अनुसार 'हंकार' पुरुष और 'सकार' प्रकृति है। हंस' पुरुष-प्रकृत्यात्मक और जगत् हंसात्मक है।[३१] बीजशक्तिरूपात्मक हंसाख्य आत्ममंत्र का

---

२६. एवमर्थं गुरोर्लब्ध्वा दत्त्वा तस्मै च दक्षिणाम् ।
चतुर्विंशतिकं लक्षं जपेदव्यग्रतः सुधीः ।। सू० सं० ४।६।३७ ।

२७. बहुनोक्तेन किं विप्रा जपेनास्याश्च होमतः ।
अभीष्टं सर्वमाप्नोति नात्र संदेहकारणम् ।। सू० सं० ४।६।५९ ।

२८. ऋषिर्ब्रह्माऽस्य गायत्रं छन्द आत्मैव देवता ।
शान्तान्तं शक्तिरस्योक्ता तदन्तं बीजमुच्यते ।। सू० सं० ४।७।१ ।

२९. शकारस्यान्तः षकारस्तस्यान्तः सकारः स इति शक्तिरित्यर्थः । तदन्तमिति तच्छब्देन सकारः परामृश्यते । तस्यान्तो हकार । हमित्यस्य मंत्रस्य बीजमित्यर्थः ।
सू० सं० ४।७।१ ता० टीका ।

३०. विद्याशक्तिर्भवेद्बीजं शिव एव न चान्यथा ।
तेनाऽयं परमो मंत्रः शिवशक्त्यात्मकः स्मृतः ।। सू० सं० ४।७।२ ।

३१. तदुक्तमाचार्यैः—
हंकारः पुरुषःप्रोक्तः स इति प्रकृतिर्मता ।
पुंम्प्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत् ।।
सू० सं० ७।८।२ ता० टीका ।

ज्ञानपूर्वक जप के समय संसारभयमोचक अर्धनारीश्वर महादेव का ध्यान करना चाहिए। सर्वविधपापमुक्ति के लिए इस मंत्र का १२ हजार जप अपेक्षित है। उपर्युक्त जप विधि में असमर्थ मन्दप्रज्ञ के लिए 'सकार' से प्राणसंचार और 'हकार' से अपानसंचार का विधान है। प्राण और अपानरूप से हंसात्मक तत्त्व प्राणियों के शरीर में ही स्थित है।[३२]

सूतसंहिता उत्तम अधिकारी के लिए 'हंस' का विशेष अर्थ प्रस्तुत करती है। 'हंस' इस आत्ममंत्र का पूर्वभाग 'अहम्' जाग्रदवस्था के साक्षी जीवात्मा का वाचक है और उत्तर भाग 'स' सर्वशक्ति सम्पन्न जगदुत्पत्ति कारण परमेश्वर तत्त्व का वाचक है।[३३] अतएव सम्पूर्ण जगत् प्रपंच के कारणरूप से प्रसिद्ध परमेश्वर ही 'स' शब्द का वाच्यार्थ है।

सम्मिलित 'हंस' पद का अर्थ है—औपाधिक भेदविशिष्ट जीवात्मा का उपाधिरहित शिवात्मक परमात्मतत्त्व से तादात्म्यबोध।[३४] टीका के प्रकाश में यहाँ 'अहम्' मलिनसत्त्व प्रधान अल्पज्ञ जीव का तथा 'स', विशुद्ध सत्त्व प्रधान सर्वज्ञ परमात्मा का वाचक है। इन दोनों उपाधियों के त्याग से विशुद्ध चेतनरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। उसी का तादात्म्यभाव लक्षणया सिद्ध होता है, अतः 'हंस' का लक्ष्यार्थ 'चैतन्यात्मा' सिद्ध होता है।[३५]

जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक श्रुतिवाक्य है—"अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म'। उत्तम अधिकारी के लिए 'हंस' का उपर्युक्त आध्यात्मिक अर्थ निश्चित ही उपनिषत्प्रतिपादित जीवब्रह्मैक्य तत्त्व से अनुप्राणित है।

आत्ममंत्र के अर्थभूत जीवब्रह्म-तादात्म्य को 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्य से प्रतिपादित करके गुरूपदिष्ट मार्ग से 'अहम्' को 'ब्रह्म' के रूप में और 'ब्रह्म' को 'अहम्' के रूप में जानना चाहिए।[३६]

---

३२. अथवा प्राणसंचारः सकारः परिकीर्तितः।
हकारोऽपानसंचारो देहे देहभृतां सदा॥ सू० सं० ४।७।५।

३३. अथवा जीवमंत्रोऽयं जीवात्मप्रतिपादक।
अहंशब्दस्य रूढत्वाल्लोके जीवात्मवस्तुनि॥
शक्तिमंत्रः सकाराख्यः परमेश्वरवाचकः। सू० सं० ४।७।९।

३४. हंसयोः शवलं हित्वा पदयोः सद्वितीययोः। पूर्णोऽहमेव जानीयाद् बोधमात्र स्वभावतः। सू० स० ४।७।१२

३५. एवञ्च किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वप्रत्यक्त्वपरोक्षत्वादिविरुद्धांशमुभयत्रपरित्यज्याविरुद्धयोः सच्चिदानन्दादिलक्षणयोर्जीवेश्वरस्वरूपयोः परस्परतादात्म्यं भागत्यागलक्षणया हंसमंत्रः प्रतिपादयति। सू० सं० ४।७।१३ ता टी०।

३६. एवं वाक्यानुसारिण्या युक्त्याऽऽचार्यपुरःसरम्।
अहं स सोऽहमेवेति विजानीयाद् विचक्षणः॥ सू० सं० ४।७।२४।

आत्ममत्रोपासना की फलश्रुति के रूप में सूतसंहिता का कथन है कि जो साधक आत्ममंत्र की उपासना से जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से एकत्व का अनुभव करता है, वह मुख्यतः ब्रह्मतत्त्व का ज्ञाता है। उसी का संसार भाव नष्ट होता है,[३७] किन्तु जो 'अहम्' और 'सः' को भिन्न-भिन्न समझने वाला अज्ञानी है, वह संसारचक्र में घूमता रहता है।

यह हंसविद्या शीघ्र ही सिद्धि प्रदान करती है, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि देवता इसका आदर करते हैं।[३८] सर्वदेव समादृत हंसमंत्र के उपदेष्टा गुरु की सेवा श्रद्धापूर्वक करने से साधक आत्मस्वरूप को जान लेता है और तब उसे वर्णाश्रमादि धर्मपालन एवं वेदशास्त्रादि के पठन-पाठन की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[३९] यह आत्मविद्या वस्तुतः प्राणी को सांसारिक बन्धन से मुक्त कर परमार्थं मोक्ष को प्राप्त कराती है। इसीलिए यह 'पराविद्या' के नाम से अभिहित की जाती है।

षडक्षर मंत्र

सूतसंहिता आत्ममंत्र के समान ही 'षडक्षर मंत्र' को भी मुक्ति का साधन मानती है। साथ ही ब्रह्मत्वादि पद प्राप्ति को इस मंत्रोपासना का विशेष फल कहती है।[४०] मंत्र का स्वरूप है—'ॐ नमः शिवाय'।

इस मंत्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्र, देवता शिव, शक्ति माहेश्वरी और बीज मायाविशिष्ट शिव हैं।[४१] यहाँ मंत्र के देवता और बीज शिव ही निर्दिष्ट हैं,

---

३७. य एवमात्ममंत्रेण जीवात्मपरमात्मनो.।
पारमार्थिकमेकत्वं सुदृढं परिपश्यति।
स एव ब्रह्मविन्मुख्यो नेतरोऽज्ञानमोहितः।
एवं भूतं परिज्ञानं यस्य जातं सदा भुवि।
तदैव तस्य संसारविनाशो नास्ति संशयः॥ सू० सं० ४।७।२५-२६।

३८. शिवेन विष्णुना चैव ब्रह्मणा सर्वदैवतैः। आदृता हंसविद्येयमचिरादेव सिद्धिदा॥ सू० सं० ४।:।३१

३९. हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरोः शुश्रूषयानाः।
आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलः॥
देहजात्यादिसम्बन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान्।
वेदान्शास्त्राणि चान्यानि पादपांशुमिव त्यजेत्॥ सू० सं० ४।७।३९-४१ अ।

४०. येन संसारविच्छित्तिर्ब्रह्मेन्द्रादिविभूतयः। सू० सं० ४।८।१ ब।

४१. ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मंत्रस्य गायत्रं छन्द उच्यते।
देवताऽस्य शिवःसाक्षात्सत्यज्ञानसुखाद्वयः॥
शक्तिर्माहेश्वरी सा च भुवनेशाक्षरं भवेत्।
बीजं मायाविशिष्टस्तु शिवः पूर्वोक्तलक्षणः॥ सू० सं० ४।८।२-३।

अन्तर इतना ही है कि देवता के रूप में सत्य ज्ञानस्वरूप अद्वितीय शिव हैं और बीज के रूप में मायाविशिष्ट शिव ।

'ॐ नमः शिवाय' इस मंत्र में प्रथम प्रणव, (ॐकार) द्वितीय नकार, तृतीय मकार, चतुर्थ शिकार, पंचम वकार तथा षष्ठ यकार है। यह षडक्षरमंत्र उपनिषत्प्रतिपादित आत्मतत्त्व का प्रतिपादक भी है।[४२]

जाबालोपनिषद् में शतरुद्रिय जप से अमृतत्त्व प्राप्ति का संकेत है।[४३] शतरुद्रिय नामों के जप को अमरता का साधन कहा गया है और उन नामों में 'नमः शिवाय च शिवतराय च' यह आम्नात है।[४४]

मंत्रार्थ

सूतसंहिता षडक्षर मंत्र के प्रत्येक पद का अर्थ बताती है और उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक तथ्यों से जोड़ती है। मंत्र का 'शिवाय' पद शिवतत्त्व का वाचक है। 'नमः' नमस्कार अर्थ का वाचक है। नमस्कार का अर्थ प्रह्वता है और प्रह्वता का अर्थ—सत्य स्वरूप शिव से मायिक भेदापन्न जीव का तादात्म्य सम्बन्ध है।[४५]

यहाँ 'नमः' पद के नकार का अर्थ है—जीव की सत्य शिवस्वरूपता। यह नकार दृश्य प्रपञ्च का निषेधक है, अतः नकार का अर्थ दृश्यप्रपञ्च निषेध है।[४६] जब सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेध हो जाता है, तब एकमात्र सत्य शिव ही स्वरूपतः

---

४२. प्रणवं प्रथमं विद्याद् द्वितीयन्तु नकारकम् ।
मकारं तत्परं विधाच्छिकारं तु ततः परम् ॥
वकारं पञ्चमं विद्याद्यकारं षष्ठमेव च ।
इत्थं षडक्षरं विद्याज्जाबालोपनिषद्गतम् ॥ सू० सं० ४।८।६-७ ।

४३. अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्त्वं ब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह वा अमृतो भवति ॥ जाबालोपनिषद् ३ ।

४४. शतरुद्रियनाम्नां जपस्यामृतत्त्वमाम्नातम् । तेषु च नामसु 'नमः शिवाय च शिवतराय च' इत्याम्नायते । सू० सं० ४।८।७ ता० टीका ।

४५. असंपृक्त्या शिवस्यायं शिवशब्दस्तु वाचकः ।
नमःशब्दो नमस्कारवाचकपरिकीर्तितः ॥
प्रह्वतालक्षणः प्रोक्तो नमस्कारः पुरातनैः ।
प्रह्वता नाम जीवस्य शिवात्सत्यादिलक्षणात् ॥
भेदेन भासमानस्य मायया न स्वरूपतः ।
सम्बन्ध एव तेनैव सोऽपि तादात्म्यलक्षणः ॥ सू० सं० ४।८।९-११

४६. मकारो मम शब्दार्थो लुप्तस्त्वेको मकारकः । सू० सं० ४।८।१४ अ एकस्य मकारस्य च्छान्दसो लोपः । अगेममेति शब्दस्योऽर्थः स एव मकारस्याप्यर्थः । सू० सं० ४।८।१४ ता० टीका ।

अवशिष्ट रहता है और उससे परमार्थ दृष्ट्या जीव भिन्न नहीं है, अतः जीव सत्य शिव स्वरूप ही सिद्ध होता है। 'नमः' के 'मकार' का अर्थ 'मम' शब्दार्थ है। वहाँ एक मकार का छान्दस लोप है, अतः 'मकार' का वही अर्थ है जो 'मम' का होता है।[४७]

'नमस्' शब्द का नमस्कार अर्थ व्यावहारिक ही है, वास्तविक अर्थ तो शिवाभिन्नत्व ही है। इसीलिए व्यावहारिक दृष्टि से नमस्कारार्थक 'नमः' इस अव्यय के योग में 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इस सूत्र से 'शिव' शब्द में चतुर्थी विभक्ति का विधान है।

'ॐ' का अर्थ जीवब्रह्मैकता ही है। यह सर्वार्थवाचक है। प्रणव प्रतिपादित सभी अर्थ शिव ही हैं, अतः 'प्रणव' पूर्णशिव का वाचक है।[४८] टीका के प्रकाश में 'ॐ नमः' का संहिता प्रतिपादित अर्थ है—

यतः प्रणव प्रतिपादित सम्पूर्ण अर्थ शिवरूप है, अतः मेरे लिए कुछ भी हेय या उपादेय नहीं है।[४९]

सम्पूर्णदृश्य प्रपञ्च शिवरूप है। किसी वस्तु की शिव से भिन्न पृथक् सत्ता नहीं है, यही इस षडक्षर मंत्र का वास्तविक अर्थ है और इसका प्रतिपादन वेद, पुराण और उनके अनुयायी शैवादि सम्प्रदाय भी करते हैं।[५०] पदार्थ संख्या के सम्बन्ध में न्यायादि दर्शनों में जो मतभेद है, वह व्यावहारिक दृष्टि से ही। जिस प्रकार सभी लहरें समुद्र में एकाकार हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण भेदावच्छिन्न प्रपञ्च मूलाधार शिव में तदाकार है।[५१] सृष्टि प्रक्रिया के मतान्तर का भी यही रहस्य है।

---

४७. व्यावहारिकदृष्ट्याऽयं नमस्कारः प्रकीर्त्यते।
तस्माच्चतुर्थीशब्दस्तु प्रोच्यते नहि वस्तुतः॥ सू० सं० ४।८।१४ ब, १५अ

४८. ओङ्कारशब्दः सर्वार्थवाचकः परिकीर्तितः।
प्रयोगादेव सर्वत्र सर्वार्थः शिव एव हि॥
तस्माच्छिवस्य पूर्णस्य प्रणवो वाचकः स्मृतः॥ सू० सं० ४।२।१५-ब-१६

४९. प्रणवप्रतिपादितो यः सर्वोऽर्थोऽसौ शिव एव हि यस्मादेवं तस्मान्मम हेयमुपादेयं वा किमपि नास्तीत्यर्थः। सू० सं० ४।८।६ ता० टीका।

५०. अथ किं बहुनोक्तेन शिवादन्यं न विद्यते।
शिवस्वरूपमेवाहुरिदं सर्वं विचक्षणाः॥
सर्वस्वरूपमज्ञानाद् दृश्यते न तु वस्तुतः।
एष एव हि मंत्रार्थः सत्यं सत्यं न चान्यथा॥
वेदाः सर्वे पुराणानि ....।
अस्मिन्नर्थे स्वसम्बन्धेऽपर्यवस्यन्ति नान्यथा॥ सू० सं० ४।८।२०-२४।

५१. बाध्यबाधकतां यान्ति व्यवहारे परस्परम्।
समुद्र इव कल्लोला इति वेदार्थसंग्रहः॥ सू० सं० ४।८।२५।

मंत्रार्थ निरूपण के अनन्तर मंत्र के पुरश्चरण और साधना का भी निर्देश है। नृत्यमान शिव की ध्यानपूर्वक मंत्रसाधना अथवा प्राकृत भाव को छोड़कर 'शिवोऽहम्' इस भाव से विधिपूर्वक नित्य बारह हजार षडक्षर मंत्र के जप से संसार-सागर से पार होने की स्थिति को फल श्रुति के रूप में कहा गया है।[५२]

षडक्षर मंत्रोपासना की महत्ता के सन्दर्भ में सूतसंहिता का प्रतिपादन है कि अन्य साधनाओं की अपेक्षा षडक्षर मंत्रसाधना से ही सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती हैं, अतः भक्तिपूर्वक इसी मंत्र की उपासना श्रेयस्कर है।[५३]

मंत्रोपासना विवेचन में सूतसंहिता ने मंत्रों के देवता के रूप में प्रायः शिव को ही विशेष महत्त्व दिया है अन्य देवों की अपेक्षा शिव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन सूतसंहिता की शैव भावना का द्योतक है। उपासना विधि में सूतसंहिता की उदार आध्यात्मिक दृष्टि साधकों की आत्मशुद्धि में विशेष उपादेय है और निष्ठापूर्वक संहिता निर्दिष्ट विधि से मंत्रसाधना द्वारा परम कल्याण संभव है। मंत्रोपासना में श्रद्धा का विशेष महत्त्व है अतः मंत्रों के उपास्यदेवों में अटूट श्रद्धा मंत्रसिद्धि में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।[५४]

---

५२. अथवा साम्बमीशान श्री सदाशिवमेव च।
नृत्यमानं तथा देवं ध्यात्वा मंत्रं तु साधयेत्॥
अथवा प्राकृतं भावं स्वीयत्सृज्य सर्वदा।
शिवोऽहमिति संचित्य साधयेदिदमुत्तमम्॥
नित्यं द्वादशसाहस्रं जपेद् भक्त्या समाहितः।
सम्यग्ज्ञानप्लवं लब्ध्वा संसाराब्धिं तरिष्यति॥
—सू० सं० ४।८।३५-३७ अ

५३. तस्मात्सर्वं परित्यज्य षडक्षरपरो भवेत्।
षडक्षरेण सर्वाणि सिध्यन्त्येव न संशयः॥ सू० सं० ४।८।४९

५४. मंत्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भैषजे गुरौ।
यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी॥
सू० सं० १।१३।२ ता० टीका।

भारतीय नास्तिक-परम्परा और श्रमण-विचारधारा

डा० दामोदर शास्त्री,

दिल्ली

In Indian philosophy, the Cārvāka, Jainism and Buddhism are taken as atheists and the other six schools as theists on criteria of *Śruti-prāmāṇya*. The Cārvāka elements of atheism are preserved in Jainism and Buddhism and in fact, the latter two owe much to the Vedic tradition as well. Virtually, the *śramaṇa* tradition is the confluence of Cārvāka and theist schools.

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक, जैन व बौद्ध—इन तीनों दर्शनों को प्राय: नास्तिक दर्शनों के रूप में स्वीकार किया जाता है। छ: आस्तिक दर्शनों में इनकी गणना नहीं होती। चार्वाक का साहित्य ऐसा उपलब्ध नहीं, जिससे उसकी परम्परा का पता चल सके, किन्तु जैन व बौद्ध—इन दोनों की अपनी एक परम्परा है—श्रमण परम्परा, जो वैदिक परम्परा से मूलभूत पार्थक्य रखती है। आस्तिकता-नास्तिकता का आधार मूलत: वेद प्रामाण्य-अप्रामाण्य[१] था। किन्तु आगे चलकर हरिभद्र सूरि के समय (ई० ८वीं शती) तक आस्तिकता का मापदण्ड आध्यात्मिकता, आत्मा का पुनर्जन्म, एवं पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को मानना हो गया था।[२] जैन मत में, तथा निरात्मतावादी बौद्ध दर्शन में भी, आत्मा के पुनर्जन्म व परलोक आदि की मान्यता स्वीकृत है ही।[३]

---

१. नास्तिको वेदनिन्दकः (मनु० २-११)।

२. न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः (षड्दर्शन-समु०, पृ० ४५१, अनुच्छेद—५५५)।

३. सुत्तनिपात, ३५।४१, ३२।११; सुत्तनिपात, कोकालिय सुत्त ३६।५४; सुत्तनिपात—३२।१२; संयुत्तनिकाय—३।४।४४; २।२।१४; धम्मपद, लोकवग्गं, ३।१०; मलवग्ग—८; सुत्तनिपात—३५।४१, ३६।८-२०; अंगुत्तरनिकाय—२।२४८, मज्झिमनिकाय—३।३।१० (देवदूतसुत्त); दीघनिकाय—२।१२।

इस तरह चार्वाक को छोड़कर, सभी दर्शन आस्तिकता की कोटि में आ गए। यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र सूरि ने बौद्ध व जैन दर्शन को आस्तिक मतों में, तथा चार्वाक मात्र को नास्तिक मत के रूप में (षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ में) प्रतिपादित किया है।

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि चार्वाक सम्मत तथाकथित नास्तिकता के सिद्धान्त जैन व बौद्ध —इन दोनों दर्शनों में मूलतः सुरक्षित हैं, यद्यपि ब्राह्मण व वैदिक परम्परा, उपनिषद् परम्परा तथा उपर्युक्त दर्शनों से जैन व बौद्ध दोनों ही प्रभावित हुए हैं, और वैदिक ब्राह्मण परम्परा व श्रमण परम्परा, दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। इस तथ्य को दोनों परम्परा के साहित्यिक, धार्मिक व दार्शनिक विकास को देखने पर स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।

(१) लोकायतिकता (चारु-वाक्यता)

चार्वाक को लोकायत या लोकायतिक कहा जाता है। लोक में, लोगों में, या अपने सर्वजनप्रिय कामादि-सेवन का प्रतिपादक होने के कारण, सरलतया ग्राह्य, प्रचारित या अनुष्ठित होने से, इसकी संज्ञा 'लोकायत'[४] हुई। वैदिक परम्परा में पुरोहितवाद के कारण कर्मकाण्ड की प्रक्रिया जटिल, दुर्बोध होती हुई समाज[५] के सीमित वर्ग में केन्द्रित होती जा रही थी। अदृश्य, सूक्ष्म पदार्थों की कल्पना सामान्य निचले स्तर के लोगों के गले कम उतरती थी। इसके विपरीत, चार्वाक के सिद्धान्त, अधिक लोकप्रिय थे।

जैन व बौद्ध विचारधारा में भी यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है। जैन तीर्थंकरों व बुद्ध के उपदेश सामान्यजन की (प्राकृत-पालि) भाषा में हुए।[६] बाद में, संस्कृत

---

४. लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकाः तद्वद् आचरन्ति स्मेति लोकायताः लोकायतिकाः इत्यपि (षड्दर्शनसमु०, लोकायतमत, अनुच्छेद—५५५, पृ० ४५१)। चारुः लोक-संमतो वाकः वाक्यम् यस्य सः (वाचस्पत्यकोश)।

५. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पाणिनिशिक्षा—५२ तथा महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

६. प्राकृतेति सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः (रुद्रटकृत काव्यालंकार—२।१२ पर नमिसाधु कृत वृत्ति)।

सक्कय-कव्वसत्थं जेण न याणंति मंदबुद्धीया।
सव्वाण वि सुहबोहं तैणेमं पाययं रइयं।
(महेश्वरसूरि का पंचमी-माहात्म्य, उद्धृत—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ६०)।

का प्रचार होने पर, समयानुरूप, संस्कृत में भी उनके ग्रन्थ रचे गए। जैसे चार्वाक ईश्वर, पुरुषार्थ, मुक्ति, पुरुष (आत्मा)—इन मान्यताओं का पूर्णतः अपलाप नहीं करता, बल्कि उसके वैदिक परम्परा—सम्मत स्वरूप को नया बाना पहना देता है, वैसे ही जैन व बौद्ध भी ईश्वर, जीव, बन्धन, मुक्ति, पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि विषयों में अपनी-अपनी मान्यताओं का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। भ० बुद्ध ने अपने उपदेशादि में स्पष्ट किया है कि रोगी से यह पूछने की अपेक्षा कि 'उसे रोग कब हुआ तथा वैद्य का नाम, रूप, रंग क्या है', यह अधिक अपेक्षित है कि उसे दवा दी जाए। वैसे ही संसारी जीव को कर्तव्य-मार्ग का ज्ञान अधिक जरूरी है, न कि जीवादि सूक्ष्म पदार्थविषयक आध्यात्मिक बातों में उलझने की जरूरत है।[७] भ० बुद्ध का उक्त प्रतिपादन स्पष्टतः लोक-भावना के अनुरूप है और सामान्य जन को लक्ष्य कर धर्मोपदेश करने की प्रवृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। जैन शास्त्रों में भी, आत्म-साधक के लिए लोकाचार का (संयम-मार्ग का उपघात न करते हुए) उल्लंघन न करने की प्रेरणा दी गई है।[८] बौद्ध शास्त्रों के उपदेश सामान्य जन के मन को छूने वाले तथा प्रभावशाली हैं। सामान्य जन स्वार्थी व सुखाभिलाषी है।[९] उसे अनन्तसुख व अनन्तानन्दमय मोक्ष की ओर प्रेरित करना सरल है। यही कारण है कि महायानी बौद्ध समुदाय में निर्वाण को आनन्दमय माना गया। जैनों ने भी वीतराग के सुख को अनुपम व अनन्त माना है।[१०]

---

७. मज्झिमनिकाय (अनुरुद्ध सुत्त, १२७)।

८. लोकापवाद भीरुत्वं....सदाचारः प्रकीर्तितः (योगसार प्रा० १२६)। द्रष्टव्य—योगसार प्रा० १३०; उपासकाध्ययन, ३४।८०। तस्माल्लोकविरुद्धं धर्म-विरुद्धं च संत्याज्यम् (प्रशमरति प्र० १३१)। धर्मादपि ततो लोको बलवानिव दृश्यते (चतुःशतक—७।१९)।

९. परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव (इष्टोपदेश—३२)। द्र० इष्टोप० ३१; भगवती आरा० १०३, ७९४, ८००)। बृहत्कल्पभाष्य, ४५८४। ज्ञाना० १७।१९।

(तुलना—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। बृहदा० उप० २।४।५)। (यशस्तिलक, भा० २, पृ० ४१०)।

बौद्धों ने स्वीकार किया है कि पराये के बहुत हित के लिए भी अपने हित की हानि न करना उचित है—अत्तदत्थं परत्थेन बहुनापि न हापये। धम्मपद, अत्तवग्ग, १६६।

१०. पद्मपुराण—१०५।१८७, १०५।१८८—१८९; स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते (ज्ञानार्णव—१११८; ११५७); मज्झिमनिकाय—२।३।५; (तुलना—जैन, योगबिन्दु २।२०४; ५।५०५)।

वस्तुतः 'लोकायत' एक विचारधारा है जो सर्व-साधारण के मन में सुख-भोग की इच्छा के रूप में सूक्ष्मतया निहित है। यही विचारधारा एक स्वतन्त्र दार्शनिक विचारधारा के रूप में विकसित हो गई, किन्तु सामान्य जन के अनुरूप स्वयं को ढालती हुई यथासमय परिवर्तित, परिवर्धित, संशोधित होती रही। भारतीय दर्शनों में परमानन्दमय मोक्ष की कल्पना, भारतीय विचारधारा में देवलोक, स्वर्गसुख आदि की कल्पना, तथा वैदिक या अवैदिक—प्रत्येक दर्शन में समयानुरूप परिवर्तनशीलता या युगानुरूप होने की क्षमता—ये सब बातें लोकायत—विचारधारा का प्रभाव हैं।

किन्तु लोकायत विचारधारा भी दूसरी विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। प्रारम्भ में इस विचारधारा का स्वरूप शुद्ध भौतिकसुखवादी रहा होगा, पर कालान्तर में उसने भूतचतुष्टय को आत्मा, राजा को परमेश्वर, मरण को मोक्ष, तथा काम को परमपुरुषार्थ प्रतिपादित करते हुए, सामान्य जन में बढ़ती हुई दार्शनिक रुचि को सन्तुष्ट किया।

संक्षेप में, चावार्क ऐसी विचारधारा है, जो वैदिक परम्परा के विरोध में, वैदिक विधारधारा के दोषों को जन-जन के समक्ष प्रकट करती हुई, सामान्य जन की सुखाभिलाषिता का दार्शनिक (भौतिकवादी) समाधान व युगानुरूप परिवर्धित रूप प्रस्तुत करती है, जिसमें परलोक, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि की स्वीकृति एक युगानुरूप परिवर्धन है। आत्मा, लोकनित्यता आदि विषयों पर बुद्ध ने मौन रहना ही उचित समझा, और (दश अव्याकृत[११]—अकथनीय निर्धारित कर) मात्र आत्मकल्याण का समाजोपयोगी उपदेश प्रस्तुत किया। जैन दृष्टि का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह, 'श्रुति अप्रमाण है', 'सुख आत्माधीन है न कि बाह्य शक्ति के अधीन', इन मतों का समर्थन करती हुई एक तरफ नास्तिक चार्वाकधारा की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है, किन्तु दूसरी ओर 'अनेकान्त दृष्टि' के माध्यम से भौतिकता व आध्यात्मिकता एवं नास्तिकता व आस्तिकता का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करती हुई, आस्तिक दर्शनों की अनेक विशेषताओं को अपने अन्दर समेटे हुए है। बौद्ध विचारधारा पर भी अनेक वैदिक व आस्तिक दर्शनों का प्रभाव पड़ा और युगानुरूप महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार प्रत्येक भारतीय विचारधारा एक प्रवहमान सोता रहा है, जिसमें युगानुरूप स्वयं को ढालने की असीम योग्यता दृष्टिगोचर होती है।

भाषा के माध्यम को ही लें, बौद्ध व जैन—दोनों विचारधाराओं में प्राकृत, पालि तथा संस्कृत भाषा को मान्यता समयानुरूप प्राप्त होती रही। बुद्ध के उपदेश

---

११. मज्झिमनिकाय—२।२।३ (अनुवाद, पृ० २५१)। (दश अव्याकृत—लोक की नित्यता, अनित्यता, सान्तता, अनन्तता, जीव व शरीर की एकता, अन्यता, मरने के बाद तथागत की संसारागति या संसारविनिर्मुक्ति)।

सामान्य-जनोपकार हेतु प्रारम्भ में पालि भाषा में प्राप्त होते हैं। किन्तु भाषा के सवाल पर बुद्ध का दृष्टिकोण उदार रहा है, जिसका प्रमाण विनयपिटक के चुल्लवग्ग (५।३३।११) का वह वचन है जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपनी-अपनी भाषाओं में उपदेश को बनाए रखने की आज्ञा दी है।[१२] परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने समयानुरूप संस्कृत को अपनाया, इसी प्रकार देशानुरूप तिब्बत, चीनी आदि भाषाओं मे भी कृतियाँ रची गयीं।

महाकवि अश्वघोष ने मोक्षोपदेश रूपी कटु औषध को ललित काव्यरूपी मधुर मधु के साथ सहज आस्वाद्य कराने के उद्देश्य से शृङ्गारादि रसान्वित सौन्दरनन्द काव्य लिखा।[१३] जैनों ने भी पुराणों, नाटकों कथाग्रन्थों के माध्यम से इस दिशा में प्रयत्न किया। ब्राह्मणों के भौतिक यज्ञ के स्थान पर ज्ञान-यज्ञ[१४] या अध्यात्म-यज्ञ का प्रतिष्ठापन, तथा वर्ण, जाति, लिंग, वय आदि का भेद-भाव न रख कर सर्वसाधारण को धर्माराधन करने का अधिकार[१५] प्रदान आदि बातें जैनी व बौद्धों की लोकायतिकता का अंग हैं। जैनाचार्य तो लोक को तीर्थमार्गवत् मानते हैं।[१६]

(२) प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्

चार्वाक विचारधारा प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानती है।[१७] कुछ अंश तक

---

१२. बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृते कृतः॥
(अज्ञात-कर्तृक, उद्धृत—वसुनन्दि श्रावकाचार, भूमिका, पृ० २८)।

१३. यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतम्।
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति।
(सौन्दरनन्द, १८।६४)।

१४. द्रष्टव्य: सुत्तनिपात—महावग्ग सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त ३०।९-२४। ब्राह्मण धम्मिय सुत्त०—१९।२९, तथा पुण्ण-माणव-पुच्छासुत्त ५८।४ एवं बुद्धचरित (११।६४) आदि। उत्तरपुराण ६७।२००-१२; पद्मपुराण (११।२४२-४४); विमलसूरिकृत पउमचरिउ (१० उ०) तथा उत्तरपुराण (६७।२०२-३) आदि।

१५. चरत भिक्खवे चारिकां बहुजनहिताय बहुजनसुखाय (विनय० १।२१)। संयुक्त निकाय ४।१।४; आदिपुराण १४।१६० तथा यशस्तिलक, आ० ८; मज्झिमनिकाय, अस्सलायनसुत्त, २।५।६ तथा एसुकारिसुत्त २।५।६; जैन हरिवंश पु० ५८।३।

१६. यशस्तिलक—१।९०।

१७. मानं त्वक्षजमेव हि (षड्दर्शनसमु० ८३)। प्रत्यक्षलोको मनुष्यलोकः (षड्दर्शन समु० पृ० ४५३)। एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः (षड्दर्शनसमु० ८१)।

उनमें अनुमान-प्रमाण भी मान्य रहा है।[१८] लोकव्यवहार में जितनी अनुमान की प्रमाणता सहज स्वीकृत है, उतनी चार्वाकों ने भी मान्य की है—ऐसा विद्वानों का मत है।

जैन विचारधारा में स्वर्ग, नरक, आत्मा आदि अदृश्य पदार्थों की सत्ता इसी आधार पर मान्य है कि वे तीर्थंकर या केवली 'जिन' द्वारा 'प्रत्यक्ष' किए गए हैं।[१९] इसलिए, देखा जाय तो मूलतः प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रधानता जैनों द्वारा मान्य की गई है (भले ही परोक्ष प्रमाण की सत्ता उनमें मान्य हो)। महात्मा बुद्ध को भी उनकी परम्परा में कुछ अंश तक 'सर्वज्ञ' माना ही गया है।[२०] बुद्ध द्वारा स्वर्ग, नरक आदि का उपदेश ही उन पदार्थों की सत्ता को प्रमाणित करता है।

जैनों ने हमारे अन्दर विद्यमान ज्ञान (आत्मस्वभाव, आत्मशक्ति) को ही 'प्रमाण' की संज्ञा देकर,[२१] दूसरे व्यक्ति की प्रमाणता को नकारा है, जो 'प्रत्यक्ष' की प्रधानता को ही इंगित करता है। बौद्धों ने भी ज्ञान को ही प्रमाण माना है।[२२]

(अ) शब्द-प्रमाणता की अस्वीकृति

चार्वाकों का प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद एक तरह से शब्द-प्रमाणता (या श्रुति-प्रमाणता) का ही तिरस्कार था। बौद्धों ने तो स्पष्टतः शब्द की प्रमाणता का खण्डन किया है,[२३] यद्यपि जैनों ने 'आगम' प्रमाण माना है, परन्तु 'आगम' को 'परोक्ष'

---

१८. गुणरत्नसूरि, षड्दर्शनसमु०, अनुच्छेद—५६६, का० ८३। लोकप्रसिद्धं त्वनुमानं तु चार्वाकैरपीष्यते एव। यत्तु कैश्चिल्लौकिकं मार्गमतिक्रम्य.-नुमानमुच्यते, तन्निषिध्यते (द्र० तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० १४८२, उद्धृत—विद्वन्मोदतरंगिणी चिरंजीवभट्टाचार्यकृता, पृ० ७०)।

१९. भगवती आरा० २।४२; प्रवचनसार १।३७-४१, बुद्ध ने भी ब्रह्मादि देवों व स्वर्गादि का प्रत्यक्ष वर्णन किया है। दीघनिकाय, केवट्ठसुत्त—३।१।११, विसुद्धिमग्ग—प्र० परिच्छेद—शीलनिर्देश, पृ० ४९।

२०. बुद्धाश्च बोधिसत्वाश्च, सर्वत्राव्याहतेक्षणाः। सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्ति पुरः स्थितः (बोधिचर्यावतार, ५।३१)। वही;, ४।१७ २।५७। बुद्ध ने अपनी सर्वज्ञता का खण्डन किया है। मज्झिमनिकाय—सू० ७१, २।३।१, २।४।१० (अनुवाद, पृ० ३६९)।

२१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् (परीक्षामुख—१।१ सू०)। स्वयम्भूस्तोत्र—६३, न्यायावतार—का० १, तत्त्वार्थसूत्र—१।९-१०।

२२. प्रमाणवार्तिक— १।३; १।७ ४।१०६;।

२३. प्रमाणवार्तिक—१।५३-५४; ४।१०६; ज्ञानसार समु० ३१।

कोटि में ही रखा है,[२४] तथा उसका प्रामाण्य आप्त व्यक्ति (वीतराग) के अर्थ-संवेदन में निहित है—ऐसा उनका मत है। इस प्रकार 'अर्थज्ञान' ही 'आगम' प्रमाण ठहराता है, आप्तवचन तो औपचारिक दृष्टि से ही प्रमाण है।[२५]

(आ) प्रत्यक्ष की प्रधानता

चार्वाक प्रत्यक्ष की प्रधानता के पक्षधर हैं, न कि प्रत्यक्ष-मात्र प्रमाण के निरूपक, क्योंकि किसी सीमा तक वे अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। बौद्धों ने 'अनुमान' प्रमाण का जो निरूपण किया है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का प्राधान्य ही प्रतिपादित करता है। बौद्ध मत में प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्पक ज्ञान है, और अनुमान प्रमाण सविकल्पक ज्ञान है। अनुमान की उत्पत्ति निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (क्षणिक परमाणु रूप) 'स्वलक्षण' से होती है। यद्यपि अनुमान में ग्राह्य वस्तु 'सामान्य-लक्षण' (अग्नि सामान्य) रूप है, किन्तु अनुमान में प्रामाण्य प्राप्य स्वलक्षण की अपेक्षा है। अनुमान-प्रमाण (विकल्प) का आलम्बनीय विषय तो 'सामान्य' पदार्थ (विकल्प बुद्धि में प्रतिबिम्बित स्वाकार) है, किन्तु प्राप्य विषय तो बाह्य 'स्वलक्षण' ही होता है। इस प्राप्य बाह्य 'स्वलक्षण' का आलम्बनीभूत स्वाकार के साथ 'मैंने जिसका अनुमान किया था, उसे ही प्राप्त कर रहा हूँ' ऐसा एकत्वाध्यवसाय कर, प्रवृत्ति होती है, इसी कारण अर्थप्रापकता अनुमान में संगत होती है। अतः अनुमान में भी प्राप्य विषय की अपेक्षा स्वविषयोपदर्शन रूप प्रापकता, और तन्मूलक प्रामाण्य का निश्चय होता है।[२६] जैनों ने भी प्रत्यक्ष को विशद कह कर, तथा परोक्ष को अविशद कह कर,[२७] प्रत्यक्ष को ही प्रधानता दी है। परोक्ष प्रमाण को भी वे 'प्रत्यक्षनिमित्तक' मानते हैं।[२८]

(इ) आत्मा आदि अदृश्य पदार्थों का उच्छेद

प्रायः चार्वाक उन्हीं पदार्थों की सत्ता स्वीकारता है जो प्रत्यक्षगम्य है। इसलिए वह पुण्य-पाप, आत्मा, परलोकादि की सत्ता नहीं स्वीकारता। फिर भी, सामान्य

---

२४. परीक्षामुख सू० ३।१-२।

२५. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः (परीक्षामुख—३।९५)। द्र० तत्त्वार्थवार्तिक—१।२०।१। आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः, उपचाराद् आप्तवचनं च (षड्दर्शनसमु० का० ५५, ३२० अनुच्छेद)।

२६. प्रमाणवार्तिक—२।५७-५८; अनुमानस्य तु लिङ्गदर्शनेन विकल्प्यस्वाकारो ग्राह्यो न बाह्योऽर्थः, प्राप्यस्तु बाह्यः स्वकाराभेदेन अध्यवसित इति। तद्विषयस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम् (षड्दर्शनसमु० का० ८।६६)।

२७. विशदं प्रत्यक्षम् (परीक्षामुख—२।३); वही, ३।१।

२८. परीक्षामुख—३।२।

जन की मानसिक अनुभूति को भी चार्वाक विचारधारा में मान्यता मिली । यही कारण है कि 'काम' की सत्ता उन्होंने प्रतिपादित की है, और समस्त सांसारिक प्रवृत्ति को 'कामहेतुक' माना है । बौद्धों ने पंच-स्कन्धातिरिक्त (किसी पृथक्) 'आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं किया है ।[२९] जैनों ने आत्मतत्त्व को स्वीकार किया, पर उसे अनादि कर्मबद्ध रूप में, और व्यवहार दृष्टि से उसे जड़ भी प्रतिपादित किया ।[३०] बौद्धों ने पुण्य-पाप, लोक-परलोक आदि की सत्ता स्वीकार की, तो जैनों ने पारमार्थिक दृष्टि से उनका अभाव बताया ।[३१] बौद्धों ने आत्मा व शरीर की एकता या भिन्नता के सम्बन्ध में 'अव्याकृतता' प्रतिपादित[३२] की, तो जैनों ने भी आत्मा को सर्व-पक्षातिक्रान्त बताया ।[३३] जैनों के अनेकान्तवाद के अनुसार चार्वाक व बौद्ध—दोनों दर्शन पृथक् पृथक् 'नय' (दृष्टियाँ) हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक, बौद्ध व जैन—ये तीन क्रमिक ज्ञान-कोटियाँ हैं । प्रथम कोटि का चार्वाक दर्शन आत्मा, पुण्य-पाप तथा परलोकादि को नहीं स्वीकारता, दूसरी कोटि का बौद्ध दर्शन पुण्य-पापादि को स्वीकारता है, पर आत्मा की पृथक् सत्ता को नहीं, तीसरी कोटि का जैन दर्शन आत्मा, पुण्य पाप, परलोक सभी स्वीकार करता है । कालान्तर में विज्ञानवाद ने विज्ञानमात्र की ही सत्ता स्वीकार कर[३४] चार्वाक के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में स्वयं को खड़ा किया है ।

(ई) जीवन की अस्थायिता

चार्वाक जीवन को स्थायी नहीं मानता, तभी तो वह कहता है—

> यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।[३५]
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

---

२९. मिलिन्दपाण्ह, अ० २ ।

३०. (क) स्याद्वादमंजरी, का० १४ ।
(ख) नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मा । कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात् स्यात् मूर्तः (सर्वार्थसिद्धि, २।७।२६९) ।

३१. न पुण्यं पापं न यस्यास्ति बन्धः (सिद्धसेनद्वात्रिंशिका—२१।१७) ।
द्र० अयोगव्यव० १७; समयसार—२।१२-१८ ।१५०-५८, ३।७३ ।
(तुलना—षड्दर्शनसमु० ८०) ।

३२. मज्झिमनिकाय—२।२।३, पृ० अनुवाद—२५१,

३३. समयसारकलश—९; समयसार—३।७५; ३।७४ । ३।७६ ।

३४. (अ) योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
(आ) इदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् (वसुबन्धुकृत त्रिंशिका, का० १७) ।

३५. (क) षड्दर्शनसमु०, अनु० ५५९, पृ० ४५२, तथा सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २ ।

बौद्धों ने 'क्षणिकवाद'[३६] का प्रतिपादन कर 'अस्थायिता' का ही समर्थन किया है। जैन विचारधारा भी पर्याय दृष्टि' से पदार्थों को क्षणिकता, विनाशशीलता,[३७] स्वीकार करती है। जैन मोक्ष-मार्ग में भी 'अनित्य-भावना' को उपयोगी माना गया है।[३८]

(उ) ईश्वर की ऐहिक प्राणिरूपता

चार्वाक मत में ईश्वर या परमेश्वर लौकिक राजा या शासक ही है।[३९] उसी की अनुज्ञा स्वीकार्य है। यदि किसी की उपासना करना ही हो तो राजा की ही करे, न कि अदृश्य परमात्मा की। बौद्ध मत में भी ईश्वर की सत्ता मानसिक (सत्ता) ही है।[४०]

जैनों व बौद्धों ने ईश्वर, चलते-फिरते, किन्तु गुणविशेषयुक्त 'अर्हद्' बुद्ध आदि को ही समुपास्य कोटि में माना है।[४१] बाद में, महायान में, देवत्व व अलौकिक परमेश्वरत्व प्रतिपादन भी हुआ है, तो वह भी 'बुद्ध' में ही (वह बुद्ध जो जीवित प्राणी के रूप में सर्वजनकल्याण का मार्ग निरूपित करता है।[४२]

(ख) पिब खाद च चारुलोचने (षड्दर्शनसमु॰, कारिका—८२, पृ॰ ४५५)

३६. संयुत्तनिकाय—१६; संस्काराः क्षणिकाः (न्यायमंजरी, पृ॰ ३६)। वैभाषिकमतमदः—चतुः क्षणिकं वस्तु (षड्दर्शनसमु॰, अनुच्छेद १२)। दीघनिकाय—महानिदान सुत्त २।१५; अंगुत्तरनिकाय ३।१।३४; संयुत्तनिकाय १२।७। (तुलना—अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः।)

३७. स्याद्वादमंजरी, का॰ १९।

३८. त॰ सू॰ ९।२, ९।७; प्रशमरति प्र॰ १५, १५१; पद्मनन्दि पंच॰ ३।९।

३९. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ॰ ७)। 'ईश्वरोऽहम्' की मान्यता भी चार्वाक की है (गीता १६।१४)।

४०. चतुःशतक, पृ॰ ६५।

४१. सकलेतरभेदेन परमात्मा द्विधा भवेत्।
सकलो दिव्यदेहस्थो निष्कलो देहवर्जितः॥
(वीरवर्धमान चरित, १६।८४)।

पूजामर्हन्ति सर्वेभ्यस्तेऽत्रार्हन्तः प्रकीर्तिताः (सिद्धान्तसारसंग्रह, १२।६)। द्र॰ वीरवर्धमान चरित, १६।८७-८८; षड्दर्शनसमु॰ का॰ ४; (आदिपु॰ ३९।१०६)।

४२. द्र॰ महायानसूत्रसंग्रह १८।२, १८।४।

मोक्ष-मार्ग में आत्मा (स्व) के तथा 'जिन' अर्हत् के अलावा अन्य किसी की शरणता--बौद्धों व जैनों—दोनों ने नहीं स्वीकार की।[४३]

जैनों ने भी आत्मा की ही, साधना से, साध्य, परमात्मता स्वीकार की है।[४४] वे भी आत्मा (स्व) को अपना त्राता मानते हैं।[४५] लौकिक कल्याणकारी व्यक्तियों में ही नरदेव आदि की जैनादिसम्मत कल्पनायें ईश्वर या देव को ऐहिक प्राणी ही सिद्ध करती हैं।[४६]

(ऊ) श्रद्धा की अपेक्षा तर्क की प्रधानता

चार्वाक विचारधारा में अन्धश्रद्धा को स्थान नहीं है। हर वस्तु सहज तर्क से सिद्ध होने पर ही ग्राह्य होती है।

बौद्ध शास्त्र में भी तर्कसंगत तथा परीक्षित पदार्थ की ही सत्ता मानने के

---

४३. बुद्धं शरणं गच्छामि (बौद्ध)। अरिहंते सरणं पवज्जामि (जैन)। देवातिदेवं नरदेवपूज्यं धर्मे स्वयम्भुं वशिनं श्रयध्वम् (ललितविस्तर, निदानपरिवर्तन—प्र० परिच्छेद, पृ० २)। विमानवत्थु ५।१४।२७, पृ० ६१, (त्रिषष्टि० २।३।८९३); सुत्तनिपात (महावग्ग, सेलसुत्त, ३३।२३); धम्मपद (बुद्धवग्ग—१९०)

यो च बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति॥

द्र० मोक्ष प्रा० १०४; आचाराङ्ग ३।३।६२, ६४। आत्मरति ही उपादेय है—(भाव पा० ८५); इष्टोपदेश—३४। अत्ता हु अत्तनो नाथो....अत्ता हि अत्तनो गति (धम्मपद, अत्तवग्ग, १६०)। अत्तदीपा विहरत अनन्नसरणा।

(बुद्ध के परिनिर्वाण के समय के शब्द, दीघनिकाय—महापरिनिब्बाण सुत्त, २।१००; संयुत्तनिकाय ३।४२, ५।१६३; धम्मपद, २७६। समाधि शतक ७५; चतुःशतक १२।२०।२९५।

४४. समाधिशतक—९८; ज्ञानार्णव—१५३९।

४५. अप्पा दंतो सुही होई (उत्त० १।१५)। उत्त० २३।७३; द्र० उत्त० २०।३७; उत्त० २०।३६।

४६. आदिपु० ३९।१०५-१०७; स्थानाङ्ग—५।१।१४, हरिवंश पु० (जैन) ३१।१५६, भाव पा० १२३, भगवती सूत्र (शतक १२, उद्देश ९), कार्तिकेयानुप्रेक्षा—३०२। तुलना – भागवत पु० ३।३०।२९।

लिए प्रेरणा दी गयी है।[४७] श्रद्धा का सर्वथा निषेध बौद्धों में नहीं है।[४८] समष्टि रूप से विचार करने पर बुद्ध धर्म में भक्ति व ज्ञान का समानरूप से आदर है। बुद्ध की सभी शिक्षायें शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में विभक्त हैं। जैन विचारधारा में भी श्रद्धा[४९] व तर्क[५०] दोनों को आदर प्राप्त हुआ है। वस्तुत शुष्क तर्क की निन्दा इन धर्मों में है।[५१] चार्वाक भी पूर्णतः श्रद्धा का तिरस्कार करता हो—ऐसी बात नहीं, अन्यथा लोकसिद्ध राजा रूपी ईश्वर की मान्यता भी कैसे टिक पाती? चार्वाक कभी ऐसी चर्चा करता नहीं दिखता, जिससे समाज में छोटों-बड़ों के बीच विद्यमान श्रद्धा, स्नेह, परस्पर-सौहार्द की लड़ी टूटने का खतरा हो।

(ए) ऐहिक जीवन की प्रधानता

चार्वाक इसी जीवन में सुख-प्राप्ति के लिए जोर देते हैं। बौद्धों और जैनों ने भी 'जीवन्मुक्ति' को स्वीकार किया है, जो इसी जीवन में शान्तिपूर्ण स्थिति प्राप्त

---

४७. ज्ञानसारसमुच्चय—३१।

४८. सद्धाय तरती ओघं (सुत्तनिपात, आलवक सुत्त, १०१४)। वही, १०१२; सुत्तनिपात २८।८; चतुःशतक ८।६।

४९. सूत्रकृतांग १।२।३।११। दंसणमूलो धम्मो (दर्शन प्रा० २)। और भी—सूत्रप्रा० १६; भगवती आरा० ७५२; भाव प्रा० ९२; १४३; १५३।

५०. अयोगव्यव० २९। द्र० अयोग० २२; योगबिन्दु—हरिभद्रकृत, ५।५२५; योगबिन्दु, १।२२; सिद्धसेन द्वात्रिंशिका, १।४; त० सू० १।१; सन्मति० ३।४३-४५;

(तुलना—'बुद्ध ने कहा—मैंने धर्म का उपदेश दिया है, जो पार जाने के लिए बेड़े (कुल्ल) की भाँति है, वह पार करने के लिए ही है, पकड़ रखने के लिए नहीं' (मज्झिमनिकाय;१।३।२—अलगद्दूपम सुत्त, अनुवाद, पृ० ८८)।

'मेरे जिस भाषण का अर्थ तुम समझे, उसे वैसे धारण करना। और जिस .. का अर्थ नहीं समझे, उसे मुझसे पूछना या अन्य जानकार भिक्षु से' (वही, पृ० ८७)। 'जब खुद ही जानो कि ये बात धर्म) निर्दोष है, ग्राह्य है, सुखकारी है, तभी उसे स्वीकार करो' (अंगुत्तर-निकाय ३।७।८)।

द्रष्टव्य—सिद्धसेन—द्वात्रिं० ६।२; ६।५।

५१. निशीथ भाष्य—२६।३। तुलना—मनु० ४।१३९; नियमसार—१५६; सूत्रकृतांग १।११।१२; नारदपरिव्राजकोप० ५।२१; नियमसार १५५; मनु० १२।१०६; कठोप० १।२।९।

करने के प्रतीक हैं। महायान-परम्परा में[५२] सांसारिक प्राणियों के दुःख-निवारण-हेतु 'प्रत्येक बुद्ध' का क्रमिक जीवन जो प्रतिपादित है, वह यह प्रकट करता है कि बुद्धत्व-प्राप्ति ऐहिक प्राणियों की सुखपूर्ण स्थिति से जुड़ी हुई होकर ही सार्थक है।

बौद्धों ने तात्त्विक निरूपण के प्रसंग में संवृति (व्यवहार) रूप दृष्टि को, तथा जैनों ने 'व्यवहार नय' को स्वीकार कर[५३] एक प्रकार से सामान्य जन-जीवन की मान्यताओं को आदृत किया है।

(ऐ) पुरोहित-याजक की निन्दा—कर्मकाण्ड की निन्दा

चार्वाकों ने हिंसक यज्ञ की, तथा उसके अनुष्ठाता याजकों, पुरोहितों की खुलकर निन्दा की है।[५४] जैनों व बौद्धों ने भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर हिंसक यज्ञ के मूल ग्रन्थ वेदों की, याज्ञिक ब्राह्मणों की[५५] तथा ऐसे हिंसक यज्ञों की निन्दा की है[५६]। बाह्य आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों की तीनों ही निन्दा करते हैं।

(३) काम एवैकः पुरुषार्थः

चार्वाक विचारधारा में 'काम' (स्वसुखोपभोग) को ही पुरुषार्थ माना गया है।[५७] देखा जाए तो सभी भारतीय दर्शनों में शाश्वत सुख-प्राप्ति या दुःख-विमुक्ति

---

५२. हीनयान-परम्परा में पृथग्जन, गोत्रभू, स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्—ये छः आध्यात्मिक साधना के सोपान हैं। महायान-परम्परा में पृथग्जन, श्रावक (अर्हत्), प्रत्येकबुद्ध—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पद हैं।

५३. ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं (समयसार १।८)।
सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे (समयसार—१।१२)।

५४. अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते (षड्दर्शनसमु० अनुच्छेद)—५५९, पृ० ४५१)। और भी

अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥

(सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५)।

५५. (अ) वेया अहीया न भवंति ताणं (उत्त० १४।१२)। तुलना—गीता ११।४८; सूत्रकृतांग १।७।१८ (३९८); आदिपुराण ४१।४८-४९; आदिपुराण—३९।१३४; १३५।

(आ) सुत्तनिपात (ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, १९।२९)

५६. सूत्रकृतांग १।७।१८-१९, सुत्तनिपात १९।२९।

५७. धर्मः कामात्परो न हि (षड्दर्शनसमु० ८६); गुणरत्नसूरि, षड्दर्शनसमु० अनुच्छेद—५५५। काम एवैकः पुरुषार्थः (बृहस्पतिसूत्र)। द्र० सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६।

लक्ष्य माना गया है, जिसके पीछे 'काम' ही छिपा है (भले ही सांसारिक काम-वासनाओं का ग्रहण 'काम' पद से उनमें स्वीकार्य नहीं है)। काम तत्त्व की कृपा से ही सांसारिक व्यवस्था अनवरत चल रही है—ऐसा भी चार्वाकों का मत है।[५८]

बौद्ध परम्परा में आदृत सुखोपभोग के समर्थक षड्दर्शनसमुच्चय के दो श्लोक हैं :—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥

मणुन्नं भोयणं भुच्चा, मणुन्नं सयणासणं।
मणुन्नम्मि अगारम्मि मणुन्नं झायए मुणी॥[५९]

बौद्धाचार्य आर्यदेव ने चित्तविशुद्धि प्रकरण में स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'काम' मोक्ष का साधक है, बशर्ते किसी दुर्विज्ञ व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त न हो।[६०] हाँ सांसारिक कामभोगों में अनास्था या अनादर अवश्य प्रतिपादित हुआ है। मोक्ष की प्रेरणा देते हुए जैनाचार्य भी, अक्षय, अनन्त सुख की स्थिति मुक्ति में है—इसका प्रतिपादन करते है, ताकि साधक सांसारिक कामभोगों को अनित्य, एवं परिणाम में दुःखकारी समझ कर त्याग दें और मोक्ष-साधना में उद्यत हो।[६१] महायानी (बौद्ध)

---

५८. अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् गीता (१६।८)। जगतः कारणं न किञ्चिदिष्टं धर्माधर्मादिकारणान्तरं विद्यते, जगतः काम एव प्राणिनां कारणमिति लोकायतदृष्टिरियम् (शांकरभाष्य, वही)।

(तुलना—अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् (मनु० २।४); महाभारत, (शान्तिपर्व—२१८।४२)।

५९. षड्दर्शनसमु० का० ४, अनुच्छेद ४४, पृ० ३७।

६०. चित्तविशुद्धिप्रकरण ४२ (आर्यदेवकृत)।

तुलना—धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि (गीता—७।११); उत्तर पुराण ५७।६; ७४।२८।

६१. उत्तरा० सू० १३।३१; भगवती आरा० १२६४। मुक्ति में सिद्धिरमणी के साथ आलिंगन का आनन्द बताया गया है।

द्र० उत्तर पु० ५०।६८, आदिपु० ३५।२४१; नियमसार कलश २२४, २२६; ज्ञानार्णव ४।२२; भगवती आरा० १२७०; प्रवचनसार १।६३-६६, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३००; प्रश्न व्याकरण चतुर्थ अध्ययन, उत्त० ३२।१०१; बृ० द्र० संग्रह २४ पर ब्रह्मदेव कृत वृत्ति; समयसार—४।१५०, पंचा० १५१।

परम्परा में निर्वाण को सुखरूप स्वीकार किया है। ये सारी बातें लौकिक काम-भावना के उदात्तीकरण को प्रकट करती हैं।

'काम' से संसार की व्यवस्था संचालित होने की चार्वाकीय मान्यता को जैन व बौद्ध-दोनों ने स्वीकार किया है।[६२] तृष्णा (काम) ही संसार की जड़ है, इसे तोड़ने से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है[६३]—ऐसा प्रतिपादन यत्र-तत्र उपदेश रूप में, इनके शास्त्रों में उपलब्ध होता है। वेद व उपनिषद् में भी 'काम' को सृष्टि का प्रथम तत्त्व बताया गया है[६४] और साथ ही उसे सृष्टि का प्रवर्तक भी।[६५]

जैनों ने मुक्ति के साधनों में भी 'अध्यात्मरति' को विशेष स्थान दिया है।[६६] यह भी एक प्रकार से 'काम' का सांसारिक विषयों की ओर से 'स्व' की तरफ प्रत्यावर्तन ही है। देखा जाय, तो मोक्ष के सारे उपदेश व्यर्थ हो जायें, यदि साधक उस परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु 'कामना' न रखे।

(४) संसार का स्वभावतः संसरण

चार्वाक इस संसार का नियन्ता ईश्वरादिक को नहीं मानते। स्वभावतः ही

---

६२. उत्त० ३२।७-८; मज्झिमनिकाय १।२।३; मोक्ष पा० १०-१५; सुत्त-निपात १७।३; बीजं भवस्य विज्ञानं विषयास्तस्य गोचराः (चतुःशतक—१४।२५); उत्त० सू० ३२।१९।

६३. सुत्तनिपात—६७।३; तं ब्रूमि महापुरिसोति सो इध सिब्बनिमच्चगाति (सुत्तनिपात—५७।३)। द्र० सुत्तनिपात—५६।२; उत्त० सू० ३२।१०८; उत्त० सू० ३२।२, ३२।१९, २८।३६, ७।२५, सुत्तनिपात—६८।५, ३८।६-७, मज्झिमनि० (१।१।९ सम्मादिट्ठिसुत्त)।

६४. कामस्तदग्रे समवर्तताधि (ऋ० १०।२९।४)

६५. सोऽकामयत (बृहदा० उप० १।३।१७); एकाकी न रमते, स द्वितीय-मैच्छत् (बृहदा० उप० १।४।३)।

६६. अप्पा अ पम्मि रओ सम्माइट्ठी होइ फुडु जीवो (भाव० पा० ३१)। द्रष्टव्य—मोक्ष पा० १०४; समाधि श० ४९; समयसार—१२० पर तात्पर्यवृत्ति टीका। प्रशमरति—नित्यतृषितः (प्रशमरति प्र० ३०७)। द्र० समयसार, गा० २०६; मोक्ष पा० गाथा १६, १२, १३, ६९, ८३; भाव पा० गाथा—५६, ८५, ५७, ८७; नियमसार कलश ३८; नियमसार ५०; बृ० द्रव्यसंग्रह ५६; सूत्र पा० १६; प्रवचनसार (३।२१)।

संसार की गतिशीलता बनी रहती है।[६७] विशेषकर, वे स्त्री-पुरुषादिक में विद्यमान 'काम' को परस्पर व्यवहारादि में प्रभावशाली स्वीकार करते हैं।[६८] देखा जाए, तो संसार की उपयोगिता या आवश्यकता उन्हीं लोगों के लिए है जो 'कामना' से बद्ध हैं, निष्काम के लिए संसार की सत्ता समाप्त-प्राय हो जाती है।[६९] जैन व बौद्ध विचारधारा भी तृष्णा, राग, द्वेषादि से संसार की स्थिति का प्रवर्तन मानती है। तृष्णादि ही हमारे कर्म हैं,[७०] जो शुभ-अशुभ रूपता प्राप्त कर शुभाशुभ फल देते हैं। जैसे चार्वाक के मत में भूत चतुष्टय के संघात से प्राणी का निर्माण है, वैसे ही बौद्ध के मत में रूप-विज्ञान में,[७१] तथा जैन मत में जीव-अजीव में[७२] सारे तत्व समाविष्ट हैं, संसार समाविष्ट है। जैन व बौद्ध—दोनों विचारधारा इस संसार को अकर्तृक, अनादि मानती हैं।[७३] सभी द्रव्य स्वभावतः विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते रहते हैं, परस्पर उपकारक बनते हुए सृष्टि का नियमन करते रहते हैं—ऐसी जैनों की मान्यता है।[७४] अनेकान्तवादी जैन विचारधारा काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट, आत्मा

---

६७. अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः।
स्वभावादेव जगद् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयं याति।
(भट्टोत्पल, बृहत्संहिता—१।७ की टीका)।

द्र० सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३; न्याय सू० ४।१।२२; बुद्धचरित ९।५८। ६२; षड्दर्शनसमु० पृ० १९-२०।

६८. गीता १६।८, तथा शांकरभाष्य, वहीं।

६९. ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः (शंकराचार्य-कृत मोहमुद्गर-स्तोत्र, १०)।

७०. उत्त० सू० ३२।७; सुत्तनिपात (अजितमाणवपुच्छासुत्त, ५६।२)।
कम्मा विपाका वत्तंति, विपाको कम्मसंभवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती (विभङ्ग, पृ० ४२६)।

द्रष्टव्य—धम्मपद, जरावग्ग, ११।९ (१५४); मज्झिमनिकायः ३।:।५; चूलकम्मविभंगसुत्त १३५; चतुःशतक १४।२५; सुत्तनिपात—५६।२; सुत्तनिपात ३५।६१; आदि पु० ४।३७; तत्त्वार्थसार ६।३३; भगवती सू० १।६; पंचा० ७३ पर अमृतचन्द्र टीका।

७१. मज्झिमनिकाय १।३।८।

७२. पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स (प्रवचनसार २।३७); उत्त० सू० ३६। २; भगवती सू० २५।२।१४; पंचास्तिकाय ७६; पंचास्तिकाय; ५।

७३. ज्ञानार्णव ३६।२; त० सू० ५।४, ५।२९; माध्य० का० ११।१।

७४. सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण (समयसार—१०।६५)। द्रष्टव्य—भगवती सू० १।६; त० सू० ५।१७-२२; पंचास्तिकाय ६१-६२, पंचा० ६५-६६; कार्तिकेयानु० २०८; रयणसार ३।१२-१३ (८०-८१)। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा—२ तथा उस पर जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका।

इन सब में किसी एक को कार्य में एकान्ततः कारण मानने का निषेध करती है। स्वभाव, कर्म आदि सभी की आपेक्षिक कारणता उसे स्वीकार्य है।[७५]

(५) आत्मा की भौतिकता

चार्वाक भूतचतुष्टय के अतिरिक्त किसी आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं मानते। बौद्धों ने मूलतः पंच स्कन्धों से पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकार की है[७६] (यद्यपि माध्यमिक मत (मा० का० १८.१) में आत्मा की पचस्कन्धरूपता का खण्डन है)।

जैनों के मत में भी व्यवहार रूप में, मूर्त रूप से चलने फिरने वाला प्राणी पुद्गल (पुद्गल-प्रधान) ही है।[७७] जैनों ने आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकारते हुए भी दृष्टिविशेष से उसे भौतिक,[७८] जड़, देहप्रमाण[७९] तथा बौद्धों की तरह 'शून्य'[८०] तक कह दिया है।

आत्मा की देह-प्रमाणता की सिद्धि-हेतु जैन शास्त्र में एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो कामभोगी चार्वाक की विचारधारा के निकट है।[८१] मुक्त आत्मा

---

७५. सन्मति० ३।५३।

७६. रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा-संस्काराः सर्वशरीरिणामेते पञ्च स्कन्धा विद्यन्ते, न पुनरात्मा (सौत्रान्तिक मत, षड्दर्शनसमु०, का० ११, अनु० ९३)।

(तुलना—भूतानि चत्वारो आधारो भूमिः (चैतन्यस्य)—षड्दर्शनसमु० में चार्वाकमत।)

७७. समयसार कलश—४४।

७८. संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह ...कथंचिद् पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानाद् (स्याद्वादमंजरी, का० १४)।

द्रष्टव्य—सर्वार्थसिद्धि, २।७; पंचा० २७; समयसार २।१९।

७९. तत्रात्मद्रव्यं स्वदेहप्रमितिमात्रमेव, न व्यापकम्, नापि वटकणिकामात्रम् (प्रमेयरत्नमाला सू० ४।८); पंचास्तिकाय २७ (व्यवहार नय से आत्मा देह-प्रमाण है)।

८०. संकल्पविकल्परहितः शून्यः (समयसार—४१३ पर तात्पर्यवृत्ति)। द्र० पंचास्तिकाय—३७; सिद्धसेन द्वात्रिंशिका, ३।२१; माध्यमिकसूत्र २२।१५। माध्यमिका का० ११।१-२।

(तुलना—प्रपञ्चोपशमं शान्तं....मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः (माण्डूक्योप० ७)।

८१. सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद् यूनः कान्तासमागमे ॥
(प्रमेयरत्नमाला, सू० ४।७, श्लो० ४१)।

का आकार अपने पूर्वमुक्त शरीर से कुछ छोटा बताया गया है—इस प्रकार जैनों ने (आत्मा की मुक्ति-स्थिति में भी) (अदृश्य आकारवत्ता) सुरक्षित रखी है।[८२]

(६) मोक्षानन्तर संसार का नाश

चार्वाकों ने 'मरणमेवापवर्गः' माना। दूसरे शब्दों में अपवर्ग के बाद पुनः संसार में निवर्तन उन्हें स्वीकार नहीं था। बौद्धों व जैनों के निर्वाण में भी पुनः संसार में आगमन की सम्भावना नहीं है।[८३] बौद्ध मत में स्नेह (तैल) से रहित दीपक की तरह आत्मा निर्वात हो जाता है, शान्त हो जाता है।[८४]

सौत्रान्तिक मत में निर्वाण की स्थिति में सदा के लिए 'विज्ञान' का निरोध हो जाता है।[८५]

जिस प्रकार चार्वाक शरीरपात मात्र को अपवर्ग मानता है, उसी स्वर में बौद्धमत प्रतिपादित हुआ है कि भार-निक्षेप ही मोक्ष है।[८६]

जैन मत में—चार्वाक व बौद्ध दोनों मत नयविशेष हैं। बौद्ध-ऋजुसूत्रनयावलम्बी है, तो चार्वाक व्यवहार-नयावलम्बी। अपने मत में दुराग्रह के कारण ही ये त्याज्य हैं, किन्तु दृष्टि-विशेष के रूप में, अन्य दृष्टियों का विरोध न करते हुए, ये ग्राह्य हैं। इस प्रकार तीनों धर्म व दर्शन परस्पर समन्वित हों तो एक हार की तरह

---

८२. द्रव्यसंग्रह १४; आदिपुराण ४७।३४२ किञ्चिदूनता का कारण शरीरांगोपांगजनित नासिकादि छिद्रों का पूर्ण हो जाना है)।

८३. पदे तु यस्मिन् न जरा, न भीर्न रुग् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया॥
(बुद्धचरित, ११।५९)।

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकरः॥

(तत्त्वार्थ सूत्र, भाष्य, १०।७-८) द्र० भाव पा० १२६; तत्त्वार्थसार० ८।७; दशाश्रुतस्कन्ध ५।१२२; प्रवचनसार २।१०१।

८४. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।....
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्॥
(सौन्दरनन्द, १६।२८-२९)।

(तुलना—त्रिषष्टिशलाका पु० च० २।३।३४२)।

८५. बौद्धधर्म दर्शन—आ० नरेन्द्रदेव, पृ० ३०५।

८६. भारनिक्षेपो मोक्षः (तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, आप्तवाद-परीक्षा, ३४९)।

सुशोभित होने की योग्यता रखते हैं।[८७] सम्यग्दृष्टि जैन साधक मिथ्या आगमों (मान्यताओं) को भी, यथोचित निरपेक्ष रूप प्रदान करता हुआ, विधि-निषेध रूप सप्तभंगी के बल पर, उपादेय बना लेता है।[८८] वस्तु के अंशमात्र को ग्रहण कर उसे ही सत्य मानना और अन्य दृष्टियों को असत्य मानना जैन को कभी स्वीकार नहीं। इस दृष्टि से चार्वाक व बौद्ध - दोनों मत 'जैन अनेकान्तवाद' की परिधि में ग्राह्य हो जाते हैं। नास्तिक दर्शन के प्रति भी जैनों का मध्यस्थता[८९] का भाव इसी परस्पर-समन्वय-भावना का संकेतक है।

इस प्रकार, श्रमण-परम्परा एक तरफ प्रमुख नास्तिक दर्शन 'चार्वाक दर्शन' की परम्परा से अपना सम्बन्ध बनाए हुए है, तो दूसरी तरफ आस्तिक परम्परा के दर्शन से भी आदान-प्रदान करती हुई सतत प्रवहमान रही है। वस्तुतः आस्तिक व नास्तिक परम्परा की संगम-स्थली श्रमण-परम्परा है, जहाँ सर्वसाधारण जनता निमज्जन कर चित्त-शुद्धि कर सकती है।

---

८७. तर्कभाषा (जैन), २ परिच्छेद (नयाभासनिरूपण)—(अपारमार्थिक-द्रव्यपर्याय-विभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाक-दर्शनम्। द्रष्टव्य—सन्मति ३-४७; आप्तमीमांसा का० १०८; तु० कार्तिकेयानु०, २६६; स्याद्वादमंजरी का० २८ बौद्ध अनाग्रही दृष्टि सुत्तनिपात, ४।८३।१-३ में प्रतिपादित है।

८८. मूलाचार— ६७-६८, (द्र० जै० सि०, कोष, भा० २, पृ० २६५)।

८९. ज्ञानार्णव—१२७३।

बौद्धों ने भी उदारता का भाव प्रकट किया है—(चतुःशतक—१२।२५, ३००)।

द्रष्टव्य—सुत्तनिपात ३।२९।२,३; २।२५।१३; ४।४१।१; ४।४७।१२; ४।४९।२; ४।५०।१—१७, ४।५०। १७; ५।५१।१८; धम्मपद (सुखवग्ग—१९७)।

ब्रह्मोपलब्धि के परिप्रेक्ष्य में राग एवं इच्छा का स्वरूप*

अर्चना चतुर्वेदी

इलाहाबाद

The *desire* for knowledge of brahma is different from *rāga* which is the desire for material bliss. *Brahma* is *ānanda* but this *ānanda* element is not a barrier but instrumental (*sādhaka*) in attaining *mokṣa*. The goal of a *mumukṣu* is not *ānanda* but realisation. *Rāga* results in attachment and *desire,* which in turn cause the cycle of birth and death, whereas the *desire* for truth-realisation, being *sāttvika* in nature, results in the attachment for knowledge which makes one attain *mokṣa*.

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत अद्वैत-वेदान्त में सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण, एकमात्र तात्त्विक पदार्थ 'ब्रह्म' स्वीकार किया गया है, जो आनन्दरूप है। उपनिषदों में 'आनन्दं ब्रह्म',[1] 'एषोऽस्य परमानन्दः'[2] इत्यादि श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं जो ब्रह्म के 'आनन्दरूप'की पुष्टि करती हैं। आनन्दरूप उस परब्रह्म की उपलब्धि के प्रति सभी की अभिलाषा या इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है और यही इच्छा मोक्ष अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण बनती है। स्मरणीय है कि वेदान्त-दर्शन की मान्यता के अनुसार सच्चिदानन्दघनस्वरूप उस परमात्मा अथवा परब्रह्म का साक्षात्कार ही मोक्ष का स्वरूप है, इस प्रकार 'परमात्मा को प्राप्त होना अव्ययत्व को प्राप्त होना, तथा परमानन्द को प्राप्त होना, आदि ये सभी मोक्ष के पर्यायवाची शब्द हैं।

किन्तु यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या ब्रह्मसाक्षात्कार-विषयक वह इच्छा आनन्दरूप ब्रह्म के प्रति राग होने से होती है अथवा अन्यथा होती है? क्योंकि लोक

---

*. अखिल भारतीय प्राच्चविद्या सम्मेलन के ३१वें अधिवेशन में, धर्मदर्शन विभाग के अन्तर्गत, दिनांक ३१. १०. ८२ को प्रस्तुत।

१. बृहदा० उप० ३।९।२८

२. बृहदा० उप० ४।३।३२

में सुख के प्रति व्यक्ति का सहज ही राग देखा जाता है और 'आनन्द' शब्द सुख का वाचक है, अतः आनन्दात्मक ब्रह्मज्ञान के प्रति होने वाली मुमुक्षओं की प्रवृत्ति भी राग युक्त ही होगी। राग के कारण होने वाली प्रवृत्ति संसार का मूल कारण है, अतः ऐसी प्रवृत्ति से मोक्ष होना सम्भव नहीं। 'योग-दर्शन' में भी 'राग' को एक प्रकार का क्लेश[३] माना गया है जो सुख का अनुवर्ती होता है। योगसूत्र २।२७ में कहा गया है 'सुखानुशयी रागः', अतः क्लेशमूलक प्रवृत्ति मोक्ष का साधन नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त, आनन्द के प्रति राग होने के कारण प्रवृत्त होने वाला मनुष्य शान्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक राग की निवृत्ति न हो जाय तब तक शमादि की प्राप्ति नहीं हो सकती और शास्त्रों में शमदमादि से युक्त पुरुष का ही आत्मदर्शन में अधिकार कहा गया है।[४] अतएव समस्त दुःखों से रहित ब्रह्मतत्त्व में प्रवृत्त होने वाला वही पुरुष मुक्त हो सकता है, जिसको सांसारिक दुःखों से उद्विग्न होने पर भी सुख के प्रति कोई राग न हो। इस प्रकार, ब्रह्म का आनन्दरूप होना ग्राह्य नहीं। और यदि मान भी लें तब भी, ब्रह्मज्ञानमूलक प्रवृत्ति से मोक्ष सम्भव नहीं, अतः तद्विषयक समस्त प्रयत्न निरर्थक हैं, ऐसा मानना होगा।

प्रस्तुत शङ्का विचारणीय है। वस्तुतः क्या यही स्थिति है? तब तो वेदान्त सम्बन्धी समस्त शास्त्र तथा श्रुतिवाक्य इत्यादि सभी आधार निरर्थक हो जायेंगे। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, और शास्त्रों में प्रतिपादित 'आनन्दं ब्रह्म' का आलोड़न किया जाय—तो सहज ही शास्त्रों की सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उपर्युक्त वस्तुस्थिति यथार्थ नहीं है।

उपर्युक्त शङ्का पर विचार करते समय हमारे लिए यह जान लेना अत्यन्त अनिवार्य है कि इच्छा एवं राग का स्वरूप क्या है? वे दोनों परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न? वस्तुतः इन प्रश्नों के उत्तर में ही इस शङ्का का समाधान भी निहित है, क्योंकि किसी भी वस्तु के स्वरूप का निश्चय होते ही तद्‌विषयक समस्त भ्रान्तियाँ स्वतः ही निर्मूल हो जाती हैं।

इस सन्दर्भ में हमें सर्वप्रथम इच्छा तथा राग के मूल कारण को जान लेना चाहिए इस प्रकार कारणभेद से स्वतः ही वस्तुभेद सिद्ध हो जायगा। स्मरणीय है कि प्रकृति से उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये तीनों ही अविनाशी आत्मा को शरीर में बाँधते हैं, और इन्हीं तीनों गुणों में से जब जिस गुण की अधिकता होती हैं—प्राणी की मानसिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति भी तद्रूप ही हो जाती है। क्योंकि सत्त्व, रजस् एवं तमस् के बंधन अपने अपने गुणों के अनुसार अलग-अलग प्रकार के

---

३. 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।' यो० सू० २।३

४. 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' बृहदा० उप० ४/४।२३

होते हैं। जब प्राणी में रजोगुण की प्रधानता होती है तो वह सांसारिक सुखोपभोग, इन्द्रिय-सुख तथा विभिन्न सांसारिक कामों को करके, उनसे सुख प्राप्त करने की लालसा में रहता है, क्योंकि रजोगुण कामना तथा तृष्णा से उत्पन्न है, अतः वह जीवात्मा को कामसे और उसके फलों से बाँधता है। किन्तु जब सत्त्वगुण की अधिकता होती है तो वह स्वयं विकार रहित एवं निर्मल होने के कारण प्राणी को सुख एवं ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है।[५] उस ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, जब कि राग के बन्धन से बँधा प्राणी अनादि काल तक 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है। अतः वह, सत्त्वगुण मूलक आसक्ति, सुख के प्रति होने पर भी राग नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार, आधार-भेद से इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि इच्छा और राग दोनों परस्पर नितान्त भिन्न हैं। अब इनके स्वरूप पर विचार करें तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान, महान् दार्शनिक, एवं अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य मण्डनमिश्र कृत 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थ की ओर आकृष्ट होता है जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इच्छा तथा राग का भेद स्वीकार किया है। ग्रन्थकार के अनुसार यद्यपि राग भी एक प्रकार की इच्छा ही है तथापि प्रत्येक इच्छा राग नहीं कही जा सकती। इस प्रसंग में उन्होंने दो प्रकार की इच्छाओं की ओर संकेत किया है[६] अर्थात्

१. अयथार्थ विषयों के प्रति, अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति होने वाली इच्छा (राग) तथा

२. यथार्थ विषय अर्थात् ब्रह्मज्ञान (तत्त्वज्ञान) के लिए होने वाली इच्छा।

मण्डन मिश्र जी के अनुसार आनन्दरूप ब्रह्म के प्रति होने वाली मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति को रागात्मक मानना पूर्णतः अनुचित है, क्योंकि वह प्रवृत्ति 'आनन्द' के प्रति राग होने से नहीं होती अपितु तत्त्वदर्शन की इच्छा के कारण होती है और इच्छा मात्र को ही राग नहीं कह सकते। अपितु अविद्या के द्वारा प्राप्त अयथार्थ विषय के प्रति आग्रह अर्थात् अभिनिवेश को ही राग कहते हैं। इस प्रकार, संशय, विपर्ययादि मल रहित चित्त में, आनन्दात्मक ब्रह्म के प्रति जो तत्त्वदर्शन की अभिलाषा होती है उसकी, राग के पक्ष में व्यवस्था नहीं की जा सकती अर्थात् उस प्रकार की इच्छा को राग नहीं कह सकते। और इसी कारण तत्त्वदर्शन की इच्छा से होने वाली प्रवृत्ति को भी रागात्मक नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार संसार की असारता को समझ लेने पर, उससे उत्पन्न होने वाला संसार के प्रति उद्वेग, द्वेष की

---

५. द्रष्टव्य—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १४ वाँ।

६. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड पृ० ३, 'न च रागनिबन्धना तत्र प्रवृत्तिः। हीच्छामात्रं रागः। अविद्याक्षिप्तमभूतगुणाभिनिवेशं रागमाचक्षते'।

कोटि में नहीं आता, अन्यथा जहाँ समस्त दुःखों का अतिक्रमण हो जाता है, ऐसे ब्रह्मतत्त्व में, मुमुक्ष की द्वेष-मूलक प्रवृत्ति होने से मुक्ति सम्भव नहीं होगी अपितु संसार-बंधन चलता रहेगा, उसी प्रकार राग और इच्छा के परस्पर भेद के विषय में भी समझना चाहिए।

आचार्य शङ्खपाणि के अनुसार असत्य में सत्य का तथा अनात्मा में आत्मा का अध्यारोप करना ही अविद्या है और इसी अविद्या के द्वारा लोक में प्राप्त रूप-रसादि अयथार्थ गुणों के प्रति होने वाले अभिनिवेश को राग कहा जाता है, किन्तु तपस्वी की 'तप' के प्रति होने वाली इच्छा को राग नहीं कहा जा सकता।[७] इसी मत का समर्थन आनन्दपूर्ण मुनि ने भी किया है—उनके शब्दों में—'परमानन्देच्छा तु न रागः, किंतु श्रद्धा, सर्वथा वैपरीत्यात्।'[८]

इस सन्दर्भ में, 'राग' के स्वरूप विषयक कुछ अन्य आचार्यों के मत भी उल्लेखनीय हैं, जिनके अनुसार भी राग का स्वरूप लगभग उपर्युक्त प्रकार जैसा ही है। भगवद्गीता के व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार विषयों के प्रति रंजनात्मक चित्तवृत्तिविशेष का नाम राग है।[९] आनन्दगिरि के अनुसार यह अनुभूत विषयों के प्रति रंजनात्मक तृष्णा का एक प्रकार विशेष है।[१०] सांख्य में इसे महामोह कहते हुए इसके दस प्रकार माने हैं।[११]

इस प्रसंग में यहाँ, यदि भारतीय दर्शन की सारभूत एवं साक्षात् भगवान् की दिव्यवाणी स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीता का उल्लेख न किया गया तो बात अधूरी रह जायेगी। इस ग्रन्थ में राग और इच्छा के द्वैविध्य का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन एवं उनके कारणभूत त्रिविध गुणों का बृहद् विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के चौदहवें अध्याय के छठवें एवं सातवें श्लोक में क्रमशः इच्छा एवं राग के स्वरूप का वर्णन है। इसके अनुसार राग मनोगत रजोगुण का कार्यविशेष है, अतः उसका स्थूल रूप है। इस राग के कारण ही आसक्ति और तृष्णा उत्पन्न होती है। इसके विपरीत, दूसरे प्रकार की इच्छा अर्थात् तत्त्वदर्शन की अभिलाषा सत्त्वगुणवृद्धिमूलिका होती है। इस प्रकार की इच्छा मोक्ष की प्राप्ति के लिए होती है। और यह चित्त में तब उत्पन्न होती है

---

७. द्रष्टव्य—ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड शङ्खपाणि टीका पृ० ।। (न हि तपस्वी....)

८. द्रष्टव्य—ब्रह्मसिद्धि व्याख्या, 'भावशुद्धि' पृ० २५।

९. 'रागो विषयेषु रंजनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः'। गीता, मधुसूदनी टीका २.५८।

१०. 'अनुभूताभिनिवेशे विषयेषु रंजनात्मकस्तृष्णा भेदविशेषः'। गीता २।५६ आनन्दगिरिभाष्य विवेचन।

११. 'शब्दादिषु पंचसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु रागः आसक्तिः महामोहः। स च दशविधविषयत्वाद् दशविधः'—सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० १८३।

जब चित्त श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि के द्वारा संशय-विपर्यय आदि चित्त के मलों से रहित हो कर शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है। वस्तुतः जब सत्त्वगुण बढ़ता है तब मनुष्य के मन की चञ्चलता अपने आप ही नष्ट हो जाती है और वह संसार से विरक्त और उपरत हो कर सच्चिदानन्दघन परमात्मा के ध्यान में मग्न हो जाता है। इस प्रकार अन्तःकरण और इन्द्रियों में प्रकाश की वृद्धि होती है एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारों का नाश हो कर शान्ति की प्राप्ति होती है।

इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि महर्षि पतञ्जलि के सूत्र 'सुखानुशयी रागः'[१२] की व्याख्या करते समय भाष्यकार महर्षि व्यास ने राग का स्वरूप बताते हुए कहा है कि सुख के अनुभविता को सुखानुभव की स्मृतिपूर्वक सुख या सुख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो चाह या लालच होता है वह राग है।[१३] इस प्रकार उन्होंने राग के लिए 'सुखानुभव की स्मृति' को प्रमुख कारण माना है। किन्तु तत्त्वदर्शन के लिए होने वाली इच्छा में इस प्रकार के कारण की अपेक्षा नहीं होती; वह तो जिज्ञासा-प्रधान होती है। अर्थात् इस प्रकार की इच्छा में किसी अज्ञात को जानने की और अप्राप्त को प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो 'राग' अनुभूत पदार्थ विषयक होता है जब कि (तत्त्वदर्शन की) इच्छा अननुभूत पदार्थ विषयक होती है, अर्थात् जिज्ञासु के लिए तो 'ब्रह्म' लगभग अज्ञात सा ही होता है, क्यों कि उसका पूर्व में कभी साक्षात्कार तो हुआ नहीं रहता जो उसे पुनः प्राप्त करने का लोभ या लालच मुमुक्षु के चित्त में हो! अस्तु, निष्कर्षतः यही सिद्ध होता है कि 'राग' और तत्त्वदर्शन की इच्छा में पर्याप्त अन्तर है अतः ब्रह्म को आनन्दस्वरूप मानने पर भी कोई दोष नहीं आता, साथ ही ब्रह्मसाक्षात्कार की इच्छा को रागात्मक भी नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसंग में स्मरणीय है, कि वस्तुतः ब्रह्म के आनन्द और सांसारिक 'सुख' अथवा लौकिक 'सुख' में पर्याप्त अन्तर है, किसी भी प्रकार से दोनों एक नहीं, और न ही लौकिक 'सुख' का वाचक 'आनन्द' शब्द है। 'आनन्द' की समालोचना करते समय सांसारिक सुख का उल्लेख केवल लौकिक दृष्टान्त के द्वारा समझाने की दृष्टि से किया जाता है—अतः एतद्विषयक कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। सांसारिक सुख से अत्यधिक उत्कृष्ट ब्रह्म का आनन्द है, वह निरतिशय है किन्तु लौकिक आनन्द या सुख सातिशय होता है। वह परमानन्द, सुख की पराकाष्ठा है, और इस प्रकार वह लौकिक आनन्द से कई गुना अधिक है। यह निराधार कथन नहीं, अपितु शास्त्रों में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि लौकिक पुरुष के आनन्द से लेकर इन्द्र, बृहस्पति, एवं प्रजापति पर्यन्त सभी के

---

१२. योगसूत्र साधनपाद सूत्र–७
१३. योगसूत्रभाष्य-साधनपाद सूत्र-७

आनन्द से बढ़ कर ब्रह्म का आनन्द है।[१४] इस प्रकार लौकिक आनन्द एवं ब्रह्म के आनन्द में पर्याप्त अन्तर सिद्ध हो जाने पर लौकिक इच्छा (राग) एवं तत्त्वदर्शन की इच्छा में भी भेद मानना ही होगा, क्योंकि दोनों के विषय भिन्न हैं।

इस क्रम में, जो पूर्व में यह कहा गया कि ब्रह्म को आनन्दरूप मानने पर तो 'शान्तो दान्तः' इत्यादि श्रुति से भी विरोध होगा तो ऐसा कहना नितान्त हास्यास्पद है। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त श्रुति के द्वारा केवल सांसारिक सुख के प्रति होने वाले राग का ही निषेध कहा गया है—ब्रह्मज्ञान के प्रति होने वाली इच्छा अथवा राग (आसक्ति) का नहीं। वस्तुतः जो व्यक्ति उपनिषदादि प्रमाणान्तर से परम उत्कृष्ट सुख को जान चुका होता है तथा उसको प्राप्त करने का इच्छुक होता है—ऐसे मुमुक्षु को ही मोक्ष के उपाय स्वरूप इन्द्रिय-जय आदि का उपदेश 'शान्तोदान्तः' श्रुति के द्वारा किया गया है। स्मरणीय है कि ब्रह्मविद्या में अधिकार प्राप्त करने के लिए साधनचतुष्टयसम्पन्नता अत्यन्त अनिवार्य योग्यता कही गई है[१५] और यह साधन चतुष्टयसम्पन्नता अन्तःकरण की निर्मलता से प्राप्त होती है अतः शुद्धचित्त वाला व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी कहा गया है। किन्तु यदि उक्त श्रुति से समस्त प्रकार की इच्छाओं का निषेध मानेंगे, तब तो ब्रह्मरूप परम सुख के प्रति होने वाली इच्छा का भी निषेध हो जायगा—और तब, उस स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति ही सम्भव नहीं होगी तथा तद्विषयक समस्त उपदेश व्यर्थ हो जायेंगे। अतएव यही स्वीकार करना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान विषयक इच्छा राग नहीं है और यदि है भी तो लौकिक राग से उसकी भिन्नता होने के कारण, शमदमादि विषयक श्रुति से उसका कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त विचार-विमर्श के आधार पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि मोक्ष के सन्दर्भ में ब्रह्म की आनन्दात्मकता किसी भी प्रकार से बाधक नहीं है, अपितु वह स्वयं ही मोक्ष का स्वरूप है। मोक्ष रूप में सिद्ध होने के कारण तद्विषयक इच्छा को रागात्मक भी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अव्यवस्था हो जायगी। इस प्रकार तत्त्वदर्शन की जिज्ञासा युक्त 'इच्छा' राग से सर्वथा भिन्न है एवं उसका पर्यवसान मोक्ष में ही है—यह निर्विवाद सत्य है। लोक में प्रयोग किया जाने वाला 'इच्छा' शब्द सम्भवतः राग का पर्याय कहा जा सकता है, क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि इच्छा सुखपूर्वक होती है, अर्थात् जिस वस्तु से एक बार सुख का अनुभव हो चुका रहता है उसी के प्रति पुनः इच्छा होती है। परन्तु तत्त्वदर्शन की इच्छा इस कोटि में नहीं आती।

---

१४. तैत्तिरीयोपनिषद् —२।८।१-४.

१५. द्रष्टव्य वेदान्तसार, खण्ड ५, सूत्र ५.

एकाङ्की : नवमूल्याङ्कन

अभयमित्र

इलाहाबाद

The author in this paper has dealt with the basic elements of *Ekānkī* nāṭaka, the characteristics of modern *Ekānkī*, objections against Saṃskrit *Ekānkī* (rather Nāṭyasāhitya), essentials of successful *Ekānkī* and the *avyāptidoṣa* in its West-oriented definition.

एकांकी नाटकों के उद्‌भव एवं विकास के सम्बन्ध में हमें दो मत देखने को मिलते हैं। प्रथम यह कि एकांकी इस विधा का उद्‌भव और विकास पाश्चात्य, विशेषकर अंग्रेजी साहित्य से प्रारम्भ हुआ और संस्कृत के पास कोई एकांकी परम्परा नहीं है। दूसरा मत यह है कि संस्कृत के पास परम्परा अवश्य है और भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, काशीनाथ खत्री, किशोरीलाल प्रभृति पर उसका प्रभाव भी है किन्तु आधुनिक एकांकी संस्कृत तथा भारतेन्दु प्रभृति की परम्परा का कदापि ऋणी नहीं है।

प्रथम मत के सन्दर्भ में यह कहना ही पर्याप्त है कि किसी वस्तु के ज्ञान का न होना उस वस्तु के अभाव का द्योतक कदापि नहीं हो सकता। दूसरा मत इस दृष्टि से विवेच्य है कि वह आधुनिक एकांकी को प्राचीन एकांकी विधा से पृथक् मानता है। जिसके सन्दर्भ में यह कहना अपर्याप्त होगा कि रूप-रंग परिवर्तित हो जाने से प्रकृति अर्थात् मूल भी परिवर्तित नहीं हो जाता। अर्थात् एकांकी का मूल तत्त्व है कथा की संक्षिप्तता, उसको एक अंक में समाप्ति की सम्भावना, अतः संस्कृत के एकांकी भी एकांकी तो हैं ही। अब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि वे तत्त्व कौन से हैं जिनके कारण अनेक संस्कृत एवं उससे प्रभावित भारतेन्दुयुगीन नाटकों को आधुनिक एकांकी का मूल मानने के सिद्धान्त को अस्वीकार किया जाता है, यहाँ तक कि उन्हें उसका सगोत्रीय भी नहीं माना जाता।

यहीं से इस विषय के दो पक्ष हो जाते हैं। प्रथम पक्ष के आधार पर संस्कृत के एकांकी रूपकों पर अनेक आरोप हैं। ये आरोप हैं 'उनमें निर्देशनों का अभाव

अथवा उसका संक्षिप्त होना, नान्दी पाठ, मंगलाचरण, प्रस्तावना, नट-नटी, सूत्रधार एवं स्वगत कथनों का अनावश्यक प्रयोग, नायक-नायिका, कथावस्तु एवं रसों का बन्धन, सामाजिक जीवन से उनका परे होना तथा उनका अयथार्थवादी एवं अमनोवैज्ञानिक होना।' दूसरा पक्ष है आधुनिक एकांकियों में इन दोषों का अभाव तथा रंगनिर्देश का स्पष्ट एवं विस्तृत होना, क्रियाक्षिप्रता, गतिशीलता, संकलनत्रय का निर्वाह संवादों की चुस्ती उद्देश्य का स्पष्ट होना तथा सांकेतिकता की व्यापकता।

एक मौलिक प्रश्न यह उठता है कि एकांकी का लक्षण क्या है? आधुनिक एकांकी के सम्बन्ध में जो गुण ऊपर दिए गए हैं वे किसी एकांकी के ही लक्षण क्यों हैं? क्या ये किसी सम्पूर्ण नाटक के गुण नहीं हो सकते और क्या इनके अभाव में एक-डेढ़ घण्टे में समाप्त होने वाले किसी ऐसे एकांकी को एकांकी नहीं माना जा सकता जिसमें ये गुण न हों। संस्कृत साहित्य में अब भी कुछ एकांकी ऐसे हैं जिनकी मंचावतारणा आज भी उतनी ही सशक्त हो सकती है जितनी किसी आधुनिक एकांकी की। अस्तु, इस विवाद को उठाने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम देखें कि आधुनिक एकांकी के प्रखर समर्थक किस ढंग से सोचते हैं। इस विषय पर देखें तो एक तथ्य यह स्पष्ट हो जाता है कि ये (आलोचक) एकांकी के प्रयोग पक्ष पर जितना बल देते हैं उसके शास्त्रीय स्वरूप से उतने ही अपरिचित हैं। एक आलोचक एवं नाटककार का मत है कि सफल एकांकी में रंग-संकेत स्पष्ट, कार्यगति क्षिप्र, अभिनय सुन्दर, सम्वाद चुस्त एवं चुटीले, चरित्र-चित्रण यथार्थ तथा मनोवैज्ञानिक, और अवसर के अनुरूप प्रकाश एवं छाया का प्रयोग होना चाहिए।' पर क्या किसी सम्पूर्ण नाटक (अनेकांकी) के लिए इनकी आवश्यकता नहीं है? वस्तुतः किसी भी नाटक की सफलता के लिए इनकी अनिवार्यता है और इनमें से अनेक बातों का सम्बन्ध इनकी मंचावतारणा से है, प्रयोग से है और नाटककार को उससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। उदाहरण के लिए प्रकाश एवं छाया का प्रयोग। भला नाटककार इसके लिए क्या कर सकता है और यदि कालान्तर में इसके स्थान पर नया प्रयोग आरम्भ हो जाय तो क्या इस आधार पर आधुनिक नाटकों को उनके विकास क्रम की एक कड़ी, नहीं माना जाएगा। अभिनय की सुन्दरता के सन्दर्भ में भी यही प्रश्न उठता है। कुछ लोग यहाँ तक कहते देखे जाते हैं कि 'रंगमंच के अनुरूप कथावस्तु का चयन किया जाए।' भला नाटककार यह बन्धन क्यों स्वीकार करे। सफल नाटककार तो वह होगा जिसके नाटक किंचित् परिवर्तन-परिवर्धन के साथ किसी भी स्टेज पर किसी भी परिस्थिति और काल में प्रस्तुत किए जा सकें।

इस दृष्टि से, संस्कृत नाटकों के उन तत्वों पर भी विचार करना अनुचित न होगा जिन्हें अनावश्यक माना गया है। इनमें सर्वप्रथम नान्दी पाठ और प्रस्तावना को लें! आलोचना की दृष्टि से किसी भी प्राचीन साहित्य, कृति अथवा साहित्यकार का

मूल्यांकन करते समय हमें तात्कालिक परम्पराओं को नहीं भूलना चाहिए अन्यथा अतीत झूठा हो जाता है। अतः नान्दीपाठ को संस्कृत की उस परम्परा के परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा जहाँ 'श्रीगणेश' यह मंगलवाचक पद स्वयं किसी कार्य के आरम्भ का पर्याय रहा हो और जहाँ नाट्यशास्त्र को पंचमवेद तथा नाट्यक्रिया को यज्ञ का पर्याय माना जाता रहा हो। यह परम्परा भारतीय लोकमानस के ही अनुकूल नहीं रही है अपितु ऐसे ही पूजा-उपचार के आयोजन डायोनिशस के देश में भी होते रहे हैं।[1] रंगमंच की इस महती विशेषता को लेकर ही भरतमुनि ने पूर्वरंग का विधान किया है जो अत्यन्त विस्तृत है। वस्तुतः नान्दी उसी का भाग है। यह परम्परा क्षीण होते-होते मात्र एक दो श्लोकों में सीमित हो गयी फिर भी इसके संक्षिप्त तथा विस्तृत दोनों ही रूपों के संकेत नाट्यशास्त्र में मिलते हैं।[2] क्या यह परिष्कार में स्वतः क्रांतिकारी नहीं था। भास की परम्परा तो 'नान्द्यन्ते' से ही आरम्भ होती देखी जाती है अर्थात् उस परम्परा ने आज से सैकड़ों (सम्भवतः २०००) वर्ष पूर्व ही नान्दी को नाटक के भाग के रूप में अस्वीकृत कर दिया था। फिर भी 'नान्द्यन्ते' से जो ध्वनित होता है उसे पवित्र परम्परा के रूप में ही देखना उचित होगा। आज भी किसी सांस्कृतिक कार्यक्रम के आरम्भ में ऐसा होता हुआ देखा जाता है। अत नान्दी जिसे—'रङ्गविघ्नोपशान्ति'[3] के प्रयोजन से आयोजित किया जाता था, आज भी विद्यमान है। नान्दी का जो स्वरूप था, नाटककारों ने उसे भी नाटकीयता के साथ आयोजित किया और हम पाते हैं मंगल भावना के साथ ही उसके माध्यम से नाट्यवस्तु को भी संकेतित किया जाता रहा है। यह संकेत प्रायः अनेकार्थक नान्दी पदों द्वारा होते रहे हैं।[4] किन्तु उनका विस्तार कभी भी अपेक्षित नहीं था। अतः नान्दी के तुरन्त बाद 'अलमतिप्रसङ्गेन' अथवा 'अलमतिविस्तरेण जैसे कथनों की नाटकीयता भी दृष्टि-सापेक्ष है। एकांकी रूपकों के प्रसंग में यह उक्ति और भी सार्थक रही है। नान्दी नाटक का ही भाग है अथवा नहीं यह विवाद बहुत पुराना है और सम्भवतः उतना ही पुराना जितना

---

१. देखें, शेल्डानचेनी का रंगमंच (अनु० श्रीकृष्णदास), पृ० ४८।

२. संस्कृत नाटक, कीथ (अनुवाद० डा० उदयभानु सिंह) पृ० ३६५।

३. (क) आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ सा० द० ६।२४।

(ख) देवतादिनमस्कारमङ्गलारम्भपाठकः।
या क्रिया नन्द्यते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता ॥

भावप्रकाशन, अधि ७।

४ नागानन्द में बुद्ध की स्तुति, प्रबन्धचन्द्रोदय तथा मोहराजपराजय में क्रमशः ब्रह्म एवं तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है तथा मुद्राराक्षस में चाणक्य की कूटनीति के संकेत ग्रहण किए गए हैं।

पुराना नाट्यशास्त्र है। भास के नाटकों के अतिरिक्त अन्यत्र भी ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जहाँ नान्दी को नाट्यबाह्य रूप में रखा गया है यहाँ तक कि सम्प्रदाय ऐसा भी रहा है जो मानता है कि नान्दी की रचना नाटककार नहीं अपितु सूत्रधार द्वारा होती थी।[५] अतः यह स्पष्ट है कि नान्दी को नाटक से सम्बद्ध करने के सम्बन्ध में वैकल्पिक स्थिति है और इस आधार पर नान्दी की आलोचना अधिक सार्थक नहीं है।

प्रस्तावना के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि उसकी आलोचना केवल आलोचना के दुरुद्देश्य से प्रेरित है। हम आज भी किसी न किसी रूप में प्रस्तावना को नाटक की अनिवार्य योजना के रूप में प्रस्तुत किया जाता हुआ पाते हैं। जैसा कि प्रस्तावना के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने माना है, वह नाट्यवस्तु के पूर्व संकेत के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। दशरूपककार का कहना है —

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतस्तयोः।
सूचयेद् वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा॥—द० रू० ३।२-३।

इसकी वृत्ति में आगे कहा गया है "तं (पूर्वरङ्गं) विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत्। स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात् स्थापक।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वरङ्ग स्थापना से पूर्व तो होता ही है, नान्दी का उल्लेख यहाँ न होने से वह (नान्दी) पूर्वरङ्ग का भाग है तथा वह नाटक का भाग नहीं है यह भी स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि उसके पश्चात् ही नाट्यवस्तु का संकेत एवं उसकी स्थापना करने से उसके स्थापक नट को जो सूत्रधार का समरूप होता है, स्थापक कहा गया है। साहित्यदर्पणकार ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[६] प्रस्तावना अथवा स्थापक के सम्बन्ध में भरतमुनि ने विस्तार से बताया है।[७] वे 'सूत्रधारगुणाकृति' नट के प्रवेश से इसका आरम्भ मानते हैं जो पूर्वरङ्ग के प्रयोग के पश्चात् आयोजित हुआ करता है।

'प्रसाद्य रङ्गं, विधिवत् कवेर्नामानुकीर्तयेत्।
प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयम्॥'

---

५. द्रष्टव्य: 'यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते..........।' नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक

६. सा० द० ६।२६-२७

७. भरत० ५।१६३-१७०

'रंङ्गं प्रसाद्य' से यहाँ तात्पर्य यह है कि रङ्गदर्शक विद्वज्जनों को प्रसन्न करके वह नट नाट्य-वस्तुरूपी काव्य कथा की स्थापना करता है तथा इसी सन्दर्भ में वह नाटककार के नाम का भी उल्लेख करता है। भरत के इस कथन के सन्दर्भ में नट एवं सूत्रधार सम्बन्धी गुणस्थान महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं जिसके आधार पर नट निश्चित रूप से किसी कवि अथवा नाटककार से कम प्रतिभाशाली प्रतीत नहीं होता है,[८] जिसे भरत स्पष्ट रूप से 'एवं गुणस्तथाचार्य. सूत्रधारः विधीयते' के रूप में एक आचार्य ही मानते हैं। जिसका सहायक-पारिपार्श्विक उससे किंचिद् ही न्यून प्रतीत होता है।[९] और स्थापना-प्रस्तावना अथवा आमुख का मुख्य पात्र वही होता है।

भरत के उल्लेखों से उपलब्ध नाटकों की तुलना करने पर यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि कुछ नाटककारों के अतिरिक्त लगभग सभी ने भरत के विधान को यथारूप में स्वीकार नहीं किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने भरत के विधान का उल्लंघन अथवा परित्याग किया हो; अधिकांश ने उसका संक्षेपण किया है और बहुतों ने उसमें से बहुत कुछ छोड़ने का प्रयास किया है। भास के नाटकों की प्रस्तावना कितनी संक्षिप्त है इसे स्पष्ट करने के लिए यह कहना ही पर्याप्त होगा कि स्वप्न०, प्रतिज्ञा०, पंचरात्र, एवं बालचरित जैसे नाटकों की स्थापनाएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं। अविमारक तथा अभिषेक में भी वे विस्तृत हैं ऐसा कहने का कोई कारण वहाँ नहीं है। उनके एकाङ्की रूपकों में भी इसका स्वरूप लगभग सामान्य है। 'दूतवाक्य', दूतघटोत्कच, तथा कर्णभार की अपेक्षा मध्यमव्यायोग तथा उरुभङ्ग की स्थापनाएँ किंचिद् अधिक हैं। किन्तु यह अधिकता कहीं भी दो-ढाई मिनट से अधिक समय की होगी ऐसा नहीं लगता और सर्वाधिक विस्तृत स्थापना (चारुदत्त) भी अधिक से अधिक पाँच क्षणों में समाप्त हो जाने वाली है। यदि संस्कृत नाटकों की इन स्थापनाओं, प्रस्तावनाओं की आलोचना का मुख्य कारण 'समय' ही हो तो वह निरर्थक है क्योंकि भरत के विधान के निर्वाह के व्यामोह में कुछ परवर्ती नाटकों में इसको विस्तार दिया गया है किन्तु एकांकी रूपकों के सन्दर्भ में यह आलोचना उचित नहीं प्रतीत होती। इस आलोचना का दूसरा पक्ष यह हो सकता है कि ये प्रस्तावनाएँ नाटकों की कथावस्तु से सम्बन्द्ध न होकर भी संस्कृत नाटकों के अङ्ग के रूप में मानी जाती रही हैं। इस सम्बद्ध में भरत का कथन कि उस 'सूत्रधार-गुणाकृति' पारिपार्श्विक के लिए 'कवेर्नामानुकीर्तयेत्' का विधान कहीं न कहीं मुझे ऐसा आभास कराता है कि कभी प्रस्तावना भी नाटककार स्वयं नहीं रचता था अपितु सूत्रधार अपनी योग्यतानुसार उसे गढ़कर प्रस्तुत किया करते थे। अस्तु,

---

८. भरत० २४।९१-९५
९. भरत० २४।९६-९९

इसे नाटककार की ही रचना मानें, नाटक का ही भाग मानें अथवा सूत्रधार की रचना और नाटक से पृथक्, कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि प्रस्तावना का उद्देश्य दर्शकों को, कवि और उससे भी अधिक नाट्यवस्तु से परिचित कराना होता था।

यह प्रवृत्ति आज भी है और अनन्तकाल तक रहेगी। उसका स्वरूप परिवर्तित हो सकता है किन्तु इसकी समाप्ति नहीं हो सकती। यह उचित भी नहीं है। जब कालिदास 'मन्दः कवियशःप्रार्थी' हो सकते हैं तो कौन नाटककार अपनी कृति की मंचावतारणा के पूर्व अपना उल्लेख न चाहेगा? कौन दर्शक उसका परिचय जानने को उत्सुक न होगा? कौन रङ्ग-निर्देशक उसकी मंचावतारणा की प्रस्तावना न करेगा? रोमियो जूलियट में क्या प्रोलाग नहीं है और क्या उसकी उपयोगिता को पाश्चात्य जगत ने भी स्वीकार नहीं किया है? भले ही यह 'प्रस्तावना' कवि-परिचय, पात्र-परिचय, कथा-परिचय और अन्य रङ्गकर्मियों के परिचय के रूप में आज प्रेस की सुविधा के कारण लिखित रूप में वितरित कर दी जाती हो। अतः प्रस्तावना जितनी तब आवश्यक और महत्त्वपूर्ण होती थी आज भी उतनी ही है, उसके स्वरूप में अन्तर भले ही दीख पड़ता हो। आज की अपेक्षा अपनी नाटकीयता के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन नाटकों की प्रस्तावना, नाट्य सन्दर्भ में अधिक सार्थक थी ऐसा न मानना किसी हीन भावना का द्योतक है। ऐसा न मानने का कोई कारण नहीं है।

सूत्रधार, नट-नटी एवं स्वगत कथनों के अनावश्यक प्रयोगों के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि आज भी इनका प्रयोग होता है। प्राचीन नाटकों में सूत्रधार वही भूमिका निभाता था जो नाट्यनिर्देशक निभाते हैं। फिल्मों के डाइरेक्टर जो कार्य आज करते हैं वह कार्य सूत्रधार करता था और उनके सहायक ही नट-नटी होते थे। ऐसा क्या आज नहीं है? अन्तर यही है कि आज निर्देशक मंच पर नहीं आता है। कल्पना कीजिए वह अपनी प्रस्तुति को नाटकीय ढंग से उद्घाटित करे। क्या यह नाट्ययज्ञ की परिकल्पना की दृष्टि से अधिक आकर्षक न प्रतीत होगा। वस्तुतः इस आलोचना के पीछे नाटकीय दृष्टिकोण उतना नहीं है जितना कि सूत्रधार, नट और नटी का बाँस पर चढ़कर रस्सी पर खेल दिखाने वाले नटों के रूप में अवमूल्यन है। क्योंकि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूत्रधार ही नहीं उसके सहायक नट-पारिपार्श्विक का जो स्वरूप नाट्यशास्त्र में निर्धारित किया गया है वैसे रंगनिर्देशक आज रंगमंच पर अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। ऐसे रङ्गशिल्पी का सत्य अर्थ में शिल्पी, कलाकार और कुशल अभिनेता होना आवश्यक है।

नाटककार ऐसे सूत्रधारों को अपने नाटक देकर धन्य हो उठते थे। प्रकारान्तर से नाटकारों की कृतियाँ सूत्रधारों द्वारा इस ढंग से प्रस्तुत की जाया करती थीं कि नाटककार अमर हो जाया करता था। भास के नाटकों को पढ़ने के पश्चात् और कालिदास की उनके सम्बन्ध में उक्ति को देखकर ऐसा अनुमान करना अन्यथा न होगा। संस्कृत नाटकों पर रंग निर्देशों की स्वल्पता का आरोप भी सूत्रधार के इस

स्वरूप को देखने के बाद स्वतः ध्वस्त हो जाता है। क्योंकि भोजपत्रों पर लिखने वाले युग में नाटक के संवादों से लम्बे रंग निर्देशों की अपेक्षा करना मेरे विचार से बुद्धिमत्ता न होगी अपितु उनका संकेत ही 'रंगसंकेत' की सार्थकता होगी। यह प्रवृत्ति शेक्सपियर के नाटकों में भी है किन्तु साधनों की सुलभता ने इसे धीरे-धीरे विकसित किया है। इडिपस को प्रस्तुत करते समय सोफोक्लीज स्वयं सूत्रधार की भूमिका निभाता है और स्वयं एक निर्देशक का कार्य करता है ऐसा अनुमान भी अनुचित न होगा।[१०] सूत्रधार की भूमिका को आज उपलब्ध संस्कृत नाटकों में हम जिस रूप में पाते हैं और भरतमुनि ने सूत्रधार का जो स्वरूप निर्धारित किया, उसके जो गुण बताये हैं, दोनों की तुलना करने पर दोनों में बड़ा अन्तर है। क्योंकि गर्भाङ्क[११] के अतिरिक्त सूत्रधार को हम केवल आमुख-प्रस्तावना अथवा स्थापना में ही देखते हैं, जहाँ उसकी उस महत्ता का आभास भी नहीं हो पाता, भरतमुनि जिसकी अपेक्षा करते हैं—

चतुरो नाट्यकुशलः शास्त्ररीतिप्रतिष्ठितः।
नानापाषण्डकार्यज्ञो नीतिशास्त्रार्थवित्तथा॥

वेश्योपचारनिपुणः काव्यशास्त्रविचक्षणः।
नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारदः॥

नाट्यप्रयोगकुशलो नानाशिल्पसमन्वितः।
छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः॥

ग्रहनक्षत्रतत्त्वज्ञो देशव्यवहारतत्त्ववित्।
पृथिवीद्वीपवर्षाणां पर्वतानां जनस्य च॥

प्रमाणाचारतज्ज्ञश्च राजवंशप्रसूतिवित्।
श्रोता शास्त्रार्थकार्याणां श्रुत्वा चैवावधारकः॥

अवधार्य प्रयोक्ता च शास्त्रः (शक्तः?) चैवोपदेशने।
एवं गुणस्तथाचार्यः सूत्रधारो विधीयते॥

—भरत० २४।९१।९६।

अर्थात् अभिनयकुशल (नाट्यकुशल), प्रयोगकुशल (नाट्यप्रयोगकुशल) तथा शिल्पकुशल (नानाशिल्पसमन्वितः) होने के अतिरिक्त सूत्रधार को उपदेश-कुशल भी होना चाहिए। उपदेश में निपुणता को भरत ने सबसे बाद में इसी कारण गिनाया

१०. देखें—शेल्डानचेनी का 'रंगमंच' (अनु० श्रीकृष्णदास)

११. अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान्।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानिव॥ सा० द० ६।२०।

है क्योंकि वह सूत्रधार का एक महनीय गुण है जिसके पश्चात् भरतमुनि की दृष्टि में कोई गुण अवशिष्ट नहीं रह जाता ऐसा मैं मानता हूँ। यह उपदेश रंग निर्देश ही है। किसे कब किस प्रकार क्या करना है, किस स्थल-दृश्य के लिए क्या आवश्यक है : मंचसज्जा, पात्रों के अभिनय-निर्देश और नेपथ्यविधान सभी इसमें अन्तर्निहित हैं यह मानकर ही सूत्रधार के व्यवहार पक्ष और शास्त्रीय पक्ष के अन्तर को समझा जा सकता है।

आधुनिक रूपकों में दिए गए निर्देशों की निरर्थकता पर विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है किन्तु यह कहना आवश्यक है कि निर्देशों में समसामयिक परिस्थितियों के अनुकूल मंचसज्जा के जो निर्देश दिए जाते हैं वे कालान्तर में शिथिल हो उठते हैं। जैसा कि आज संस्कृत के रूपकों की मंचावतारणा के समय प्रायःदेखा जाता है। रंगनिर्देशों के संक्षिप्त होने पर जब ऐसा हो सकता है तो उसके विस्तृत होने पर क्या दशा हो सकती है इसका अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे अनेक आधुनिक एकांकियों और अन्य नाटकों को उदाहरण के लिए देखा जा सकता है जिसका प्रदर्शन सभी स्थलों (ग्रामीण-अंचलों) में असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है क्योंकि निर्दिष्ट मंचसज्जा के नाना उपकरण सर्वत्र सुलभ नहीं हो सकते। अतः नाट्यवस्तु को कुशल-निर्देशक परिस्थिति और मंच के अनुकूल ढाल लेता है—ढाल सकता है तो लम्बे निर्देशों की आवश्यकता ही क्या है ? अतः निर्देशों की अपेक्षा निर्देशक की भूमिका और इस दृष्टि से सूत्रधार की भूमिका अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है इसमें सन्देह नहीं है। और संस्कृत नाटकों में उसकी योजना आवश्यक रंगनिर्देशों के उद्देश्य से ही आयोजित होती रही है ऐसा मानना निरर्थक नहीं है। आज के मंचशिल्प से प्राचीन युग के मंचशिल्प में बहुत बड़ा अन्तर कल्पना का था। वापी-तडाग, सूर्य-चंद्र, रथ आदि के अनेक प्रसंगों में सहृदय सामाजिक से मंच पर उनके उपस्थित न होने पर भी उनकी उपस्थिति की कल्पना की अपेक्षा की जाती थी। यह सब कुछ 'कवि समय' के रूप में स्वीकार किया जाता था और यह तात्कालिक नाट्य-न्याय (ड्रामेटिक जस्टिस) हुआ करता था। इसके परिप्रेक्ष्य में भी रंग-संकेतों की स्वल्पता की उपयोगिता और कारण दोनों ही स्पष्ट हो जाते हैं।

जहाँ तक स्वगत कथनों का प्रश्न है वह भी निरर्थक नहीं है। किसी रूपक विशेष में ऐसा उचित माना जा सकता है किन्तु सर्वत्र इसकी योजना को निरर्थक मानना उचित नहीं है। हाँ, उसका निर्वाह अथवा अभिनय कठिन अवश्य हो सकता है। किन्तु वस्तु और उसकी योजना के अनुरूप इनका आयोजन अन्तर्द्वन्द्व तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों को उद्‌घाटित करने की दृष्टि से नितान्त उपयोगी रहा है। तात्पर्य यह कि स्वगत-कथनों की उपयोगिता कम नहीं है, क्योंकि उनके माध्यम से जिस द्वन्द्व का प्रदर्शन संस्कृत नाटकों में हुआ है वह निश्चय ही दृष्टि-सापेक्ष है। ऐसे भी स्थल हो सकते हैं जो निरर्थक प्रतीत होते हों किन्तु उसी आधार पर इस अभिनय

प्रधान तत्त्व को, इस विधा को निरर्थक कहना बुद्धिसंगत नहीं है। एकांकी के सन्दर्भ में भी यह स्वतंत्रता रहनी ही चाहिये क्योंकि इससे अभिनेता को अपने कर्म-कौशल को और रचनाकार को अपनी कथा को प्रस्तुत करने में सहयोग मिलता है।[१२] ऐसा आज भी हो रहा है, यह मनोवैज्ञानिक भी है और उचित भी।

नायक-नायिका, कथावस्तु एवं रसों के बन्धनों के सन्दर्भ में यह ध्यान रखने की बात है कि ऐसे बन्धन तभी बन्धन होंगे जब उन्हें ब्रह्म-वाक्य समझ लिया जाएगा। आचार्यों ने कथावस्तु के अनुरूप जो नायक-नायिका का विभाजन किया अथवा तदनुकूल अंगी रसों की जो अवधारणा दी है वह अत्यन्त वैज्ञानिक है किन्तु उसे ही अपनाया जाए, उससे हटा न जाए अथवा कोई प्रतिभाशाली कवि कोई नया प्रयोग न करे ऐसा विधान मुझे तो कहीं भी नहीं मिला। यदि ऐसा होता तो 'कविरेव प्रजापतिः' कहने की आवश्यकता न होती। प्रतिभाशाली कवि ने कभी भी ऐसे बन्धनों को स्वीकार नहीं किया। भास, विशाखदत्त और शूद्रक को ही देखें, उन्होंने ऐसे बन्धन कब स्वीकार किए ?

क्या चाणक्य और राक्षस दोनों को धीरोद्धतादि नायकों की कोटि में रखा जा सकता है ? मुद्राराक्षस में वीररस क्या रस की पराकोटि तक पहुँचता है ? जहाँ तक नाटकों में नाटकीय तत्त्वों के रूप में इनके अस्तित्व का प्रश्न है वह तो ऐकान्तिक है, सार्वदेशिक है और सार्वकालिक है। पाश्चात्य नाटकों में भी उन्हें देखा जा सकता है और आधुनिक हिन्दी नाटकों में भी उनका अस्तित्व विद्यमान है। जूलियस-सीजर और मैकबेथ में क्या वीररस की प्रधानता नहीं है और उनमें करुण-रस का अस्तित्व क्या गौणरस के रूप में नहीं है। शास्त्रीय दृष्टि से ही देखें क्या विरेचन सिद्धान्त के मूल में आनन्द की भावना संस्कृत की रसवादी विचारधारा के निकट नहीं है ? अतः हमें मानना होगा कि आज भी नाटकों का एक उद्देश्य होता है जिसे चारुत्व, आनन्द, सौन्दर्य, अभिव्यंजना, रस कोई भी अभिधान दिया जा सकता है। हास्य की अभिव्यंजना के उद्देश्य से लिखे गए नाटकों के मुख्यपात्र का हँसोड़ होना और वीररस अथवा श्रृंगार रस की दृष्टि से लिखे गए नाटकों के मुख्यपात्र का वीर अथवा श्रृंगारी होना स्वाभाविक है। क्या एण्टोनी में किसी धीरोद्धत नायक के दर्शन नहीं होते ? मैकबेथ खल भले ही हो क्या एक धीरोद्धत और वीर नायक नहीं है ? क्या ब्रूटस (जिसे मैं खलनायक नहीं मानता) भी एक प्रतिनायक नहीं है जिसमें धीरोद्धत नायक के सभी गुण विद्यमान हैं ? इसी प्रकार रोमियो में अविमारक के गुण क्या प्राप्त नहीं होते ? उदयन और दुष्यन्त से उसकी तुलना इसलिए नहीं की

१२—द्रष्टव्य, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, डॉ॰ गणपतिचन्द्र, पृष्ठ ७१ गुप्त।

जा रही है कि उनकी वय में, प्रौढ़ता में अन्तर है। जहाँ तक नायिका का प्रश्न है जुलियट में ही क्या कहीं मुग्धा, तो कहीं प्रोषितपतिका नायिका के दर्शन नहीं हो जाते। वस्तुतः इसके पीछे औचित्य और संगति को, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता को ही देखना उचित होगा।

शास्त्रीय दृष्टि से नाटक एक ऐसा रूपकभेद था जिसमें किसी भी रस की योजना की जा सकती थी। प्रकरण में किसी भी कथा (उत्पाद्य) को लिया जा सकता था। अतः बन्धनों के रूप में यह स्वतंत्रता चतुर्मुखी थी। कवि रचना करता था तो उसे स्वाधीनता थी वह एक अंक की ही नाट्यकृति करे। उसका भाण, प्रहसन, व्यायोग, अंक के रूप में जो कथा जैसी होती थी, वैसा ही नामकरण हो जाता था। वस्तुतः जिन्हें बन्धन कहा जाता है उनका आधार तो अनुगमविधि (इण्डेक्टिव) थी। जो किसी के लिए बन्धन नहीं हो सकती, वह तो कविकर्म की मीमांसा : समालोचना के लिए ही है। अतः रस, नायक-नायिका सम्बन्धी विविध विधानों की अनिवार्यता उतनी आलोच्य नहीं है जितनी कि उनकी शिथिलता, छूट और स्वतंत्रता, जिसे भरत से लेकर विश्वनाथ और उसके बाद नरसिंह कवि तक लक्षित किया जा सकता है, जहाँ रूपकों के नाना भेदों और उनके लिए व्यापक क्षेत्र की स्थिति इसका समर्थन करती है।

संस्कृत नाटकों पर सामाजिक जीवन से परे अयथार्थ और अमनोवैज्ञानिक होने का आरोप भी निराधार है। यह इसलिए भी उचित नहीं है क्योंकि यह आधुनिक सन्दर्भ में उठाया गया है। खोजने वालों ने तो छायावाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद और न जाने कौन-कौन से वादों के तत्त्व संस्कृत काव्यों में खोज निकाले हैं। किन्तु ऐसी आलोचना के अवसरों पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब नाटकों में रसवादी विचारधारा को ही प्रमुखता दी गयी है तो वही वहाँ प्रमुख होगी और छायावादी, रहस्यवादी तत्त्वों के बीज भले ही दृष्टिगत हों उनका वह स्वरूप जो प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी में मिलता है नहीं मिल सकता। किन्तु इसी आधार पर संस्कृत काव्यों, नाटकों को अपूर्ण कह देना बुद्धिमत्ता नहीं होगी। तथापि मृच्छकटिक जैसे प्रकरण में विद्यमान यथार्थ को कौन अस्वीकार कर सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रकरण के अतिरिक्त भाण, वीथी और प्रहसन जैसे एकांकी भेदों में नियोज्य कथावस्तु की सामाजिक तथा यथार्थ जीवन से निकटता में संदेह नहीं किया जा सकता, जहाँ जीवन की विरूपता, तथा सामाजिक और यहाँ तक कि ब्राह्मण-समाज और राजपरिवारों में विद्यमान भ्रष्टाचार को नाना प्रकार से उद्घाटित करना ही प्रमुख उद्देश्य था। तथापि आज के समाज के जिस पक्ष को लेकर लिखा जा रहा है, वह यदि उस वीभत्स रूप में विद्यमान न रहा हो—बेरोजगारी की समस्या न रही हो, सामाजिक मूल्यों का इतना अधिक अधःपतन न हो पाया रहा हो, सांस्कृतिक मूल्य इतनी विविधता के साथ भ्रष्ट न हुए रहे हों, तो

उनके चित्रों की अपेक्षा वहाँ कैसे की जा सकती है। इसके विपरीत सामाजिक जीवन में उस काल में जो सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रभाव था उससे विमुख भी नहीं हुआ जा सकता था। अतः संस्कृत के नाटकों पर ही नहीं, साहित्य की सभी विधाओं पर तत्कालीन ऐसे सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रहा है जो तात्कालिक संस्कृति एवं दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित था।

इसी प्रकार संस्कृत नाटकों का मनोविज्ञान अपनी परिधि में नितान्त सार्थक है जिसको उसी परम्परा और परिस्थिति के अनुकूल मानकर देखना होगा। नाटकों की मनोवैज्ञानिकता को 'मनोविज्ञान' की व्याख्या अथवा उसकी बलात् योजना के रूप में देखना उचित न होगा। हम संस्कृत-नाटकों में जब आज की मनोवैज्ञानिक 'टर्मिनालोजी' को खोजेंगे तो वह कभी भी नहीं मिलेगी। उसको समझने के लिए मनोविज्ञान और दर्शन को मिलाकर देखना होगा। सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शों और परम्पराओं को ध्यान में रखना होगा। परमानन्द सहोदर रस तथा चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के उद्देश्य को सामने रखना होगा और तब चरित्र-चित्रण, अभिनय, संवाद-योजना और नाट्यवृत्तियों की योजना का तर्कसंगत, मनोवैज्ञानिक रूप देखने को मिलेगा। क्योंकि उस समय 'मनोविज्ञान' साध्य नहीं होता था, वह साधन था और वह भी अनेक साधनों में एक था जिसके पीछे तर्कसंगति और औचित्य की भावना प्रधान होती थी। उदाहरण के लिए नाट्यभेदों के वर्गीकरण को ही लें। कथावस्तु, नायक और रस का जो विधान है वह क्या मनोवैज्ञानिक नहीं है? नायक के कार्य की पाँच अवस्थाएँ—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम का आधार क्या मनोवैज्ञानिक नहीं है? संधियोजना और उनके अंगों में निहित भावाभिव्यक्ति क्या मनोवैज्ञानिक आधार पर नहीं की गयी है? क्या वीररस के लिए उत्साह, हास्य के लिए हास, रौद्र के लिए क्रोध, अद्भुत के लिए आश्चर्य, शान्त के लिए निर्वेद, करुणरस के लिए शोक और वीभत्सरस के लिए जुगुप्सा जैसे स्थायी भावों की स्थापना मनोवैज्ञानिक नहीं है? क्या विभाव-उद्दीपन और आलम्बन-विभाव, अनुभाव और नाना संचारीभावों का आधार मनोवैज्ञानिक नहीं है? इसी प्रकार नायक-नायिका के रूढ़िगत भेदोपभेदों का आधार मनोवैज्ञानिक ही है। इससे भी पृथक् नरसिंह कवि जैसे आचार्यों द्वारा तत्त्वतः रस के आधार पर शृंगारनायक, वीरनायक, शान्त एवं रौद्रादिनायक के विभाजन क्या मनोवैज्ञानिक महत्त्व के नहीं हैं? यह तो शास्त्रीय पक्ष है। प्रयोगपक्ष इससे कम मनोवैज्ञानिक नहीं है जिसके लिए पृथक् विवेचना हो सकती है और संस्कृत के सभी ख्यात नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन शोध का विषय हो सकता है। हाँ, वहाँ मनोविज्ञान साध्य नहीं रहा है। इसी कारण हमें 'मनोवैज्ञानिक नाटकों' के उदाहरण वहाँ नहीं मिलते।

संस्कृत नाटकों पर लगाए गए आरोप किसी विशिष्ट विधा अथवा नाट्यभेद पर नहीं हैं अपितु सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य पर हैं। आरोपों में सत्यांश है, वह कटु भी

है, किन्तु वह दृष्टि-भेद से ही है। वस्तुतः 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' को भला कौन नहीं स्वीकार करेगा ? किन्तु प्राचीन साहित्य के सन्दर्भ में आज जो अन्तर दीख पड़ता है उसे आधुनिक चश्मे से देखना उचित नहीं है। उसे प्राचीन सन्दर्भ में ही, अतीत के रूप में, तात्कालिक परिस्थिति, परम्परा और आदर्शों के ही सन्दर्भ में, मूल्यांकित किया जाना चाहिए। आधुनिक सन्दर्भ में उसे देखते समय, उसके मूल को, उद्देश्य को भूलना नहीं चाहिए। वस्तुतः ऐसा करते समय समसामयिक परिस्थितियों, कला की परम्पराओं, साहित्यिक मान्यताओं और जीवन के मानदण्ड को ध्यान में रखा जाना चाहिए क्योंकि आलोचना की सार्थकता आलोच्य से अपने लिए कुछ ग्रहण करने में ही निहित है। अतः संस्कृत नाटकों में सूत्रधार की भूमिका, प्रस्तावना, रंगसंकेतों की स्वल्पता, को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' को जिन्होंने समझा उन्होंने ऐसे नाट्य प्रयोग किए हैं और ये प्रयोग एकाधिक नाट्य-परम्पराओं, देशों और भाषाओं में अपनाए गए हैं। "जर्मनी के नाटककार ब्रेश्ट ने ऐसे महाकाव्योचित नाटक की कल्पना की, जो अपने रूपविधान में भारतीय-परम्परा के निकट है और उन्होंने हमारी मध्ययुगीन और लोक-परम्परा के समान अपने नाटकों में नाटकीय और आख्यानक तत्त्व मिलाकर नाट्यरूप को एक नया ही आयाम दे दिया। फ़्रांसीसी नाटककार अनुई और जेरादू आज नाटकों में ऐसे रचना व्यवहारों का प्रयोग कर रहे हैं जो पूर्वी-परम्परा से जुड़े हुए हैं। उनके नाटकों में प्रस्तावना होती है, सूत्रधार रहता है और रूपशिल्प का सारा विधान सरल होता है। रूस में टालस्टाय का 'मदर' तथा 'वार एण्ड पीस' का नाटकीय रूप प्रस्तुत किया जाता है जिसमें सूत्रधार और कथावाचक रहता है[१३]"। क्या इसका कारण प्राचीन से व्यामोह है ? नहीं, नाटक तो प्रयोग की वस्तु है और नाटकीयता के साथ जो कुछ प्रस्तुत किया जाता है, वह सब हृदय को मोहता है, अच्छा लगता है। नाटक यदि मनोवैज्ञानिक हो, नितान्त सामाजिक हो, यथार्थ के धरातल पर स्थिर हो, परन्तु दुरूह हो, क्लिष्ट हो और नितान्त पारिभाषिक शब्दावली से भरा हो तो वह कितना सफल होगा ? अतः अभिनेयता नाटक का मौलिक गुण है अतएव अभिनय के नाना पक्षों पर संस्कृत नाट्यशास्त्र ने बल दिया है जहाँ उठने, बैठने, सम्बोधन करने, वस्त्र-धारण करने और मुख पर उभरने वाली रेखाओं तक को अभिनय की कोटि में रखा गया है।

इस विवेचन द्वारा एक तथ्य सरलता से समझा जा सकता है कि उपर्युक्त आरोप संस्कृत-नाट्य-साहित्य पर लगाए गए हैं। एकांकी के सन्दर्भ में जहाँ नायक-नायिका और रस यहाँ तक कि 'वस्तु' पर भी उतना कठोर अंकुश नहीं था, जितना

---

१३. 'नाटक साहित्य का अध्ययन' की भूमिका में डा० सुरेश अवस्थी का कथन (मूल० ब्रैण्डर मैथ्यूज, अनु० डा० इन्दुजा अवस्थी)।

कि समझा जाता है, वहाँ ये आरोप और भी शिथिल प्रतीत होते हैं। इसे पृथक् किसी एकांकी की आलोचना के अवसर पर देखा जा सकता है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि एकांकियों (संस्कृत) पर ये आरोप और भी निरर्थक हैं।

एकांकी रूपकों, सफल एकांकियों के लिए जिन मापदण्डों का निर्धारण किया गया है, उन्हें देखते समय भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे सभी रूपक-भेदों पर उतने ही सटीक हैं जितने कि एकांकी के लिए, और ऐसा मान लेने पर तथाकथित नाट्यधर्म अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों ही दोषों से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। इन नाट्यधर्मों में संस्कृत नाटकों के दोषों का अभाव, (१) रंग-संकेतों की स्पष्टता, (२) क्रिया-क्षिप्रता, (३) गतिशीलता, (४) संकलनत्रय का निर्वाह, (५) संवादों में चुस्ती-चुटीलापन, (६) उद्देश्य की स्पष्टता, (७) सांकेतिकता की व्यापकता, (८) चरित्र-चित्रण का यथार्थ और (९) मनोवैज्ञानिक होना तथा (१०) अवसर के अनुरूप प्रकाश एवं छाया के प्रयोग को गिना जाता है।

अवसर के अनुरूप प्रकाश एवं छाया के प्रयोग से नाटककार का कोई सम्बन्ध नहीं है और रंगसंकेतों की स्पष्टता भी मंच, दर्शक और परिस्थितियों के अनुकूल बदलती रहने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं उसकी व्यापकता भी अधिक सार्थक नहीं है। इसके अतिरिक्त यह जितनी एकांकी के लिए अपेक्षित है उतनी ही किसी अन्य नाट्यविधा के लिए भी। अतः इन्हें एकांकी के सन्दर्भ में ही देखना अनुचित ही नहीं अतिव्याप्त भी है। दूसरी ओर क्रियाक्षिप्रता, गतिशीलता, संवादों की चुस्ती, चरित्र-चित्रण की यथार्थता तथा मनोवैज्ञानिकता, उद्देश्य की स्पष्टता को लें तो ये सभी तत्त्व किसी भी नाटक की सफलता के लिए आवश्यक हैं। जहाँ तक संकलनत्रय की बात है वह भी तो सभी नाट्यविधाओं के लिए अनिवार्य है।

वस्तुतः किसी भी नाटक को एकांकी मानने की पहली शर्त है उसका एकांकी होना। यदि नाटक एकांकी है, किन्तु कथा लम्बी है, उसमें पात्रों की बहुलता है, लक्ष्य स्पष्ट नहीं है और सम्वादों में नाटकों की भाँति वैविध्य है (विभिन्न-नाट्यवृत्तियों के कारण अथवा समय की अधिकता के कारण शिथिलता आ गयी है) तो उसकी सफलता में संदेह हो सकता है। अतः एकांकी के मुख्य गुणों में कथा-घटना की संक्षिप्तता, पात्रों की न्यूनता, सम्वादों की तीक्ष्णता, व्यंग्य-प्रधानता, समय की सीमा तथा उद्देश्य की सुस्पष्टता ही महत्त्वपूर्ण है। इनमें भी कथा की संक्षिप्तता (एक दिन का वृत्त), समय की सीमा (एक-डेढ़ घण्टे में समाप्य), पात्रों की स्वल्पता तथा संवादों की व्यंग्यप्रधानता एवं वैविध्यहीनता ही मुख्य है। यही गुण हैं जो उसे किसी सम्पूर्ण नाटक से पृथक् करते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण नाटक में कथा का विस्तार, समय की अधिकता, तदनुसार पात्रों की बहुलता तथा संवादों में वैविध्य स्वाभाविक

है। किन्तु एकांकी में समय की सीमा की प्रमुखता के कारण विविधता का अभाव होना चाहिए और किसी एक ही घटना अथवा पहलू को लिया ही नहीं, अपितु स्पर्श किया जाना चाहिए। नाटकों में पात्रों की बहुलता होती है पर कथा की संक्षिप्तता और समय की सीमा के कारण एकांकी में उनकी न्यूनता का होना अनिवार्य है। संस्कृत नाटकों के रस सिद्धान्त तथा पाश्चात्य नाटकों के विरेचन सिद्धान्त (जिसे प्रकारान्तर से कुछ आचार्यों ने आनन्द का पर्याय माना है) इन दोनों ही दृष्टियों से एकांकी में एकात्मकता अर्थात् विविधता का अभाव होना आवश्यक है। संस्कृत के एकांकी भेदों के लक्षणों को देखा जाय तो हमें यह गुण वहाँ सुस्पष्ट ही दिखाई देते हैं।

एकांकी में संस्कृत के आचार्यों ने जिस बात पर विशेष आग्रह दिखाया है वह है उसकी कथा की संक्षिप्तता, अतः एक या दो दिन के ही व्यापारों को एकांकी का विषय बनाने के लिए सदा उनका आग्रह रहा है। इस अथवा ऐसे ही गुणों को ध्यान में रखकर उन्होंने एकांकी (विशेष) के लिए 'अल्पस्त्रीजन' अथवा बहुभिर्नरैः (पुरुषपात्रों की प्रधानता) का विधान किया है। कथा के इस संक्षेप और समय की सीमा का निर्धारण करते हुए उन्होंने पंच-सन्धियों, पंचावस्थाओं और पंचअर्थ-प्रकृतियों की भी सीमाएँ निर्धारित की हैं। वस्तुतः एकांकी नाटकों में कथा का आरम्भ, चरम-स्थिति तथा उपसंहार की ही प्रधानता होनी चाहिए। पाश्चात्य नाटकों के कथानकों की पाँच अवस्थाओं—आरम्भिक अवस्था (एक्सपोजीशन), संघर्ष का विकास (राईजिंग एक्शन), चरमसीमा (क्राइसिसक्लाइमेक्स), संघर्ष का ह्रास (डिनाउमेण्ट), उपसंहार, (कन्क्लूजन-केटास्ट्राफ़ी) में प्रथम, तृतीय तथा पंचम स्थितियाँ ही एकांकी के लिए श्रेयस्कर हैं। इनकी योजना प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ अथवा प्रथम, द्वितीय और पंचम के रूप में भी देखी जाती है। संस्कृत के आचार्यों ने ऐसा ही माना है। क्योंकि हम पाते हैं कि वहाँ व्यायोग में मुख प्रतिमुख (१, २) और निर्वहण (५) वीथी, प्रहसन, भाण तथा अंक में मुख (१) और निर्वहण (५) के ही आयोजन का विधान किया गया है। भरत ने जहाँ "एकाहचरित एकाङ्कः के रूप में एकांकी को कथा, कलेवर और समय की दृष्टि से सीमित कर रखा है वहाँ रस के प्रति भी उनका विशेष आग्रह प्रतीत नहीं होता।

अतः शास्त्रीय दृष्टि से एकांकी के दो गुण हो सकते हैं। एक प्रधान, दूसरा गौण। उसके प्रधान-गुणों में उसका एकांकी होना, कथा की संक्षिप्तता तथा सीमित समय तथा थोड़े पात्रों की योजना को माना जाना चाहिए। गौण-गुणों में संवादों की व्यंग्य प्रधानता, सार्थकता एवं वैविध्यहीनता तथा तीक्ष्णता, कथा और व्यापार की क्षिप्रता तथा किसी सीमा तक उद्देश्य की स्पष्टता को रखा जा सकता है।

अतः किसी सफल एकांकी के लिए उपर्युक्त पाश्चात्य प्रभावित दस गुणों में समय की सीमा, कथा की संक्षिप्तता और पात्रों की स्वल्पता जैसे गुणों की गणना

न होने से यह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। क्योंकि तत्-तत् गुणों के होने पर भी यदि कथा संक्षिप्त नहीं है और समय असीमित है तथा पात्रों की संख्या नाटकों की भाँति असीम है तो एकांकी की सफलता पर प्रश्नचिह्न लग सकता है।

इस दृष्टि से किसी एकांकी को सूत्रबद्ध करते समय तथा अद्यतन दृष्टि को ध्यान में रखते हुए उसका यह लक्षण किया जा सकता है—

एकाङ्किनी कथा यत्र सुसंक्षिप्तकलेवरा।
घटना वा भवेद् यत्र दिवसैकैर्वविस्तृता॥
रसाग्रहो तथा नैव यथाऽन्यत्र दृश्यते।
स्वल्पपात्रप्रयोज्या च समयाबद्धा सुसंयता॥
अर्थगौरवसंयुक्तैः संवादैः समलङ्कृता।
भावोत्प्रेरकश्चैव व्यापारोऽतित्वरान्वितः॥
एकाङ्की विधा सा स्याद् रूपकस्य मनोरमा।
सोद्देश्या भवत्येव हीनोद्देश्या तु का कथा॥

प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण-तन्त्र

डॉ० वामन केशव लेले

वाराणसी

In ancient India, books on the methodology of composing theoretico-scientific treatises also were written. These dealt with all the angles of the *śāstras,* namely, the subject, nature, aim, composition, language etc. These works must be read by modern scholars for understanding and critical study of our ancient śāstras.

(१) प्राचीन भारतीय निष्ठावान् ज्ञानोपासक थे। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' सत्य पर उनकी दृढ़ श्रद्धा थी। किं बहुना, 'ज्ञानान्मोक्षः' उनकी जीवन-निष्ठा थी। इसीलिये उन्होंने ज्ञानार्जन के सभी ज्ञाताज्ञात साधनों का अवलम्बन कर तर्क-व्याकरण-गणित-नाट्य-काव्य-प्रभृति अनेक शास्त्रों पर गंभीर ग्रंथों का प्रणयन किया, यह बात सर्वविदित है। किन्तु उन्होंने शास्त्रीय ग्रंथों के निर्माण का शास्त्र भी सिद्ध किया था, यह तथ्य पाणिनि, कौटिल्य, चरक, सुश्रुत, वाग्भट, नीलमेघ आदि के ग्रन्थों के परिशीलन से प्रतीत होता है। उक्त शास्त्र-निर्माण-शास्त्र के, जिसे हम आधुनिक परिभाषा में Methodology of composing theoretico-scientific treatises कह सकते हैं, प्राचीन विद्वानों द्वारा सात अंग माने गये थे, जो इस प्रकार थे : (अ) पंद्रह दोष, (आ) अठारह गुण, (इ) छत्तीस तंत्रयुक्तियाँ, (ई) पंद्रह व्याख्याएँ, (उ) सात कल्पनाएँ, (ऊ) बीस आश्रय एवं (ए) सत्रह ताच्छील्य। इन सप्तांगों का सोदाहरण तथा सविस्तर विवेचन प्राचीन मूल एवं टीका ग्रंथों में पाया जाता है, जिसे पढ़कर प्राचीन शास्त्ररचना पद्धति की सूक्ष्मता तथा व्यापकता का सहसा परिचय होता है। उस पद्धति से पाठकों को अवगत मात्र कराना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

(२) पंद्रह दोष : वाग्भट के अष्टांगहृदय नामक साररूप ग्रंथ पर नवम शताब्दि के अरुणदत्त नामक टीकाकार ने सर्वांगसुन्दरी नाम की टीका लिखी है, जिसमें उसने शास्त्र के दोषों का वर्णन इन शब्दों में किया है : "तथा तन्त्रदोषैः पञ्चदशभिरप्रसिद्धशब्दादिभिर्वर्जितम्। [तद्यथा-] १. अप्रसिद्धशब्दम्, २. दुःप्रणीतम्, ३. असङ्ग-

तार्थम्, ४. असुखारोहि, ५. विरुद्धम् ६. अतिविस्तृतम्, ७. अतिसंक्षिप्तम् ८. अप्रयोजनम् ९. भिन्नक्रमम्, १०. संदिग्धम्, ११. पुनरुक्तम्· १२. निःप्रमाणकम् १३. असमाप्तार्थम्, १४. अपा (न) र्थकम्, १५. व्याहतम्, [इति]।" अर्थात्, (किसी भी) शास्त्रीय ग्रन्थ में अप्रसिद्ध या लोकव्यवहार में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग न हो, निरुद्देश्य सूत्र एवं भाष्य न हो, शास्त्र में चर्चित विषय विश्रृंखलित न हों, प्रयुक्त शब्द उच्चारणदृष्ट्या कठिन तथा श्रवणदृष्ट्या कटु न हों, प्रतिपादन दृष्टान्तों एवं नियमों के विपरीत न हो, विवेचन अपेक्षा से अधिक विस्तृत भी न हो और संक्षिप्त भी न हो, प्रतिपादन अपूर्ण अथवा संदिग्ध न हो, वह अनुशासनहीन भी न हो, तथा वह पुनरुक्त, निराधार, खंडित, अनर्थकारक एवं पूर्वापरविरोध से युक्त भी न हो। इस प्रकार अरुणदत्त ने मानों सूचित किया है कि, आदर्श शास्त्रीय ग्रंथ शब्ददोष, अर्थ दोष एवं रचनादोष इन त्रिदोषों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

(३) अठारह गुण : चरक ने अपनी चरकसंहिता के विमानस्थान के आठवें अध्याय में इनका विशद विवेचन करते हुए लिखा है : **तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्वि-धीरपुरुषसेवितं, अर्थबहुलं, आप्तजनपूजितं, त्रिविधशिष्यबुद्धिहितं, अपगतपुनरुक्तदोषं, आर्षं, सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं, स्वाधारं, अनवपतितशब्दं, अकष्टशब्दं, पुष्कलाभिधानं, क्रमागतार्थं, अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं, सङ्गतार्थं, असङ्कुलप्रकरणं, आशुप्रबोधकं, लक्षणवत्, उदाहरणवत् च। तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्।'** अर्थात्, जिसे कुशल विद्वान् लोग अध्ययनयोग्य मानते हों, जो अनेक प्रमेयों से ओतप्रोत हो, जो तज्ज्ञों द्वारा प्रशंसित हो, जो तीव्र, मध्यम एवं मन्द बुद्धिवाले शिष्यों का पथ-प्रदर्शन करनेवाला हो, जो पुनरुक्ति दोष से मुक्त हो, जो मेधावान् व्यक्ति से प्रणीत अतएव विश्वसनीय हो, जो व्यवस्थित ढंग से रचित हो, जो विश्वसनीय प्रमाणों से मंडित हो, जो ग्राम्य या प्रामादिक शब्दों से रहित हो, जो कर्णकटु शब्दों से युक्त न हो, जिसमें शास्त्रीय चर्चाएँ हों, जो क्रमबद्ध विषयवर्णन से भरा हुआ हो, जो उदिष्ट सिद्धांत का निश्चय करनेवाला हो, जो युक्तिसंगत विचारों से भरपूर हो, जिसके विषयोपविषयों की रचना सुचारु हो, जो शीघ्र समझ में आनेवाला हो, जो शास्त्रीय पदार्थों से यथावत् लक्षणों से सम्पन्न हो, और जो शास्त्रीय विषयों को सुविशद करनेवाले उदाहरणों से युक्त हो, ऐसे ही शास्त्रीय ग्रंथ को अध्ययनार्थ अपनाना चाहिए। क्योंकि ऐसा ही शास्त्र निर्मल सूर्य के समान अज्ञान रूप अन्धकार को निरस्त कर ज्ञानरूप प्रकाश को सर्वत्र फैला सकता है। इस प्रकार चरक ने भी शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना में शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ एवं रचनानिष्ठ गुणों को अभीष्ट माना है।

(४) छत्तीस तंत्रयुक्तियाँ : तंत्रयुक्ति शब्द का अर्थ है, शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना के (और इसीलिए अध्ययन, अध्यापन एवं परीक्षण के) उपाय। इनका उपयोजन पाणिनि की अष्टाध्यायी में और विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता,

अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, नीलमेघकृत, तंत्रयुक्तिविचार एवं नीलमेघशिष्यप्रणीत तंत्रयुक्ति नामक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। कौटल्य, सुश्रुत एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराणसंकलक बत्तीस तंत्रयुक्तियाँ मानते हैं, तो चरक, वाग्भट, नीलमेघ तथा उनके शिष्य छत्तीस तंत्रयुक्तियाँ मानते हैं। यद्यपि तंत्रयुक्तियों के नाम, निर्देशक्रम, लक्षण एवं निरूपण के विषय में उक्त विचारकों में मतभिन्नता पायी जाती है, तथापि उनमें इस विचार के कि, तंत्रयुक्तियाँ शास्त्रीय विषयान्तर्गत अव्यक्त, अल्पोक्त, गूढ़ तथा व्याजोक्त अंशों पर प्रकाश डालकर उन्हें सुस्पष्ट कर देती हैं, बारे में उल्लेखनीय एकवाक्यता दिखायी देती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय ग्रंथ के निर्माण में तंत्रयुक्तियों का प्रयोजन एवं महत्त्व सर्वमान्य था। प्रस्तुत लेख का अतिविस्तार न हो इसलिए तंत्रयुक्तियों के नामोल्लेख के साथ-साथ उनके स्वरूप का संक्षेप में परिचय करा देता हूँ: १. अतिक्रान्तावेक्षण (पूर्वचर्चित विषय की ओर ध्यानाकर्षण करना), २. अतिदेश (परस्परानुविद्ध विषयों के सम्बन्ध को विशद करना), ३. अधिकरण (समग्र ग्रन्थ, अध्याय अथवा वाक्य का प्रतिपाद्य विषय), ४. अनागतावेक्षण (प्रस्तुत विषय का आगामी विषय से सम्बन्ध दर्शाना), ५. अनुमत (अन्यों के मन्तव्य की स्वीकृति), ६. अपदेश (शास्त्रीय कार्य के कारण का शाब्दिक निर्देश), ७. अपवर्ग (शास्त्रीय नियम के अपवाद का कथन), ८. अर्थापत्ति (अनुक्त अर्थ को प्रयुक्त शब्दों द्वारा सूचित करना), ९. उद्देश (उपविषयों का संक्षिप्त निर्देश), १०. उद्धार (दूसरों के विचारों में दोष दिखाना), ११. उपदेश (आचरण के विषय में अधिकृत उपदेश करना), १२. ऊह्य (साक्षात् शब्दों द्वारा अप्रतिपादित विचारों का अनुमान लगाना), १३. एकान्त (एक ही अर्थ को व्यक्त करनेवाला वचन), १४. निदर्शन (विषय को विशद करने हेतु दृष्टान्त देना), १५. नियोग (ऐकान्तिक आदेश), १६. निर्णय (संदिग्ध मतों का निरसन कर निष्कर्ष निकालना), १७. निर्देश (उपविषयों का विस्तृत उल्लेख), १८. निर्वचन (पारिभाषिक संज्ञा की व्युत्पत्ति), १९. नैकान्त (मतान्तरों का संग्रह), २०. पदार्थ (शब्द का यथावत् अर्थ), २१. पूर्वपक्ष (आक्षेपरूप वचन), २२. प्रत्युत्सार (पूर्वाचार्यों के मतों का सयुक्तिक खंडन), २३. प्रदेश (संख्यादृष्ट्या अधिक विषयों में से कुछ का वर्णन), २४. प्रयोजन (ग्रन्थ के उद्देश्य का कथन), २५. प्रसंग (पूर्व विवेचित विषय का सहेतुक पुनर्विवेचन), २६. योग (दूरस्थ शब्दों को जोड़ना), २७. वाक्यशेष (अवशिष्ट शब्द की कल्पनापूर्वक योजना), २८. विकल्प (संभाव्य पर्यायों का निर्देश), २९. विधान (विषयांशों का अनुक्रम), ३०. विपर्यय (विपरीत अर्थ की कल्पना करना), ३१. व्याख्यान (शास्त्रीय विषय का ब्योरेवार स्पष्टीकरण), ३२. संशय (संदिग्धताजन्य अनिर्णय), ३३. समुच्चय (सजातीय विषयों का संग्रह), ३४. संभव (विशिष्ट संदर्भ में संभवनीयता), ३५. स्वसंज्ञा (पारिभाषिक संज्ञा) और ३६. हेत्वर्थ ('हि' शब्द से कारण की उक्ति)। संक्षेप में, तंत्रयुक्तियों के कार्य अनेक एवं महत्त्वपूर्ण होने से शास्त्रीय ग्रन्थ में उनका स्थान दीपस्तम्भ के समान है।

(५) पंद्रह व्याख्याएँ : पूर्वोल्लिखित अरुणदत्त ने इनका विवरण इस प्रकार किया है : "व्याख्या अपि तन्त्रस्य गुणः । ताभिरपि तन्त्रमलंक्रियते । ताश्च पञ्चदश प्रकाराः । तद्यथा,—पिण्डपदपदार्थाधिकरणप्रकरणार्थकृच्छ्रफलोच्चितकन्यासप्रयोजनानुलोमप्रतिलोमातिसूत्रसमस्तव्याख्याः ।' अर्थात्, व्याख्याएँ भी शास्त्र का श्लाघ्य गुण हैं, क्योंकि उनके कारण शास्त्र का मण्डन होता है। व्याख्याएँ पंद्रह प्रकार की हैं, जिनका स्वरूप क्रमशः यों है : (१) पिण्डव्याख्या—अध्यायादि का विषय संक्षेप में सूत्ररूप में कहना। (२) पदव्याख्या—पदों का विच्छेद कर उन्हें लिखना। (३) पदार्थव्याख्या—विच्छिन्न पदों में से हर एक के अर्थ को स्पष्ट करना। (४) अधिकरण व्याख्या—किसी विषय का विवेचन प्रारम्भ कर तत्संबद्ध सविस्तर विवेचन करना। (५) प्रकरण व्याख्या—सूत्रगत विवेचन की सहायता से अन्य समान विषय को सिद्ध करना। (६) अर्थव्याख्या—किसी वस्तु के प्राकृतिक गुण का वर्णन करना। (७) कृच्छ्रव्याख्या—सूत्र में संक्षेप में विवेचित विषय की यत्नपूर्वक विस्तृत उद्भावना करना। (८) फलव्याख्या—अन्य विचारकों के मन्तव्यों का, अपने मन्तव्य में, युक्तिवाद देकर, अन्तर्भाव करना। (९) उच्चितक व्याख्या—किसी शास्त्रीय बह्वर्थक शब्द के विशिष्ट अर्थ का, संदर्भानुरूप, निश्चय करना। (१०) न्यासव्याख्या—दो भिन्न स्थानीय विषयों को ध्यान में लेते हुए विषय निरूपण करना। (११) प्रयोजनव्याख्या—विषय के विवेचन के उद्देश्य का कथन करना। अरुणदत्त के टीकाग्रंथ में अनुलोमप्रभृति अन्तिम चार व्याख्या प्रकारों का विवरण, ग्रन्थ के खण्डित होने से, नहीं पाया जाता। फिर भी हम सारांश में इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि, उपरि-वर्णित ग्यारह प्रकार की व्याख्या से ग्रन्थगत शब्दार्थज्ञान तो होता ही है, उसके अलावा विवेच्य विषय का अच्छा-खासा बोध भी होता है।

(६) सात कल्पनाएँ : अरुणदत्त ने ही व्याख्याओं के समान कल्पनाओं को भी तंत्र का गुण मानकर उनके सात प्रकार परिगणित किये हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है : (१) प्रधानस्य कल्पना—किसी वस्तु के प्रधान या प्रकृष्ट गुण की कल्पना, (२) प्रधानेन कल्पना—किसी वस्तु की प्रधानता के कारण समस्त जाति को उस वस्तु के नाम से संबोधित करना; (३) गुणकल्पना—किसी शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग न कर सामान्य अर्थ में प्रयोग करना; (४) लेशकल्पना—किसी विषय के संक्षिप्त विवेचन की सहायता से अनिर्दिष्ट विषय का अनुमान करना; (५) विद्याकल्पना—किसी विषय के विवेचन के प्रवाह में आये हुए अन्य शास्त्रों के उल्लेख; (६) भक्ष्यकल्पना—शास्त्र की किसी खानेयोग्य अथवा उपयुक्त वस्तु के साथ तुलना; (७) आज्ञाकल्पना—किसी अनुष्ठान में हेतुभूत वस्तु का सम्यक् ज्ञान सम्भव न होने से केवल आप्तवचन को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना। यह सप्तविध कल्पना विचारों का गौणप्रधानभाव, ईषदुक्ति का शास्त्रकार के मनोगत से संबंध, अन्य शास्त्रों का यथावत् ज्ञान, परंपरागत कल्पनाएँ आदि विषयों का सम्यक परामर्श

करती है। इसी लिए 'कल्पना' का शास्त्र के निर्माणतंत्र में अनिवार्य स्थान है। अब आश्रयों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

(७) **बीस आश्रय :** अरुणदत्त ने 'विंशत्याश्रया भवन्ति।' शब्दों में आश्रयों का संख्योल्लेख करके उनका नामोल्लेख इस प्रकार किया है : १. आदिलोपः, २. मध्यलोपः, ३. अन्तलोपः, ४. उभयपदलोपः, ५. आदिमध्यान्तलोपः, ६. वर्णोपजननम्, ७. ऋषिक्लिष्टम्, ८. तन्त्रशीलम्, ९. तन्त्रसंज्ञा, १०. प्राकृतम्, ११. समानतन्त्र-प्रत्ययः, १२. परतन्त्रप्रत्ययः, १३. हेतुहेतुकधर्मः, १४. कार्यकारणधर्मः, १५. आद्यन्तविपर्ययः, १६. शब्दान्तरम्, १७. प्रत्ययः, १८. उपनयः, १९. सम्भवः, २०. विभवः, [इति।] अर्थात्, आश्रयों की संख्या बीस है। वे बीस आश्रय क्रमशः यों हैं : (१) सूत्र या वाक्य के आरंभ में 'लुप्त' शब्द को खोज निकाल कर अर्थ-निरूपण करना; (२) सूत्र या वाक्य के बीच के लुप्त शब्द की खोज करना; (३) सूत्र या वाक्य के अन्त के लुप्त शब्द की खोजबीन करना; (४) सूत्र या वाक्य के बीच तथा अन्त में अप्रयुक्त शब्द की उद्‌भावना करना; (५) सूत्र या वाक्य के आरम्भ, बीच तथा अन्त में अप्रयुक्त (=लुप्त) शब्द की खोज कर योजना करना; (६) सूत्रकार द्वारा ग्रंथनिर्माण के समय अनुक्त वर्ण की, व्याख्या करते समय, उपज करना; (७) ऋषि या ऋषिपुत्र की असावधानी अथवा अशक्ति के कारण प्रयुक्त भ्रष्ट शब्द का लोकव्यवहार में प्रचलित होना; (८) शिष्य पर अनुग्रह करने हेतु, कभी अतिविस्तृत विषय को संक्षिप्त करना और कभी अतिसंक्षिप्त विषय का विस्तार से निरूपण करना; (९) सन्दर्भ को ध्यान में रखकर पारिभाषिक संज्ञा के अर्थ का ग्रहण करना; (१०) प्रकरण के अनुसार शब्द के अर्थ को समझ लेना; (११) किसी शास्त्रीय विषय की सिद्धि के लिए अपने ही शास्त्र के अन्य ग्रंथ से समीचीन वचन का उद्धरण करना; (१२) किसी विषय की सिद्धि के लिए अन्य शास्त्र से समुचित प्रमाण को ग्रहण करना; (१३) मुख्य कारण और गौण कारण के बीच विवेक करना; (१४) कार्य की संज्ञा से कारण का निर्देश वा कारण की संज्ञा से कार्य का निर्देश; (१५) उद्दिष्ट विषयों के क्रम में, निरूपण के समय, आवश्यकतानुसार बदल करना; (१६) किसी पारिभाषिक शब्द के पर्यायवाचकों को अंकित करना; (१७) आनुषंगिक निमित्त को वास्तविक निमित्त के रूप में प्रस्तुत करना; (१८) किसी विषय का प्रस्ताव कर तत्संबद्ध अन्य विषय के विवेचन को सकारण आरंभ करना; (१९) समग्र शास्त्र के विषय का सूत्र में या प्रकरण में संक्षिप्त निरूपण करना; (२०) विभव आश्रय का वर्णन, अरुणदत्त के ग्रंथांश के खण्डित होने से, अप्राप्य है। उक्त बीस आश्रयों के साक्षात् प्रयोग प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों में पाये जाते हैं, अर्थात् प्रस्तुत बीस आश्रय प्राचीन शास्त्रनिर्माण की प्रक्रिया में अपना अटल स्थान रखते हैं। अब ताच्छील्य का परामर्श करेंगे।

(८) सत्रह ताच्छील्य : ताच्छील्य शब्द की व्युत्पत्ति है—'तत् शीलं स्वभावः यस्य सः तच्छीलः, तस्य भावः, ताच्छील्यं तत्स्वभावता ।' शास्त्रकार विवेच्य विषयोपविषयों के स्वरूप को ध्यान में रखकर शब्दों तथा वाक्यों की योजना करता है । इस योजना में ताच्छील्य महत्त्व रखता है । पूर्वोक्त अरुणदत्त ने ताच्छील्यों का परिगणन इन शब्दों में किया है : "सप्तदश ताच्छील्यादी [नी] त्युक्तम् । तद्यथा—१. ताच्छील्यम्, २. अवयवः, ३. विकारः, ४. सामीप्यम्, ५. भूयस्त्वम्, ६. प्रकारः, ७. गुणिगुणविभवः, ८. संसक्तता, ९. तद्धर्मता, १०. स्थानम्, ११. तादर्थ्यम्, १२. साहचर्यम्, १३. कर्म, १४. गुणनिमित्तता, १५. चेष्टानिमित्तता, १६. मूलसंज्ञा, १७. तात्स्थ्यम्, इति ।" अर्थात्, पूर्वाचार्यों ने सत्रह ताच्छील्यों का वर्णन किया है । वे हैं : (१) धर्मसादृश्य के कारण होनेवाला औपचारिक शब्दप्रयोग; (२) एकदेशीय वचन के उच्चारण से तद्विरुद्धार्थक वचन का बोध, बिना उच्चारण के ही, हो जाना; (३) विकृतिवाचक शब्द से प्रकृति का वा प्रकृतिवाचक शब्द से विकृति का ज्ञान होना; (४) सामीप्य ताच्छील्य का वर्णन अरुणदत्त के टीकाग्रंथ में नहीं प्राप्त होता है; (५) किसी वस्तु में आधिक्य से पाये जाने वाले गुणविशेष का वर्णन; (६) किसी एक वस्तु के उल्लेख से तत्प्रकारक अन्य वस्तुओं का ग्रहण होना; (७) गुणी का गुणवाचक शब्द से अथवा गुण का गुणीवाचक शब्द से निर्देश; (८) किसी वस्तुविशेष का अनेकों से संबंध होते हुए भी मुख्य संबंध का उल्लेख; (९) समानधर्म को ध्यान में रखकर तुलनात्मक विधान करना; (१०) स्थानी का नाम स्थान को अथवा स्थान का नाम स्थानी को देना; (११) किसी वस्तु का उपयोग जिस प्रयोजन में होता है, उस प्रयोजनवाचक शब्द से वस्तु को संबोधित करना; (१२) दो वस्तुओं के बीच रहनेवाले नित्य संबंध के कारण, एक के ज्ञान से दूसरे का भी ज्ञान हो जाना; (१३) कर्मनिवृत्ति के वर्णन में कर्म शब्द का औपचारिक प्रयोग करना; (१४) किसी वस्तु में स्थित किसी प्रशंसनीय गुण का ही नाम उस वस्तु को अर्पित करना; (१५) किसी क्रिया की ओर विशेष ध्यान देकर उस क्रिया के वाचक शब्द का औपचारिक प्रयोग करना; (१६) लोकव्यवहार में किसी एक अर्थ में प्रचलित शब्द का शास्त्र में विशिष्ट अर्थ में प्रयोग करना; (१७) किसी भाव के किसी प्रदेश में वस्तुतः न होने पर भी उसके उस प्रदेश के होने का वर्णन करना । इन ताच्छील्यों के भी प्रचुर प्रयोग शास्त्रीय ग्रंथों में दिखायी देते हैं ।

(९) ऊपर हमने प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों के निर्माणतंत्र का वर्णन किया । उसके पुनरवलोकन से हम यह कह सकते हैं कि, प्राचीन विचारकों ने शास्त्रीय ग्रंथ के कुल मिलाकर १२८ अंगों की परिकल्पना की थी । ये अंग शास्त्र के विषय, प्रयोजन, रचना, भाषा आदि समस्त पहलुओं का परामर्श करते हैं । शास्त्र का कोई भी विशेष इन अंगों से अछूता नहीं रह पाता । प्राचीन चिन्तकों ने शास्त्र कैसा होना चाहिए इस विषय का चिन्तन करने के साथ-साथ शास्त्र कैसा नहीं होना चाहिए

इस विषय का भी चिन्तन किया था, यह बात विशेष ध्येय है। उन्होंने न केवल शुष्क तात्त्विक चर्चा की, किन्तु चर्चागत तत्वों का साक्षात् उपयोजन करके भी दिखाया। अर्थात्, उन्होंने शास्त्ररचना के शास्त्र को परिपूर्ण बनाने का हार्दिक प्रयास किया। कौटल्य ने बत्तीस तंत्रयुक्तियों का विवेचन करके उनके प्रयोग अपने ग्रंथ में कहाँ पाये जाएँगे इसका स्पष्टीकरण स्वयं किया है। चक्रपाणिदत्त, डल्हण, इन्दु एवं अरुणदत्त टीकाकारों ने क्रमशः चरकसहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय ग्रंथों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस उपक्रम से प्राचीनों की तत्त्व-मीमांसा सुस्पष्ट एवं सजीव हुई है। अतः अन्त में हम स्वाभाविकतया इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि, प्राचीन मननशील शास्त्रकर्ताओं ने शास्त्रीय तात्त्विक ग्रंथ के लेखन की पद्धति का पूर्ण रूप से विकास किया था। इसलिए किसी भी प्राचीन शास्त्र के अध्ययन, अध्यापन अथवा समालोचन के इच्छुक अर्वाचीन जिज्ञासु व्यक्ति को चाहिए कि वह उक्त पद्धति का यथावत् ज्ञान अवश्य प्राप्त करे। अन्यथा प्राचीन शास्त्रों एवं शास्त्रकारों पर अन्याय होने का भय है।

पद्मपुराण और रघुवंश (द्वितीय सर्ग)
तुलनात्मक परिशीलन

डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
वाराणसी

A comparative and critical examination of the specific portions, containing the story of Dilīpa in *Padmapurāṇa* and Kālidāsa's *Raghuvaṃśa,* makes it clear that the former is more simple, brief, realistic and natural in its descriptions than the latter. Kālidāsa has adopted the version of the *Padmapurāṇa,* with more eloquence, poetic beauty, linguistic modifications, and particulars. Thus chronologically, *Padmapurāṇa* belongs to a period prior to that of Kālidāsa.

विद्वानों में महाकवि कालिदास तथा पद्मपुराण के पौर्वापर्य का विचार सुस्थिर है। अनेक मनीषियों का यह मत है कि पद्मपुराणगत शकुन्तला-विषयक अंश महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तल से उद्धृत किए गए हैं। इस प्रकार की स्वीकृति का मुख्य कारण पद्मपुराण की सभी मातृकाओं में उक्त अंश की अनुपलब्धि बतायी जाती है। किन्तु पद्मपुराण के षष्ठोत्तर खण्ड में दिलीप-विषयक जो कथा उपलब्ध होती है, उसमें पाठभेद के लिए भी अवकाश नहीं दिखता। कुछ विद्वानों के मतानुसार पद्मपुराण में दिलीप कथा को कालान्तर में संनिविष्ट कर दिया गया है। वह केवल बंगदेश में प्रचलित पद्मपुराण की मातृकाओं में दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः पद्मपुराण और रघुवंश दोनों की भाषा का अनुशीलन करके निष्कर्ष निर्धारित किए जाने चाहिए। इसी दृष्टि से रघुवंश महाकाव्यगत द्वितीय सर्ग के तीन श्लोकों के साथ पद्मपुराणीय तीन श्लोकों का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१)

अब यहाँ से दिलीप की नन्दिनी (गो) सेवा का उपक्रम बाँधा जा रहा है—

पद्मपुराण

अथोषसि नराधीशः पूजितां कुसुमादिभिः।
महिष्या नन्दिनीं धेनुं नीत्वाऽरण्यं जगाम सः ॥६।२०३।१॥

(रात्रि बिताने के पश्चात् राजा दिलीप ने पूजित तथा दुही गई ऋषि वशिष्ठ की धेनु को वन की ओर ले जाने के लिए खूंटे से (रस्सी) खोला।)

रघुवंश

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ २-१ ।

(अथ यशोधनः प्रजानां अधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् पीतप्रतिबद्धवत्साम् ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच ।)

(रात बिताने के पश्चात् वह राजा पटरानी के द्वारा पुष्पादि से पूजित नवप्रसूता नन्दिनी को लेकर जंगल की ओर गया ।)

तुलना—'अथ' शब्द दोनों में समान है । 'अथ' शब्द के पांच अर्थ होते हैं :—

(१) मंगल,
(२) अनन्तर,
(३) आरम्भ,
(४) प्रश्न तथा
(५) सम्पूर्णता ।

यहाँ 'अथ' शब्द (१) मंगल, (२) अनन्तर तथा (३) आरम्भ अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । काव्य की वास्तविक कथा इसी श्लोक से प्रारम्भ होती है । प्रथम सर्ग तो पीठिका मात्र है । फलतः 'अथ' शब्द, (३) आरम्भ अर्थ में ज्ञेय है । प्रारम्भ करते समय (क) आशीर्वाद, (ख) नमस्कार तथा (ग) वस्तुनिर्देश के भेद से तीन प्रकार का मंगल प्रथम सर्गादि से कर लिया गया । अतः द्वितीय सर्गारम्भ में यह मंगल वस्तुनिर्देशात्मक है, बोधनीय है । मंगल तथा आरम्भ विषयसमावेशनीय नहीं होते । इन्हें केवल मनसा जान लेना होता है । इन दोनों अर्थों के साथ-साथ 'अथ' का अनन्तर, पश्चात् अर्थ विषयसमावेशनीय है । पूर्व विषय के परामर्श की अपेक्षा रखने के कारण 'संविष्टः कुशाशयने निशां निनाय' (१।९५) के 'रात बिताना' के परामर्श के साथ-साथ अर्थ पश्चात् का प्रयोग होगा—'रात बिताने के बाद' । अन्वय के अनुसार द्वितीय पद प्रजानामधिपः का विशेषण 'यशोधन': है । पद्मपुराण में यह पद उल्लिखित नहीं है । मल्लिनाथ ने 'यशोधन' पद रखने का कालिदासीय प्रयोजन बताया है—पुत्रवान् होने की कीर्ति धन समझने वाले । इस पद से उन्होंने निष्कर्ष निकाला है—पुत्रवत्ताकीर्तिलोभ से राजाओं के अयोग्य गोरक्षण में प्रवृत्त होना । वस्तुतः इस यशोधन पद में— ददामि देहमात्मीयमपकीर्तिमलीमसम् । एवं न धर्महानिः स्यात् ऋषेस्तव तु भोजनम् (पद्म० ६।२०३।३७) श्लोकार्थ भावना है । 'यशोधनः' पद सिंहाक्रान्त नन्दिनी के नष्ट होने पर (संभावना), यश चले जाने की चिन्ता को वस्तुनिर्देश के रूप में दिखला रहा है, क्योंकि वहाँ दिलीप गाः कोटिशः घटोध्नीः के अनुसार गोत्वेन, गोधन नहीं समझ रहे थे । किन्तु उस गोरक्षण को ही यशोरक्षण समझ रहे थे । जब वे गोरक्षण में असमर्थ हो गए, हाथ चिपक जाने पर कर्तव्यच्युत हो गए, तब उन्होंने

कहा—ददामि देहमात्मीयम्अपकीर्तिमलीमसम् (पद्म० ६।२०३।३७) यशोरहित अतएव मलिन, अपने शरीर को देता हूँ। देहार्पण के पश्चात् इस अपकीर्ति-मलीमस के निरस्तरूप यशोधन को कालिदास ने सर्वतः प्रथम रखा।

अन्वयानुसार तृतीय पद है–'प्रजानामधिपः'। पद्मपुराण में है–'नराधीशः'। नराधीशः में न उतना बल है और न भावना ही। नराधीशपद, हिटलरशाही को सूचित करता है। इसमें जनता के प्रति कर्तव्यों की लेशमात्र सूचना नहीं मिलती। जनता में नर ही नर नहीं होते बल्कि नारियाँ, बालक तथा पशु प्रभृति भी होते हैं। यह पद समत्व भावना को व्यक्त नहीं करता। कालिदास ने 'नराधीश' के स्थान पर प्रजानामधिपः पद का प्रयोग किया है। प्रजा के दो अर्थ होते हैं—(१) सन्तति तथा (२) जन। ये दोनों ही पद नर, नारी, शिशु, पशु, आदि भेदों के संकेत नहीं देते। (१) सन्तति-सन्तानमात्र, तथा (२) जन-जननशक्तिसम्पन्न। 'प्रजानाम्' यह बहुवचनान्त प्रयोग भी इसी भाव का संकेत दे रहा है। इसके अतिरिक्त प्रजा शब्द लोक में लब्धप्रचुरप्रचार है। 'यथा राजा तथा प्रजा', 'जैसी राजा तैसी परजा' शब्दों का प्रयोग ग्रामीण आदरपूर्वक करते हैं। 'प्रजा' शब्द के सन्ततिमात्र में ही अर्थ रखने के कारण ब्रह्मा तथा दक्ष को प्रजापति कहा जाता है। स्मरणीय है कि दक्ष की सन्ततियाँ सर्प, पक्षी आदि भी हैं। तभी वे प्रजापति हैं। कुम्भकार, कुम्हार को भी प्रजापति, परजापत कहा जाता है। वह बड़े पात्र कुसूल (कम्हारी) ले लेकर कसोरा और लघुतम दीपक तक मृत्पात्र गढ़ता है। किन्तु उन सबको तो वह उसी प्रयत्न से रचता है। सबको समान स्थान पर ही सजाता है। बड़ा होने से ऊँचे तथा छोटा होने से नीचे स्थान पर नहीं रखता। इसी भाव को दिखलाने के लिए सर्वसमत्व भावना के हेतु कालिदास ने 'नर' का सन्निवेश न कर 'प्रजानाम्' को स्थान दिया है। 'अधीश' की अपेक्षा 'अधिप' कर्त्तव्य-पालन का निर्देश देता है। अधि (समान) अधिकारपूर्वक पाति रक्षति। पालन करनेवाले माता-पिता को सभी पुत्र बराबर होते हैं। भेद-भाव रखना कलह को आमन्त्रित करना है। दिलीप अपनी प्रजाओं का (समान) अधिकारेण पालन करता था। नराधीश-मनुष्यों पर दबाव नहीं डालता था। (ईश-सामर्थ्य) कालिदास ने इसे स्वयं स्पष्ट कह दिया—

'स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः' (१।२४ रघुवंश)।

पाँचवाँ पद है—'प्रभाते'। पद्मपुराण में है—'उषसि'। 'प्रभात' के संक्षेपतः ११ पर्याय हैं—(१) प्रत्यूष, (२) अहर्मुखः, (३) कल्य, (४) उषस्, (५) प्रत्युषस्, (६) व्युष्ट, (७) विभात, (८) गोसर्ग, (९) प्रभात, (१०) प्रगे तथा (११) प्रातः। उषःकाल चार बजे सूर्योदय से बहुत पहले माना गया है। यह उषस् निशान्त का वाचक है। निशान्त तीन बजने पर हो जाता है। निशान्त (उषाकाल) में प्रकाश नहीं होता। अतः मनु लिखते हैं—निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्—उषाकाल

में वेदाभ्यास करने पर फिर सोना नहीं चाहिए। वाक्य से प्रातःकालिक प्रकाशराहित्य की प्रतीति होती है। कालिदास उषसि का प्रयोग न करके प्रभात का प्रयोग करते हैं। प्रभात में सूर्योदय न होने पर भी प्रकाश फैल जाता है। प्रभात में अन्धकार तो बिल्कुल ही नहीं रहता। सभी पदार्थ दिखने लगते हैं। इस प्रसंग में राजवल्लभ का उदाहरण दर्शनीय है—

वैद्यः पुरोहितो मन्त्री दैवतोऽथ चतुर्थकः।
प्रभातकाले द्रष्टव्यो नित्यं स्वश्रियमिच्छता॥

ऐसी ही बेला को गोसर्ग कहते हैं। ऐसे समय पालतू पशुओं को जंगली पशुओं से भय नहीं रहता। निशांत में चार बजे जागने पर भी राजा तत्काल गाय लेकर जा भी तो नहीं सकता। उसे स्नानादि प्रातःकालिक क्रियानिर्वाह अपेक्षणीय होगा। भोजन भी करना होगा, क्योंकि वह दिनभर के लिए बाहर जा रहा है। कालिदास पद्मपुराण के मूल को न छोड़ने के साथ ही साथ भाषा का प्रयोग बड़ी सावधानी से करते हैं।

छठवाँ समस्तपद है—धेनु का विशेषण—जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्। पद्मपुराण में है—महिष्या कुसुमादिभिः पूजिताम्। पुराण में कुसुम-पुष्पादि से सत्कृत कहकर छुट्टी पा ली। कुसुम के अतिरिक्त और क्या था? इस अपूर्ति को कालिदास ने सचित्र उपस्थापित किया। छुटे ही कुसुम नहीं थे, बाकायदा गुँथे हुए थे। अतः माल्य-माला तैयार की गई थी। केवल माला ही नहीं थी। उसके पूर्व गन्ध-धूप-अगर आदि भी सुगन्धित-पदार्थ अर्पित किए गए थे। यह सब भी राजा के द्वारा नहीं, रानी के द्वारा हुआ। पद्मपुराण में प्रत्यागमन के समय पूजनविधि की पूर्ण सामग्री दिखाई गई है—

चन्दनाक्षतनैवेद्यधूपादीनुपनीय च ।७॥
तां पूजयित्वा विधिवत् प्रणम्य च पुनः पुनः।
कृत्वा प्रदक्षिणं राज्ञी तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।८॥

चन्दन, अक्षत, नैवेद्य, धूप आदि लेकर नन्दिनी की विधिवत् पूजा तथा प्रदक्षिणा करके रानी हाथ जोड़कर आगे खड़ी हो गई। कालिदास ने धूप पद से गन्ध का ग्रहण किया। अक्षत पद आगे के लिए रख छोड़ा। मगधेशसुतायां मे वंशकर्त्तारमात्मजम् (पद्म० ६।२०३।४५) के तथा भविता वंशकर्त्ता ते सुतः शास्त्रास्त्रतत्त्ववित् (४८) के अनुसार भावी पुत्रजनन योग्यता का निर्देश कालिदास ने इसी प्रथम श्लोक में 'जाया' पद देकर कर दिया। पद्मपुराण में भावी निर्देशन करके 'महिष्या' ही कहा गया है। इस महिष्यापद को कालिदास ने समं महिष्या (२।२५) में गृहीत किया है। प्रतिग्राहित का मूल है—सा गृहीत्वा च तां पूजाम् (पद्म० ९)। ग्रहण करने का अर्थ लेना, स्वीकार करना

होता है। अमरसिंह के अनुसार प्रतिग्रह का अर्थ – सैन्यं पृष्ठे प्रतिग्रहः (२।२।७९) फौज का पिछला भाग है। उन्हीं के अनुसार प्रतिग्रह का अर्थ—'प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः' (२।१।१३९) पीकदान होता है। अमरसिंह ने प्रतिग्रह का अर्थ 'स्वीकार' कहीं नहीं लिखा। उनके पश्चाद्वर्ती मेदिनीकार ने प्रतिग्रह का अर्थ स्वीकार लिखा है—प्रतिग्रहः स्वीकरेण सैन्यपृष्ठे पतद्ग्रहे। द्विजेभ्यो विधिवद्देये तद्ग्रहे च ग्रहान्तरे (शब्दवर्ग, दृचतुष्क ३१)। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कालिदास अमरसिंह के पश्चाद्वर्ती हैं। मनुस्मृति में प्रतिग्रह के स्वीकार अर्थ में अनेकशः प्रयोग उपलब्ध होते हैं प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम् (२।४८) इष्ट दण्ड लेकर। प्रतिगृह्य द्विजो विद्वान् (४।११०)। प्रतिगृह्य गृहीत्वा (कुल्लू)। प्रतिग्रहः प्रत्यवरः (१०।१०९)।

संक्षेपतः स्वीकृत शब्द के पर्यायवाची शब्द होंगे—(१) उरीकृत्य, (२) उररीकृत्य, (३) अंगीकृत, (४) आश्रुत तथा (५) प्रतिज्ञात। यद्यपि जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् के स्थान पर 'जायाप्रतिज्ञापितगन्धमाल्याम्' लिखा जा सकता था। तथापि 'प्रतिज्ञापित' शब्द में वह भाव तथा चित्रोपस्थापनशक्ति नहीं है जो 'प्रतिग्राहित' शब्द में विद्यमान है। ग्रह—लेना, प्रति—लौटकर अपनी वस्तु को उठा लेने, स्वीकार करने का तात्पर्य प्रतिग्रह नहीं होता। 'प्रतिग्रह' में दो का हाथ अवश्य होता है। जिससे हमें लेकर स्वीकार करना है, सबसे पहले वह उस वस्तु को लेगा। यह हुआ ग्रह। फिर उससे लेने पर, जब प्रतिदान बुद्धया दे, प्रतिग्रह होता है। यह बात प्रतिज्ञात शब्द में नहीं है। जायाप्रतिग्राहित का अर्थ हुआ—सुदक्षिणा के द्वारा पहले उठाई गई और फिर नन्दिनी के गले में डाली गई, पहिनाई गई।

सातवाँ समस्तपद है—'धेनु' का दूसरा विशेषण—'पीतप्रतिबद्धवत्साम्' दूध पिलाकर बाँध दिए गए बछड़ेवाली। स्मरणीय है कि पद्मपुराण की कथा में एक स्थान को छोड़कर कहीं भी नन्दिनी के बछड़े की चर्चा नहीं आई है। प्रारम्भ में "नन्दिनीं धेनुम्" कहकर संकेत अवश्य कर दिया है। धेनु कहते हैं—नवसूतिका गाय को। एतदर्थ पद्मपुराण में नन्दिनी के साथ 'धेनु' विशेषण जोड़ा गया है। कालिदास ने इसे स्पष्टतः चित्रित किया है। सिंह के साथ संभाषण करते समय पद्मपुराण में दिलीप के द्वारा करुण स्वर से कहलवाया गया है—लघुतर्णकमातेयं धृता ते गिरिकन्दरे (६।२०३।३४)—तुम्हारे द्वारा गिरिकन्दर में चपेटी हुई यह गाय सद्यःजात बछड़े की माता है। कालिदास ने प्रथम श्लोक में ही पूर्णपरिचय एवं चित्रोपस्थापन के निमित्त दोहने के समय का दृश्य उपस्थित करते हुए लिखा—पीतप्रतिबद्धवत्साम्। इसके अतिरिक्त—वत्सोत्सुकापि (२।२२)। दिनावसानोत्सुकबालवत्साम् (२।४५) वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषम् (२।६६), सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् (२।६९), धेनुं सवत्साम् (२।७१) पाँच बार बछड़े का उल्लेख करके प्रसंग को बहुत ही रोचक या स्नेहिल बना दिया है।

आठवाँ पद है, ऋषेः—ऋषि की । पद्मपुराण के प्रथम श्लोक में यह पद नहीं है । चतुर्थ श्लोक में अवश्य उल्लेख है । 'कामधेनुं गुरोरेवमसेवत' (५।२०३।४)–गुरोः कामधेनुं एवं असेवत—गुरु की कामधेनु की इस प्रकार की सेवा की । कालिदास ने भी प्रथम श्लोक के अतिरिक्त सर्वत्र वशिष्ठ को अधिकांश गुरुपद से उल्लिखित किया है—गुरोस्सदारस्य (२।३), गुरोर्भवान् (२।४०), गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेः (२।४४), अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः (२।४९) भक्त्या गुरौ (२।६३), गुरवे निवेद्य (२।६८)। दिलीप को ऋषि ने गोसेवा की आज्ञा देकर कहा था—इसकी सेवा से तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा । यह बात दृढ़तापूर्वक कही गई थी । अतः सत्य होनी ही चाहिए थी । ऋषियों को 'सत्यवचसु'–सत्यवचनवाले (अ०को० २।७।४३) कहा गया है । एतदर्थ प्रथम श्लोक में कालिदास ने 'ऋषिपद' रखा । जहाँ-जहाँ दृढ़वचन को दिखलाना अभीष्ट रहा वहाँ-वहाँ ऋषि एवं महर्षि पद का उल्लेख किया है—'ऋषेरनुज्ञामधिगम्य मातः' (२।६६), 'धेनुरियं महर्षेः' (२।४५), 'कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेः' (२।५४), 'ऋषि-प्रभावान्मयि नान्तकोऽपि' (२।६२) । इसके अतिरिक्त गुरु शब्द अनेकार्थ-वाचक है—(१) भारी, २–बृहस्पति, (३) पिता-माता आदि (अ०को० ३।३।१६२) तथा (४) गर्भाधानादि कर्म कराने वाला (अ० को० २।७।७) । ऐसे पद को प्रारम्भ में ही रखना उचित नहीं समझा गया । इसके अनन्तर प्रसंग चल जाने पर ऋषि का ही गुरुपद से गृहीत होता जाना स्वाभाविक है । कालिदास ने तीन स्थानों पर वशिष्ठ के लिए मुनि भी कहा है—मुनेश्च धेनुः (२।१५), मुनिहोमधेनुः (२।२६), भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः (२।५५) । ऋषि के स्थान पर गुरोः तथा मुनेः में से अन्यतर का प्रयोग यद्यपि छन्दोभंग को उपस्थित कर देता है तथापि इस भय से अन्यतर का प्रयोग न किया हो सो बात नहीं है । इस उद्देश्य से चिन्तन करने पर श्लोक का स्वरूप भिन्न हुआ होता ।

नवाँ पद है—धेनुम्—धेनु–नवसूतिका को । पद्मपुराण में धेनु के साथ 'नन्दिनी' पद प्रयोग करके धेनु को नन्दिनी का विशेषण बनाया गया है । रघुवंश में धेनु ही उद्देश्य (विशेष्य) है । यद्यपि 'पीतप्रतिबद्धवत्साम्' पद से ही गाय का धेनुत्व गतार्थ हो गया, अतः 'धेनुम्' के स्थान पर कालिदास को 'नन्दिनीम्' लिखना चाहिए था, तथापि 'पीतप्रतिबद्धवत्साम्' से प्रसूता गौ का बोध नहीं होता है । हाल में ही प्रसूता गौ का बछड़े पर अत्यधिक अनुराग होता है । वह उसे छोड़कर जंगल चरने भी जाना नहीं चाहती और जंगल से लौटते समय दौड़ती हुई घर आती हैं । उसे बीच में रोकना दुःसाध्य है । बछड़े की भी यही दशा होती है । ऐसी दशा में रानी सुदक्षिणा द्वारा उसको रास्ते में रोके जाने पर भी शान्तिपूर्वक पूजा करा लेना धेनु की उनके प्रति अत्यर्थ प्रसन्नता की सूचना है । सिंह द्वारा आक्रमण किए जाने पर 'धेनु' कह देने से बछड़े और गाय का वह अनुरागाधिक्य बरबस आँखों के सामने खिंच जाता है । फलतः काव्य में प्राण आ जाते हैं । नन्दिनी पद जरा भी उपयुक्त नहीं होता ।

इसी कारण कालिदास ने सम्पूर्ण सर्ग में 'धेनु' पद का अधिकाधिक उल्लेख किया है। व्रताय तेनानुचरेण धेनोः (२।४), मुनेश्च धेनुः (२।१५), गृष्टिः (२।१८), वशिष्ठधेनोः (२।१९), विरराज धेनुः (२।२०), मुनिहोमधेनुः (२।२६), निगृहीतधेनुः (२।३३); धेनुरियं महर्षेः (२।४५), अथैकधेनोः (२।४९), धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या (२।५२) तथा धेनुं सवत्साम् (२।७१)। इसी नवप्रसूतात्व को दिखलाने के लिए धेनु के स्थान पर गृष्टि (नवसूतिका-हलायुध) प्रयोग किया गया है। विमर्शनीय है कि सिंह के साथ कत्ती प्रसंग में सर्वत्र धेनु शब्द का व्यवहार किया गया है। शक्ति प्रदर्शन के लिए केवल अनूनां सुरभेः (२।५४) कहा गया है। जननी सादृश्य दिखलाने के लिए 'गामग्रतः प्रस्नविणीम्' (२।६१) में प्रस्नविणी पद रखा गया। प्रसन्न (आनन्दित) होने पर 'नन्दिनी' (२।६९) पद प्रयुक्त किया। इसके अतिरिक्त सौरभेयीम् (२।३), कामदुघाम् (२।६३), पयस्विनीम् (२।२), पयस्विनी (२।६५), दोग्ध्रीम् (२।२३), तथा गवि (२।२९) शब्द भी यथाभाव व्यवहृत हैं।

अन्वयानुसार उपोत्तम पद है—वनाय तथा अन्तिम पद–मुमोच है—वन जाने के लिए खोला (छोड़ा)। पद्मपुराण में है—नीत्वा अरण्यं जगाम—(वह दिलीप) धेनु को लेकर अरण्य गया। कालिदास के वनाय मुमोच बड़े महत्त्वपूर्ण हैं —अल्पशब्द बह्वर्थक। इन दोनों पदों के मध्य 'गन्तुम्' पद लुप्त है। इस 'गन्तुम्' के कर्म वन में क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः—पाणिनि सूत्र से चतुर्थ विभक्ति हुई है। अर्थ करते समय वनाय मुमोच को 'वनं गन्तुं मुमोच' 'वन जाने के लिए खोला' कर लेना होगा। यह वाक्शैली है। पद्मपुराण की बात कालिदास ने सजा कर प्रस्तुत की है, यही उनका कवित्व है। पद्मपुराण के पद नीत्वा अरण्यं जगाम चमत्कारिक नहीं है। नीत्वा-गृहीत्वा-हाथ में लेकर या पकड़कर, अरण्य को गए—अर्थ हुआ। यहाँ 'नीत्वा' पद सर्वथा वैरस्यजनक है। कहाँ गाय का स्वच्छन्द विचरण और कहाँ उसका नयन-ग्रहण।

(२)

पद्मपुराण

अथ प्रत्याश्रमं सायं न्यवर्तत महीपतेः।
अङ्गं पवित्रयन्ती सा खुरोद्धूतैः रजःकणैः॥ (६।२०३।५)

अन्वय—अथ सा सायं खुरोद्धूतैः रजःकणैः महीपतेः अङ्गं पवित्रयन्ती आश्रमं प्रति न्यवर्तत।

सारार्थ—राजा द्वारा खुजलाने आदि सेवा के अनन्तर खुरों (के विन्यास) से उड़े धूलिकणों के द्वारा दिलीप के अंग (शरीर) को पवित्र करती हुई वह धेनु सायंकाल आश्रम की ओर लौटी।

रघुवंश

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।। २.२

अन्वय—अपांसुलानाम् धुरि कीर्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यासपवित्रपांसुम् तस्याः मार्गम् स्मृतिः श्रुतेः अर्थमिव अन्वगच्छत् ।

सारार्थ - पतिव्रताओं की सिरमौर दिलीप की धर्मपत्नी ने, खुर पड़ने से पवित्र धूलि वाले नन्दिनी के मार्ग का अनुगमन किया, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार मन्वादि स्मृतियाँ वेदों का अनुगमन करती हैं ।

तुलना—पद्मपुराणोक्त श्लोक में प्रयुक्त 'अथ' शब्द कण्डूयन आदि गोसेवा का परामर्श करता है—गोसेवा के अनन्तर । दिन भर के गोसेवा कार्य को निर्विघ्न समाप्त करना भी मंगल तथा कार्य (दिन) की सम्पूर्णता का सूचक है । अतः 'अथ' शब्द पूर्वोक्त अर्थ के साथ-साथ मंगलार्थ की भी सूचना दे रहा है । कालिदास ने द्वितीय श्लोक में 'अथ' शब्द का प्रयोग नहीं किया । यहाँ वह उपयुक्त भी नहीं था । श्रीव्यास नन्दिनी के वन से परावर्तन—गोधूलि बेला—का वर्णन कर रहे हैं, किन्तु कालिदास तो अभी प्रभात में वशिष्ठ के आश्रम से वन के प्रति गमन के ही वर्णन में तत्पर हैं । फलतः इस 'अथ' शब्द का कोई प्रसंग भी नहीं है । उन्होंने द्वितीय सर्ग भर में चार स्थलों पर 'अथ' का प्रयोग किया है—'अथ प्रजानाम्' (२।१), 'अथान्धकारम्' (२।४६), 'अथैकधेनोः' (२।४९), तथा 'अथ नयनसमुत्थम्' (२।७५) ।

पद्मपुराण में 'खुरोद्धूतैः रजःकणैः' (६।२०३।५) द्वारा गोधूलि–बेला का मनोरम चित्र खींचा है । भारत में गोधूलि-बेला का अत्यन्त महत्त्व है । यह 'सूर्यास्तमन' बेला में ही होती है, सूर्योदय में नहीं । रघुवंश में इस परमपावन बेला का वर्णन छूट गया है । पद्मपुराण के पाँचवें श्लोक पर ध्यान जाते ही उन्होंने रघुवंश के द्वितीय श्लोक में ही 'खुरन्यासपवित्रपांसुम्' वाले मार्ग का वर्णन कर दिया है । अतः इस पौनरुक्त्य से बचने के लिए उन्होंने संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् (२।१५) में सूर्य की किसलयवरुणारुण प्रभा के साथ मुनि वशिष्ठ की नन्दिनी का गमन-सादृश्य वर्णित किया । वस्तुतः यहाँ गोधूलि का वर्णन परम अपेक्षणीय था । पद्मपुराण के पंचम श्लोक के अनुसार वह कामधेनु सायंकाल खुरोद्धूत रजःकणों में महीपति दिलीप के अंगों को पवित्र करती हुई आश्रम को लौट आयी । यह नैसर्गिक प्रकृति-वर्णन यथार्थ चित्रण को सूचित करता है । रघुवंश में पवित्रयन्ती सा खुरोद्धतैः रजःकणैः इस पद्मपुराण की देखा-देखी समस्त पदों द्वारा मार्ग का विशेषण बनाकर आगे उपमा उपस्थापित की गई है, पर उसकी अयथार्थता अत्यन्त स्पष्ट है । उपमेय मार्ग की उपमा श्रुति के अर्थ के साथ दी गई है । फलतः

श्रुतेः अर्थम् का अन्वय एक पक्ष में खुरन्यासपवित्रपांसुम् के साथ भी होना चाहिए था। श्रुति के खुरन्यास से पवित्र पांसु वाले अर्थ का अनुगमन जिस प्रकार स्मृति करती है, उसी प्रकार नन्दिनी के खुरन्यास से पवित्र पांसु वाले मार्ग का अनुगमन सुदक्षिणा ने किया। इसके विपरीत 'श्रुतेः' अर्थ के अन्वय की संगति खुरन्यासपवित्र-पांसुम् के साथ बिल्कुल नहीं बैठती क्योंकि कालिदास पद्मपुराण के पवित्रयन्ती सा खुरोद्धूतैः रजःकणैः वाले मनोमुग्धकारी वर्णन से अभिभूत हो उठने के कारण उसका यथास्थान वर्णन नहीं कर सके।

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास साहित्यिकता में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने 'रजःकणैः' जैसे कर्कश शब्दद्वय के स्थान पर कुटा-पिटा एक शब्द रखा—'पांसु'। 'पांसु' का विशेषण 'पवित्र' शब्द ज्यों का त्यों रख दिया। यह भाषा परिष्कार स्पष्टतः कालिदासकृत अनुकरण को द्योतित करता है। पद्मपुराण का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। इसके पाँच श्लोकों की विषय-वस्तु का रघुवंश में पन्द्रह श्लोकों द्वारा वर्णन किया गया है। यदि कहा जाय कि कालिदास का वर्णन ही पद्मपुराण द्वारा अनुकृत किया गया है तो उत्तर में निवेदन है— अग्निपुराण में जिस प्रकार अमरकोश का अक्षरशः अनुकरण किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी रघुवंश का अक्षरशः अनुकरण क्यों नहीं कर लिया गया ? अमरसिंह द्वारा अग्निपुराण का अनुकरण नहीं किया गया है क्योंकि उक्त पुराण में 'स शाक्यसिंहः सर्वथा सिद्धः' आदि बुद्ध के नामों का ठीक उसी प्रकार उल्लेख हुआ है जिस प्रकार अमरकोश में। बुद्ध के पश्चात् व्यास की स्थिति का आभास यद्यपि पातंजलयोगदर्शन के व्यास-भाष्य द्वारा होता है, एतदर्थ अग्निपुराण का अनुकरण अमरसिंह द्वारा यथा कथंचित् स्वीकृत किया भी जा सकता है तथापि कालिदास का अनुकरण पद्मपुराण कृत अनुमोदनीय न होगा। क्योंकि कालिदास की रचना में कृत्रिमता तथा (वर्णन की) अस्तव्यस्तता दृष्टिगोचर होती है। द्वितीय, पुराणों में अन्य ग्रंथों के सम्पूर्ण उद्धरणों को सादर ग्रहण कर लिया गया है जिस प्रकार पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के उद्धरणों का उल्लेख ससम्मान किया है। ऋषियों की कृतज्ञता ज्ञापन की यह श्लाघनीय परिपाटी है। दूसरे की वस्तु पर अपना रंग चढ़ाकर उसे अपना घोषित करना उनकी प्रकृति के विपरीत था। इसके अतिरिक्त यदि ऐसा किया जाता तो इतने विशालकाय पुराण न बन पाते। उन्हें तो जहाँ-तहाँ से जिस रूप में सामग्री उपलब्ध हुई उन्होंने उसे उसी रूप में सँजो दिया। पुनः कोई कारण नहीं कि रघुवंश की सामग्री को वे तोड़-मरोड़ कर रखने के द्वारा अपना समय नष्ट करते। यदि 'दुर्जनतोषन्यायेन' उन्हें ऐसा करना ही था तो वे क्यों न उस विषय को अलंकृत शैली में रखते। सच बात तो यह है कि पुराणों में (श्रीमद्भागवत को छोड़कर) अतिसमयापेक्षी भाषा परिष्करण के प्रति ध्यान ही नहीं दिया गया। श्रीमद्-भागवत को हाल का इसीलिए मानते हैं क्योंकि उसमें भाषा परिष्कार के प्रति अधिक ध्यान दिया गया है।

(३)

पद्मपुराण

स च राजा मृदुग्रासैर्दंशापनयनेन च ।
कण्डूयनैः कामधेनुं गुरोरेवमसेवत ।। ६।२०३।४)

अन्वय—राजा च सः मृदुग्रासैः दंशापनयनेन कण्डूयनैः च गुरोः कामधेनुं एवं असेवत ।

सारार्थ—और उस राजा दिलीप ने कोमल-कोमल घास खिलाकर (गाय पर बैठे हुए) डांसों (मच्छरों) को उड़ाकर और (उनके बैठने से मची हुई सुरसुराहट से) खुजलाहट द्वारा (दूर कर) गुरु वशिष्ठ की कामधेनु की इस प्रकार सेवा की ।

रघुवंश

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ।। (२।५)

अन्वय—सम्राट् सः आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः कण्डूयनैः दंशनिवारणैः अव्याहतैः स्वैरगतैः च तस्याः समाराधनतत्परः अभूत् ।

सारार्थ—सम्राट् वह दिलीप सुस्वादु घास के कौर खिलाकर, खुजलाकर, मच्छरों को उड़ाकर और (उसे) स्वेच्छापूर्वक बेरोक-टोक चलने देकर नन्दिनी की सम्यक् आराधना में तत्पर हो गया ।

तुलना—पद्मपुराण में प्रथमपद है—राजा । यह एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद (३।४३।५, ५।५४।७) इत्यादि और उसके अनन्तर के वाङ्मय में प्रायः उपलब्ध होता है । आरम्भिक भारत में सरकार का रूप सामान्यतः राजसत्तात्मक ही था । ऋग्वेदादि के अनेक स्थलों (द्र० १।४०।८, १।१०८।७, १०,४२।१०,१०।९७।६) पर यह शब्द राजगृह के विशिष्ट सदस्य अथवा उसके किसी भी विशिष्ट व्यक्ति का द्योतक प्रतीत होता है । स्वयं कालिदास ने भी रघुवंश में दिलीप को 'राजेन्दु' (१।१२), 'वसुधाधिपः' (१।३२), 'राजा राज्ञी च मागधी' (१।५७), 'राज्ञा' (१।७३), 'राजन्' (१।७८), 'महीक्षितः' (१।८५), 'राजन्' (१।८७), 'प्रजानामधिपः'(२।१), 'मनुष्येश्वर' (२।२), 'राजा' (२।३, २।६१) आदि का प्रयोग किया है । इस प्रकार कालिदास ने राजा तथा समाज की एकार्थकता के रूप में प्रयुक्त किया है । मनु के अनुसार 'राजा' शब्द केवल क्षत्रिय के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्यात् राज्ञो रक्षासमन्वितम् (मनु० २।३२) । अमरकोश के अनुसार 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः' । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट् (२।८।३) । रामाश्रमी टीका के अनुसार सार्वभौमविशेष को सम्राट् कहा गया है । कुछ लोगों के अनुसार—

(१) राजसूयकर्ता, (२) द्वादशराजमण्डलेश्वर तथा (३) सर्वभूपतियों का शासक, ये तीनों सम्राट् कहे जाते हैं। ऋग्वेद (३।५५।७), (३।५६।५, ४।२१।१, ६।२७।८, ८।१९।३२) तथा उसके अनन्तर राजा की अपेक्षा सम्राट् को शक्ति में बड़ा तथा श्रेष्ठ शासक माना गया है। शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।१३, १२।८।३।४, १४।१।३।८) में वाजपेय और राजसूय सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार सम्राट् को राजा की अपेक्षा उच्च और वाजपेय यज्ञ के द्वारा ही इस पद को अर्जित करने वाला कहा गया है। ऐसा होने पर भी वहाँ राजाओं के अधिराज के रूप में इस शब्द के प्रयोग का कोई चिह्न प्राप्त नहीं होता। किन्तु साथ ही साथ विदेह के जनक की भाँति महत्त्वपूर्ण राजाओं को ही सम्राट् के रूप में सम्बोधित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (११।३।१।१), बृहदारण्यकोप० (४।१।१) ऐतरेय ब्राह्मण में यह पूर्वी राजाओं की उपाधि के रूप में व्यवहृत हुआ है। उत्तर के राजाओं के लिए 'विराट्', दक्षिण के राजाओं के लिए 'स्वराट्' आदि शब्दों का प्रयोग मननीय है।

शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।३) के अनुसार राजसूय राजाओं का और वाजपेय सम्राटों का यज्ञ है। यहाँ साम्राज्य का स्तर राज्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। १२।८।३।४ में सिंहासन (आसन्दी) पर बैठने को 'सम्राटों' की एक विशिष्टता बताया गया है। अन्यत्र काठक संहिता (१४।५), मैत्रायणी संहिता (१।११।५) में 'स्वाराज्य' (अनियन्त्रित उपनिवेश) को राज्य के विपरीत बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ८।१२, ४।५) में राजन्य संस्कार के प्रसंग में इस प्रकार के शब्दों की एक तालिका प्रस्तुत कर दी गई है। यथा—राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य और माहाराज्य। अन्यत्र पंचविंश ब्राह्मण (१५।३।३५) में तथा छान्दोग्योप० (५।२।६) में सर्वोच्चशक्ति के लिए आधिपत्य शब्द प्राप्त होता है। किन्तु ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं कि ये शब्द अनिवार्यतः अधिकार अथवा शक्ति के विविध रूपों को अभिव्यक्त करते हैं। अन्य राजाओं का अधिपति हुए बिना भी किसी राजा को महाराज अथवा सम्राज् कहा जा सकता है। कारण यदि वह एक महत्त्वपूर्ण राजा है तो उसके लिए इन शब्दों का प्रयोग हो सकता है अथवा यदि उसके पार्षदों द्वारा प्रशंसात्मक आशय है तो भी इस प्रकार का प्रयोग हो सकता है जैसा कि विदेह के जनक के लिए किया गया है (शतपथ० ११।३।१।२)।

इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखकर विचार करने से प्रतीत होता है कि पद्मपुराण का राजा शब्द यथार्थता का सूचक है किसी बनावट या साहित्यिकता को सूचित नहीं करता। कालिदास द्वारा प्रयुक्त 'सम्राट्' शब्द विशेष उद्देश्य से किया गया है, फलतः वह कविता में निखार ला रहा है। यद्यपि अन्यत्र कालिदास द्वारा 'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वम्' द्वारा दिलीप को सम्राट् के रूप में चित्रित किया गया है, तथापि प्रकृत श्लोक के पूर्व उन्हें इस रूप में नहीं दिखाया गया है। प्रकृत श्लोक में अत्यन्त

निम्नकोटि का कार्य (जिसको करने के लिए ऐश्वर्य की कोई अपेक्षा नहीं है) डाँसों को भगाना, गाय को खुजलाना और घास तोड़-तोड़कर खिलाना राजाओं के द्वारा करणीय नहीं है। इसी निम्नत्व और सर्वोत्कृष्टत्व को दिखाने के लिए कवि ने राजा का प्रयोग न कर सम्राट् का प्रयोग किया है। २।५० में दिलीप के राज्य को महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः कहकर सर्वोत्कृष्टता दिखायी भी गई है। इस सबसे स्पष्ट विदित होता है कि पद्मपुराणगत श्लोकों का काव्यत्व रघुवंश की तुलना में परिष्कृत नहीं है।

द्वितीय पद है—पद्मपुराण का मृदुग्रासैः और रघुवंश का आस्वादवद्‌भिः तृणानां कवलैः। पद्मपुराण के 'मृदुग्रासैः' में सुस्पष्टता नहीं है—किसका ग्रास—अन्न का अथवा घास का। पर कालिदास के रघुवंश में सुस्पष्टता भी है और उससे भी आगे साहित्यिकता। विदिशा की ओर 'कौर' शब्द का ही प्रचार है, 'ग्रास' या 'गस्सा' का बिल्कुल नहीं। पूर्वी क्षेत्रों में 'गस्सा' भी चलता है। 'कवल' शब्द की व्युत्पत्ति सुस्पष्ट नहीं है। ग्रास की व्युत्पत्ति है—ग्रसु अदने से। 'कवल' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में भानुजिदीक्षित अपनी व्याख्यासुधा नामक अमरकोश की टीका में लिखते हैं, केन वलते—कम्पते इति 'कवल'—वह जो जल से काँपता है, हिलता है। व्युत्पत्ति की यह अनुपयुक्तता इस शब्द के गम्भीर इतिहास की ओर इंगित करती है। 'कवल' का अभिप्राय है, मुट्ठीभर। इसके अतिरिक्त रघुवंश में एक महत्त्वपूर्ण विशेषण है—आस्वादवद्‌भिः। इसमें स्वाद नहीं 'आस्वाद' आसमन्तात् स्वाद है। कालिदास ने ही प्रायः इस शब्द का अधिक प्रयोग किया है—चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः (कुमार० ३।३२), 'ज्ञातास्वादः' (मेघ० ४१) और रघुवंश का प्रकृत श्लोक।

यद्यपि 'कण्डूयनैः' पद, पद्मपुराण और रघुवंश में समान है तथापि दोनों ग्रंथों में क्रम की भिन्नता विचारणीय है। पद्मपुराण में दंशापनयन पहले तथा कण्डूयन उसके अनन्तर है। रघुवंश में इसके विपरीत ही कण्डूयन पहले और दंश-निवारण उसके अनन्तर दिया गया है।

अब प्रश्न यह होता है कि पहले खुजलाना होता है या पहले डाँस भगाना? यदि पहले खुजलाना हो तो दंश-निवारण अपने आप ही हो जाएगा, दंश-निवारण का हेतु खुजलाना हो जाएगा और तब दंश-निवारण पद की उपयोगिता ही नहीं रह जाती। अतः दंश-निवारणपूर्वक खुजलाना अधिक संगत मालूम पड़ता है। डाँसों के काटकर उड़ जाने के अनन्तर ही खुजली मालूम भी पड़ती है। इसके अतिरिक्त रघुवंश में 'दंशनिवारणैः' में बहुवचनान्त प्रयोग है और पद्मपुराण में 'दंशापनयनेन' एकवचनान्त। इन दोनों में बहुवचनान्त प्रयोग ही युक्तिसंगत जँचता है। बारम्बार डाँस उड़ाकर बारम्बार खुजलाना युक्तियुक्त है, न कि एक बार डाँस उड़ाकर बार-बार खुजलाना। डाँसों की अपसारणरूप क्रिया के एक ही बार किए जाने से डाँसों की

अल्पता का बोध होता है। यहाँ तक पद्मपुराण और रघुवंश में सम्पूर्ण पद प्रायः समानार्थक मिले। विशेषणों में कोई अन्तर नहीं था। इसके आगे रघुवंश में एक विशेषण सहित ऐसा पद आता है जो पद्मपुराण में नहीं है। वह है—'अव्याहतैः स्वैरगतैः'। यहाँ 'गत' शब्द भाव में क्त प्रत्यय होने के कारण संज्ञावाचक है। फलतः उसका अर्थ हुआ 'गमन'। अव्याहत-बेरोक-टोक, स्वैर-स्वच्छन्द, गत-गमन। राजा दिलीप नन्दिनी के मार्ग में होनेवाली समस्त बाधाओं को हटाता जाता था तथा नन्दिनी को अपने मनोऽनुकूल दिशा में नहीं हाँकता था, जिस प्रकार आज के चरवाहे हाँका करते हैं। कालिदास ने यह नवीन विशेषणपद रखकर दिलीप की नन्दिनी के प्रति पशुत्व-बुद्धिविहीनतापूर्वक उसमें देवत्व की प्रतिष्ठापना की है। नन्दिनी में की गई यह देवत्व की प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण व्यक्त होती है सिंह-दिलीप संवाद के अवसर पर। वहाँ दिलीप नन्दिनी के स्थान पर अन्य करोड़ों गायें देकर गुरु को सन्तुष्ट करने में असामर्थ्य दिखाता है। प्रथम सर्ग में वशिष्ठ ने उससे ऐसा कहा भी था। यह सब होने पर भी नन्दिनी ने प्रसन्न होकर जो बात दिलीप से कही उससे व्यक्त होता है कि दिलीप की नन्दिनी के प्रति पूर्णरूपेण असामान्य गौ की बुद्धि नहीं थी।

द्वितीय सर्ग के प्रथम श्लोक में कालिदास ने धेनु का सम्बन्ध ऋषि से बताया था, पद्मपुराण में केवल नन्दिनी का प्रयोग है। उसका सम्बन्ध किसी से नहीं दिखाया गया है। किन्तु इस चतुर्थ श्लोक में 'गुरोः कामधेनुम्,' कहा गया है। कालिदास ने इस स्थान पर 'तस्याः समाराधनतत्परः' कहकर 'तत्' शब्द से प्रथम श्लोक के संबंध को द्योतित कर दिया है।

दोनों ग्रंथों के समानार्थक पदों पर विवेचना करने से कुछ बारीकी का पता लगता है : कालिदास—तस्याः समाराधनतत्परोऽभूत्, पद्मपुराण—गुरोः कामधेनुम् एवं असेवत। यहाँ कालिदास समास-बहुल शैली का आश्रय लेते हैं। पद्मपुराण अपनी सीधी-सीधी बात कहता है। पद्मपुराण का 'एवं' शब्द अत्यन्त स्वाभाविकता को व्यक्त कर रहा है। यह शब्द यहाँ बहुत ही आवश्यक है, पर कालिदास ने इसका प्रयोग नहीं किया। सेवा और समाराधन में अन्तर है। आराधना देवता की होती है, माता-पिता की नहीं, किन्तु सेवा, माता-पिता, गुरु, स्वामी आदि की होती है, समाराधना नहीं। आराधना करनेवाला अपने आराध्य की शक्तिशालिता पर सुविश्वस्त होकर अपने को पूर्णतया उसके ऊपर छोड़ देता है, इसके बाद उसके रक्षण की बात ही नहीं उठती है। किन्तु सेवा करनेवाला अपने सेव्य की प्रत्येक गति-विधि में सहयोग देता है, सहारा देता है। नन्दिनी की की गई सेवा ही दिलीप को फलित हुई, आराधना नहीं। लोक में भी 'सेवा करने से मेवा मिलता है' लोकोक्ति प्रचलित है। 'येषामाराधनाय' (उत्तररामचरित), 'आराधनाय लोकानाम्' (उत्तरराम० १।१२।४), 'आराधनायास्य सखीसमेताम्' (कुमार० १।५५, भागवत० ७।२२) तथा 'कृतमाराधनं' (महाभारत) के अनुसार, आराधना का सेवा अर्थ नहीं हो पाता।

आराधन और सेवा में भेद करने के लिए दोनों के बीच में एक लम्बी रेखा खिंची हुई है। आराधना करनेवाला अपने आराध्य को प्रत्यक्षरूपेण अपनी सेवाएँ नहीं दे पाता किन्तु सेवा बिना प्रत्यक्ष के होती ही नहीं। अतः यह पूर्णरूपेण कहा जा सकता है कि सेवा शारीरिक है और आराधना मानसिक। शारीरिक सेवा के अर्थ में कालिदास ने यह नवीन प्रयोग किया है। इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है महाभारत का वनपर्व— आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना (१८८।७)।

'तत्पर' शब्द प्रायः समस्त पद में आता है। कालिदास ने इसका अनेकत्र प्रयोग किया है - (रघु० १।६६), मेघदूत (१०)। कालिदास के अतिरिक्त मनुस्मृति ३।२६२ और याज्ञवल्क्यस्मृति (१।८३) में भी इसका प्रयोग हुआ है। अमरकोश 'तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थो०' में असमस्त 'तत्पर' शब्द के असमस्त होने का कारण है।'तत्पर' शब्द समस्त वाक्य में अपने पूर्ववर्ती पद के साथ सम्बद्ध होकर अर्थ देने लगता है। अतः उसे पर्यायवाचक शब्दों के साथ समस्त नहीं किया गया।

कालिदास के इस तस्याः समाराधनतत्परः में समासदोष भी है। तस्याः नन्दिनी के पद का अन्वय 'समाराधन' के साथ है न कि दिलीप के साथ। समाराधन-तत्परः दिलीप का विशेषण है। इस विशेषण के एकदेश 'समाराधन' में अन्वय असमर्थ है (द्रष्टव्य 'समर्थः पदविधिः' आदि)। 'देवदत्तस्य गुरुकुलं' में भी यद्यपि एक देशी अन्वय मानने की बात उठती है तथापि गुरुकुल शब्द तथा गुरु का कुल के साथ अन्वय होने से कोई दोष नहीं है। "शिवस्य भागवते" पद वस्तुतः असमर्थ समास का उदाहरण है। महाभाष्य आदि में इसका प्रयोग ढूंढ़कर अङ्क दीजिए अन्यथा इसे वैयाकरणों का बुद्धिकौशलमात्र माना जाएगा। पद-लालित्य के चक्कर में पड़कर कालिदास ने भाषादोष को मोल ले लिया। पद्मपुराण में मस्तिष्क पर बिना जोर दिए, बिना सोचे-विचारे स्वाभाविकरूप से लिखा गया है। "गुरोः कामधेनुम् एवं असेवत" पौराणिक ग्रंथ होने के कारण अद्यतन भूत की 'असेवत' क्रिया उपयुक्त ही है।

महाकवि कालिदास पर वैदिक प्रभाव

डॉ० मानसिंह

शिमला

Kālidāsa, with a deep faith in the *Veda,* had good knowledge of its *karmakāṇḍa,* religion and mythology. Some of the plots and characters of his works had their source in the *Veda.* The *Chāndasa* impact may be seen in some of his descriptions and usages of words.

कविकुलगुरु कालिदास की वेदों तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति गहन आस्था थी। उन्होंने वेदों का उल्लेख 'वेद'[१], 'श्रुत'[२], 'श्रुति'[३], 'त्रयी'[४], 'छन्दस्'[५], 'ब्रह्म'[६] तथा 'आप्तवाक्'[७] शब्दों से किया है। यही नहीं, उन्होंने वेदपाठ तथा वेदाध्ययन का भी उल्लेख किया है।[८] वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले तथा श्रुतिप्रतिपादित यज्ञयागों का सम्पादन करने वाले श्रोत्रिय व्यक्तियों का भी उल्लेख उन्होंने किया है।[९] उनके द्वारा प्रयुक्त 'वेदान्त'[१०] तथा 'अध्यात्मविद्या'[११] शब्द उपनिषदों के परामर्शक हैं। साथ ही उन्होंने आगमों[१२] तथा शास्त्रों[१३] का भी उल्लेख किया है। मन्त्रों में महाकवि कालिदास ने ऋक्[१४] तथा साम[१५] का उल्लेख किया है, जिससे ऋग्वेद तथा सामवेद का भी परामर्श हो जाता है। अथर्ववेद का तो नामतः संकेत किया गया है।[१६] श्रौत यज्ञयागों के वर्णन तथा 'अध्वर्यु'[१७] शब्द के प्रयोग से यजुर्वेद का भी ग्रहण हो जाता है। यही नहीं, वेदाङ्गों का भी संकेत किया गया है।[१८] उन्होंने सामान्यतः वैदिक मन्त्रों का संकेत 'मन्त्र' शब्द से किया है।[१९] मन्त्रविशेषों में उन्होंने प्रसिद्ध ब्रह्म अथवा गायत्री[२०] का उल्लेख किया है, जो गायत्री छन्द में उपनिबद्ध होने से गायत्री नाम से अभिहित होता है। मूढ़मति ब्राह्मण के लिए भी कम से कम इस सवितृमन्त्र का उपदेश आवश्यक माना जाता था।[२१] अथर्ववेद[२२] में इसे 'वेदमाता' कहा गया है और इसे स्तुति करने वाले को लम्बी आयु, यश, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्मवर्चस्व आदि प्रदान करने वाली माना गया है। तैत्तिरीयारण्यक[२३] में भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों को वाणी का सत्य (सार) तथा गायत्री में सविता के अर्थ को श्री अथवा महत्ता उत्पन्न करने वाला माना गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद्[२४], **आपस्तम्ब-धर्मसूत्र**[२५], **विष्णु-धर्मसूत्र**[२६], **मनु-स्मृति**[२७], **शंख-स्मृति**[२८], **बृहत्पराशर**[२९] आदि ग्रन्थों में गायत्री की महिमा का गान किया गया है। पराशर इसे 'वेदमाता' मानते हैं।[३०] **बौधायन-धर्मसूत्र**[३१], **वशिष्ठ-धर्मसूत्र**[३२], **मनु-स्मृति**[३३] तथा **शंख-स्मृति**[३४] के अनुसार गायत्री का जप शुचिता प्रदान करने वाला है। कालिदास के समय गायत्री का महत्त्व इस प्रकार परम्परानुमोदित है। इस मन्त्र का उपदेश उपनयन के समय किया जाता था। शतपथ-ब्राह्मण से विदित होता है कि उपनयन के एक वर्ष, छह मास, चौबीस, बारह अथवा तीन दिन के पश्चात् आचार्य ब्रह्मचारी को गायत्री मन्त्र का उपदेश करता था; किन्तु ब्राह्मण ब्रह्मचारियों को इसका उपदेश तुरन्त कर दिया जाता था। **शांखायन-गृह्यसूत्र**[३५], **मानव-गृह्यसूत्र**[३६], **भारद्वाज-गृह्यसूत्र**[३७] तथा **पारस्कर-गृह्यसूत्र**[३८] में भी यही विधान है; किन्तु सामान्यतः इसका उपदेश उपनयन के दिन ही होता रहा है। कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मणों के लिए यह सावित्री मन्त्र गायत्री छन्द (प्रत्येक अष्टाक्षर पाद वाले) में, और क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए त्रिष्टुप् (प्रत्येक एकादशाक्षर पाद वाले) अथवा जगती (प्रत्येक द्वादशाक्षर पाद वाले) छन्द में होना चाहिए। इस प्रसंग में भी कुछ अन्तर रखा गया है, जैसे **काठक-गृह्यसूत्र**[३९] के भाष्यकारों के अनुसार 'अदब्धेभिः सविता'[४०] तथा 'विश्वा रूपाणि'[४१] आदि मन्त्र क्रमशः क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए हैं। **शांखायन गृह्यसूत्र**[४२] के टीकाकार के अनुसार 'आ कृष्णेन रजसा'[४३] आदि त्रिष्टुप् मन्त्र क्षत्रिय के लिए और 'हिरण्यपाणिः सविता'[४४] अथवा 'हंसः शुचिषद्'[४५] आदि जगती छन्द में उपनिबद्ध मन्त्र वैश्य के लिए हैं। **वाराह-गृह्यसूत्र**[४६] के अनुसार 'आ देवो यातु सविता'[४६क] तथा 'युञ्जते मनः'[४७] आदि क्रमशः त्रिष्टुप् तथा जगती छन्द में उपनिबद्ध मन्त्र क्रमशः क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए हैं। **पारस्कर-गृह्यसूत्र**[४८] के अनुसार सभी वर्ग गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र को क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् अथवा जगती छन्द में पढ़ सकते हैं। महाकवि कालिदास ने प्रणव अथवा ओङ्कार का भी उल्लेख किया है।[४९] ओङ्कार प्राचीन काल ही से परम पवित्र तथा परमात्मा का प्रतीक माना जाता रहा है।[५०] **तैत्तिरीय-ब्राह्मण**[५१] में ओङ्कार की स्तुति प्राप्त होती है, जिसमें ऋग्वेद का 'ऋचो अक्षरे परमे'[५२] आदि मन्त्र उद्धृत करके 'अक्षर' का अर्थ ओङ्कार किया गया है। **तैत्तिरीयोपनिषद्** के अनुसार 'ओम्' ब्रह्म है, ओम् यह सब है।[५३] **आपस्तम्ब** के मत में ओङ्कार स्वर्ग का द्वार है, अतः वेदाध्ययन करने वाले व्यक्ति को प्रथम 'ओम्' का उच्चारण करना चाहिए।[५४] **कठोपनिषद्** में भी 'ओम्' को वेदत्रयी का अन्त (परिणाम), ब्रह्मज्ञान का उद्गम तथा ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।[५५] इसी प्रकार मनु तथा उनके टीकाकार मेधातिथि ने भी प्रणव अथवा ओङ्कार के उच्चारण पर बल दिया है।[५६] **मार्कण्डेय-पुराण**[५७], **वायुपुराण**[५८], **वृद्धहारीत-स्मृति**[५९] प्रभृति ग्रन्थों में प्रणव के तीन अक्षरों को विष्णु, लक्ष्मी तथा जीव, वेदत्रयी, लोकत्रय आदि विभिन्न वस्तुओं से तदात्म माना गया

है। अतः कालिदास द्वारा वेदों के सर्वप्रमुख पद के रूप में प्रणव का उल्लेख सर्वथा उचित ही है। कालिदास ने अपने काव्यों में वैदिक स्वरों का भी संकेत किया है।[६०] ये वैदिक स्वर हैं उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित।[६१]

कविताकामिनीविलास कालिदास के कुमारसम्भव तथा विक्रमोर्वशीय की वस्तु का मूल स्रोत वैदिक है। उनके कुमारसम्भव में शिव-पार्वती के विवाह तथा तत्फलस्वरूप तारकासुर के हन्ता कुमार अर्थात् कार्त्तिकेय के जन्म का वर्णन है। अरुणगिरिनाथ तथा नारायण इस काव्य को अष्टम सर्ग तक ही पूर्ण मानते हैं। नारायण के अनुसार अष्टम सर्ग में सम्भोगवर्णन से कुमारोत्पत्ति का बिन्दूपक्षेप हो जाता है।[६२] मल्लिनाथ तथा दक्षिणावर्त ने अष्टम सर्ग तक ही टीका की है; नवम से सप्तदश सर्ग के अंश पर एक अर्वाचीन टीकाकार सीताराम (वि० १८७९, तदनुसार १८३३ ई०) की ही टीका प्राप्त होती है। अतः प्रायः विद्वान् अष्टम सर्ग तक के भाग ही को कालिदासकृत मानते हैं।[६३] कुमार के जन्म की कथा सर्वप्रथम शतपथ[६४] तथा शांखायन अथवा कौषीतकि[६५] ब्राह्मणों में आती है; तत्पश्चात् रामायण[६६] तथा महाभारत[६७]; और बाद में स्कन्दपुराण[६८], वायुपुराण[६९], ब्रह्मपुराण[७०], ब्रह्माण्डपुराण[७१], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[७२], ब्रह्मवैवर्तपुराण[७३], वामनपुराण[७४], बृहद्धर्मोत्तरपुराण[७५], वाराहपुराण[७६], मत्स्यपुराण[७७] तथा शिवपुराण[७८] में।[७९] शिव-पार्वती का विवाह रामायण[८०], ब्रह्मपुराण[८१], बृहद्धर्मोत्तरपुराण[८२], स्कन्दपुराण[८३], शिवपुराण[८४] आदि ग्रन्थों में वर्णित है। इनमें कुमारसम्भव की कथा शिवपुराण से सर्वाधिक मेल खाती है। उनमें भावसाम्य के अतिरिक्त अभिव्यक्ति एवं भाषा का साम्य भी मिलता है, तथापि शिवपुराण के रचनाकाल का अनिश्चय होने के कारण उसे कालिदास का उपजीव्य कह सकना कठिन है। सम्भवतः स्वयं शिवपुराण कालिदास के इस महाकाव्य से प्रभावित है। उदाहरणार्थ कुमारसम्भव (५.३)[८५] में मेना अपनी पुत्री पार्वती को तप के लिए समुद्यत सुनकर उन्हें छाती से लगाकर महान् मुनिव्रत से निवारित करने का प्रयास करती हैं। कालिदास यहाँ मेना के मुख से 'उमा' शब्द का प्रयोग नहीं करा पाते। शिवपुराण के लेखक को यह महाकवि का प्रमाद प्रतीत हुआ; अतः उसने उनके मुख से 'उमा' पद का व्यवहार करा दिया। अतएव सम्भवतः शिवपुराण कालिदासरचित कुमारसम्भव से प्रभावित है। शतपथ-ब्राह्मण में दी गई कथा के अनुसार ऋतुरूप भूतों के पति (भूतपति) संवत्सर तथा उनकी पत्नी ओषसी (उषा की पुत्री) से एक कुमार का जन्म हुआ। उस कुमार ने रुदन किया। प्रजापति ने उससे कहा -"कुमार! तुम क्यों रुदन कर रहे हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म श्रम तथा तपस्या के बाद हुआ है?" उसने कहा—"मेरा पाप अभी अपहत नहीं हुआ है, मुझे एक नाम दो।" प्रजापति ने उसे 'रुद्र' नाम दिया और वह अग्निरूप हुआ। बाद में भी सात बार असत् से ज्यायान् होने के कारण अन्य नाम के लिए आग्रह करने पर प्रजापति ने उसे शर्व, पशुपति,

उग्र, अशनि, भव, महान्देव (महादेव) तथा ईशान ये सात नाम और प्रदान किए और क्रमशः जल, ओषधियाँ, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा तथा आदित्य ये सात उसके अन्य रूप हुए। 'ईशान' नाम प्राप्त करने के बाद कुमार ने प्रजापति से कहा—"मैं बस इतना ही हूँ; मुझे अब और नाम मत दो।" ये ही आठ अग्नि के रूप हैं, कुमार उसका नवम रूप है। मनुष्य अग्नि को कुमार के रूप में नहीं प्रत्युत उनके इन रूपों ही को देखते हैं, क्योंकि वह (कुमार) इन रूपों में प्रविष्ट हो गया। यही कथा शांखायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण में भी प्राप्त होती है। लगभग यही कथा ब्रह्माण्डपुराण[८६] में भी मिलती है। कालिदास के कुमारसम्भव की कथा यद्यपि शतपथ तथा शांखायन ब्राह्मणों में आई कुमारोत्पत्ति की कथा से भिन्न है तथापि उसके मूल संकेत उसमें खोजे जा सकते हैं। इन ब्राह्मणों के अनुसार कुमार अग्नि है। अग्नि के लिए 'कुमार' शब्द ऋग्वेद[८७] में भी आया है। कुमार से रुद्र का विकास परवर्ती कथा के अनुसार पुत्र से पिता का विकास होगा। यह बात काल रूप रुद्र के वैदिक रूप से मेल खाती है।[८८] ब्राह्मणों में संवत्सर को भूतपति माना गया है और कालिदास ने भी शिव के लिए 'भूतनाथ' तथा 'भूतेश्वर' अभिधानों का प्रयोग किया है।[८९]

महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय का प्रतिपाद्य पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रणयकथा है। यह कथा प्राचीन रूप में ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण और शौनकीय वृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी में प्राप्त होती है। ऋग्वेद (१०।९५) के अनुसार उर्वशी नाम्नी अप्सरा कुछ शर्तों पर चार वर्ष तक पुरूरवा की पत्नी के रूप में पृथिवी पर रहती है। आपन्नसत्त्वा होने पर वह अदृश्य हो जाती है। अन्वेषण करने पर वह उसे एक जलाशय में अन्य अप्सराओं सहित विचरण करती हुई मिलती है। पुरूरवा उसे लौट जाने को कहता है; किन्तु वह नहीं मानती और अन्त में कहती है कि तुम्हें स्वर्ग में मेरा साहचर्य उपलब्ध होगा, जबकि तुम्हारी प्रजा हविः प्रदान कर देवों का यजन करेगी।[९०] इस प्रकार ऋग्वेद में इस प्रणयकथा का अवसान दुःखमय होता है। शतपथ-ब्राह्मण में यह कथा कुछ विस्तरेण दी गई है। उर्वशी कुछ शर्तों पर पुरूरवा को पतिरूप में ग्रहण कर लेती है, पहली यह कि मेरे दोनों मेढ़े हर समय मेरे शयनागार में बँधे रहें और दूसरी यह कि तुम नग्नावस्था में कभी मेरे सामने न आओ। वह उसके साथ कुछ कालपर्यन्त रही। कुछ समय बाद गर्भवती हो गई। उधर उर्वशी के चले जाने से स्वर्ग सूना लगने लगा। अतः उसे वापस लाने के लिए गन्धर्वों ने एक युक्ति सोची। एक रात उन्होंने उसके मेढ़े चुरा लिए और उन्हें मारना शुरू कर दिया। उर्वशी उनकी चिल्लाहट सुनकर रक्षाहेतु पुकारने लगी। राजा नग्नावस्था ही में शीघ्र उनकी रक्षार्थ दौड़ पड़ा। राजा पर उर्वशी की नजर पड़ जाए इसलिए गन्धर्वों ने विद्युत् का प्रकाश कर दिया। उर्वशी राजा को नग्नावस्था में देख शर्त टूट जाने के कारण तत्काल उसे छोड़कर स्वर्ग चली गई। राजा उसे खोजता-खोजता

कुरुक्षेत्र आता है, जहाँ वह उसे अपनी सखियों सहित एक जलाशय में हंसिनी के रूप में विचरण करती हुई मिलती है। पुरूरवा उसे वापस चलने के लिए बहुत अनुनय-विनय करता है। अन्त में दयावश वह वर्ष के अन्त में एक रात-भर उसके साथ रहने की प्रतिज्ञा करती है। अन्त में गन्धर्वों को सन्तुष्ट कर पुरूरवा उनके कथनानुसार यज्ञीय अग्नि में यज्ञ करता है[९१] और गन्धर्वत्व प्राप्त करता है। इस प्रकार अपनी प्रिया से उसका स्थायी मिलन हुआ। इससे कुछ भिन्न रूप में यह कथा शौनकीय बृहद्देवता में उपलब्ध होती है। उसके अनुसार इन्द्र पुरूरवा तथा उर्वशी के अनुराग से जात ईर्ष्या से प्रेरित होकर अपने वज्र को उन्हें वियुक्त करने का आदेश देते हैं। वियुक्त हो पुरूरवा विलाप करता है। वह अपनी प्रिया को खोजता-खोजता एक जलाशय में उसे अपनी पाँच सखियों सहित विहार करते हुए पाता है और उससे वापस चलने के लिए अनुनय-विनय करता है; किन्तु वह उसे कहती है कि पृथिवी पर मेरी उपलब्धि असम्भव है, मैं तुम्हारे साथ स्वर्ग ही में रह सकती हूँ।[९२] ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी के अनुसार उर्वशी मित्रावरुणा के शापवश पृथिवी पर पुरूरवा के साथ कुछ शर्तों पर रहने के लिए विवश होती है।[९३] इसके अतिरिक्त पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रणय-कथा **रामायण**[९४], **हरिवंश**[९५], **मत्स्यपुराण**[९६], **पद्मपुराण**[९७], **ब्रह्मपुराण**[९८], **विष्णुपुराण**[९९], **भागवतपुराण**[१००], **देवीभागवत**[१०१] तथा **कथासरित्सागर**[१०२] में भी मिलती है।[१०३] सम्भवतः कालिदास रामायण से अधिक प्रभावित हैं[१०४], जिसके अनुसार उर्वशी मित्र के शापवश प्रतिष्ठान के राजर्षि पुरूरवा के साथ पृथिवी पर रहती है और आयुः नामक पुत्र को जन्म देती है; शापावधि की समाप्ति पर वह स्वर्ग लौट जाती है।[१०५] 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक के समय भरतमुनि का उर्वशी को शाप, पुरूरवा द्वारा सूर्योपस्थान तथा उर्वशी एवं उसकी सखी चित्रलेखा की दैत्य केशी से रक्षा, पुरूरवा के प्रणय की परीक्षाहेतु उर्वशी का लतारूपधारण, मिलनहेतु संगमनीय मणि, उर्वशी द्वारा अपने पुत्र आयुः को आश्रम में रखा जाना, गरुड़ तथा आयुः द्वारा उसका वध आदि महाकवि कालिदास की अपनी उद्भावनाएँ हैं।

कालिदास ने अपने काव्यों में इन्द्र, अग्नि[१०६], वरुण[१०७], सूर्य[१०८], यम[१०९], त्वष्टा[११०], द्यावा-पृथिवी[१११], रुद्र[११२], मरुत्[११३], विष्णु तथा प्रजापति[११४] इन वैदिक देवों और शची[११५], सरस्वती[११६], अदिति[११७], पृथिवी[११८] तथा अग्निपत्नी स्वाहा[११९] इन वैदिक देवियों का उल्लेख किया है। पौराणिक देवों में ब्रह्मा[१२०], विष्णु, शिव और उनका त्रिमूर्ति रूप[१२१], कुबेर[१२२], स्कन्द[१२३], शेष[१२४], जयन्त[१२५], मदन[१२६] तथा लोकपाल[१२७] और देवियों में सप्तमातृकाएँ[१२८], अम्बिका[१२९], गंगा, यमुना[१३०] तथा लक्ष्मी[१३१] वर्णित हैं। महाकवि कालिदास ने इन्द्र के लिए आखण्डल[१३२], इन्द्र[१३३], गोत्रभिद्[१३४], दिवस्पति[१३५], देवेन्द्र[१३६], पाकशासन[१३७], पुरन्दर[१३८], पुरुहूत[१३९], बलभिद्[१४०],

बलनिषूदन[१४१], मघवत्[१४२], मरुत्वत्[१४३], महेन्द्र[१४४], मातलिसारथि[१४५], वज्रधर[१४६], वज्रिन्[१४७], वज्रपाणि[१४८], बिडौजा:[१४९], वासव[१५०], वृत्रहन्ता[१५१], वृत्रहन्[१५२], वृत्रशत्रु[१५३], वृषन्[१५४], शक्र[१५५], शचीसख[१५६], शतक्रतु[१५७], शतमख[१५८], सहस्रलोचन[१५९], सहस्राक्ष[१६०], सुरपति[१६१], सुरेन्द्र[१६२], सुरेश्वर[१६३] तथा हरि[१६४] इन अभिधानों का प्रयोग किया है, जिनमें दिवस्पति, देवेन्द्र, महेन्द्र, मातलिसारथि, बिडौजा:, शतमख, सहस्रलोचन, सहस्राक्ष, सुरपति, सुरेन्द्र, सुरेश्वर तथा हरि को छोड़ शेष वैदिक हैं। कालिदास ने इन्द्र के पर्वतपक्षच्छेदन[१६५], जो वस्तुतः मेघों का विदारण ही है[१६६], और अहल्याकामुकत्व[१६७] का भी उल्लेख किया है। उनके आयुध वज्र[१६८], पत्नी शची, पुत्र जयन्त तथा सारथि मातलि[१६९] का भी वर्णन आया है। इनमें इन्द्र के वज्र का वैदिक साहित्य में बहुत्र उल्लेख है। इन्द्रपत्नी का उल्लेख ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण आदि में आता है।[१७०] शची पौलोमी ऋग्वेद (१०।१५९) की ऋषिका भी हैं। इन्द्र स्वयं एक ऋषि के रूप में भी ऋग्वेद में आते हैं।[१७१] इन्द्रशत्रुओं में कालिदास ने नमुचि[१७२], वृत्र[१७३] तथा बल[१७४] का उल्लेख किया है। पौराणिक काल में इन्द्र अपनी वैदिक महिमा खो बैठे हैं। विष्णु के लिए कालिदास ने आद्य पुमान्[१७५], जगद्गुरु[१७६], त्रिविक्रम[१७७], नारायण[१७८], पद्मनाभ[१७९], परमात्मा[१८०], परमेष्ठिन्[१८१], पुण्डरीकाक्ष[१८२], पुरुष[१८३], पुरुषोत्तम[१८४], मधुमत्[१८५], महावराह[१८६], वामन[१८७], विष्णु[१८८], विष्वक्सेन[१८९], शार्ङ्गपाणि[१९०], शार्ङ्गिन्[१९१], हरि[१९२], हिरण्याक्षरिपु[१९३], अच्युत[१९४], पुराण[१९५], कवि[१९६], चक्रधर[१९७], भगवान्[१९८] आदि अभिधानों का प्रयोग किया है, जिनमें विष्णु, त्रिविक्रम तथा वामन ही शुद्ध वैदिक हैं। वेद में विष्णु अग्नि तथा इन्द्र की अपेक्षा गौण देव हैं; किन्तु पौराणिक काल तक आते-आते वे अतीव प्रमुख बन जाते हैं। कालिदास द्वारा यम के लिए वैवस्वत अभिधान का प्रयोग[१९९] वैदिक धारणा के अनुकूल है, क्योंकि यम विवस्वान् के पुत्र हैं और पैतृक नाम वैवस्वत से पुकारे गए हैं।[२००] जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है, उनका विकास वैदिक रुद्र से हुआ है। महाकवि कालिदास शिव के लिए अयुग्मलोचन[२०१], अष्टमूर्ति[२०२], इन्दुमौलि[२०३], इन्दुशेखर[२०४], ईश्वर[२०५], कृत्तिवासा:[२०६], गिरिश[२०७], गिरीश[२०८], चन्द्रमौलि[२०९], चन्द्रशेखर[२१०], शशिमौलि[२११], त्रिनयन[२१२], त्रिनेत्र[२१३], त्र्यम्बक[२१४], नीलकण्ठ[२१५], नीललोहित[२१६], पशुपति[२१७], पिनाकिन्[२१८], पिनाकपाणि[२१९], पुंगवकेतु[२२०], पुरारि[२२१], पुरुष[२२२], भव[२२३], भूतनाथ[२२४], महाकाल[२२५], महेश्वर[२२६], विश्वमूर्ति[२२७], विश्वात्मन्[२२८], विरूपाक्ष[२२९], वृषध्वज[२३०], वृषराजकेतन[२३१], वृषाङ्क[२३२], रुद्र[२३३], शर्व[२३४], शङ्कर[२३५], शम्भु[२३६], शिव[२३७], शितिकण्ठ[२३८], शूलभृत्[२३९], शूलिन्[२४०], स्थाणु[२४१] स्मरशासन[२४२], हर[२४३], परमेश्वर[२४४], भूतेश्वर[२४५] आदि अभिधानों का प्रयोग

करते हैं। इनमें त्र्यम्बक का ऋग्वेद[२४६], वाजसनेयिसंहिता[२४७], तैत्तिरीयसंहिता[२४८], मैत्रायणीसंहिता[२४९] तथा अथर्ववेद[२५०] में; रुद्र का ऋग्वेद[२५१], सामवेद[२५२], वाजसनेयिसंहिता[२५३] तथा अथर्ववेद[२५४] में; और कृत्तिवासाः[२५५], गिरिश, नीलग्रीव, विश्वरूप, पशुपति, शितिकण्ठ, शम्भु, शङ्कर, शिव, नीललोहित तथा शर्व[२५६] का वाजसनेयिसंहिता में प्रयोग हुआ है। शिव के पिनाकित्व के संकेत ऋग्वेद[२५७] तथा वाजसनेयिसंहिता[२५८] में हैं। अथर्ववेद में शर्व, भव[२५९], भूतपति तथा पशुपति[२६०]; और शतपथ ब्राह्मण[२६१] तथा शांखायन-ब्राह्मण[२६२] में शर्व, पशुपति, महादेव तथा ईशान का प्रयोग है। अतः कालिदास द्वारा प्रयुक्त अनेक अभिधान वैदिक हैं। उन्होंने शिव की ब्रह्मरूप में स्तुति की है।[२६३] उनके द्वारा विक्रमोर्वशीय में शिव-वर्णन ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त (१०।९०) के पुरुष-वर्णन का स्मरण कराता है।[२६४] इसी प्रकार का वर्णन उन्होंने विष्णु[२६५] तथा ब्रह्मा[२६६] का भी किया है। कालिदास कुमारसम्भव में इन तीनों की अभिन्नता सिद्ध करते हैं।[२६७] उन्होंने वरुण को असतों का नियामक माना है[२६८], जो वरुण के वैदिक स्वरूप से मेल खाता है।[२६९] उनका सूर्य का 'हरित्' नामक अश्वों से युक्त रथ वाला होने का वर्णन[२७०] भी वेदसम्मत है।[२७१] देवियों में लक्ष्मी सम्भवतः शतपथ-ब्राह्मण[२७२] की देवी श्री से विकसित हैं। अम्बिका वाजसनेयिसंहिता में रुद्र की स्वसा हैं[२७३], जबकि बाद में वे उनकी पत्नी का रूप ले लेती हैं। उमा का प्राचीनतम उल्लेख केनोपनिषद् में उमा हैमवती के रूप में हुआ है[२७४], जिससे उमा पार्वती का विकास हुआ होगा। इस प्रकार कालिदास के काव्यों में उल्लिखित देवताओं का स्वरूप ऐतिहासिक विकासक्रम में वेदों से दूर होते हुए भी किन्हीं अंशों में वैदिक मूल सँजोए है।

कालिदास ने अपने काव्यों में गन्धर्वों[२७५], यक्षों[२७६], किन्नरों (किंपुरुषों)[२७७], विद्याधरों[२७८], सिद्धों[२७९], पुण्यजनों[२८०] तथा पितरों[२८१] आदि अर्द्धदिव्य जातियों का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अप्सराओं का भी वर्णन है।[२८२] इनमें से कुछ का उल्लेख एवं वर्णन वैदिक साहित्य में भी हुआ है।[२८३]

कालिदास ने ऋषियों का भी उल्लेख किंवा वर्णन किया है। ऋषि ध्यान से सब कुछ जान लेते हैं; तपः प्रभाव से उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष रहता है; वे मन्त्रकृत् हैं।[२८४] महाकवि कालिदास ने उनकी प्रदक्षिणा करने का भी संकेत किया है।[२८५] उन्होंने सप्तर्षियों[२८६], अगस्त्य[२८७], अङ्गिरस्[२८८], अत्रि[२८९], ऋष्यशृङ्ग[२९०], कण्व[२९१], विश्वामित्र[२९२], कुशिक[२९३], च्यवन[२९४], दीर्घतपाः गौतम[२९५], नारायण[२९६], भृगु[२९७], त्रिशंकु[२९८], मारीच[२९९], मार्कण्डेय[३००], वसिष्ठ[३०१], कश्यप[३०२] तथा वालखिल्यों[३०३] का उल्लेख किया है। सप्तर्षियों

का उल्लेख वेद में आया है।[३०४] शतपथ-ब्राह्मण में भी उनका उल्लेख है[३०५] और उनके नाम दिए गए हैं—गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप तथा अत्रि।[३०६] अगस्त्य का उल्लेख अथर्ववेद[३०७] की ऋषियों की सूची में आता है। 'अङ्गिरस्' शब्द ऋग्वेद में लगभग ६० बार आया है, जिनमें से दो-तिहाई बार इस शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है। वे स्वर्ग के सूनु[३०८] तथा देवपुत्र ऋषि[३०९] हैं। अत्रि भी प्राचीन ऋषियों में से हैं, जो पाञ्चजन्य ऋषि कहे गए हैं।[३१०] ऋग्वेद के समग्र पञ्चम मण्डल को अत्रिकुलोत्पन्न ऋषियों से सम्बद्ध किया जाता है। इसी प्रकार सप्तर्षियों में अन्य गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वसिष्ठ तथा कश्यप प्रमुख वैदिक ऋषि हैं। ऋग्वेद का चतुर्थ मण्डल प्रायः गोतमों से सम्बद्ध है, इसका १८वाँ सूक्त गोतमपुत्र वामदेव का है। भरद्वाज ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के ऋषि हैं और विश्वामित्र तृतीय मण्डल के, वसिष्ठ सप्तम मण्डल के तथा कश्यप ऋग्वेद १।९९; ८।२९; ९।६४; ९।११४-६, ९१, ९२, ११३, ११४; तथा १०।१३७।२ के।[३११] वसिष्ठ का वर्णन स्वयं कालिदास ने 'मन्त्रकृत्'[३१२] के रूप में तथा 'अथर्ववेत्ता'[३१३] एवं 'अथर्वनिधि'[३१४] के रूप में किया है। अथर्ववेद १।२९; ३।१२, २०, २१, २२; ४।२२ तथा २०।१२, ११७ के ऋषि वसिष्ठ हैं।[३१५] कालिदास रघुवंश में उनके मन्त्रों को शत्रुओं का प्रशमन करने वाले बतलाते हैं[३१६]; और वसिष्ठ के अथर्ववेद ३।१२ में शत्रुविनाशार्थ तथा मित्र-रक्षार्थ मन्त्र हैं।[३१७] ऋष्यशृङ्ग का उल्लेख जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण (३।४।१) की वंशसूची में तथा वंश-ब्राह्मण में काश्यप के शिष्य एक आचार्य के रूप में हुआ है।[३१८] 'कण्व' शब्द ऋषिविशेष तथा कण्वकुल के अर्थ में ऋग्वेद में लगभग ६० बार आता है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ऋषि कण्व अथवा तत्कुलोत्पन्न ऋषि हैं।[३१९] अभिज्ञानशाकुन्तल में अग्निदेव छन्दोमयी वाणी में कण्व को शकुन्तला तथा दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह की सूचना देते हैं[३२०], जिससे उन पर अग्निदेव की विशेष कृपा लक्षित होती है। यह अवधेय है कि ऋग्वेद में अग्नि को कण्वों का मित्र तथा उनका प्रमुख बतलाया गया है।[३२१] कुशिक सायण के मत में ऋग्वेद १०।१२७ के ऋषि हैं। च्यवन भी एक प्राचीन ऋषि रहे हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद[३२२], शतपथ-ब्राह्मण[३२३], जैमिनीय-ब्राह्मण[३२४], ऐतरेय-ब्राह्मण[३२५], ताण्ड्य-ब्राह्मण[३२६], आदि ग्रन्थों में हुआ है। पञ्चविंश-ब्राह्मण[३२७] के अनुसार च्यवन सोममन्त्रों के द्रष्टा थे। नारायण प्रसिद्ध पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) के ऋषि माने जाते हैं। भृगु जमदग्नि के साथ ऋग्वेद ९।६५ और मथित तथा च्यवन के साथ १०।१९ के द्रष्टा माने जाते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण[३२८] में भृगु एक वर्गविशेष के प्रतिनिधिभूत ऋषि के रूप में आते हैं। त्रिशंकु तैत्तिरीयोपनिषद् (१।१०।१) में एक ऋषि के रूप में आते हैं; किन्तु वसिष्ठ के अभिशाप और विश्वामित्र के प्रतिकार के फलस्वरूप उनके आकाश में नक्षत्ररूप में लटकने का संकेत[३२९] वहाँ नहीं

मिलता। वालखिल्य तैत्तिरीयारण्यक[३३०] के अनुसार ऋग्वेद के ११ खिलसूक्तों के ऋषि हैं।

महाकवि कालिदास के काव्यों में कुछ पात्र वैदिक पृष्ठभूमि के हैं। विक्रमोर्वशीय के पुरूरवा तथा उर्वशी, कुमारसम्भव के रुद्ररूप शिव तथा उमा और रघुवंश के वसिष्ठ तथा विश्वामित्र तो स्पष्टतः वैदिक भूमि से हैं ही, अभिज्ञानशाकुन्तल में गृहीत नायक-नायिका दुष्यन्त तथा शकुन्तला, उनके पुत्र भरत दौष्यन्ति तथा अप्सरा मेनका का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण[३३१] तथा ऐतरेय-ब्राह्मण[३३२] में भरत का पैतृक नाम दौःषन्ति (अर्थात् दुःषन्त का वंशज अथवा पुत्र) मिलता है। कालिदास ने भी इसका प्रयोग किया है।[३३३] शतपथ ब्राह्मण में शकुन्तला का निर्देश आता है, जो एक अप्सरा की पुत्री थी और जिसने नाडपित् में भरत को गर्भ में धारण किया।[३३४] शतपथ-ब्राह्मण[३३५] तथा वाजसनेयिसंहिता[३३६] में मेनका नाम्नी अप्सरा का भी उल्लेख है। विक्रमोर्वशीय के पुरूरवा तथा उर्वशी के पुत्र आयुः का वर्णन भी शतपथ-ब्राह्मण[३३७] में आता है।

महाकवि कालिदास के कतिपय वर्णन भी वेदानुसारी हैं। उदाहरणार्थ रघुवंश के सप्तदश सर्ग में अतिथि के अभिषेक का वर्णन वैदिक परम्परा के अनुकूल है।[३३८] इसमें उन्होंने वेदविद् ब्राह्मणों द्वारा तथा पुरोहितों द्वारा अथर्ववेद के विजय के निश्चायक मन्त्रों से अभिमन्त्रण किए जाने का उल्लेख किया है।[३३९] अथर्ववेद ६।८७-८८ में राज्याभिषेक-वर्णन प्राप्त होता है। उन्होंने रघुवंश में महर्षि वसिष्ठ के मुख से कामधेनु[३४०] तथा तत्सुता नन्दिनी[३४१] का वर्णन और महाराज दिलीप एवं सुदक्षिणा द्वारा पुत्ररत्नप्राप्त्यर्थ नन्दिनी की सपर्या का वर्णन[३४२] किया है। ऋग्वेद में वसिष्ठ इन्द्र के अनुग्रह की कामना करते हैं जैसे लोग यज्ञ में हव्यहेतु दुग्ध के लिए किसी गाय का दोहन करते हैं।[३४३] गाय से दी गई यह उपमा सम्भवतः आर्षकाव्यों तथा पुराणों में प्राप्य वसिष्ठ की कामधेनु की संकेतिका है। अथर्ववेद[३४४] में वरुण अथर्वा (सम्भवतः वसिष्ठ)[३४५] को एक गाय प्रदान करते हैं। अतः कामधेनु तथा तत्सुता नन्दिनी का वर्णन मूलतः वैदिक पृष्ठभूमि से है। कालिदास ने सूर्य के अश्वों का 'हरित्' नाम से वर्णन किया है[३४६], जो वेदानुसारी है।[३४७] उन्होंने पुत्र को ज्योति और उसके जन्म से पितृ-ऋण से मुक्ति मानी है।[३४८] अथर्ववेद[३४९] में भी पुत्र की कामना की गई है, और पुत्री की नहीं। ऐतरेय-ब्राह्मण में तो पुत्री को दुःख का कारण माना गया है और पुत्र को ज्योति।[३५०] कालिदास द्वारा उल्लिखित बहुपत्नी प्रथा[३५१] के संकेत वैदिक साहित्य[३५२] में भी मिलते हैं। उस समय भी वह प्रायः राजाओं अथवा सम्पन्न परिवारों में प्रचलित थी।[३५३] कविकुलगुरु ने दाम्पत्यप्रणय के आदर्शभूत चक्र-

वाकमिथुन का अनेकत्र उल्लेख किया है।[३५४] दाम्पत्य प्रसंग में इस पक्षिमिथुन का वर्णन अथर्ववेद में भी आया है।[३५५] उनके द्वारा उल्लिखित बारह आदित्यों का संकेत[३५५क] शतपथ-ब्राह्मण[३५६] तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण[३५७] में उपलब्ध होता है।

कालिदास वैदिक श्रौत तथा गृह्य यज्ञयागों से सुपरिचित हैं। उन्होंने यजमान[३५८], यज्ञार्थ दीक्षा[३५९], अग्निचयन[३६०], ऋत्विक्[३६१] तथा उनमें होता[३६२] और अध्वर्यु[३६३], तीन यज्ञिय अग्नियों (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय)[३६४], अग्न्याधान[३६५], यजमान द्वारा अरणियों से हविर्भोक्ता अग्नि की उत्पत्ति[३६६], अग्न्यागार[३६७], वेदि[३६८], यूप[३६९], कुशा[३७०] और उनका वेदि पर संस्तरण[३७१], समिध्[३७२], विकङ्कतकाष्ठनिर्मित स्रुक्[३७३], आहुति[३७४], हवि[३७५], हव्य[३७६], चरु[३७७] आदि का उल्लेख किया है। अनेकत्र यज्ञयागों का संकेत है।[३७८] यही नहीं, सत्रयाग[३७९] तथा पुत्रीयेष्टि[३८०] भी उल्लिखित है। सोमयाग के अन्त में सम्पाद्य 'अवभृथ' नामक कर्म का भी वर्णन है।[३८१] कालिदास ने दक्षिणा का भी उल्लेख किया है।[३८२] बिना दक्षिणादान यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता।

कालिदास ने गृह्य, आवसथ्य, औपासन अथवा स्मार्त अग्नि में सम्पाद्य पाकयज्ञसंस्थाओं के अन्तर्गत आने वाले वैश्वदेवकर्म का वर्णन किया है जिसे पञ्चमहायज्ञ भी कहा जाता है। ये पाँच महायज्ञ हैं—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ। अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ होम देवयज्ञ, अतिथि-पूजन मनुष्ययज्ञ और जीवों को बलि (भोजन का ग्रास या पिण्ड) देना भूतयज्ञ ; कालिदास ने वेदाध्यापन[३८३] से ब्रह्मयज्ञ का, पिण्डदान[३८४] एवं श्राद्धकर्म[३८५] से पितृयज्ञ का, होम[३८६] से देवयज्ञ, अतिथिसत्कार[३८७] और अतिथि को अर्घ[३८८] तथा अर्घ्य[३८९] प्रदान से मनुष्ययज्ञ का संकेत किया है।[३९०]

कविकुलगुरु कालिदास ने श्रौताग्नि (गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि तथा सभ्याग्नि भेद से चतुर्विध) में सम्पादनीय हविर्यज्ञसंस्थान्तःपाती अग्निहोत्र का भी वर्णन किया है।[३९१] उन्होंने अपने रघुवंश में दिलीप के अश्वमेध[३९२], उसके पुत्र रघु के विश्वजित् यज्ञ[३९३] तथा राम के अश्वमेध[३९४]; और मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के राजयज्ञ[३९५] (अश्वमेध) का सशक्त वर्णन किया है। पशुद्रव्यक यागों में पशु की बलि दी जाती थी।[३९६]

कालिदास ने अपने काव्यों में गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित गृह्य संस्कारों का भी उल्लेख किया है। रघुवंश में वे यथाक्रम पुंसवनादिक क्रियाओं की बात करते हैं।[३९७] उनके द्वारा वर्णित संस्कार हैं—पुंसवन[३९८], जातकर्म[३९९], नामकरण[४००],

चौल[४०१], अक्षरारम्भ[४०२], उपनयन[४०३], गोदान[४०४], विवाह[४०५] तथा अन्त्येष्टि[४०६]। इनमें गोदान को कालिदास ने विवाह के ठीक पूर्व माना है।[४०७] इसमें प्रायः क्रियाएँ चूडाकरण की भाँति होती हैं; केवल बगलों के बालों तथा श्मश्रु आदि का भी क्षौरकर्म उसके अतिरिक्त होता है।[४०८] गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार १६ वर्ष की आयु पर होता है।[४०९] शतपथ-ब्राह्मण में इस संस्कार का अनेकत्र संकेत है।[४१०] संस्कारों में विवाह सर्वप्रमुख है। कालिदास ने रघुवंश में अज तथा इन्दुमती के विवाह[४११] और कुमारसम्भव में शिव-पार्वती के विवाह[४१२] के प्रसंग में इस संस्कार के अनेक कृत्यों का उल्लेख किया है। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में वर्णित ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच इन आठ विवाहों में से कालिदास ने गान्धर्व तथा प्राजापत्य विवाहों ही का वर्णन किया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त तथा शकुन्तला गान्धर्वविधिना विवाह करते हैं।[४१३] अज तथा इन्दुमती और शिव-पार्वती के विवाह प्राजापत्य हैं। कालिदास ने राजवंशों में प्रचलित स्वयंवरों का वर्णन किया है—रघुवंश में इन्दुमती-स्वयंवर[४१४] तथा सीता-स्वयंवर।[४१५] धर्मसूत्रों[४१६] तथा स्मृतियों[४१७] में कन्या को यौवनप्राप्ति करने पर माता-पिता द्वारा तीन वर्ष तक विवाह न करने की स्थिति में स्वयं पति के वरण का अधिकार दिया गया है। विष्णु धर्मसूत्र[४१८] भी पिता द्वारा वर न खोजने की स्थिति में कन्या को स्वयं पति चुन लेने का अधिकार देता है किन्तु कालिदास द्वारा वर्णित स्वयंवर इससे भिन्न प्राजापत्य के अंगभूत हैं, जिनमें कन्या को स्वयंवर में उपस्थित व्यक्तियों में से वर का वरण करना होता[४१९] है और तदनन्तर उससे उसका प्राजापत्यविधिना विवाह किया जाता है। कालिदास ने विवाह के लिए उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र के काल को शुभ माना है।[४२०] गृह्यसूत्रों के अनुसार शुभ नक्षत्र उत्तरा-फाल्गुनी, मृगशिरा, रोहिणी तथा स्वाति हैं।[४२१] कालिदास ने जिन प्रमुख वैवाहिक कृत्यों का वर्णन किया है वे हैं—वरप्रेक्षण[४२२], वाग्दान[४२३], मण्डपकरण[४२४], वधूगृहगमन[४२५], अर्घ्य, मधुपर्क तथा विष्टर दान[४२६], स्नापन एवं परिधापन[४२७], परिसरबन्ध[४२८], वधू-वर-निष्क्रमण[४२९], परस्पर-समीक्षण[४३०], आज्यहोम[४३१], पाणिग्रहण[४३२], लाजहोम[४३३], अग्निपरिणयन[४३४], ध्रुवदर्शन[४३५], तथा आर्द्राक्षतारोपण[४३६]। इनमें आर्द्राक्षतारोपण के अतिरिक्त सभी कृत्य गृह्यसूत्रानुमोदित हैं; यह या तो मूर्धाभिषेक (वर-वधू के शिर पर, अथवा कुछ आचार्यों के मत में केवल वधू के शिर पर ही, जल छिड़कना[४३७]) का परिवर्धित रूप रहा है, या लोकाचार। महाकवि कालिदास विवाहोपरान्त शिव पार्वती का कौतुकागार में भूमिशयन[४३८] वर्णित कर त्रिरात्रव्रत[४३९] तथा चतुर्थीकर्म[४४०] का भी संकेत करते हैं।[४४०क] उन्होंने विवाह के प्रसंग में सप्तपदी[४४१] तथा अश्मारोहण[४४२] का वर्णन नहीं किया है।

कालिदास ने अपने रूपक अभिज्ञानशाकुन्तल में अधोनिर्दिष्ट पद्य में वैदिक छन्द का प्रयोग किया है—

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वा वह्नयः पावयन्तु ।।[४४३]

उन्होंने स्वयं इस पद्य में ऋग्वेदीय छन्द होने का संकेत किया है ।[४४४] वस्तुतः यहाँ एकादशाक्षरीय चतुष्पदा त्रिष्टुप् प्रयुक्त है; प्रथमपादान्तर्गत 'धिष्ण्याः' तथा तृतीयपादान्तःपाती 'हव्य' पदों को त्र्यक्षर 'धिष्णियाः' तथा 'हविय–' रूप में पढ़ना होगा ।[४४५] कालिदास वैदिक छन्द प्रयुक्त करने वाले लौकिक संस्कृत के एकमात्र कवि हैं ।

कालिदास के कुछ प्रयोगों की लौकिक संस्कृत में साधुत्व-सिद्धि कठिन है; उन्हें वैदिक भाषा के प्रभाव का परिणाम ही स्वीकार किया जा सकता है । उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं लिट् लकार व्यवहित ये प्रयोग—

१. तां पातयां प्रथममास पपात पश्चात् । (रघु०, ९।६१)
२. संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः । (वही, १६।८६)
३. प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार । (वही, १३।३६)[४४६]

छान्दस भाषा में पाणिनि 'व्यवहिताश्च' (अष्टाध्यायी १।४।८२) सूत्र से उपसर्ग तथा आख्यातपद ही के व्यवहित प्रयोग की व्याख्या करते हैं,[४४७] जबकि वैदिकी में तो समासों का भी व्यवहित प्रयोग उपलब्ध होता है, यथा—'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' (ऋ०, २।१२।१३) ।

इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने इन क्वसुप्रत्ययान्त पदों का प्रयोग किया है—

१. अनुतस्थिवान् (कुमार०, ८।५०)
२. उपेयिवान् (रघु०, १२।१; १५।७०; १७।५)
३. ऊचिवान् (वही, ११।९१; १६।८६)
४. तस्थिवांसम् (वही, २।२९; ५।६१)
५. तस्थिवांसः (मेघ०, २।१३)
६. विजज्ञिवान् (रघु०, ८।७५)
७. अधिजग्मुषः (वही, ५।३४)
८. निपेतुषी (वही, ११।१९)

क्वसु प्रत्यय का प्रयोग वैदिकी भाषा ही में विहित है, लौकिक संस्कृत में नहीं ।[४४८]

ऐसा ही कालिदास का निम्न प्रयोग है—

१. त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श (कुमार०, ३।४४) ।

यहाँ 'त्रियम्बकम्' पद सन्धिनियमों के विरुद्ध है, क्योंकि लौकिक संस्कृत में 'त्रि + अम्बकम्' इस स्थिति में 'इको यणचि' (अष्टाध्यायी, ६।१।७७) सूत्र से यण् होकर 'त्र्यम्बकम्' बनेगा, न कि 'त्रियम्बकम्'। इसके विपरीत, यहाँ इयङ् प्राप्त होता है, जो केवल वैदिकी ही में पाणिनि के सूत्र 'छन्दस्युभयथा' (अष्टाध्यायी, ६।४।८६) की वार्त्तिक "तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्" से सिद्ध होगा और इस प्रकार वैदिकी में 'त्रियम्बकम्' तथा 'त्र्यम्बकम्' दोनों ही रूप साधु होंगे, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'त्र्यम्बकम्' रूप ही साधु है ।[४४९]

इसी प्रकार महाकवि कालिदास का 'गिरिश'[४५०] शब्द का प्रयोग भी वैदिक प्रभाव ही द्योतित करता है। यद्यपि मल्लिनाथ ने 'गिरि' शब्द से 'श' प्रत्यय मानकर इसके साधुत्व की सिद्धि करने का प्रयत्न किया है[४५१] तथापि वह पर्याप्त आयाससाध्य एवं कष्टकल्पित ही प्रतीत होती है। वस्तुतः यह शब्द वैदिक है, जिसका प्रयोग वाजसनेयिसंहिता[४५२] में हुआ है। यहाँ यह अवधेय है कि कालिदास ने 'गिरीश' का भी प्रयोग किया है।

इसी प्रकार कालिदास का 'पुरुष' शब्द को दीर्घत्व कर 'पूरुष' रूप में प्रयुक्त करना[४५३] भी छान्दस प्रभाव का परिचायक है।

शरणदेव ने अपनी दुर्घटवृत्ति में रघुवंश (२।५६) के 'महान्हि यत्नस्तव देवदारौ' के स्थान पर 'महाँ हि यत्नस्तव देवदारौ' पाठ दिया है[४५४], जिसमें 'महान्' तथा 'हि' पदों की 'महाँ हि के रूप में सन्धि छान्दस है। यहाँ 'महान्' के नकार को 'दीर्घादटि समानपादे' (अष्टाध्यायी, ८।३।९) से रुत्व होकर 'आतोऽटि नित्यम्' अष्टाध्यायी, ८।३।३) से अनुनासिक होता है। यदि शरणदेव द्वारा प्रदत्त पाठ ग्रहण किया जाए तो वह भी कालिदास पर वैदिकी भाषा के प्रभाव का सूचक होगा।

उपरिगत विवरण महाकवि कालिदास पर पुष्कल वैदिक प्रभाव के संसूचक हैं।

टिप्पणियाँ

१. रघु० ५।२३ (वेदविदां वरेण), १५।३३ (वेदमध्याप्य); कुमार० ५।६४ (वेदविदां वरः); विक्रमो० १।१ (वेदाभ्यासजडः); मालविका० (सं० आर० डी० करमरकर, चतुर्थ संस्करण, पूना, १९५०), अंक ५, पृ० ९४ (वेदपारगाणां ब्राह्मणान् नित्यदक्षिणा दातव्या)।

२. रघु० २।२ (श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्), ३।४६ (पथः श्रुतेः); अभि० शा० (सं० एम० आर० काले, नवम संस्करण, बम्बई, १९६१), ६।२१।

३. रघु० ५।२ (श्रुतप्रकाशम्; मल्लिनाथ—'श्रूयत इति श्रुतं वेदशास्त्रम्'।), ५।२४ (श्रुतपारदृश्वा)।

४. मालविका० १।१४ (त्रयो विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया)।

५. रघु० १।११ (प्रणवश्छन्दसामिव; मल्लिनाथ—'छन्दसां वेदानाम्')।

६. कुमार० ६।१६ (यद् ब्रह्म सम्यगाम्नातम्), ६।१८ (ब्रह्मयोनेः; मल्लिनाथ—'ब्रह्मणो वेदस्य वेधसो वा योनेः कारणस्य। यद्वा वेदप्रमाणकस्य।')।

७. रघु० १०।६० (आप्तवाचः), १०।२८ (आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा; मल्लिनाथ—'आप्तवाग्वेद.')। भारतीय आस्तिक परम्परा वेदों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार कर उन्हें आप्तवाक्य अथवा शब्दप्रमाण मानती है।

८. रघु० १।९५ (तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम्; मल्लिनाथ—'शिष्याणामध्ययनेनापररात्रवेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशाम्'); कुमार० ६।१५ (अनूचानाः—साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्येता)।

९. रघु० १६।२५; अभि० शा० ६।१।

१०. विक्रमो० १।१ (वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्)।

११. मालविका० १।१४ (त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया)।

१२. रघु० १।१५ (आगमैः सदृशारम्भः), ६।८१।

१३. वही ५।७६ (शास्त्रदृष्टम्)।

१४. वही १५।७६; अभि० शा०, अंक ४, पृ० १४० (ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते)।

१५. कुमार० ८।४१। कुमार० १०।२१ में कालिदास सात सामों का संकेत करते हैं (सप्तसामोपगीतम्), जो रथन्तर, बृहत्साम, वामदेव्य, वैरूप, पावमान, वैराज तथा चान्द्रमस हैं।

१६. रघु० ८।४ (अथर्वविदा)।

१७. कुमार० ७।४८ (अध्वर्यवः)। अध्वर्यु यजुर्वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् होता है।

१८. रघु० १५।३३ (साङ्गं च वेदमध्याप्य)।

१९. वही. १।६१, ५।२७ (मन्त्रोक्षणजातप्रभावात्), १३।४५ (मन्त्रपूतां तनुम्); कुमार० १।५२ (मन्त्रपूतम्....हव्यम्), ८।५० (मन्त्रपूर्वम्)।

२०. वही ८।४७ (ब्रह्म गूढम्....गृणन्त्यमी। मल्लिनाथ—ब्रह्म गायत्रीम्); मालविका० अंक ४, पृ० ९१ (विदूषकः—भवति यदि नीत्याम् एकमप्यक्षरं पठेयं ततो ननु गायत्रीमपि विस्मरेयम्।)।

२१. वही, अंक ४, पृ० ९१ (विदूषकः—भवति....विस्मरेयम्)।

२२. १९।७१।१ :

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

२३. २।११ (पूना : आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि, ग्रन्थांक ३६, १९६७, भाग १), पृ० १७६ :

"'त्रीन्येव प्रायुङ्क्त भूर्भुवः स्वरित्याहैतद्वै वाचः सत्यं यदेव वाचः सत्यं तत्प्रायुङ्क्त, इति।"

'अथ सावित्रीं गायत्रीं त्रिरन्वाह पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानं सविता श्रियः प्रसविता श्रियमेवाऽऽप्नोत्यथो प्रज्ञातयैव प्रतिपदा छन्दांसि प्रतिपद्यते, इति।"

२४. १४।१-६।

२५. १।१।१।१०।

२६. ५५-११-१७।

२७. २।७९-८३।

२८. १२ ।

२९. ५ ।

३०. पराशर-स्मृति ५।१; तुलनीय स्कन्दपुराण, वेंकटाचल-खण्ड, १३-१२; मत्स्यपुराण १७१।२४ ।

३१. २।४ ७-९ ।

३२. २६।१५ ।

३३. २-१०४ ।

३४. १२।१२ ।

३५. २।५ ।

३६. १।२२।१५ ।

३७. १।९ ।

३८. २।३ ।

३९. ४१।२० ।

४०. काठकसंहिता ४।१० ।

४१. वही १६।८ ।

४२. २।५।४-६ ।

४३. ऋग्वेद १।३५।२ ।

४४. वही १।३५।९ ।

४५. वही ४।८०।५ ।

४६. ५ ।

४६क. ऋ० ७।४५।१; तै० ब्रा० २।८।६।१ ।

४७. ऋ० ५।८१।१ ।

४८. २।३ ।

४९. रघु० १।११ (प्रणवश्छन्दसामिव); कुमार० २।१२ (प्रणवः) ।

५०. योगसूत्र १।२७ : 'तस्य वाचकः प्रणवः' ।

५१. २।११ ।

५२. १।१६४।३९।

५३. १।८ : ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं ब्रह्म ।....ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नुवानीति ।

५४. **आपस्तम्ब-धर्मसूत्र** १।४।१३।६ : ओङ्कारः स्वर्गद्वारं तस्माद् ब्रह्माध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्यते ।

५५. १।२।१५-१७।

५६. **मनुस्मृति** २।७४।

५७. ४२।

५८. २०।

५९. ६।५९-६२।

६०. रघु० १५।७६।

स्वरसंस्कारवत्यसौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥
कुमार० २।१२
उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥

६१. स्वरों के विशेष विवरणहेतु द्रष्टव्य पं० युधिष्ठिर मीमांसक : **वैदिक स्वरमीमांसा** ; व्रजबिहारी चौबे : **वैदिक स्वरबोध, वैदिक स्वरितमीमांसा** (होशियारपुर : वैदिक साहित्य सदन, १९७२)।

६२. "अष्टमसर्गे सम्भोगवर्णनेन कुमारोत्पत्तेर्बिन्दूपक्षेपोऽपि कृत इति सर्वमनवद्यम् ।" (त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित उनकी टीका) ।

६३. तथापि डॉ० सूर्यकान्त प्रथम से सप्तदश सर्ग तक के सम्पूर्ण भाग को कालिदासकृत मानते हैं। **कुमारसम्भव,** नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, १९६२, भूमिका, पृ० ३३; *Kālidāsa'a Vision of Kumāra Sambhava*, Delhi : Meharchand Lachhmandas, 1963, pp. pp. 75-79.

६४. ६।१।३।७—२०।

६५. ६।१–९ (जे० म्यूर : **मूल संस्कृत उद्धरण,** भाग ४, हिन्दी रूपान्तरकार रामकुमार राय, वाराणसी : विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रंथमाला, ६७, १९६७, पृ० ३१०–१२ पर उद्धृत)।

६६. **बालकाण्ड,** अध्याय ३६–३७।

६७. **वनपर्व**, अध्याय २२३–३१; **शल्यपर्व**, ४५–४७।

६८. **आवन्त्य-खण्ड**, अध्याय ३९; **नागरखण्ड, हाटकेश्वर-माहात्म्य**, अध्याय ७०–७१, २४५-४७ तथा २६४।

६९. **श्राद्धकल्प**, अध्याय ११।

७०. **गौतम-माहात्म्य** अध्याय, २, ३, १२।

७१. **उपोद्घातपाद**, अध्याय १०।

७२. अध्याय २२८।

७३. **गणपति-खण्ड**, अध्याय १।

७४. अध्याय ५०-५८।

७५ अध्याय ३३-५३।

७६. अध्याय २२।

७७. अध्याय १५४-६०।

७८. अध्याय ९-२१।

७९. इन ग्रंथों में आई कथा के विवेचनार्थ द्रष्टव्य सूर्यकान्त : *Kālidāsa's Vision of Kumārasambhava*, pp. 6-51.

८०. **बालकाण्ड**, ३५।२०; ३६।५। ३७।३२ में 'कुमारसम्भव' शब्द भी प्रयुक्त है।

८१. अध्याय ३२-३६।

८२. अध्याय ३३-५३।

८३. **माहेश्वर-खण्ड**, अध्याय २०-३०।

८४. अध्याय ११-१९।

८५. निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां
सुतां गिरीशं प्रति सक्तमानसाम्।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा
निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात्॥

८६. **उपोद्घातपाद**, अध्याय १०।

८७. ५।२।१ (वेबर : **इन्दिशे स्तूदियन**, भाग २, पृ० ३०२, .९५)।

८८. तुलनीय अथर्ववेद में काल-वर्णन, १९।५३।४ (पिता सन्नभवत्पु त्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः ॥); द्रष्टव्य ऋ० २।३३।१२ (कुमारश्चित् पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम् ।) । कालिदास शिव के लिए 'महाकाल' अभिधान का प्रयोग करते हैं (रघु० ६।३४) ।

८९. रघु० २।५८ (भूतनाथ), २।४६ (भूतेश्वर) ।

९०. ऋ० १०।९५ ।

९१. शतपथ-ब्राह्मण ११।५।१-१७ ।

९२. ७।४०-४६ ।

९३. १०।९५ ।

९४. ७।५६ ।

९५. १।२६।१-४९ ।

९६. २४।१०-३२ ।

९७. १२।५२-८६ ।

९८. १।१०, १०१ ।

९९. ४।६।३४-९४ ।

१००. ९।१४ ।

१०१. १।१३ ।

१०२. ३।३।४-३० ।

१०३. विस्तरहेतु द्रष्टव्य B. R. Yadav : *A Critical Study oj the Sources of Kālidāsa*, Aligarh : Bhavan Prakashan, 1974, pp. 62-67 ; A. D. Singh ; *Kālidāsa : A Critical Study*, Delhi : Bharatiya Vidya Prakashan, 1977, pp. 41-44.

१०४. बी० आर० यादव : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६६-६७ ।

१०५. ७।५६।१३-५९ ।

१०६. अग्नि (रघु० ३।१४, ४।२; विक्रमो० ४।३४, ५।१६, ५।२०), कृशानु (कुमार० १।५१; रघु० २।४९, ७।२४), कृष्णवर्त्मा (रघु० ११।४२), जातवेदाः (कुमार० २।४६, ५।१६; रघु० १२।१०४), पावक (रघु० ११।७५), मरुत्सखा (रघु० २।१०),

वह्नि (रघु० ८।२०), विभावसु (रघु० ३।३७), हविर्भुक् (रघु० १।५६; कुमार० ५।२०), हुताशन (कुमार० ३।२१; रघु० २।७१, ४।१)।

१०७. रघु० ९।६, ११।५३ (वरुण), ९।२४ (जलेश्वर), १।८० (प्रचेतस्); कुमार० ८।४० (वारुणी दिक्); विक्रमो० (सं० एस० पी० पण्डित, बम्बई, १८७९), अंक ३, पृ० ६६ (वारुणीभूमिका)।

१०८. ऋतु० १।१, १०, १३,१५, १७, २०, २२; ४।१५; कुमार० ८।३१, ३४, ३७; १।१६ (विवस्वत्), रघु० ३।३८ (गभस्तिमान्), ४।१ (सविता), ३।३० (हरितामीश्वरः), ३।२२ (हरिदश्वदीधिति); अभि०शा० ७।४ (सहस्रकिरण); विक्रमो०, अंक ३, पृ० ९७, ५।२० (सूर्य)।

१०९. रघु० २।६२, ६।४४, ८।४५ (अन्तक), १५।२१ (कृतान्त); ९।६, २४; कुमार० २।२३ (यम); रघु० १५।५७, १५।४५ (वैवस्वत)। यम के लिए वैवस्वत ऋग्वेद (१०।१४.१) में भी प्रयुक्त है और उनके पिता विवस्वत् का उल्लेख भी है (ऋ० १०।१४।५)। ऋग्वेद (१०।१७।२) में विवस्वत् यम तथा अश्विना के पिता के रूप में वर्णित हैं। वाजसनेयिसंहिता (८।५) तथा ब्राह्मणों में विवस्वत् को आदित्य माना गया है।

११०. कुमार० ७।४१; रघु० ६।३२।

१११. रघु० १०।५४।

११२. कुमार० २।२६; रघु० २।५४।

११३. रघु० २।१०, ८।३२, ९।१३; अभि०शा०, अंक ७, पृ० २८६।

११४. कुमार० १।१७, ८।३०; विक्रमो० १।९।

११५. रघु० ३।१३, २३, ५५; ७।३, ८।३२, १७।७; विक्रमो०, अंक ३, पृ० ८६; अभि० शा०, अंक ६, पृ० २२४ (शची); कुमार० ८।२७ (पुलोमतनया); विक्रमो० ५।१४, अभि० शा०, ७।२८ (पौलोमी)।

११६. रघु० ४।६, ६।२९; कुमार० ७।९०; विक्रमो०, अंक ३, पृ० ६५; ५।२४; मालविका०, अंक १, पृ० २०; अभि० शा० ७।३५।

११७. अभि० शा०, अंक ७, पृ० २६२, २८८, २९२। ऋग्वेद (१०।७२।५) के अनुसार दक्षपुत्री अदिति देवों की माता हैं; द्रष्टव्य निरुक्त (४।२२) : अदीना देवमाता।

११८. रघु० १०।५४।

११९. वही १।५६ (स्वाहयैव हविर्भुजम्)।

१२०. रघु० ५।३६; कुमार० १।१, २।३, ४-१५।

१२१. कुमार० २।४।

१२२. रघु० ५।२६, २८; ९।२४, २५; १४।२०; १६।१०; १७।८१; कुमार० २।२२, २३; ३।२५; ७।३०; ८।२४; विक्रमो० १।३; मेघ० १।७, १५।

१२३. रघु० ५।३६ (कुमार), ६।४ (गुह), १४।२२ (नेता चमूनाम्), १७।६७ (षण्मुख); कुमार० ५।१४ (गुह); विक्रमो० ५।२३ (महासेन)।

१२४. रघु० १०।७, १३।

१२५. वही ३।२३; ६।७८, विक्रमो० ५।१४; अभि० शा० ७।२, २८।

१२६. कुमार० ३।२२; २।६४; ३।१०, २१, २३; ७।९२ आदि।

१२७. वही ७।४५; रघु० २।७५।

१२८. कुमार० ७।३८। सप्तमातृकाएँ ये हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वराही, इन्द्राणी तथा चामुण्डा।

१२९. कुमार० १।४३; ३।५८, ६२ आदि (उमा); १।२६; ५।१; ६।८०; रघु० १।१ आदि (पार्वती); कुमार० ८।१८, ७८ (अम्बिका); कुमार० ५।५०; ७।९५; रघु० ४।७१; मेघ० १।५३, ६३ (गौरी); कुमार० ७।३९ (काली)।

१३०. कुमार० ७।४२।

१३१. रघु० ६।५८; ९।१६; ४।५।

१३२. मेघ० १।१५; कुमार० ३।११; अभि० शा०, अंक ७, पृ० २८४, २८६, २९४।

१३३. रघु० २।५० (ऐन्द्रं पदम्), १३।४२, १५।२६, १७।८१; ऋतु० २।२३; मेघ० २।१; कुमार० २।३९, ३।२२, ७।७१, ८।३१; मालविका०, अंक ४, पृ० ८९ (देवः); अभि० शा०, अंक ६, पृ० २५० (ऐन्द्र रथ)।

१३४. रघु० ३।५३, ६।७३, १३।७।

१३५. रघु० १७।७; अभि० शा०, अंक ६, पृ० २५०। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र ने तप से स्वर्ग को जीता (१०।१६७।१ : त्वं तपः परितप्य अजयः स्वः)।

१३६. रघु० ३।४४।

१३७. वही १०।१; कुमार० २।६३; विक्रमो०, अंक ५, पृ० १६२। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा पाक के शासन का उल्लेख है (१।३१।१४ : पाकं शास्सि)।

१३८. रघु० १७।७९ (पौरन्दरीमिव), २।७४, ३।२३, ३।५१, ९।१२, १२।८४; विक्रमो० ५।१४। तुलनीय ऋ० २।२०।७ (पुरन्दरः); १०।११११।१० (पुर्भिद्); पुरदारणार्थं द्रष्टव्य ऋ० १।१३३।४; १।१७४।२, ६।२०।१०; २।२०।८; ४।३०।२०; १।५१।५।

१३९. रघु० ४।३; १०।४९; १७।३२। तुलनीय ऋ० ३।५१।८।

१४०. रघु० ११।५१; अभि० शा०, अंक २, पृ० ७८।

१४१. रघु० ९।३ (मल्लिनाथ—इन्द्रम्)।

१४२. वही १।२६; ३।४६, ५२; ९।२०; १८।३१; मेघ० १।६; कुमार० ३।१; अभि० शा०, अंक ७, पृ० २५२; अंक ६, पृ० २५०, ७।२६; विक्रमो०, अंक १, पृ० ५, १६; अंक ५, पृ० १६२। तुलनीय ऋ० ३।५३।८, ७।१०४।१९; १०।४४।९; १०।२८।३; १०।५५।१ आदि। इन्द्र धन के अटूट कोश हैं (ऋ० १०।४२।२)।

१४३. रघु० ३।४; अभि० शा० ७।१; विक्रमो० ५।२३। तुलनीय ऋ० ५।४२।६; ९।६५।१०।

१४४. रघु० १३।२०; कुमार० ५।५३; अभि० शा०, अंक ६, पृ० २४८; विक्रमो०, अंक १, पृ० ४, ६, १६, १८; अंक २, पृ० ३४; अंक ३, पृ० ६५, ६७; अंक ५, पृ० १५१, १५७।

१४५. रघु० ३।६७।

१४६. वही १८।२१।

१४७. वही ९।२४; १०।४०; विक्रमो० १।१६। तुलनीय ऋ० १।११।४; १।३२।१; १।५७।६; १।८०।१; १।८२।६; ५।३२।२; ७।३४।४।

१४८. रघु० २।४२।

१४९. अभि० शा० ७।३४; रघु० ३।५९; १४।५९।

१५०. कुमार० २।२९, ३।२; अभि० शा०, अंक ७, पृ० २८६; विक्रमो० ५।२०; रघु० ५।५; ३।५८, ६३; ९।८; ११।३३; मेघ० १।४६।

१५१. कुमार० २।२०।

१५२. रघु० ३।६२; कुमार० ७।४६। तुलनीय ऋ० १।१२१।१२; ८।४५।४। ऋग्वेद में 'वृत्रहन्' शब्द इन्द्र के लिए लगभग ७० बार प्रयुक्त है।

१५३. कुमार० १।२०।

१५४. रघु० १०।५२ (वृषेव); कुमार० ५।६१, ५।८०। तुलना करें ऋ० ६।४४,२१ (वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनाम्); ४।२२।२; १०।१०३।२; ८।३३।११; ३।४८।१ (वृषभः); ३।४४।४; ४।१८।१० (वृषभम्); ४।३०।१०; शतपथ-ब्राह्मण २।५।३।१८ (एतद् वा इन्द्रस्य रूपं यद् वृषभः); कौषीतकि-ब्राह्मण २०।३ (वृषा वा इन्द्रः)।

१५५. रघु० १४।८३; १।७५; ३।३९; ३।५६; ६।७४। तुलनीय ऋ० ८।८।५; अथर्व० ८।८।६, ७,८। ऋग्वेद में 'शक्र' का इन्द्र के लिए लगभग ४० बार प्रयोग हुआ है।

१५६. रघु० ८।३२। ऋग्वेद में 'शचीपति' शब्द १० बार इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।

१५७. रघु० ३।३८; ३।४९; अभि० शा० ६।३०; अंक ७, पृ० २५४, २६०; विक्रमो०, अंक १, पृ० १६, १७। तुलनीय ऋ० १।१६।९ आदि। ऋग्वेद में 'शतक्रतु' शब्द ६० बार आया है, जिसमें २ स्थानों के अतिरिक्त यह सर्वत्र इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।

१५८. रघु० ९।१३; कुमार० २।६४।

१५९. रघु० ११।४३।

१६०. विक्रमो० २।१७।

१६१. मेघ० २।१५।

१६२. ऋतु० २।४; विक्रमो०, अंक १, पृ० १९।

१६३. रघु० ३।६४।

१६४. वही ३।५५; कुमार० २।३०; अभि० शा० ७।३।

१६५. रघु० ४।४०; ९।१२। तुलना करें ऋ० ४।५४।५। मैत्रायणीसंहिता (१।१०।१३) के अनुसार पुराने युग में पर्वत जहाँ चाहते, उतर पड़ते थे और पृथ्वी को कँपा देते थे। इन्द्र ने इनके पंख काट दिए। इनके कटे पंख गरजने वाले बादल बन गए: "इन्द्रः पक्षानछिनत्तै रिमामदृंहद् ये पक्षा आसंस्ते जीमूता अभवन्।"

१६६. यास्क ((निघण्टु १।१०; निरुक्त ९।२१) अद्रि, ग्रावन्, गोत्र, अश्मन्, पर्वत, गिरि, उपर, उपल आदि को मेघ तथा पर्वत दोनों का वाची मानते हैं।

१६७. रघु० ११।३३; विक्रमो०, अंक २, पृ० ३४ (अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य)। तुलनीय शतपथ-ब्राह्मण ३।३।२।१८ (अहल्यायै जारः); जैमिनीय-ब्राह्मण २।७९।

१६८. रघु० ७।४; ११।४६; १२।७९; कुमार० २।२०; ३।१२।

१६९. रघु० ३।६७; १२।८६; अभि०शा०, अंक ६, पृ० २४८, २५०; अंक ७, पृ० २५२, २५४, २५६, २५८, २६०, २६२, २६४।

१७०. शतपथ-ब्राह्मण १०।५।२।९। इन्द्रपत्नी को इन्द्राणी माना गया है (ऋ० १।२२।१२; २।३२।८; ५।४६।८; १०।८६।११, १२; शतपथ-ब्राह्मण १४।२।१।८; इन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी)। ऐतरेय-ब्राह्मण (३।२२।७) में प्रासहा तथा सेना इन्द्र की पत्नियाँ हैं, जो वस्तुतः इन्द्राणी ही के तद्रूप हैं (तैत्तिरीय-ब्राह्मण २।४।२।७-८; मैत्रायणीसंहिता ४।१२।१)। इन्द्राणी (इन्द्रपत्नी) ऋ० १०।८६।२-६, ९, १०, १५-१८, १४५ की ऋषिका हैं।

१७१. ऋग्वेद १।१६५।१-२, ४, ६, ८, १०-१२; १।१७०।२, ३, ४; ४।१८।१, ४; ४।२६।१-३; ८।१०४-५; १०।२८।२, ६, ८, १०, १२; १०।८६।१, ८, ११, १२, १४, १९-२२।

१७२. रघु० ३।१८। तुलना करें ऋ० १।५३।७। इन्द्र निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्)।

१७३. रघु० ७।३५ (इन्द्रशत्रुः)। वल्लभदेव तथा सुमतिविजय—नमुचि; हेमाद्रि—वृत्रासुर।

१७४. अभि० शा०, अंक २, पृ० ७८ (बलभित्सखो दुष्यन्तः)।

१७५. रघु० १०।५१।

१७६. वही १०।६४।

१७७. वही ७।३५; कुमार० ६।७१। विक्रम के लिए द्रष्टव्य अभि०शा० ७।६; विक्रमो०, अंक १, पृ० २० (मध्यम पद)। तुलनीय ऋ० १।१५५।४; ६।४९।१३।

१७८. रघु० ७।१३।

१७९. कुमार० ८।२३।

१८०. रघु० १६।२२।

१८१. वही १०।३३; ११।८६; कुमार० ६।७०।

१८२. रघु० १०।९; १८।८।

१८३. वही १३।६; कुमार० ७।४३।

१८४. रघु० ३।४९; १०।७२।

१८५. वही ९।४८।

१८६. कुमार० ६।८।

१८७. रघु० ११।२२। द्रष्टव्य शतपथ-ब्राह्मण १।२।५।५ : वामनो ह विष्णुरास।

१८८. रघु० १३।५; १४।५९; मेघ० १।१५, ६०; कुमार० २।५८; ६।६७; ७।४४; १६।२८।

१८९. रघु० १५।१०३।

१९०. मेघ० २।५०।

१९१. रघु० १।४९; १५।४, ४०।

१९२. वही ३।४९; १०।५, ८६; १३।१; कुमार० २।४९।

१९३. रघु० १८।२५।

१९४. वही ४।२७।

१९५. वही १०।१९, ३६।

१९६. वही १०।३६।

१९७. वही १९।५५। तुलनीय ऋ० ५।६३।४ (सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्)।

१९८. रघु० १०।३५।

१९९. वही १५।४५।

२००. ऋ० १०।१४।५, १।

२०१. कुमार० ८।२७।

२०२. रघु० २।३५; कुमार० ७।७६, ८७।

२०३. मेघ० १।५८; कुमार० ७।६३, ९४।

२०४. कुमार० ५।७८।

२०५. रघु० ६।२; कुमार० ८।५०।

२०६. कुमार० १।५४।

२०७. रघु० २।४१; कुमार० १।५९, ६०; ३।६५।

२०८. कुमार० ५।३।

२०९. वही० ५।८६; रघु० ६।३४।

२१०. कुमार० ५।५८।

२११. वही ५।६०।

२१२. मेघ० २।५३।

२१३. कुमार० ५।६९।

२१४. रघु० २।४२; ३।४९; १३।५१; मेघ० १।६१।

२१५. कुमार० ५।५७; ७।५१; ८।१२।

२१६. वही २।५७।

२१७. वही १।५३ (पतिः पशूनाम्); मेघ० १।३९, ५९; कुमार० ६।९५।

२१८. कुमार० ५।१, ७१, ७७; ८।२।

२१९. वही ३।१० (हरस्यापि पिनाकपाणेः)।

२२०. वही ७।७७।

२२१. वही ५।५४।

२२२. वही २।१३।

२२३. वही १।२१; मेघ० १।३९, ४७।

२२४. रघु० २।५८।

२२५. वही ६।३४।

२२६. वही ३।४९; कुमार० ५।६५।

२२७. कुमार० ५।७८।

२२८. वही ६।१, ८८।

२२९. वही ६।२१।

२३०. रघु० २।३६; ११।४४; कुमार० ८।२०। ऋग्वेद (२।३३।७, ८, १५) में रुद्र को वृषभ कहा गया है; बाद में वे वृषभध्वज बन गए।

२३१. **कुमार०** ५।८४।

२३२. **रघु०** ३।२३; **कुमार०** ३ १४।

२३३. **रघु०** २।५४; ११।४७, **कुमार०** २।२६; ३।७६।

२३४. **रघु०** ११।९३; **कुमार०** ६।१४।

२३५. **कुमार०** ८४, ५, १७, १९, २८, ७७।

२३६ **मेघ०** १।५३, ६३; **कुमार०** ५।५९, ६०; ३।५८; ५।६६; ८।९१।

२३७. **कुमार०** ५।७७; ७ ७४; ७ ८३।

२३८. **वही** २।६१।

२३९. **रघु०** २।३८; **कुमार०** ७।४०।

२४० **कुमार०** ३ ५७; ८।७ १८, ७९।

२४१. **रघु०** ११।१३, **कुमार०** ३।१७ २३; ८।१३।

२४२. **कुमार०** ६।३।

२४३. **रघु०** ११।८३; **मेघ०** १।७, ३९ ४७; **कुमार०** १।४१, ५०; ८।८१, ८७; ७.९२ आदि ; **विक्रमो०**, अंक ३, पृ० ७४।

२४४. **रघु०** १।१; २।३९।

२४५. **वही** २।४६।

२४६. ७।५९।१२ (त्र्यम्बक)।

२४७. ३।६०।

२४८. १।८।६।२।

२४९. १।१०।४।

२५०. १४।९।१७।

२५१. १।२७।१०; १।४३।१; १।६४।२; १।८५।१; १।११४।१-११; १।१२२।१; १।१२९।३; २।१।६; २।३३।१-१५; २।३४।२; २।३८।९; ३।८।५; ४।३ १; ५।३।३; ५।४।१,२; ५।४२.११; ५।४६।२; ५।५१।१३; ५।५२।१६; ५।५९।८; ५।६०।५; ६।१३।३९; ६।२८।७; ६।४९।१०; ६।५०।४; ६।६६।३; ६।७४।१–४; ७।१०।४; ७।३५।६; ७।३६।५; ७।४०।५; ७।४१।१; ७।४६।१-४; ७।५६।१; ७ ५८।५; ८।१३।२०; ८।२०।१७; ८।२२।१३; ८।२९ ५; ८।६१।३; १०।६४।८; १०।६५।१;

१०।६६।३; १०।९२।५; १०।९३।४; १०।१२५।६; १०।१२६।५; १०।१३६।१; १०।१६९।१ ।

२५२. १।१५, ४३३ ।

२५३. १६।४८; ३३।४८; ३४।३४ ।

२५४. १।२८।५; ४।२१।७; ३।१६।१; ४।३०।५ ।

२५५. ३।६१ ।

२५६. १६।१-६६ ।

२५७. २।३३।१०-११; ५।४२।११; ७।४६ १ (इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः); १०।६४।८; १०।१२५।६ (अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ) । अथर्व० ४।३०।५ ।

२५८. ३।६१ (अवततधन्वा पिनाकावस); १६।५१ (पिनाकं बिभ्रद् आगहि) ।

२५९. ६।९३।२; ८।२।७; १०।१।२३; ११।६।९; १२।४।१७; १५ ५।१ ।

२६०. ११।२।१-३१ ।

२६१. ६।१।३।७-१९; १।७।३।८ ।

२६२. ६।१-९ ।

२६३. कुमार० २।५८; ३ ५८; ६।७५-७७, ८३, ८८; ७।४८, ५४; रघु० १०।१६-३२ ।

२६४. तुलना कीजिए 'व्याप्य स्थितं रोदसी' (विक्रमो० १।१); स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (ऋ० १०।९०।१) ।

२६५. रघु० १०।१६-३३ ।

२६६. कुमार० २।३-१५ ।

२६७. वही ७।४४ :

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥

२६८. रघु० ९।६ (नियमनादसताम्) ।

२६९. ऋ० ७।८६ ३,४; अथर्व० ४।१६।६; शतपथ-ब्राह्मण १२।७।२।१७; तैत्तिरीय-ब्राह्मण १।७।२।६ (अनृते क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति ।) ।

२७०. रघु० ३।३० (हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः)।

२७१. ऋ० १।११५।३,४,५। इनकी संख्या सात है, ऋ० १।५०।८ (सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।।); १।५०।९ (अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः।।); ७।६०।३ (अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ई वहन्ति सूर्यं घृताचीः।।)।

२७२. १।१४.३।

२७३. ३।५७ (एष ते रुद्र भागः सह स्वस्रा अम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा।)।

२७४. ३।१२; ८।१। द्रष्टव्य **तैत्तिरीयारण्यक** (१०।१।१५०) पर सायण-भाष्य : "हिमवत्पुत्र्या गौर्या ब्रह्मविद्याभिमानिरूपत्वाद् गौरीवाचक उमाशब्दो ब्रह्मविद्यामुपलक्षयति। अतएव तलवकारोपनिषदि ब्रह्मविद्यामूर्त्तिप्रस्तावे ब्रह्मविद्यामूर्त्तिः पठ्यते 'बहु शोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच' इति। तद्विषयः तया उमया सह वर्त्तमानत्वात् सोमः।"

२७५. **रघु०** ५।५३; **कुमार०** ७।४८ आदि।

२७६. **कुमार०** ६।३९; **मेघ०** १।१; २।५।

२७७. **कुमार०** १।८, ११,१४; ६।३९; ८।१५; **मेघ०** १।५९; **रघु०** ८।६४।

२७८. **रघु०** २।६०; **कुमार०** १।४, ७; ६।४६।

२७९. **कुमार०** १।५; **मेघ०** १।१४, ५८।

२८०. **रघु०** ९।६।

२८१. **वही** १।६६, ६७, ६९, ७१; ५।८; **अभि०शा०** ६।२५।

२८२. **रघु०** ७।५३; **विक्रमो०**, अंक १, २, ३; **अभि० शा०** ७।१२ (विबुध-स्त्री); अंक ७, पृ० २५४ (सुरसुन्दरी); **रघु०** ६।२७ (सुराङ्गना)।

२८३. अप्सराओं तथा गन्धर्वों के लिए द्रष्टव्य सूर्यकान्त : **वैदिक देवशास्त्र**, दिल्ली, १९६१ पृ० ३४८-५७; यक्षों के लिए **ऋ०** ७।६१।५; **अथर्व०** १०।२।३२; १०।८।४३; **वाजसनेयिसंहिता** ३४।२; **तैत्तिरीय-ब्राह्मण** ३।१२।३।१; **कौशिकसूत्र** ९५; **केनोपनिषद्** ३.२-१२; किंपुरुषों के लिए **ऐतरेय-ब्राह्मण** २।८; **शतपथ-ब्राह्मण** १।२.३।९; ७।५।२।३२; पुण्यजनों के लिए **अथर्व०** ८।८।१५ (गन्धर्वाप्सरसः देवान्पुण्यजनान्पितॄन्); पितरों के लिए **ऋ०** १०।१४।४; **अथर्व०** ८।८।१५।

२८४. द्रष्टव्य अभि० शा०, अंक ७, पृ० २९० : "तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि ।" (मारीच की उक्ति); अंक ७, पृ० २९४ : "तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।" (मारीच द्वारा महर्षि कण्व के विषय में उक्ति) तुलना करें यास्क : निरुक्त (१।६।२०) : "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादु ।" रघु० ५।४ (मन्त्रकृतामृषीणाम्) ।

२८५. द्रष्टव्य अभि० शा० अंक ७, पृ० २८० : 'प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि ।" (दुष्यन्त द्वारा मारीच की प्रदक्षिणा की कामना) ।

२८६. रघु० १०।६३ (सप्तभिः ब्रह्मर्षिभिः); १३।५१; कुमार० १।१६; ६।३; ७।४७; ७।७१ ।

२८७. वही ४।८८ (अगस्त्य); १५।५५ (कुम्भयोनि); १६।८४ (अगस्त्य) । (उनके कुम्भयोनिहेतु द्रष्टव्य शौनक : बृहद्देवता ५।१४३-५५; ऋ० ७ ३३।१३ (मान) ।

२८८. कुमार० ६।६५ ।

२८९. रघु० २।७५ ।

२९०. वही १०।४ (ऋष्यशृङ्गादयः; हेमाद्रि ने 'आदि' शब्द से कात्यायन, जाबालि तथा वामदेव का भी ग्रहण माना है ।)

२९१. अभि० शा० अंक ३, पृ० ११२; अंक ७, पृ० २९२, २९४ ।

२९२ रघु० ११ १ (कौशिकेन), १४ (कौशिकात्), ३७ (कुशिकवंशवर्धनः); अभि० शा० अंक १, पृ० ४० ।

२९३. रघु० ११।३७ (कुशिकवंशवर्धनः) ।

२९४ विक्रमो० अंक ५, पृ० १४० ।

२९५. रघु० ११।३३, ३४ ।

२९६. विक्रमो० १।३; अंक १, पृ० १०; अंक ३, पृ० ९४; १।१५ ।

२९७. रघु० १०।१४ (भृग्वादीन्) ।

२९८. अभि० शा०, अंक २, पृ० ८८ ।

२९९. वही अंक ७, पृ० २८४, २८६, २८८, २९०, २९२, २९४ ।

३००. वही अंक ७, पृ० २६८ ।

३०१. रघु० १।३५, ५९, ६१, ८२, ८६; २।१९, ६७, ६९, ७०; ३।४०; ५।२७; ८।३,४। वसिष्ठ के जन्महेतु द्रष्टव्य शौनक : बृहद्देवता ५।१४३-५५; ऋ० ७।३३।११-१३।

३०२. कश्यपवंशज काश्यप कण्व का उल्लेख—अभि० शा०, अंक १, पृ० २१, ४०; अंक २, पृ० ६०; अंक ४, पृ० १२६, १३०, १३२, १३८, १४८, १५०, १५२, १५४, १५६; अंक ५, पृ० १६२, १६४, १६८, १७४ आदि।

३०३. रघु० १५।१०; कुमार- ८।४१।

३०४. ऋ० १।३३।१५; ४।४२।८; १०।१३०।७; १०।१०९।४; वाजसनेयि-संहिता १४।२४; अथर्व० ११।१।१,२४; १२।१।३९; बृहदारण्यकोपनिषद् २।२।६।

३०५. शतपथ ब्राह्मण २।१।२।४ (सप्तर्षीं नु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते)।

३०६. वही १४।५।२।६ (इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः।)। हेमाद्रि (रघु० १०।६३ पर टीका) के अनुसार सप्तर्षि ये हैं—

मरीचिरङ्गिरा अत्रि पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वशिष्ठश्चेति सप्तर्षीनाहुश्चित्रशिखण्डिनः॥

मरीचि के लिए द्रष्टव्य अभि० शा० ७।९,२७।

३०७. अथर्व० १८।३।१५। विस्तरहेतु द्रष्टव्य सूर्यकान्त : वैदिक कोश, वाराणसी : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

३०८. ऋ० ३।५३।७; १०।६७।२; ४।२।१५।

३०९. वही १०।६२।४।

३१०. वही १।११७।३। विस्तरहेतु द्रष्टव्य सूर्यकान्त : वैदिक कोश, पृ० ३७६-७९; V. G. Rahurkar : *The Seers of the Ṛgveda*, Poona, 1964, pp. 61-88. चन्द्रमा का उनके नेत्र से निःसृत ज्योति के रूप में वर्णन (रघु० २।७५) पौराणिक है।

३११. इन ऋषियों के सविस्तरविवरणाथ द्रष्टव्य V. G. Rahurkar : *op. cit*, pp. 16-176.

३१२. अथर्व० ४।२९।३; १८।३।१६; २०।१८।१, ६; २०।११७।३ में वसिष्ठ का उल्लेख है।

३१३. रघु० १।६१ (तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः)।

३१४. वही ८।४ (गुरुणाऽथर्वविदा)।

३१५. वही १।५९ (अथाथर्वनिधेस्तस्य; मल्लिनाथ—'अथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः।)।

३१६. वही १।६१ (तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः)।

३१७. विश्वामित्रों तथा वसिष्ठों के विशेष विवरणहेतु द्रष्टव्य उमेशचन्द्र शर्मा : *The Viśvāmitras and the Vasiṣṭhas*, Aligarh, Viveka Publications, 1975.

३१८. द्रष्टव्य सूर्यकान्त : वैदिक कोश, पृ० ७३।

३१९. विस्तरहेतु द्रष्टव्य V. G. Rahurkar : *op. cit.*, pp. 154-76; सूर्यकान्त : वैदिक कोश, पृ० ८२; वैदिक देवशास्त्र, पृ० ३७३-८०।

३२०. अभि० शा०, अंक ४, पृ० १३२।

३२१. ऋ० १०।११५।५ (स द्रुह्विनः कण्वतमः कण्वसखा।)।

३२२. वही १।११६।१०; १।११७।१३; १।११८।६; ५।७४।५; ७।६८।६; ७।७१।५; १०।३९।४; १०।६१।१-३।

३२३. ४।११।५।१; ४।१।५।१३।

३२४. ३।१२१-१२८।

३२५. ८।२११४।

३२६. १४।६।१०।

३२७. १३।५।१२; १९।३।६; १४।६।१०; ११।८।११। द्रष्टव्य सूर्यकान्त : वैदिक कोश, पृ० १५१।

३२८. २।२०।७। भृगु के विवरणार्थ द्रष्टव्य सूर्यकान्त : वैदिक देवशास्त्र, पृ० ३६२-६४; V. G. Rahurkar : *op. cit.*, pp. 215-20.

३२९. अभि० शा०, अंक २, पृ० ८४ (त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ।)।

३३०. १।२३ : स तपोऽतप्यत। स तपस्तपत्वा शरीरमधूनुत। तस्य यन्मांस-

मासीत्ततोऽरुणाः केतवो वातरशना ऋषय उदतिष्ठन्। ये नखास्ते वैखानसाः । ये बालास्ते बालखिल्याः ।

३३१. १३।५।४।११ ।

३३२. ८।२३ ।

३३३. अभि० शा० ४।२० ।

३३४. १३।५।४।१३ : "शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे ।" हरिवंश के अनुसार नाडपित् कण्व के आश्रम का नाम था, जहाँ शकुन्तला ने भरत को गर्भ में धारण किया (द्रष्टव्य Leumann, Zeitsch : *ZDMG*, Vol. XL Viii, p.81; Eggeling : *Śatapatha-Brāhmaṇa*, Vol. V, *SBE* Vol XLIV, p. 399, n. 2) ।

३३५. ८।६।१।१७ (मेनका च सहजन्या चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरिमे तु ते द्यावापृथिवी), तुलनीय षड्विंश-ब्राह्मण १।१; तैत्तिरीयारण्यक १।१२।३; लाट्यायनश्रौतसूत्र १।३।१७ ।

३३६. १५।१६ (मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ) ।

३३७. ३।४।१।२२ (उर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुः।)। ऋग्वेद में एक राजा आयुः का उल्लेख है (१।५३।१०; २।१४।७; ६।१८।३; ८।५३।२,। वाजसनेयि-संहिता (१५।१९) में उर्वशी का उल्लेख है : उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ ।

३३८. वाजसनेयिसंहिता ९।५,३९; शतपथ-ब्राह्मण ५।२।१।२५; ऐतरेय-ब्राह्मण ८।५ ।

३३९. रघु० १७।१३; अवलोकनीय ८।४ भी ।

३४०. वही १।७५, ७७-७८, ८० ।

३४१. वही १।८१, ८७-९१ । कविकृत नन्दिनीवर्णनहेतु द्रष्टव्य वही १।८२-८६ ।

३४२. वही, सर्ग २ ।

३४३. ७।१८।४ ।

३४४. ७।१०४।१; ५।११।१,८ ।

३४५. द्रष्टव्य V. G. Rahurkar : *op, cit.*, p. 129.

३४६. रघु० ३।३० (हरिद्धिर्हरितामिवेश्वरः)।

३४७. ऋ० १।११५।३ (भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य), ४ (यदेदयुक्त हरितः सधस्थात्)।

३४८. रघु० १०।२ :

न चोपलेभे पूर्वषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्॥

देखिए मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत श्रुतिवाक्य : "एष वा अनृणो यः पुत्री।"

३४९. ६।११३; ८।६।२५।

३५०. ७।३ (आनन्दाश्रमग्रन्थावलि ३२, भाग २, अध्याय ३३, पृ० ८३७) : "सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्।" सायण—"पुत्रीति कृपणं केवलदुःखकारित्वाद् दैन्यहेतुः। "पुत्रो ह पुत्रस्तु ज्योतिःस्वरूपं तमोनिवारकत्वेन स हि पितरं व्योमन्नुत्कृष्ट आकाशे परब्रह्मस्वरूपेऽवस्थापयति।")।

३५१. अभि० शा०, अंक २, पृ० ७० (स्त्रीरत्नपरिभोगिणो भवतः), ८४ (अन्तःपुरेभ्यः); अंक ३, पृ० ११० (बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते); अंक ६, पृ० २४० (बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्; रघु० १।३२।

३५२. द्रष्टव्य ऋ० १।६२।११, ७१।१, १०४।३, १०५।८, १८६।७; ४।५८।८; ७।१८।२, २६।३; १०।४३।१, १०१।११; ऐतरेय-ब्राह्मण ३।५।३; ३।२।१२ (एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति)। बहुपत्नीत्व से पारिवारिक सुख नहीं होता था और पति का जीवन दुःखी रहता था (ऋ० १।१०५।८; १०।३३।२)।

३५३. तुलनीय ऋ० ७।१८।७; १०।९५।६।

३५४. कुमार० ३।३७; ५।२६; ७।१५; ८।३२, ५१, ६१; रघु० ३।२४; १५।३०; मेघ० २।२०, २१; विक्रमो० ४।१८।

३५५. १४।२।६४ :

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यऽश्नुताम्॥

हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र १।२४।६। चक्रवाक का उल्लेख ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में भी है। इसके उल्लेखार्थ द्रष्टव्य ऋ० २।३९।३; मैत्रायणीसंहिता ३।१४।३,१३; वाजसनेयिसंहिता २४.२२, ३२; २५।८।

३५५क. अभि० शा० ७।२७ (प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणम् ।)।

३५६. ११।६।३।८; ६।१।२।८।

३५७. १।१।१।१ ।

३५८. रघु० ३।३९ (यज्वन्); १८।१२ (यजमान); कुमार० २।४६ (यज्वभिः); ६।२८ (यजमान); अभि० शा०, अंक ४, पृ० १३२ (यजमान); अंक ३, पृ० ८६, रघु० १।८६ (याज्य) ।

३५९. रघु० ३।४४, ६५; ११।२४ ।

३६०. वही ८।२५ (अग्निचित्) से गम्य । द्रष्टव्य आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र १६।१७; कात्यायन-श्रौतसूत्र १६।१८; तैत्तिरीयसंहिता ५।१।६ ।

३६१. रघु० १०।४, ५०; ११।२५, ३०; १७।८० (ऋत्विक्); ११।४९; १९।५४ (पुरोधस्); कुमार० ७।८० (पुरोधस्), ८६ (पुरोहित); अभि० शा०, अंक ३, पृ० ८६; मालविका० अंक ५, पृ० ९४ ।

३६२. कुमार० २।१५ ।

३६३. वही ७।४८ (अध्वर्यवः) ।

३६४. रघु० १३।३७ (त्रेताग्निधूमाग्रम्); १५।३५ (त्रेताग्नितेजसः); १०।७९ (हविर्भुजाम्); १३।४१ (हविर्भुजाम्); अभि० शा० ४।८; कुमार० १।५७ (अग्निमाधाय) ।

३६५. कुमार० १।५७ (अग्निमाधाय) से गम्य । द्रष्टव्य आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र ५।३।१७-२०; बौधायन-श्रौतसूत्र २।८।११, २।५, १५ ; २०।१६; २४।१२-१३; कात्यायन-श्रौतसूत्र ४।१०।५; आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र ५।२६।२-३ । चित्रभानु सेन : *A Dictionary of the Vedic Rituals*, Delhi, 1978, p. 34, अग्न्याधेय ।

३६६. कुमार० ६।२८ (उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम्) । द्रष्टव्य आश्वलायन-श्रौतसूत्र २।१।१७; आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र ५।१।२; १०।७; बौधायन-श्रौतसूत्र २.६; वैखानस-श्रौतसूत्र १।१ । चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४२, अरणी । हुताग्निप्रदक्षिणाहेतु द्रष्टव्य रघु० २।७१; अभि० शा०, अंक ४, पृ० १४० ।

३६७. रघु० ५।२५ (अग्न्यागारे); अभि० शा०, अंक ४, पृ० १३२ (अग्निशरणम्); अंक ५, पृ० १६४ (अग्निशरण-); विक्रमो०, अंक ३, पृ० ६५ (अग्निशरणसंरक्षणाय) । द्रष्टव्य आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र १।२।१०; कात्यायन-श्रौतसूत्र ४।२।११ ।

३६८. रघु० ११।२५; १६।३५; कुमार० १।३९,६०; ७।८८ (चतुरस्रवेदीम्); अभि० शा०, ४।८; अंक ३, पृ० ८६।

३६९. रघु० १।४४; ११।३७; १६।३५; कुमार० ५।७३ (वैदिकी····यूपसत्क्रिया ॥)।

३७०. रघु० १४।७०; १६।३५; कुमार० ५।३३ (कुशा); अभि० शा० ४।८ (दर्भाः); अंक ३, पृ० ११६ (दर्भ); अंक ३, पृ० ८६ (कुशान्, दर्भान्)।

३७१. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ८६ (यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भान्त्विग्भ्य उपहरामि)। द्रष्टव्य आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र ५।२७।१; भारद्वाज-श्रौतसूत्र १०।५।१। चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७२, दर्भ।

३७२. रघु० १४।७० (इध्म); कुमार० १।५७ (समित्); ५।३३ (समित्); अभि० शा० ४।८; अंक १, पृ० १८ (समित्)।

३७३. रघु० ११।२५ (च्युतविकङ्कतस्रुचाम्)। द्रष्टव्य आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र : "खादिरः स्रुवः पर्णमयी जुहूराश्वत्थ्युपभृद्वैकङ्कतीः स्रुचो वा" (मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत)।

३७४. रघु० १।५३, ८२; २।६९ (पीतहुतावशेषम्); अभि० शा०, अंक ४, पृ० १३२।

३७५. रघु० १३।३७; १।६२,८०; ३।१४; १०।७९।

३७६. कुमार० १।५१ (मन्त्रपूतं····हव्यम्); २।१५,४६; अभि० शा० ४।८।

३७७. रघु० १०।५१ (पयश्चरुम्), ५४ (चरुसंज्ञितम्)। द्रष्टव्य चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६६, चरु।

३७८. रघु० १।३१; ११।७; १६।३५ (अध्वर); १४।८७ (क्रतु); ११।४४ (क्रतु), ८४ (मख), ३२; ३।६५, ७४, ३८ (क्रतु), ३९ (मख); ११।२७ (मख); ३।८४ (मख); ३।४५; १।२६ (यज्ञ); कुमार० १।१७; २।१२; ३।१४; ६।७२ (यज्ञ); २।४६ (अध्वर); रघु० ८।३० (याग); ८।७५ (सवन); मालविका० १।४ (क्रतु); अंक ५, पृ० ११२; अभि० शा० ७।३४ (यज्ञ)।

३७९. रघु० १।८० (हविषे दीर्घसत्रस्य)। सत्र एक प्रकार का सोमयाग है, जो १२ दिन से लेकर १०० वर्षों तक की अवधि का माना गया है। इसमें केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है। द्रष्टव्य आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र २३; कात्यायन-श्रौतसूत्र २४।१।७; चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ११५, सत्र।

३८०. रघु० १०।४ (पुत्रीयामिष्टिम्)। पुत्रीयेष्टि में पिता अग्नि (अग्निः पुत्री) को अष्टाकपाल पुरोडाश "यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्। अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ (ऋ० ५।४।११; तैत्तिरीयसंहिता १।४।४६।१) इस मन्त्र से प्रदान किया जाता है। तुलनीय तैत्तिरीय-संहिता २।२।४ : "अग्नये पुत्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदिन्द्राय पुत्रिणे पुरोडाश-मेकादशकपालं प्रजाकामोऽग्निरेवास्मै प्रजां जनयति वृद्धामिन्द्रः प्रयच्छति।"

३८१. रघु० ६।६१; ९।१८; १।८४। यह वरुण से सम्बद्ध एक इष्टि है, जिसमें यजमान, उसकी पत्नी तथा ऋत्विक्-गण किसी बहती नदी अथवा जलाशय में स्नान करते हैं (कात्यायन-श्रौतसूत्र १०।८।१९)। यज्ञिय पात्रों, उपकरणों, प्रधान यज्ञ के अवशेषों (सोमपात्र, अथवा रस निकालने पर बचे उसके टुकड़ों—ऋजीषों) को वरुण को आहुति देकर जल में विसर्जित किया जाता है (आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र १३।१९।८-९; २१।१२; कात्यायन-श्रौतसूत्र १०।८।२४; चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ पृ० ४३, अवभृथ)। यद्यपि अवभृथ के बाद भी उदयनीय, आनुबन्ध्य तथा उदवसानीय ये तीन कृत्य किए जाते हैं तथापि अन्त्य कृत्यों में अवभृथ ही के प्रमुख होने से उसे अन्तिम कह दिया जाता है (बौधायन-श्रौतसूत्र, अग्निष्टोम-सूत्र, ५।६२-६३)।

३८२. रघु० १।३१; १७।८०; मालविका०, अंक ५, पृ० ९४। मल्लिनाथ (रघु० १।३१ की टीका) ने यह श्रुतिवचन उद्धृत किया है—"यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः' इति। 'दक्षिणाया दाक्षिण्यं नामर्त्विजो दक्षिणात्वप्रापकत्वम्।' 'ते दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्य' इति च।" द्रष्टव्य चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७१, दक्षिणा।

३८३. रघु० १।९५ (वसिष्ठ के आश्रम में शिष्यों का वेदाध्ययन); १५।३३ (वेदमध्याप्य)।

३८४. वही १।६६ (नूनं मत्तः परं वश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः। न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः॥), ६७; अभि० शा० ६।२५ (यथाश्रुति....निवपनानि); रघु० २।१६; ११।६१ (पितृक्रिया); ८।२६ (पितृकार्य); १।६७ (तर्पण)।

३८५ रघु० १।६६ (श्राद्धे)।

३८६. वही १।६ (यथाविधिहुताग्नीनाम्); २।१६ (देवतापित्रतिथिक्रिया); ४।२५ (सम्यग्घुतो वह्निः)। हुताग्नियों की प्रदक्षिणा का भी संकेत है (रघु० २।७१ : प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशनम्; अभि० शा०, अंक ४, पृ० . १४० : काश्यपः—वत्से इतः सद्यो हुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व।)।

३८७. रघु० १।५८ (आतिथ्य-क्रिया); २।१६ (अतिथिक्रिया); ५।२, ९; कुमार० ५।३९ (सत्कार); अभि० शा०, अंक १, पृ० ४६ (न युक्तमकृतसत्कारमतिथि-विशेषं विसृज्य स्वच्छतो गमनम्।); अंक ५, पृ० १६४ (अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हसीति।)।

३८८. अभि० शा०, अंक ४, पृ० १२४ (अनसूया—पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।)। आचार्य, ऋत्विक्, वैवाह्य, राजा, प्रिय तथा स्नातक ये छह अर्घ के अधिकारी माने गए हैं (पारस्कर-गृह्यसूत्र १।३।१: "षडर्घ्या भवन्त्याचार्यऽऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति।")।

३८९. रघु० १।४४; ५।२, १२; विक्रमो०, अंक ५, पृ० १५६।

३९०. रघु० २।१६ में देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा मनुष्ययज्ञ का एकत्र निर्देश है (देवतापित्रतिथिक्रिया)।

३९१. वही १।४९, ५३ (धूमैराहुतिगन्धिभिः); २।२६, ६६, ६९, ७१; १३।४५; कुमार० ५।३३, १६; ६।१६; अभि० शा०, अंक ४, पृ० १२८ (होमवेलाम्)।

३९२. रघु० ३।४२-६९। इसे महाक्रतु कहा गया है (वही ३।४६, ६९)। अश्वमेध के लिए द्रष्टव्य पाण्डुरंग वामन काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ (हिन्दी रूपान्तरकार अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण), पृ० ५६५-६९; सूर्यकान्त: वैदिक कोश, पृ० ४१६-१८; ए० बी० कीथ: वैदिक धर्म एवं दर्शन (हिन्दी रूपान्तरकार सूर्यकान्त, दिल्ली, १९६५)। द्वितीय भाग, पृ० ४२५-३०; चित्रभानु सेन: पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४३-४४।

३९३. रघु० ४।८६; ५।१। एक सोमयाग, अग्निष्टोम की भाँति एक एकाह, जो गवामयन में विषुवत् के बाद चतुर्थ दिन सम्पादित होता है (आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र २२।१।६)। इसकी दक्षिणा बहुत अधिक होती है—१०० अश्व, १००० पशु अथवा समग्र सम्पत्ति (लाट्यायन-श्रौतसूत्र ८।१।२८; रघु० ५।१)।

३९४. रघु० १५।५८।

३९५. मालविका०, अंक ५, पृ० ९४।

३९६. अभि० शा० ६।१ (पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः)। इष्टि, याग तथा क्रतु में भेद है। द्रष्टव्य दत्तकमीमांसा में उद्धृत भट्टोक्तचरुहोमाधिकार—

इष्टिस्तु चरुणा प्रोक्ता यागस्तु पशुना स्मृतः ।
एतच्छेषः क्रतुः प्रोक्तो होमान्यत्पूजनं स्मृतम् ।।

(जी० आर० नन्दरगीकर द्वारा रघुवंश, टिप्पणी-भाग, पृ० १३४ पर उद्धृत) ।

३९७. रघु० ३।१० (यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रियाः धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ।) रघु० ३।१८ में 'संस्कार' शब्द प्रयुक्त है; इसी प्रकार १५।३१ में भी (संचस्कार यथाविधि) ।

३९८. वही ३।१० (पुंसवनादिकाः क्रियाः) ।

३९९. वही ३।१८ (जातकर्मणि अखिले); अभि० शा०, अंक ७, पृ० २७४, २९२ ।

४००. रघु० ३।२१ (अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ।); ५।३६ (अतः पिता ब्रह्मण एवं नाम्ना तमात्मजमजन्मानमजं चकार ।); कुमार० १।२६ (तां पार्वतीत्यभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।) ।

४०१. रघु० ३।२८ (स वृत्तचौलः) ।

४०२. वही ३।२८ (लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ।।) ।

४०३. वही ३।२९ (अथोपनीतं विधिवद्…) ।

४०४. वही ३।३३ (अथास्य गोदानविधेरनन्तरम्)

४०५. वही ३।३३ (विवाहदीक्षाम्) द्रष्टव्य मनुस्मृति ३।२; पाण्डुरंग वामन काणे : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग १, पृ० २६८-३०७ ।

४०६. रघु० ८।६२, ७१, ७२ (इन्दुमती का दाहकर्म); १२।५६ (जटायु का दाहकर्म तथा अन्त्य क्रियाएँ : "अग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ।); १९।५४ (पश्चिमक्रतु- ; अग्निवर्ण की अन्त्येष्टि); ७।५७, ७२ (अग्निसंस्कार) । द्रष्टव्य पाण्डुरंग वामन काणे : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग १, पृ० २०८-३१ ।

कालिदास ने तिलोदक की अंजलि (अभि० शा०, अंक ३, पृ० १०० : "अन्यथावश्यं सिञ्चत मे तिलोदकम् ।" द्रष्टव्य सत्याषाढ-श्रौतसूत्र २८।२।७२), निवापमाल्य (रघु० ८,६२; द्रष्टव्य आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।८ : "एकस्मिन्काले गन्धमाल्यधूपदीपच्छादनानां प्रदानम् ।") तथा यतियों के अनग्निसंस्कार (रघु० ८ २५;

द्रष्टव्य पाण्डुरंग वामन काणे : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग ३, पृ० ११३५-३६) का भी उल्लेख किया है।

४०७ रघु० ३।३३ (अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।)। यह लघु-आश्वलायनस्मृति (१४।१) के अनुकूल है, जिसमें इसे विवाह के समय सम्पाद्य माना गया है।

४०८. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।८।१-९।

४०९. शांखायन-गृह्यसूत्र १।२८।२०; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ६।१६।१२ (एवं गोदानमन्यस्मिन्नपि नक्षत्रे षोडशे वर्षे।)। द्रष्टव्य चित्रभानु सेन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४२, गोदान। मनुस्मृति (२।६५) ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए एतदर्थ क्रमशः १६, २२ तथा २४ वर्ष की आयु का विधान करती है।

४१०. ३।१।२।४।

४११. रघु०, सप्तम सर्ग (७।१८-८८)।

४१२. कुमार० ७।७२-८८।

४१३. अभि० शा० ३।२१; ५।१६, २४; अंक ७, पृ० २८८; अंक ४, पृ० ११८। कालिदास ने दुष्यन्त के पूर्वज ययाति तथा शर्मिष्ठा के गान्धर्व-विवाह का भी संकेत किया है (अभि० शा० ३।२०)। शर्मिष्ठा पुरु की माता थीं।

४१४. रघु० षष्ठ सर्ग।

४१५. रघु०, एकादश सर्ग।

४१६. वासिष्ठ-धर्मसूत्र १७।६८-६९; बौधायन-धर्मसूत्र ४।१।१३।

४१७. मनुस्मृति ९।९०।

४१८. २५।४१-४२।

४१९. ऋग्वेद (१०।२७।१२) में कन्या द्वारा अनेक व्यक्तियों में से स्वयंवरण मिलता है। वीरमित्रोदय (याज्ञवल्क्य १।६१ की टीका) स्वयंवर को गान्धर्व-विवाह मानते हैं।

४२०. कुमार० ७।६ (मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफाल्गुनीषु।)। रामायण (१।७१।२४, ७२।१३) तथा महाभारत (१।८।१६) में भी उत्तर-फाल्गुनी को ही वरीयता दी गई है।

४२१. तैत्तिरीय-ब्राह्मण १।५।२; बौधायन-गृह्यसूत्र १।१।१८-१९; मानव-गृह्यसूत्र १।७।५ ।

४२२. कुमार० ६।७८-८२ । द्रष्टव्य ऋ० १०।८५।८-९; शांखायन-गृह्यसूत्र १।६।१-४; बौधायन-गृह्यसूत्र १।१।१४-१५; आपस्तम्बगृह्यसूत्र २।१६, ४।१-२ तथा ७ ।

४२३. कुमार० ६।८७-८९ । द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १।६।५-६।

४२४. रघु० ७।१५-१७; कुमार० ७।७०, ७१ । द्रष्टव्य पारस्कर-गृह्यसूत्र १।४ ।

४२५. रघु० सर्ग ७; कुमार० ७।३७ आदि । द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १।१२।१।

४२६. कुमार० ७।७२; रघु० ७।१८ (अर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्) । द्रष्टव्य आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ३।८; बौधायन-गृह्यसूत्र १।२।१; मानवगृह्यसूत्र १।९; काठकगृह्यसूत्र २४।१।३; शांखायन-गृह्यसूत्र १।१२।१० ।

४२७. वधू को स्नान कराना, नवीन वस्त्र देना, उसकी कटि में धागा या कुश की मेखला बाँधना, कुमार० ७।७-२५ । द्रष्टव्य आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ४।८; काठक-गृह्यसूत्र २५।४; पारस्कर-गृह्यसूत्र १।४; गोभिल-गृह्यसूत्र २।१।१७-१८; मानवगृह्यसूत्र १।११।४-६ ।

४२८. वधू के हाथ में कंगना बाँधना, रघु० (८।१ विवाहकौतुकम्); कुमार० ७।२५ (कौतुकहस्तसूत्रम्) । द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १।१२।६-८; कौशिकसूत्र ७६।८ ।

४२९. घर के अन्तःकक्ष में वरवधू का मण्डप में आगमन, कुमार० ७।२९ । द्रष्टव्य पारस्कर-गृह्यसूत्र १।४ ।

४३०. कुमार० ७।७५; रघु० ७।२३ । देखिए पारस्कर-गृह्यसूत्र १।४; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ४।४; बौधायन-गृह्यसूत्र १।१।२४-२५ ।

४३१. रघु० ७।२० । द्रष्टव्य आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।७।३; १।४।३-७; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ५।१; गोभिलगृह्यसूत्र २।१।२४-२६; मानवगृह्यसूत्र १।८; भारद्वाज-गृह्यसूत्र १।१३ आदि ।

४३२ रघु० ७।२१; कुमार० ७।७६, ७७। देखिए ऋ० १०।१८।८ (हस्तग्राम); अथर्व० १४।१।४९; शांखायन-गृह्यसूत्र १।१३।२; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र १।७।३; गोभिल-

गृह्यसूत्र २।२।१६; खादिरगृह्यसूत्र १।३।१७-३१; हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र १।६।२०।१।

४३३. कुमार० ७।८०; रघु० ७।२८ (कन्या द्वारा लाजहोम)। देखिए आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।७।७-१३; पारस्कर-गृह्यसूत्र १।६; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ५।३-५; शांखायन-गृह्यसूत्र १।१३।१५-१७; गोभिलगृह्यसूत्र २।२।५; मानवगृह्यसूत्र १।११।११; बौधायन-गृह्यसूत्र १।४।२५।

४३४. रघु० ७।२४; कुमार० ७।७९-८० (तीन बार प्रदक्षिणा)। द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १।१३।४; हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १।२०।८१।

४३५. कुमार० ७।८५। देखिए पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८।१८-१९; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ६।१२। साथ ही सप्तर्षिमण्डल-दर्शन का भी विधान है (आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।५।२२)।

४३६. रघु० ७।८८; कुमार० ७।२८।

४३७. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।७।२०; पारस्करगृह्यसूत्र १।८; गोभिलगृह्यसूत्र २।२।१५-१६ आदि।

४३८. कुमार० ८।९४ (क्षितिविरचितशयनं कौतुकागारमगात्।)।

४३९. द्रष्टव्य गोभिलगृह्यसूत्र २।३।१५; खादिरगृह्यसूत्र १।४।९; आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।८।१०; हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र १।२३।१०; कौषीतकिगृह्यसूत्र १।१०।१५; पारस्करगृह्यसूत्र १।८।२१; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ३।८।८ (त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जनं च), ९; शांखायन-गृह्यसूत्र १।७।५। विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य रामगोपाल : *India of Vedic kalpasūtras*, Delhi, 1959, pp. 245-46.

४४०. द्रष्टव्य गोभिलगृह्यसूत्र २।५।१-८; खादिरगृह्यसूत्र १।४।१२-१६; पारस्कर-गृह्यसूत्र १।११।१-३; बौधायन-गृह्यसूत्र १।५।१८; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र ३।८।१०; हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र १।२३।११; १।२४ ३-६; कौषीतकि-गृह्यसूत्र ७९।२-१२; शांखायन-गृह्यसूत्र १।१९।२-६; मानवगृह्यसूत्र १।१४-१९। विस्तरहेतु द्रष्टव्य रामगोपाल : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० २४६-२४७।

४४० क. गृह्य संस्कारादिहेतु द्रष्टव्य V. Varadachari : "*Gṛhya Ceremonials in the Works of Kālidāsa*," *Kālidāsa-Samīkṣā*, Sri Venkateswara University, Tirupati, 1962, pp. 25-33.

४४१. द्रष्टव्य पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८।१। सप्तपदी कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार पाणिग्रहण से पूर्व (बौधायन-गृह्यसूत्र १।४।१०; गोभिलगृह्यसूत्र २।२।१६;

खादिरगृह्यसूत्र १।३।३१) और कुछ के अनुसार उसके बाद (आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।५।२०) होती है। सप्तपदी पर ही विवाह की पूर्णता तथा वधू को पतित्व की प्राप्ति मानी गई है (मनुस्मृति ८।२२७; स्मृतिचन्द्रिका, सं० मैसूर, संस्कारकाण्ड १, पृ० १८४, २१९ : "अत एव यमः—नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते। पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे॥ अनेन सप्तमपदादर्वाक् परिणेतुर्मरणेऽन विधवात्वमित्युक्तं भवति।")।

कालिदास ने सप्तपदी का संकेत कुमारसम्भव (५।३९) में किया है: "यतः सतां सन्नतगात्रि सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥" किन्तु यहाँ प्रसंग संगत का है, विवाह का नहीं—यद्यपि यह संगत अन्ततोगत्वा विवाह ही में परिणत होता है। सप्तपद से मैत्री के लिए द्रष्टव्य अथर्व० ५।११।९ भी।

४४२. द्रष्टव्य शांखायन गृह्यसूत्र १।१३।११-१२; बौधायन-गृह्यसूत्र १।४।२४; पारस्कर-गृह्यसूत्र १।७।१; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र २.५।३; हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र १।१९।८; गोभिलगृह्यसूत्र २।२।१-४; कौशिक-सूत्र ७६।१५; मानवगृह्यसूत्र काठकगृह्यसूत्र २५।२८। विस्तरहेतु द्रष्टव्य रामगोपाल : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० २३२-३३।

४४३. अभि० शा० ४।८।

४४४. वही, अंक ४, पृ० १४० : "काश्यपः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते।)"।

४४५. द्रष्टव्य मधुसूदन मिश्र : *Metres in Kālidāsa* Delhi, 1977, p. 87, n., pp. 102-3; एम० आर० काले : अभिज्ञानशाकुन्तल, टिप्पणी—भाग, पृ० १०२-३।

४४६. तुलनीय 'मीमांसामेव चक्रे' (शतपथ-ब्राह्मण); विदां वा इदमयं चकार' (जैमिनीय-ब्राह्मण)। द्रष्टव्य W. D. Whitney : *A Sanskrit Grammar*, Leipzig, 1896, 1072.C.

४४७. उदाहरणार्थं 'हरिभ्यां याह्योक आ' (ऋ० ५।३।१७); 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' (ऋ० ३।३।९)। उपर्युक्त प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य V. Subba Rao : "*The Un-pāṇinian Usages of Kālidāsa*," *Kālidāsa-Samīkṣā*, pp. 35-40

४४८. द्रष्टव्य पाणिनि : अष्टाध्यायी ३।२।१०५, १०६, १०७ (छन्दसि लिट्, लिटः कानज्वा, क्वसुश्च)। देखिए भट्टोजिदीक्षित : सिद्धान्तकौमुदी—"इह भूतसामान्ये छन्दसि लिट्। तस्य विधीयमानौ क्वसुकानचावपि छान्दसाविति त्रिमुनिमतम्। कवयस्तु बहुलं प्रयुञ्जते। 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे'; 'श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते' इत्यादि। द्रष्टव्य पाणिनि-सूत्र ३।२।१०७ पर बालमनोरमा भी—"विभाषा

पूर्वाह्लापराह्ला—'इति सूत्रभाष्ये तु पपुष आगतं पपिवद्रूप्यमिति प्रयुक्तम्। तेन लोकेऽपि क्वचित् क्वसोः साधुत्वं सूचितम्, तदाह कवयस्त्विति।" (सिद्धान्तकौमुदी, भाग ४, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीयावृत्ति, १९५१, पृ० ९७-९८)। इन प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य V. Subba Rao : वही, पृ० ४२-४४।

४४९. तुलना करें भागवतपुराण (सं० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता, संवत् १३३४), ११।२८।२० : "त्रियवस्थ"। मल्लिनाथ कालिदास के इस इयङादेश को पादपूरणार्थ मानते हैं—"केचित्साहसिकाः 'त्रिलोचनम्!' इति पेठुः 'त्र्यम्बकमित्युक्ते पादपूरणाभ्यस्यासात्त्रियम्बकमिति पादपूरणोऽयमियङादेशश्छान्दसो महाकविप्रयोगादभियुक्तैरङ्गीकृतः।" (कुमार० ३।४४ पर टीका)। इस प्रयोग पर देखिए V. Subba Rao : वही, पृ० ५०-५१; सिद्धान्तकौमुदी, भाग ४, पृ० ३७०; अष्टाध्यायी ६।४।७७ पर वार्तिक 'इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्'। तथा काशिका।

४५०. कुमार० १।५९, ६०; ३।६६; रघु० १६।५१।

४५१. रघु० १६।५१ पर टीका--"गिरिरस्त्यस्य निवासत्वेन गिरिशस्तेन। लोमादित्वाच्छप्रत्ययः।...गिरौ शेते इति विग्रहे तु 'गिरौ शेतेर्डः' इत्यस्य छन्दसि विधानाल्लोके प्रयोगानुपपत्तिः स्यात्। तस्मात्पूर्वोक्तमेव विग्रहवाक्यं न्याय्यम्।" किन्तु उवट (वाजसनेयिसंहिता १६।४ पर भाष्य) : "गिरिश गिरौ कैलासाख्ये शेते इति गिरिशः तस्य सम्बोधनम् हे गिरिश" (१६।२९ पर भाष्य) : "गिरिशाय...गिरौ शेत इति गिरिशयः।" इसी प्रकार महीधर (वाजसनेयिसंहिता १६।४ पर भाष्य) : "गिरौ कैलासे शेते गिरिशः हे गिरिश"; (१६।२९ पर भाष्य) : "गिरौ कैलासे शेतेऽसौ गिरिशयस्तस्मै।"

४५२. १६।४। तुलना करें १६।२२ (गिरिचराय), २९ (गिरिशयाय) भी।

४५३ रघु० १०।६ : ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः। मल्लिनाथ इस दीर्घत्व के विषय में मौन हैं।

४५४. सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९०९, पृ० १२६।

ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक का सम्बन्ध

सुमन शर्मा

दिल्ली

On the evidence of the similarity of the contents and language of the *Aitareya Brāhmaṇa* and the *Aitareya Āraṇyaka* the traditional belief may be taken to be correct that the author of the *Aitareya Brāhmaṇa* and the first three "Āraṇyakas" of the latter, is one and the same person, namely, "Aitareya Mahidāsa". Keith's doubt, in this regard, is baseless.

ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक का परस्पर सम्बन्ध जानने के लिए हमें निम्नलिखित तीन विषयों पर विचार करना होगा—

(१) विषय-वस्तु

(२) शब्द-प्रयोग तथा भाषा

(३) रचयिता

ऐतरेय ब्राह्मण तथा आरण्यक दोनों ही ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं किन्तु दोनों में उद्देश्य की भिन्नता के कारण विषयों के चयन और उनके वर्णन में भिन्नता दिखाई देती है। ब्राह्मण में जहाँ सभी सोमयागों का सूक्ष्म सांगोपांग विवेचन है वहाँ आरण्यक में केवल "गवामयन" सत्र में अन्तिम से पहले दिन सम्पन्न होने वाले महाव्रत कर्म को लिया गया है। इसके साथ-साथ आरण्यक में दार्शनिक तत्त्वों पर भी चर्चा हुई है।

विषय-वस्तु

ऐतरेय ब्राह्मण को चालीस अध्यायों में विभक्त किया गया है। पाँच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका कही गई है। इन आठ पंचिकाओं में से प्रथम दो पंचिकाओं तथा तृतीय पंचिका के प्रथम तीन अध्यायों में "अग्निष्टोम" का वर्णन

किया गया है जिसे सोमयागों की प्रकृति कहा जाता है। इनमें होता की क्रियाओं का वर्णन किया गया है। ये क्रियायें पाँच दिन के लिए होती हैं—

(१) दीक्षणीयेष्टि

(२) प्रायणीयेष्टि

(३) प्रवर्ग्य और उपसद

(४) अग्नि-सोम प्रणयन, हविर्धान प्रणयन, पशुवलि

(५) प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायं सवनों में सोमरस को निकालना, प्रदान करना तथा पीना, उदयनीय तथा अवभृथ।

ये पाँच दिन की क्रियायें बहुत ही आवश्यक होती हैं क्योंकि इनको सम्पन्न किये बिना कोई भी व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता तथा सोमरस का पान नहीं कर सकता। तृतीय पंचिका के चतुर्थ अध्याय में "अग्निष्टोम" तथा उसका महत्त्व बताया गया है। तृतीय पंचिका के अन्तिम अध्याय तथा चतुर्थ पंचिका के प्रथम दो अध्यायों में "अग्निष्टोम" की विकृति "षोडशी", "उक्थ्य" तथा "अतिरात्र" का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पंचिका के तृतीय अध्याय में "गवामयन" सत्र में होता के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। इसी पंचिका के अन्तिम दो अध्यायों तथा पंचम पंचिका के प्रथम चार अध्यायों में "द्वादशाह" में होता के कर्त्तव्यों का उल्लेख है। पंचम अध्याय में अग्निहोत्री के तप इत्यादि का वर्णन है। षष्ठ पंचिका में षडह सोमयाग में "ग्रावस्तुत" तथा "सुब्रह्मण्यः" के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। सप्तम पंचिका के प्रथम अध्याय में यज्ञपशु को ३६ भागों में विभक्त करके पुरोहित, यजमान, यजमानपत्नी तथा यज्ञ से सम्बद्ध पुरुषों में बाँटने का और द्वितीय अध्याय में अग्निहोत्री के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में "शुनःशेप" का विख्यात आख्यान है तथा चतुर्थ और पंचम अध्यायों में क्षत्रिय के यज्ञों का वर्णन है। अष्टम पंचिका में राजा के अभिषेक, पुनरभिषेक तथा महाभिषेक का वर्णन है तथा अन्त में राजा के पुरोहित का वर्णन किया गया है।

ऐतरेय आरण्यक में प्रमुख रूप से "गवामयन" सत्र में अन्तिम से पहले दिन अनुष्ठेय महाव्रत का वर्णन किया गया है। यह कर्म भी "सोमयाग" के अन्तर्गत है। ऐतरेय आरण्यक पाँच भागों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'महाव्रत' के प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायं सवनों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में प्राण तथा आत्मा का वर्णन है, तृतीय अध्याय में संहिता के भेद बताए गए हैं। चतुर्थ अध्याय में महानाम्नी ऋचाओं का संग्रह है। पंचम अध्याय में "महाव्रत" के माध्यन्दिन सवन के "निष्केवल्य" शस्त्र का वर्णन है। ऐ० ब्रा० में इस कर्म का केवल उल्लेखमात्र है।[1]

---

१. तददो महाव्रतीयेनाह्ना प्रजनयति–ऐ० ब्रा० १७. ८.

कीथ महोदय ने ऐतरेय आरण्यक की भूमिका में कहा है कि "इस बात पर निश्चयपूर्वक विचार करना सम्भव है कि ऐतरेय ब्राह्मण में 'महाव्रत' का पूर्ण समावेश क्यों नहीं किया गया है।[२] परन्तु इस विषय में एक सम्भावना हो सकती है, जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा कि ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक के प्रथम तीन आरण्यक का रचयिता एक ही व्यक्ति को माना गया है। ऐ० आ० के प्रथम तीन अध्यायों को ऐ० ब्रा० का अंग कहा गया है, ये दोनों कृतियाँ एक ही लेखक की हैं, इस बात की पुष्टि इन दोनों की भाषा की तुलना से भी होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ऐ० ब्रा० के रचयिता ने आरम्भ में "महाव्रत" का विस्तृत वर्णन न करके केवल उल्लेखमात्र ही किया तथा अपने अन्य ग्रंथ (ऐतरेय आरण्यक) में उसका विस्तृत वर्णन कर दिया जिससे कि ये दोनों कृतियाँ मिलकर पूर्णता प्राप्त कर सकें।

ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० की भाषा रचना तथा शब्द-प्रयोग में बहुत समानता है। ऐ० आ० के पाठ से सम्बद्ध अपने प्राक्कथन में कीथ महोदय प्रतिपादित करते हैं कि "ऐतरेय ब्राह्मण तथा आरण्यक की भाषा-रचना तथा उनके शब्द-प्रयोग में बहुत सादृश्य है। इससे ज्ञात होता है कि इन दोनों ग्रन्थों का परस्पर सादृश्य है।"[३]

शब्द-प्रयोग तथा भाषा

ऐ० आ० १. १. २ तथा ऐ० ब्रा० ३. ३. ७ के निम्नलिखित उद्धरण में केवल समान शब्दों का ही प्रयोग नहीं किया गया है अपितु वाक्य रचना भी ज्यों की त्यों वही है—

"ते द्वे छन्दसी भवतः प्रतिष्ठाया एव द्विप्रतिष्ठो वै पुरुषश्चतुष्पादा. पशवो यजमानमेव तद् द्विप्रतिष्ठं चतुष्पात्सु पशुषु प्रतिष्ठापयति।"

(दो छन्द (त्रिष्टुप् तथा विराट्) प्रतिष्ठा के लिए होते हैं। पुरुष भूमि पर दो पैरों से प्रतिष्ठित होता है तथा पशु चार पैरों के द्वारा। इस प्रकार दो पैरों वाला पुरुष चार पैरों वाले पशुओं में प्रतिष्ठित होता है।)

---

२. *It is not now possible to decide exactly why the Aitareya Brāhmaṇa does not deal with the Mahāvrata rite.* ऐ० आ०, ए० बी० कीथ, पृष्ठ १६।

३. *"As might be expected they (the Verbal Coincidences between the Aitareya Brāhmaṇa and the Āraṇyaka) are constant and show unmistakably the connection of the two works."*

ऐ० ब्रा० १. २. १ तथा ऐ० आ० १. १. ३ में त्रिष्टुप् को वीर्य "वीर्यं वै त्रिष्टुप्", ऐ० ब्रा० १. २१. १५ तथा ऐ० आ० १. १. ३ में पशुओं को जगती छन्द से सम्बद्ध "जागता वै पशवः' तथा ऐ० ब्रा० १. १५. १ तथा ऐ० आ० १. १. ३ में समान शब्दों में गायत्री छन्द को तेज और ब्रह्मवर्चसी कहा गया है "तेजो वै ब्रह्म-वर्चसं गायत्री।"

ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० दोनों में ही प्रजापति को अनिरुक्त कहा गया है— अनिरुक्ते प्राजापत्ये—(ऐ० ब्रा० ३. ३०) 'तदनिरुक्तं प्राजापत्यं शंसत्यनिरुक्तो वै प्रजापतिः (अनिरुक्त प्रजापति की प्रशंसा करनी चाहिए क्योंकि प्रजापति अनिरुक्त है, ऐ० आ० १. २. २)।

ऐ० ब्रा० ५. १६ तथा ऐ० आ० १. २. २. में कयाशुभीय सूक्त के लिए समान शब्दों का प्रयोग किया गया है—

"तदु कयाशुभीयम्। एतद्वै संज्ञानं संतनि सूक्तं यत्कयाशुभीयमेतेन ह वा इन्द्रोऽगस्त्यो मरुतस्ते समजानत तद्यत्कयाशुभीयं शंसति संज्ञात्या एव। तद्वायुष्य तद्योऽस्य प्रियः स्यात् कुर्यदिवास्य कयाशुभीयम्।"

(सम्यक् तथा विस्तृत ज्ञान के लिए कयाशुभीय सूक्त (ऋ० १. १६५) का पाठ करना चाहिए। इस सूक्त के द्वारा ही इन्द्र, अगस्त्य और मरुत् सम्यक् ज्ञानवान् हुए, इसलिए सम्यक् ज्ञान के लिए कयाशुभीय सूक्त का उच्चारण करना चाहिए। पुनश्च यह सूक्त आयु का भी हेतु है। इसलिए होता अपने प्रिय यजमान के लिए इस सूक्त का पाठ अवश्य करे।)

ऐ० ब्रा० ३. ६ तथा ऐ० आ० २. १. ५ दोनों में ऋषि "हिरण्यदन्वैदः" का उल्लेख है।

शब्दों के अतिस्वल्प अन्तर से ऐ० ब्रा० ३. ४३ तथा आ० २. ४. ३ में देवताओं को परोक्षप्रिय कहा गया है—

"इत्याचक्षते परोक्षम् परोक्षकामाः हि देवा":—ऐ० ब्रा०। "इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः"—ऐ० आ० (देवता परोक्षप्रिय होते हैं, यह लोक प्रसिद्ध है)। हि शब्द यहाँ लोकप्रसिद्धि को द्योतित करता है।

ऐ० आ० २. ५. १ तथा ऐ० ब्रा० १. २१ के निम्नलिखित वाक्य में एक समान शब्दावली का प्रयोग किया गया है—

"विक्षुद्रमिव वा अन्तस्त्यमणीय इव च स्थवीय इव च।"

ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० के शब्दों की रूपरचना में भी बहुत समानता है—

ऐ० आ० के समान ऐ० ब्रा० में भी वैदिक रूप 'दूहे' (ब्रा० ६. ३. २. तथा आ० १. ३. २) तथा 'ईशे' (ब्रा० १. १६. ४; आ० २. १. २) का प्रयोग किया गया है।

लिट् लकार का बहुत अधिक प्रयोग ऐ० ब्रा० में नहीं है। कुछ रूप सम् विद्रे (ब्रा० १. १७. १५), संजभ्रुः (ब्रा० १. १८. १), बभूव, लेभे, प्रोवाच (आ० २. २. ४) इत्यादि प्राप्त होते हैं, किन्तु अभ्यास के दीर्घत्वसहित लिट् लकार के रूप 'दाधार' (ब्रा० ४. १२. ८; आ० १. ५. २) तथा 'बीभाय' (ब्रा० ५. २५. १७; आ० १. ३.४) ऐ० आ० के समान ऐ० ब्रा० में भी प्रयुक्त हैं।

लुङ् लकार का प्रयोग ऐ० आ० तथा ब्रा० दोनों में पर्याप्त रूप में है। उदाहरणार्थ —

ऐ० आ०—उदगात् १. ३. ४ समागात् २. १. ५ समगात् ३. १. १ अवोचाम ३. २. २. ३. अवोचत २. २ २; ऐ० ब्रा०—अयांसि २. ४०. ३; आज्ञासम् ६. ३४. ३; असक्थाः ६. ३३. ४.

विधिमूलक लुङ् का प्रयोग 'मा' के साथ किया गया है। इसके उदाहरण ऐ० आ० के समान ऐ० ब्रा० में भी कम हैं—

मा यात्यन्—ऐ० ब्रा० १. १३. १२.

मा अनुवोचः—ऐ० ब्रा० १. १३. १२.

मा० प्रहासीः—ऐ० आ० २. ७. १.

लेट् लकार का प्रयोग ऐ० ब्रा० तथा आ० में इच्छा, प्रश्न में किया गया है— तिष्ठासि (ऐ० ब्रा० २. २); प्रजानाथ ऐ० ब्रा० १. ७; असत् ऐ० ब्रा० २. ८७; प्रविशाम (ऐ० आ० २. १. ४); अवाम ऐ० आ० २. ४ २; आप्नवानि—ऐ० आ० १. ४. ३।

वैदिक नियम के अनुसार ही ऐ० ब्रा० तथा आ० में उपसर्ग आवश्यकरूप से अपने क्रियापदों से पूर्व जुड़े हुए नहीं दिखाई देते, अपितु वे व्यवहित भी होते हैं[४]—

अत्येनं मन्यते—ऐ० आ० २. ३. ३.

अनु यत्र युज्यते—ऐ० आ० २. ३. ८.

नि वै ध्यायति—ऐ० ब्रा० १. २.

प्र च जायते—ऐ० ब्रा० १. ३.

---

४. व्यवहिताश्च—पा० सू० १. ४. ८२.

तुमर्थक प्रत्ययों में ऐ० ब्रा० तथा आ० में तोसुन् का प्रयोग ईश्वर के साथ किया गया है[५]--

ईश्वरो चरितो:—ऐ० ब्रा० २. ३. ५.

ईश्वरो भवितो:—ऐ० ब्रा० २. ३. ६.

ईश्वरो मथितो:—ऐ० ब्रा० २. ४.

ईश्वरो अवष्टो:—ऐ० ब्रा० १२. ७.

तुमुन् के अर्थ को प्रकट करने के लिए 'त्यै' का प्रयोग ऐ० ब्रा० तथा आ० में अनेक बार किया गया है—

अभिजित्यै (ऐ० आ० १. १. २); प्रजात्यै (ऐ० आ० १. २. ४); क्लृप्त्यै (ऐ० ब्रा० १. २) प्रजात्यै (ऐ० ब्रा० १. १)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐ० ब्रा० तथा आ० की विषय-वस्तु और भाषा शैली में बहुत समानता है और इसी आधार पर ये एक ही व्यक्ति द्वारा रचित माने जाते हैं।

रचयिता—

ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० के प्रथम तीन आरण्यक "ऐतरेय महिदास" द्वारा रचित माने जाते हैं। ऐ० आ० २. १. ८ में "ऐतरेय महिदास" का नाम भी आया है—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः।" इस आरण्यक के अनुवाद की एक टिप्पणी में कीथ महोदय लिखते हैं कि "आरण्यक में 'महिदास' का नाम आने से यह निश्चित है कि उसने आरण्यक नहीं लिखा।"[६] किन्तु कीथ का अभिप्राय निर्णायक नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारतीय आचार्यों की अपने ग्रंथों में अपना नाम अन्य पुरुष में देने की परम्परा विद्यमान रही है। इस विषय में सब विद्वान् सहमत हैं कि शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन याज्ञवल्क्य ने किया, जब कि उसी शतपथ ब्राह्मण में अनेकों बार याज्ञवल्क्य का नाम आया है[७] —

---

५. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ—पा० सू० ३. ४. १३.

६. *"This mention is enough to prove that Mahidāsa did not write the Āraṇyaka. But it is quite improbable that he was the redactor of Brāhmaṇa in its form of forty Chapters."*

A. A. P. 210.

७. (१) १. ३. ४. २१; २. ३. १. २१; २. ४. ३, २; १२.४.१. १०;
(२) ३. १. ३. १०.
(३) १२. ६. ३. २.

१. तदु होवाच याज्ञवल्क्यः
२. इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः
३. स होवाच याज्ञवल्क्यः

इन उल्लेखों के आने से किसी विद्वान् को शतपथ ब्राह्मण के याज्ञवल्क्य प्रोक्त होने में सन्देह नहीं, तो ऐ० आ० में "महिदास" का नाम आ जाने से कीथ महोदय को सन्देह नहीं होना चाहिए था। यदि यह कहा जाये कि ग्रन्थकर्ता स्वयं अपने को विद्वान् अर्थात् जानते हुये कैसे कह सकता है तो इसमें कोई हानि नहीं। एक सत्यवक्ता ग्रन्थकार अपने विषय में कह सकता है कि अमुक समय पर जानते हुये ही वह अमुक बात बोला था।[८]

इसके अतिरिक्त "षड्गुरुशिष्य" ऐ० ब्रा० की वृत्ति के आरम्भ में "ऐतरेय महिदास" को "याज्ञवल्क्य" की "इतरा कात्यायनी" नाम्नी पत्नी से उत्पन्न कहता है तथा चालीस अध्यायों के ब्राह्मण तथा ऐ० आ० के प्रथम तीन अध्यायों का रचयिता "ऐतरेय महिदास" को मानता है।[९] अतः "षड्गुरुशिष्य" की दृष्टि में ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० के प्रथम तीन आरण्यकों का रचयिता "ऐतरेय महिदास" ही है।

इसके अतिरिक्त सायण भी ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० के प्रथम तीन आरण्यकों का रचयिता "ऐतरेय महिदास" को मानता है। इस सम्बन्ध में आचार्य "सायण" ने ऐ० ब्रा० की भूमिका में निम्नलिखित आख्यायिका दी है—

किसी राजर्षि के अनेक पत्नियाँ थीं, उनमें से एक का नाम इतरा था, उसके महिदास नामक पुत्र का जन्म हुआ, किन्तु राजा का स्नेह महिदास की अपेक्षा दूसरी रानियों के पुत्रों पर अधिक था। एक दिन यज्ञ सभा में राजा ने "महिदास" का

---

८. वैदिक वाङ्मय का इतिहास—द्वितीय भाग—भगवद्दत्त।

९. ब्राह्मणारण्यकद्रष्ट्रे मातृशोकौघहारिणे।
महिदासैतरेयाय नमो भूयो नमो नमः॥

"आसीद् विप्रो यज्ञवल्को द्विभार्यस्तस्य द्वितीयामितरेति चाहुः। स ज्येष्ठ्याकृष्टचित्तः प्रियां तामुक्त्वा द्वितीयामितरेति होचे।" पृष्ठ ४।

"अथाधिरूढस्य तदाविरासीदग्न्यादिकं द्विः स्तृणुतेन्तकं च। चत्वारिंशं ब्राह्मणं प्रायणीयाद्यह्नां चतुर्विंशतिकेन युक्तम्। एषामङ्गं दीक्षणीयादिभिश्च प्रासङ्गिकं राजधर्मादिभिश्च। समाप्य स ब्राह्मणं सर्वमन्ते कृत्वोंकारं विरतो ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्मादिभिश्चोदितो मा विरंसीर्ब्रह्मन्नसि त्वैतरेयो महात्मा। आरण्यकं त्रिविधं वै ददर्श महाव्रतं चोपनिषद्द्वयं च।"

ऐ० ब्रा०, "षड्गुरुशिष्य" की वृत्ति०, प्र० अ०, पृ० ७।

अपमान कर दूसरे बालक को जब गोद में लिया तब दुःखित "इतरा" ने अपनी कुल-देवता भूमि की उपासना की। इसके अनन्तर दिव्यरूपधारिणी कुलदेवता ने यज्ञसभा के मध्य "महिदास" को दिव्य सिंहासन पर बिठाया तथा उसे ब्राह्मणों के समान प्रतिभा का आशीर्वाद दिया। उस देवता के अनुग्रह से "महिदास" को "**अग्निर्वै देवानामवमः**" से आरम्भ होकर "**शृणुते शृणुते**" तक चालीस अध्यायों में ऐतरेय ब्राह्मण तथा उसके अन्तर्गत '**अथ महाव्रतम्**' से आरम्भ होकर '**आचार्यः आचार्यः**' तक ऐ० आ० के प्रथम तीन आरण्यक प्रकट हुए।[10] किन्तु "षड्गुरुशिष्य" और "सायण" के मतों के विपरीत "भगवद्दत्त" के अनुसार "महिदास" किसी राजर्षि से उत्पन्न पुत्र नहीं थे अपितु "ऐतरेय" शाखा से सम्बन्धित व्यक्ति थे। उनके अनुसार ऐ० ब्रा० का अस्तित्व किसी "ऐतरेय" शाखा की विद्यमानता का द्योतक है। **प्रपञ्चहृदय** १।३ तथा **निदानसूत्र** ५।२ ने क्रमशः '**ऐतरेयिणः**' तथा '**ऐतरेयिणाम्**' कह कर इस शाखा वालों का स्मरण किया है। मनु २।६ के भाष्य में "मेधातिथि" लिखता है—**एकविंशति बाह्वृच्या आश्वलायनऐतरेयादिभेदेन**' अर्थात् ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में एक "ऐतरेय" शाखा भी है। अतः बहुत सम्भव है कि "षड्गुरुशिष्य" और "सायण" के अनुसार "महिदास", "इतरा" नाम्नी स्त्री से उत्पन्न न होकर "ऐतरेय" शाखा से सम्बन्धित व्यक्ति हों।[11]

इस प्रकार आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रमाणों से तथा विषय-वस्तु और भाषा-शैली की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि ऐ० ब्रा० तथा ऐ० आ० के प्रथम तीन आरण्यकों का रचयिता "ऐतरेय महिदास" है। इसी कारण इन दोनों ग्रंथों में बहुत अधिक समानता है।

---

१०. "कस्यचित् खलु महर्षेः बह्व्यः पत्न्यो विद्यन्ते स्म। तासां मध्ये कस्याश्चिदितरेति नामधेयम्। तस्या इतरायाः पुत्रो महिदासाख्यः कुमारः। तदीयस्य तु पितुर्भार्यान्तरपुत्रेष्वेव स्नेहातिशयो न तु महिदासे। ततः कस्याञ्चिद् यज्ञसभायां तं महिदासमवज्ञायान्यान्पुत्रान्स्वोत्सङ्गे स्थापयामास। तदानीं खिन्नवदनं महिदासमवगत्यैतराख्या तन्माता स्वकीयकुलदेवतां भूमिमनुसस्मार। सा च भूमिर्देवता दिव्यमूर्तिधरा सती यज्ञसभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं दत्वा तत्रैनमुपवेश्य सर्वेष्वपि कुमारेषु पाण्डित्याधिक्यमवगमय्यैतद्ब्राह्मणप्रतिभासनरूपं वरं ददौ। तदनुग्रहात्तस्य महिदासस्य मनसाऽग्निर्वै देवानामवम इत्यादिकं स्तृणुते स्तृणुत इत्यन्तं चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रावुरभूत। तत ऊर्ध्वमथ महाव्रतमित्यादिकमाचार्या आचार्या इत्यन्तमारण्यकव्रतरूपं च ब्राह्मणमाविरभूदिति"।

११. **वैदिक वाङ्मय का इतिहास**, भगवद्दत्त—प्रथम भाग पृ० २३१-२३२।

जयन्त-भट्ट का कृतित्व और व्यक्तित्व

श्री शंकर दयाल द्विवेदी

इलाहाबाद

Jayanta Bhaṭṭa was a versatile scholar and a great exponent of *Nyāya darśana* of the middle of the ninth century A.D. of Kashmir. In this paper, the author discusses the reasons which led to the neglect of Jayanta Bhaṭṭa and his *Nyāya mañjari* (a commentary on selected sūtras of Gautama), his life, personality and works.

भारतीय दर्शन में न्याय-विद्या का महत्त्व उसकी तर्क-प्रधानता के कारण है। 'न्याय', 'आन्वीक्षिकी', 'हेतु शास्त्र', 'प्रमाणशास्त्र', 'वाकोवाक्य', आदि न्याय-दर्शन के वाचक शब्दों की व्युत्पत्ति इसकी तार्किकता की ओर इंगित करती है। इसलिये न्याय-दर्शन में अनुमान-प्रमाण प्रमुख प्रमाण के रूप में उभर कर सामने आया है। यद्यपि मुख्यतया तार्किक शैली का प्रयोग न्याय-दर्शन में ही मिलता है, परन्तु अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वैशेषिकों, बौद्धों, चार्वाकों, मीमांसकों एवं वैयाकरणों ने भी तर्क का आश्रय ग्रहण किया है। यही नहीं, इन दर्शनों का समूचा विकासपूर्ण इतिहास यह स्पष्ट करता है कि, एक ही अधिकृत विषय में दर्शनों में परस्पर-विरुद्ध बातें कही गयी हैं, और परवर्त्ती आचार्यों द्वारा स्वपक्षविरोधी तर्कों का खण्डन करते हुये अपना पक्ष पुनः सबलतापूर्वक स्थापित किया जाता रहा है। इस परम्परा के बीज सूत्रग्रंथों के भी पहले के हैं, परन्तु इसका पूर्ण विकास भाष्यकाल में हुआ, जब सूत्र ग्रन्थों पर टीका-प्रटीकायें लिखी गयीं।

न्याय-दर्शन में महर्षि अक्षपाद (गौतम) का 'न्याय-सूत्र' कालक्रम की दृष्टि से प्रथम और मौलिक-रचना है जिसमें पहली बार न्याय के सिद्धान्तों का शास्त्रीय प्रतिपादन हुआ। न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायन (३०० ई० के लगभग)[1] ने भाष्य लिखा

---

१. सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) भाग १, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ ३१८।

जहाँ पहली बार हमें न्याय-दर्शन में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के व्यापकरूप से दर्शन होते हैं। पाँचवीं सदी ईसवी के आस-पास महायान बौद्धों के विस्तार ने—विशेषतः वसुबन्धु और दिङ्नागाचार्य ने—'न्याय-सूत्र' तथा 'भाष्य' का बाहुल्येन प्रतिवाद किया। अतः उद्योतकर (६३५ ई०)[२] ने आक्षेपों के परिहार हेतु 'न्यायवार्त्तिक' लिखा। इसमें पूर्वपक्षी आक्षेपों के परिहार के साथ उन अंशों पर विशेष प्रकाश डाला गया जिन्हें भाष्यकार ने संदिग्ध ही छोड़ दिया था।

न्याय-दर्शन के विरोध की पुनरावृत्ति अधिक शक्ति के साथ होती है। दिङ्नाग सम्प्रदाय के दार्शनिक धर्मकीर्त्ति, कमलशील, शान्तरक्षित, धर्मोत्तर आदि ने न्याय-विरोधी अपने सिद्धांतों की सबल स्थापना की एवं अतिशक्त तर्कों द्वारा न्याय-सिद्धान्तों का एकैकशः खण्डन किया। दिङ्नाग सम्प्रदाय का प्रयास दिङ्नागों के पावों की तरह स्थायी हो रहा था। इनके तर्कों का उत्तर देना अति कठिन हो चुका था। न्याय की छवि धूमिल हो रही थी। लगभग २०० वर्षों तक इस विषय में न्याय-सम्प्रदाय मौन रहा और अपनी अशक्ति महसूस करता रहा। लेकिन नवम सदी के मध्य भाग में देश के दो विद्या-केन्द्रों मिथिला और कश्मीर में लगभग एक ही समय में दो उद्भट विद्वानों वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट का आविर्भाव हुआ। इन दोनों ने अपनी-अपनी अप्रतिम तार्किक शक्ति, प्रविवेकिनी बुद्धि, गहन अध्ययन एवं अन्यतम साधना द्वारा न्याय सिद्धान्तों की पुनः स्थापना करके न्याय-शिविर की चुप्पी तोड़ी।

जयन्त भट्ट की अप्रसिद्धि एवं उसके कारण

वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन बहुत पहले से ही होता रहा है, परन्तु जयन्त न्याय-दर्शन का एक धुँधला व्यक्तित्व है। प्रो० जानकी वल्लभ भट्टाचार्य ने भारतीय न्याय दर्शन के इतिहास में जयन्त की स्थिति दिसम्बर की कोहरे भरी रात के चन्द्रमा जैसी बतायी है।[३] जयन्त के नामी ग्रंथ 'न्याय-मञ्जरी' का अध्ययन यद्यपि बहुत पहले से ही किया जाना चाहिये था, परन्तु वाचस्पति मिश्र की सर्वाङ्गीण प्रतिभा, उदयन, गंगेश तथा मीमांसकों की तर्क प्रसिद्धि से विद्वानों ने 'न्याय-मञ्जरी' की उपेक्षा कर दी। बाद में बङ्गाल में नव्य-न्याय के उद्भव एवं उत्कर्ष ने भी प्राच्य-न्याय की प्रतिष्ठा को पर्याप्त धक्का पहुंचाया। प्राच्यन्याय के विद्यार्थियों ने भी 'न्याय-मञ्जरी' की उपेक्षा की; सम्भवतः इसलिये कि इसमें सभी न्याय-सूत्रों की व्याख्या नहीं की गयी, वरन् केवल चुने हुए कुछ सूत्रों पर व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत

---

२. वही, पृष्ठ ३१८।

३. जानकीवल्लभ भट्टाचार्य, न्याय-मञ्जरी (अंग्रेजी अनुवाद), मोतीलाल बनारसीदास, भूमिका, पृष्ठ २३।

की गयी है—यह बात अलग है कि, इस व्याख्या में जयन्त ने सारे 'न्याय-सूत्रों' का प्रतिपाद्य समेट लिया हो।[४] जयन्त भट्ट और उनकी 'न्याय-मञ्जरी' विद्वानों को आकृष्ट नहीं कर पाये, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जयन्त के 'न्याय-मञ्जरी' लिखने से पहले ही कश्मीर में अशान्ति छा गयी थी। अवन्ति वर्मा के शासनकाल से ही कश्मीर युद्ध-सम्बन्धी गतिविधियों का केन्द्र हो चुका था।[५] 'राजतरङ्गिणी' के अध्ययन से पता चलता है कि इस काल में कश्मीर की प्रसिद्धि का सूर्य अस्त हो चुका था।[६] इसलिये सम्भव है कि कश्मीर का देश के शेष भागों से शैक्षिक और सांस्कृतिक संबंध समाप्त हो गया हो। राजनीतिक असुरक्षा और प्रशासनिक दुर्व्यवहार से कश्मीर के ही विद्वान् हतोत्साहित हो गये, तब बाहरी विद्वानों के कश्मीर आने अथवा कश्मीर के सम्बन्ध में जानकारी रखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। नवम-दशम सदी में भारतीय-चिन्तन का प्रमुख केन्द्र मिथिला था, जो प्राभाकरों एवं नैयायिकों से परिपूर्ण था।[७] मध्यकाल के उत्तरार्ध में यह केन्द्र मिथिला और पूर्वी भारत था। पश्चिमी क्षेत्रों में इसी काल में जैन तार्किकों का उद्भव और उत्कर्ष था।[८] इन सब कारणों से कश्मीर का सम्बन्ध समूचे चिन्तन क्षेत्र से एक लम्बे समय तक टूटा रहा जिससे जयन्त भट्ट और 'न्याय-मञ्जरी' को समय से वह सम्मान न मिल पाया, जो उसे मिलना चाहिये था। लगभग उन्नीसवीं सदी के अंतिम काल में पं० गंगाधर शास्त्री ने 'न्याय-मञ्जरी' को प्रकाशित किया[९] और इसी काल से ही जयन्त भट्ट एक स्वीकृत नैयायिक के रूप में विश्रुत हुये और 'न्याय-मञ्जरी' का विस्तृत अध्ययन किया गया।

जयन्त भट्ट का जीवन-परिचय

अपनी किसी भी कृति में जयन्त ने कहीं भी अपने बारे में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा। फिर भी उनके कृतित्व से कुछ ऐसे अंश ढूंढ़े जा सकते हैं जो जयन्त के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त इनके जीवन और वंशावली के सम्बन्ध में इनके पुत्र अभिनन्द के ग्रंथ 'कादम्बरी-कथा-सार' से पर्याप्त और प्रामाणिक परिचय मिलता है। सम-सामयिक कश्मीरी परिवेश के बारे में 'राजतरङ्गिणी' से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन सब साक्ष्यों के समन्वय से जयन्त के जीवन की जो कहानी गढ़ा जा सकती है, वह इस प्रकार होगी—

---

४. वही, प्रीफेस, पृ० ७

५. वही, भूमिका, पृ० २८।

६. राजतरङ्गिणी-पञ्चम तरङ्ग।

७. जा० व० भट्टाचार्य, वही, प्रीफेस, पृ० ७।

८. वही, पृ० ७।

९. न्या० म० (विजयनगरम् संस्कृत सिरीज़–१०) १८९५ ई०।

जयन्त के शक्तिनामा पूर्वपुरुष जो जात्या गौड़ थे और जिनका गोत्र भारद्वाज था, बङ्गाल से कश्मीर के लिए स्थानान्तरित हुए। यह स्थानान्तरण कश्मीर के 'दार्वाभिसार' नामक स्थान पर शक्ति के वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप हुआ।[१०] डॉ० ब्यूलर ने दार्वाभिसार की स्थिति कश्मीर की सीमा पर बताई है।[११] डॉ० स्टीन का मत है कि वितस्ता और चन्द्रभागा नदियों के मध्य का भाग दार्वाभिसार था[१२], जिसका एक स्थानीय मुखिया होता था। यह क्षेत्र कश्मीर नरेशों द्वारा बार-बार विजित किया गया है। कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' में अनेकशः दार्वाभिसार का परिचय दिया है।[१३] जयन्त के समय में शङ्करवर्मा ने इसे पुनः जीता था। शक्ति का पुत्र मित्र था और मित्र का पुत्र शक्तिस्वामी कश्मीर के कर्कोटवंशीय शासक मुक्तापीड ललितादित्य का मन्त्री था।[१४] जयन्त शक्तिस्वामी के प्रपौत्र थे। जयन्त के पिता का नाम चन्द्र और पितामह का नाम कल्याण-स्वामी था। अभिनन्द का कहना है कि उनके पूर्वज वैदिक परम्परा में निष्णात थे।[१५] जयन्त भी इसका समर्थन करते हैं कि उनके पितामह ने एक ग्राम को प्राप्त करने की इच्छा से संग्रहणी यज्ञ किया और यज्ञ की समाप्तिकाल में ही गौरमूलक ग्राम प्राप्त किया।[१६] जयन्त ने गौरमूलक का उल्लेख अन्यत्र भी किया है।[१७] इससे प्रतीत होता है कि जयन्त गौरमूलक के स्वामी रहे हों या न रहे हों, परन्तु निवासी अवश्य थे।[१८] प्रो० स्टीन ने गौरमूलक का समीकरण 'राजतरङ्गिणी' ८।१८६१ में उल्लिखित घोरमूलक से

---

१०. शक्तिर्नामाभवद् गौडो भारद्वाजकुले द्विजः।
दार्वाभिसारमासाद्य कृतदारपरिग्रहः॥ कादम्बरीकथासार–१। पाँचवाँ श्लोक।

११. इण्डियन एन्टीक्विवयरी भाग २, पृ० १०२।

१२. स्टीन्स ट्रान्सलेशन, भाग १, पृ० ३२ में श्लोक १८० पर पाद-टिप्पणी।

१३. राजतरङ्गिणी १।१८०, ४।७१२, ५।१४१, २०९, ७।१२ २, ८।१५३१, २४४०।

१४. कादम्बरी कथासार—१।६-७।

१५. (क) वही, १।११।
(ख) वी० राघवन् आगमडम्बर (मिथिला इंस्टीट्यूट दरभंगा) भूमिका पृ० १

१६. तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः। साङ्ग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप। न्या० म० पृ० २७४।

१७. न्या० म० पृ० २१५[१४], पृ० ५०[१२], पृ० ५३[१२,१७], पृ० ५४।

१८. सी० डी० विजल्वान्, थ्योरी आफ इण्डियन नॉलेज पृ० १६।

किया है और यह स्वीकार किया है कि यह नगर राजपुरी के क्षेत्र में स्थित है जो दार्वाभिसार की सीमाओं में आता है।[१९]

कल्याणस्वामी के पुत्र चन्द्र जयन्तभट्ट के पिता थे। प्रो० स्टीन ने इस सम्बन्ध मे दोहरी गलती की है, एक तो यह कि इन्होंने 'न्याय-मञ्जरी' का लेखक अभिनन्द को माना है और दूसरे जयन्त के पिता का नाम कान्त माना है।[२०] वस्तुतः अभिनन्द के उक्त श्लोक[२१] में कान्त और चन्द्र दोनों शब्द आये हैं जहाँ कान्त पद चन्द्र का विशेषण है। जयन्त के पिता का नाम चन्द्र ही था क्योंकि इन्होंने 'न्याय-मञ्जरी' के अन्त मे[२२] चन्द्र को अपना पिता स्वीकार किया है।[२३]

जयन्त का जन्म अवन्तिवर्मा (८५३ से ८८२-८३ ई०) के शासन-काल में हुआ और इसी काल में ही इनका अध्ययन कार्य हुआ। ये अलोक-सामान्य प्रतिभा के छात्र थे तथा सभी शास्त्रों में इनकी गति अप्रतिहत थी। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही इन्होंने पाणिनीय-व्याकरण पर कोई "वृत्ति" लिखी थी[२४] जो संप्रति अनुपलब्ध है। शङ्करवर्मा ने शासन की बागडोर सँभालने के बाद विजय-यात्रा की और जीत की खुशी में आधुनिक पाटन नामक स्थान पर शङ्करपुर नामक नगर बसाया और वहाँ 'शङ्कर गौरीश' तथा 'सुगन्धेश' नाम के दो मन्दिर बनवाये। शासक शङ्करवर्मा ने

---

१९. स्टीन, कल्हणाज क्रॉनीकिल्स आफ़ द किंग्स आफ कश्मीर, भाग २, पृष्ठ १४४-४५ श्लोक १८६१ पर पाद-टिप्पणी।

२०. गोपीनाथ कविराज, ग्लीनिंग्स फ्राम दि हिस्ट्री एण्ड बिब्लियोग्रैफ़ी आफ़ न्याय-वैशेषिक लिटरेचर, पृष्ठ १६-१७

२१. अगाधहृदयात्तस्मात् परमेश्वरमण्डनम्।
अजायत सुतः कान्तश्चन्द्रो दुग्धोदधेरिव॥ कादम्बरी कथासार १।९

२२. वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यो विख्यातकीर्तिः क्षिता-
वन्वर्थोनववृत्तिकार इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधाः।
सूनुर्व्याप्तदिगन्तरस्य यशसा चन्द्रस्य चन्द्रत्विषा
चक्रे चंद्रकलावचूलचरणध्यायी स धन्यां कृतिम्॥ न्या० म० का अन्तिम श्लोक।

२३. यह परम्परा पं० जी० एन० झा० बी० २४७६, पाल हाकर-बी० २४८४, एच० जी० नरहरि-बी० २४८७, बी० गुप्ता—बी० २४८८, तथा एस० मुखर्जी २४७७ द्वारा समर्थित है।

२४. अद्य चात्रभवतः शैशव एव व्याकरणविवरणकरणाद् वृत्तिकार इति प्रथिताऽपरनाम्नः भट्टजयन्तस्य शिष्यपरिषदाहमाज्ञप्तः........। आगमडम्बर पृ० २।

जयन्त की अप्रतिहत मति से मुग्ध होकर इन्हें उक्त दोनों मन्दिरों तथा तत्सम्बद्ध शिक्षालयों का प्रभारी नियुक्त कर दिया।[२५]

'न्याय-मञ्जरी' के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि जयन्त को उनके शासक ने बन्दी बनाया था। जयन्त ने जेल-यातना को भुलाने के लिये 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथ जेल में ही लिखा।[२६] जयन्त को बन्दी बनाने वाला शासक शङ्करवर्मा होना चाहिये। शंकरवर्मा के अत्याचारों का वर्णन 'राजतरङ्गिणी' करती है।[२७] उसने विद्वानों को अपमानित किया, मन्दिरों एवं धर्मशालाओं की आय छीन ली तथा अपनी विस्तृत सैन्य व्यवस्था और अपने अपव्यय की सन्तुष्टि के लिये उसने अत्याचारपूर्ण कर-प्रणाली का सहारा लिया। उसने अपनी प्रजा को हर प्रकार की यन्त्रणा दी। इस अत्याचार के विरोध में जयन्त ने आवाज उठायी होगी और तब जयन्त के बन्दी बनाये जाने का कोई अनौचित्य नहीं रह जाता। 'न्याय-मञ्जरी' के टीकाकार चक्रधर ने एक जनश्रुति की ओर संकेत किया है कि जयन्त भट्ट शंकर वर्मा की आज्ञा से कई वर्ष खश देश में रहे।[२८] बहुत संभव है खश देश का यह प्रवास-काल ही जयन्त की जेल-यातना का काल हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती-काल में जयन्त और शासक शंकरवर्मा के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गये थे।[२९] 'न्याय-मञ्जरी' में वेदों के प्रामाण्य के सन्दर्भ में जयन्त ने शङ्करवर्मा को 'नीलाम्बर व्रत-प्रथा' पर रोक लगाने के कारण 'धर्मतत्त्वज्ञ' कहा है।[३०] दूसरी ओर 'आगमडम्बर' के द्वितीय अङ्क में शङ्करवर्मा का उल्लेख वैदिक-धर्म के संस्थापक के रूप में है। यहाँ भी जयन्त ने यह स्वीकार

---

२५. वी० राघवन्, आगमडम्बर-भूमिका पृष्ठ ३१ तथा राजतरङ्गिणी ५।१५६-१५९।

२६. राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दके बन्धने विनिहितोऽहम्।
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः॥ न्या० म० पृ० ३९४

२७. राजतरङ्गिणी ५।१६०-१७५।

२८. कश्मीरे क्वचित् खशदेशे चिरकालमारण्यमसौ श्रीशङ्करवर्मणो राज्ञ आज्ञया स्थितवान् इति वार्त्ता - - -। न्या० म० ग्रं० भं० पृ० १६७।

२९. वी० राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका, पृ० २।

३०. अमितैकपटनिवीतानियतस्त्रीपुंसविहितबहुचेष्टम्।
नीलाम्बरव्रतमिदं किल कल्पितमासीद्विटैः कैश्चित्॥
तदपूर्वमिति विदित्वा निवारयामास धर्मतत्त्वज्ञः।
राजाशङ्करवर्मा न पुनर्जैनादिमतमेवम्॥ न्या० म० पृ० २७१।

किया है कि शङ्करवर्मा ने नीलाम्बर जैसी प्रथाओं पर रोक लगा दी थी।[३१] यही नहीं, तृतीय अङ्क में जयन्त को शङ्करवर्मा का मन्त्री स्वीकार किया है।[३२] अतः सम्भवतः अपने जीवन के परवर्ती काल में जयन्त राजा के धर्म सम्बन्धी मामलों के सलाहकार नियुक्त किये गये होंगे। 'आगमडम्बर' के कुछ अन्य सन्दर्भ भी जयन्त के साचिव्य का समर्थन करते हैं।[३३] 'आगमडम्बर' की रचना चूंकि अपेक्षाकृत परवर्ती काल में हुई अतः अब तक जयन्त और शङ्करवर्मा के सम्बन्ध अगर सुधरे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जयन्त अपने पुत्र से बहुत अधिक स्नेह करते रहे होंगे, क्योंकि 'आगमडम्बर' का प्रारम्भिक श्लोक ऐसा संकेत करता है।[३४] सम्भवतः अभिनन्द ने अपना ग्रंथ 'कादम्बरी कथासार' अपने जीवन के प्रारम्भिक समय में ही अपने पिता के साथ अध्ययन करते हुये लिखा क्योंकि यह तथ्य अभिनव गुप्त के 'पद्य-कथा लेखक' के उल्लेख द्वारा समर्थित है।[३५]

जयन्त ने 'न्याय मञ्जरी' की रचना शङ्करवर्मा (८८३-९०२ ई०) के शासनकाल में तथा 'आगमडम्बर' की रचना सुगन्धादेवी के शासनकाल (९०४-९०६ ई०) में की। सुगन्धादेवी के शासनकाल के बाद हुई क्रान्ति और सामाजिक उथल-पुथल की कोई जानकारी जयन्त की कृतियों से नहीं मिलती। अतः सुगन्धादेवी के शासन-काल के बाद जयन्त अधिक दिनों तक जीवित रहे हों, इस विषय में साक्ष्यों का अभाव है।

ये जयन्त भट्ट भारद्वाज के पुत्र और 'काव्यप्रकाश' के व्याख्याकार जयन्त से, जिनके नाम का निर्देश बाम्बे मुद्रित 'वामनाचार्य की टीका' में हुआ है, भिन्न हैं। 'संस्कार-कौस्तुभ' में उल्लिखित जयन्तस्वामी से जयन्त भट्ट का समीकरण साक्ष्यों के अभाव में सम्भव नहीं है।[३६]

जयन्त-भट्ट का कृतित्व

जयन्त का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्याय-मञ्जरी' है। यह चुने हुये 'अक्षपाद-

---

३१. आगमडम्बर, द्वितीय अङ्क, पृ० ४०-४४।

३२. मन्त्री शास्त्रमहाटवीविहरणश्रान्तो जयन्तोऽप्यसौ।—आगमडम्बर ३।८ पृ० ५४।

३३. अङ्क दो पृष्ठ ४४, तथा अङ्क तीन में पृ० ४६ से ४८ के मध्य दो साधकों का कथोपकथन।

३४. तद्ब्रह्म वः क्रमविनश्यदनाद्यविद्यम्।
उद्योततो स्फुरदमन्दनवाभिनन्दम्॥ आगमडम्बर का पहला श्लोक।

३५. द्रष्टव्य—वी० राघवन्, भोजाज् शृङ्गारप्रकाश—१९६२, पृष्ठ ६१२ पर पाद-टिप्पणी।

३६. न्या० म० भूमिका, पृ० २।

सूत्रों की व्याख्या है। आचार्य गंगाधर शास्त्री ने 'न्याय-मञ्जरी' की भूमिका में इसे 'गौतम-सूत्र तात्पर्य विवृति' कहा है।[३७] बारह आह्निकों वाले इस ग्रंथ में न्याय-दर्शन द्वारा प्रतिपादित षोडश पदार्थों का निरूपण किया गया है। प्रथम छः आह्निकों में प्रमाण-पदार्थ का, तथा शेष छः आह्निकों में प्रमेय से लेकर निग्रह-स्थान पर्यन्त पन्द्रह पदार्थों का निरूपण हुआ है। इन पदार्थों के प्रतिपादन के सन्दर्भ में पूर्वपक्षी बौद्धों के विरुद्ध ही मुख्यतः जयन्त की लेखनी चली है, परन्तु प्रसंगागत कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, भर्तृहरि एवं आनन्दवर्धन आदि के सिद्धान्तों का भी खण्डन-मण्डन किया गया है। ये 'न्याय-भाष्य-सम्प्रदाय' के अतिसमर्पित विद्वान् हैं और एतदर्थ उन्होंने 'न्याय-भाष्य' और 'वार्तिक' के विरोध में उठाये गये आक्षेपों-विशेषतः दिङ्नाग सम्प्रदाय के बौद्धों और मीमांसकों का उत्तर देने के लिये 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथ लिखा। 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथकर्त्ता के अपरिमित-पाण्डित्य का परिचय देती है। जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में न्याय जैसे शुष्क और नीरस विषय को अत्यन्त रोचक-शैली में प्रतिपादित किया है। जयन्त ने अपने से पहले प्रचलित समस्त न्याय-ग्रंथों का गहनता से अध्ययन किया था, इसका परिचय न्याय-मञ्जरी के प्रारम्भ के एक श्लोक से मिलता है।[३८] इसके अतिरिक्त उन्हें वैशेषिक, बौद्ध, जैन, मीमांसा, सांख्य, प्रारम्भिक वेदान्त तथा व्याकरण जैसे गम्भीर विषयों का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने चार्वाक दर्शन मीमांसा, वैदिक वाङ्मय एवं पुराणों का भी भली-भाँति अध्ययन किया था। उनके सार्वभौमिक ज्ञान और यथार्थ-चित्रण की विशेषता ने 'न्याय-मञ्जरी' को ज्ञान-कोश और विश्वास-पात्र बना दिया। 'न्याय-मञ्जरी' में हम सभी दर्शनों को एक साथ और एक अच्छी प्रस्तुति के रूप में पाते हैं। फिर भी कट्टर नैयायिक होने के कारण जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में न्याय-सिद्धान्तों का रक्षण किया है और प्रारम्भ तथा अन्त में अक्षपाद ऋषि के प्रति अत्यधिक आभार प्रदर्शित किया है।[३९] यद्यपि वह शैव थे, परन्तु उन्होंने शैवों के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

---

३७. वही, भूमिका, पृ० १।

३८. न्यायौषधिवनेभ्योऽयमाहृतः परमो रसः।
इदमान्वीक्षिकीक्षीरान्नवनीतमिवोद्धृतम्।। न्या० म० प्रारम्भिक ७वाँ श्लोक।

३९. (क) अक्षपादमताम्भोधिपरिमर्षरसोत्सुकाम्।
विगाहन्तामिमां सन्तः प्रसरन्तीं सरस्वतीम्। न्या० म० प्रारम्भिक ५वाँ श्लोक।

(ख) प्राप्तोदारवरस्ततः स जयति ज्ञानामृतप्रार्थना—
नाम्नाऽनेकमहर्षिमस्तकवलत्पादोऽक्षपादो मुनिः।। न्या० म० के अन्तिम श्लोक से पूर्व का श्लोक।

का अनुकरण नहीं किया, जबकि इसका विकास उनके अपने ही देश कश्मीर में हुआ। उन्होंने 'न्याय-मञ्जरी' में न केवल न्याय-दर्शन के प्राचीन विद्वानों के सम्मत विचारों को ही स्थान दिया, वरन् इसमें उन्होंने अपने मौलिक-विचार भी रखे। जैसे-'सामग्री-कारणवाद' जिसका अनुकरण 'न्याय-भाष्य' के एक व्याख्याकार विश्वरूप ने किया[४०], तथा 'वाक्य में पदों का संहत्यकारितावाद' जिसका अनुकरण भोज ने अपने 'शृङ्गार-प्रकाश' में किया है।[४१] चूंकि 'न्याय-मञ्जरी' में जयन्त ने किसी भी तार्किक क्षेत्र को अछूता नहीं रखा है, इसलिये 'न्याय-मञ्जरी' का सावधानी से किया गया अध्ययन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी दे सकता है।[४२] फ्रावाल्नर महोदय का मत है कि 'न्याय-मञ्जरी', जो वाचस्पति के सम्बन्ध में अबोध है, में आये "आचार्याः व्याख्यातारः" आदि पदों का प्रयोग, जो निश्चितरूप से भाष्यकार और वार्तिककार के लिये नहीं है, वात्स्यायन और जयन्त के बीच की ऐतिहासिक-रिक्तता को पूर्ण करता है।[४३]

न्याय का इतना विश्रुत और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ परवर्ती काल के विद्वानों एवं विद्यार्थियों को दीर्घ-काल तक अज्ञात था यह हम देख चुके हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि उन्नीसवीं सदी के अन्त में पं० गंगाधर शास्त्री को आर्थर वेनिस महोदय के सौजन्य से 'काशिक राजकीय-संस्कृत पाठशाला' से संवत् १७९४ में लिखित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई जिसको उन्होने १३५४ शक में भोजपत्र लिखित तथा पूना स्थित 'राजकीय पुस्तकालय' से उपलब्ध पाण्डुलिपि से तुलना करते हुये संशोधित करके 'विजयनगरम् संस्कृत सिरीज़-१०' से सन् १८९५ में प्रकाशित किया। चक्रधर नाम के कश्मीरी विद्वान् ने 'न्याय-मञ्जरी' पर १०वीं से १२वीं सदी के मध्य कभी 'न्याय-मञ्जरी-ग्रन्थि-भङ्ग' नाम की टीका लिखी।[४४] सन् १९३६ ई० में पं० सूर्य नारायण शुक्ल ने चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ से न्याय-मञ्जरी का पुनः प्रकाशन किया तथा १९७१ ई० में इसी का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश ने न्याय-मञ्जरी' का बङ्गला में अनुवाद किया है जो १९३९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। इसी बङ्गला अनुवाद के प्रारम्भिक छः आह्निकों का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० जानकी वल्लभ भट्टाचार्य ने किया

---

४०. ए० ठाकुर, विश्वरूप द नैयायिक, जर्नल आफ ओरिएन्टल रिसर्च मद्रास, वोल्यूम् २८, पृष्ठ २९-३०।

४१. वी राघवन्, भोजाज् शृङ्गारप्रकाश-१९६३, पृ० २१ तथा ७२८-२९।

४२. वी० राघवन् आगमडम्बर, भूमिका पृ० ४।

४३. वही पृष्ठ ४ पर अङ्कित पाद टिप्पणी ४।

४४. एल० डी० इंस्टीट्यूट अहमदाबाद से १९७२ में नागिन जे० शाह द्वारा प्रकाशित।

है, जो १९७८ में मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित हुआ है। 'न्याय-मञ्जरी' के प्राथमिक चार आह्निकों पर विशेष 'टिप्पणी' सहित प्रकाशन विद्वान् के० एस० वरदाचार्य द्वारा १९७० में प्राच्य-विद्या-संशोधनालय, मैसूर से हुआ है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जयन्त भट्ट की यह 'न्याय-मञ्जरी' उस 'न्याय-मञ्जरी' से भिन्न है, जिसका उल्लेख वाचस्पति मिश्र की 'न्याय-कलिका' के प्रारम्भ में हुआ है[४५] और जिसके रचयिता त्रिलोचन बताये जाते हैं।

'न्याय-कलिका' नाम के एक अन्य लघुकाय ग्रंथ के साथ जयन्त भट्ट का नाम जोड़ा जाता है। बालव्युत्पत्ति के लिये जयन्त ने इस ग्रन्थ में षोडश पदार्थों की संक्षिप्त व्याख्या की है।[४६] पं० गंगानाथ झा यह स्वीकार करते हैं कि यह जयन्त की कृति है[४७] जब कि महामहोपाध्याय उमेश मिश्र का कहना है कि इसमें जयन्त ने प्रथम न्याय सूत्र पर एक संक्षिप्त किन्तु व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखी है।[४८] कुछ लोग कहते हैं कि 'न्याय-कलिका' जयन्त भट्ट कृत 'न्याय-मञ्जरी' के चुने हुये वाक्यों का संकलन है जो किसी परवर्ती शिष्य द्वारा किया गया।[४९] 'न्याय-मञ्जरी'-कार जयन्त भट्ट से 'न्याय-कलिका' कार जयन्त का समीकरण एक समस्या है। गुणरत्न ने 'षड्दर्शन-समुच्चय' की टीका में जयन्त को भासर्वज्ञकृत 'न्याय-सार' पर 'न्याय-कलिका' का लेखक माना है।[५०] गुणरत्न द्वारा उल्लिखित इस 'न्याय-कलिका' से उक्त 'न्याय-कलिका' का समीकरण सम्भव नहीं है। डा० ब्यूलर ने 'कश्मीर-रिपोर्ट' में जयन्त लेखक द्वारा लिखित 'न्याय-कलिका' नाम के ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[५१] जब तक इस पुस्तक के प्रतिपाद्य का पता न चले, तब तक इस उपलब्ध 'न्याय-कलिका' से इसका समीकरण करना कठिन है। हमें यहाँ केवल यह देखना है कि जयन्त भट्ट और 'न्याय-कलिका' के लेखक जयन्त दोनों एक हैं या नहीं। इतना

---

४५. वी० राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका-पृ० ५।

४६. षोडशपदार्थतत्त्वं बालव्युत्पत्तये कथितम्। और
अजातरसनिष्यन्दमनभिव्यक्तसौरभम्।
न्यायस्य कलिकामात्रं जयन्तः पर्यदीदृशत्॥
न्या० क० सरस्वती भवन सिरीज-१७, सन् १९२५।

४७ गंगानाथ झा, वी० २४७६।

४८. हिस्ट्री आफ इण्डियन फ़िलॉसफी भाग-२, पृ० १२५।

४९. वी० गुप्ता०, वी-२४८८।

५०. गोपीनाथ कविराज, ग्लीनिंग्स फ्राम दि हिस्ट्री ऐण्ड बिब्लियोग्रैफी आफ़ दि न्याय-वैशेषिक लिटरेचर, पृ० १८।

५१. वही।

तो स्पष्ट ही है कि 'न्याय-कलिका' न तो जयन्त भट्ट कृत 'न्याय-मञ्जरी' का सारांश है और न ही 'न्याय-मञ्जरी' के वाक्यों का संकलन है।

जयन्त भट्ट बौद्धों के बहुत बड़े आलोचक थे, परन्तु 'न्याय-कलिका' में अभ्युपगम सिद्धान्त के अवसर पर उन्होंने बौद्ध मान्यता का अनुसरण किया है।[५२] जयन्त भट्ट सभी पक्षों की प्रस्तुति को अद्वितीय प्रतिभा का परिचायक मानते हैं जब कि जयन्त ने 'न्याय-कलिका' में इसकी उपेक्षा की है। ये तर्क उक्त 'समीकरण' के विरोध में दिये जा सकते हैं, परन्तु यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो दोनों ही ग्रंथ एक ही लेखक के प्रतीत होते हैं। 'न्याय-कलिका' जयन्त भट्ट की प्रारम्भिक रचना होनी चाहिये, जब कि वे अपने विचारों में अपरिपक्व रहे होंगे। इसी लिये इसमें उन्होंने केवल न्याय-पदार्थों का परिचय-मात्र दिया है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उक्त-विरोध भी प्रभावी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जो दोनों लेखकों में ऐक्य स्थापित करते हैं। 'न्याय-मञ्जरी' एवं 'न्याय-कलिका' की भाषा लगभग एक-सी है। दोनों के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की गयी है।[५३] 'न्याय-कलिका' एवं 'न्याय-मञ्जरी' के तर्क की व्याख्या बिलकुल एक-सी है। यद्यपि इस पुस्तक में न तो जयन्त के व्यक्तिगत जीवन या इनके परिवार के सम्बन्ध में कोई सूचना है और न ही समकालीन समाज का कोई चित्रण है, फिर भी इसमें जयन्त भट्ट की धुँधली मुहर है। जयन्त ने अपने अध्ययन काल में ही यह ग्रंथ न्याय के नौसिखियों के लिये लिखा। इसका कलेवर एवं प्रतिपाद्य बहुत संक्षिप्त है, इसलिये अन्वर्थतः यह 'न्याय-कलिका' है।

डा० वी० राघवन् का मत है कि जयन्त ने 'न्याय-कलिका' और 'न्याय-मञ्जरी' के मध्य में गौतमीय न्याय पर सीमित श्लोकों वाले 'न्याय-पल्लव' नामक ग्रंथ की रचना की[५४]। इस ग्रंथ के कुछ उद्धरण वादिदेव के 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक जैनग्रंथ में देखे जा सकते हैं।[५५]

न्याय-मञ्जरी के अन्त में जयन्त ने स्वीकार किया है कि उन्हें "नव-

---

५२. अपरीक्षितोऽपि कश्चिदर्थो बुद्ध्यातिशयचिख्यापयिषया प्रौढवादिभिस्तथेत्यभ्युपगम्यमानोऽभ्युपगमसिद्धान्तः। —न्याय-कलिका, पृ० ९।

५३. नमः शाश्वतिकानन्दज्ञानैश्वर्यमयात्मने।
सङ्कल्पसफलब्रह्मस्तम्भारम्भाय शम्भवे॥ न्या० म० आदिश्लोक।

यही श्लोक न्याय-कलिका (सरस्वती भवन टेक्स्ट्स-१७, १९२५) में प्रारम्भ में आया है।

५४. वी० राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका पृ० ५।

५५. वी० राघवन् 'वर्क्स एण्ड आथर्स साइटेड इन श्रीदेवाज् स्याद्वादरत्नाकर' —जर्नल आफ दि कलिङ्ग हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी—१, पृ० २५८-५९।

वृत्तिकार" उपनाम से जाना जाता था।[५६] अभिनन्द ने भी स्वीकार किया है कि उनके पिता को "वृत्तिकार" उपनाम से जाना जाता था।[५७] डा० राघवन् ने स्वीकार किया है कि यहाँ आया 'वृत्ति' पद यह सूचित करता है कि जयन्त ने सबसे पहले पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' पर कोई वृत्ति लिखी थी।[५८] 'आगमडम्बर' के प्रारम्भ से ज्ञात होता है कि जयन्त भट्ट ने शैशवकाल में व्याकरण में कोई विवरणात्मक ग्रंथ लिखा था।[५९] 'न्याय-मञ्जरी' में भी जयन्त की व्याकरण-विषयक प्रतिभा का परिचय मिलता है तथा 'आगमडम्बर' में भी जयन्त ने व्याकरण के सिद्धान्तों के गहन ज्ञान का परिचय दिया है।[६०]

जयन्त भट्ट की पाँचवीं कृति 'आगमडम्बर' नामक रूपक है। जयन्त ने इसकी रचना 'न्याय-मञ्जरी' के बाद की।[६१] यह जयन्त की एकमात्र साहित्यिक कृति है। चार अङ्कों वाले इस रूपक को 'नाट्य-शास्त्र' सम्मत किसी भी रूपक विधा (नाटक आदि) में रख सकते हैं। यह एक नितान्त दार्शनिक नाटक है जिसमें छः दर्शनों—बौद्ध, आर्हत, चार्वाक, मीमांसा, शैव सहित न्याय और आगम (मुख्यतः पाञ्चरात्र) के आचार्यों का दार्शनिक वाद-विवाद प्रस्तुत है। छः दर्शनों से सम्बद्ध होने के कारण इसे 'षण्मत-नाटक' भी कहते हैं।[६२] 'आगमडम्बर' 'न्याय-मञ्जरी' से परवर्ती है क्योंकि 'न्याय-मञ्जरी' के कुछ श्लोक इसमें ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं।[६३] यह मुख्यतः विभिन्न सम्प्रदायों के धार्मिक और दार्शनिक मतों पर वाद-विवाद है। यद्यपि न्याय-मञ्जरी' ही हमें जयन्त के कवित्व एवं वक्तृत्व का परिचय देती है[६४]

---

५६. अन्वर्थो नववृत्तिकार इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधाः। न्या० म० अन्तिम श्लोक।

५७. वृत्तिकार इति व्यक्तं द्वितीयं नाम बिभ्रतः। —कादम्बरी कथासार १।११

५८. वी० राघवन्, आगमडम्बर भूमिका पृ० ५ तथा "ह्वाई जयन्त भट्ट वाज़ नोन ऐज़ वृत्तिकार"—पी० के० गोडे कमेमोरेशन वॉल्यूम् ३, पृ० १७३-७४।

५९ अद्य चात्र भवतः शैशव एव व्याकरणविवरणकरणाद् वृत्तिकार इति प्रथिताऽपरनाम्नः। —आगमडम्बर पृ० २।

६०. आगमडम्बर, प्रथम अंक, पृ० १४।

६१. वी० राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका पृ० २६।

६२. वही, भूमिका पृ० २५।

६३. आगमडम्बर ४।५४, पृ० ८९ का यह श्लोक न्या० म० पृ० २६७ में देखा जा सकता है।

६४. वक्ता कविस्त्ववक्तृत्वफला यस्य सरस्वती। का० क० सा० १।१०।

और उनकी वाणी सरस तथा सदलङ्कारा थी, यह अभिनन्द भी बताते हैं[६५], परन्तु 'आगमडम्बर' साहित्यिक कृति होते हुये भी जयन्त की साहित्यिक प्रतिभा के पूर्ण विकास का अवसर नहीं प्रदान करता। डॉ० वी० राघवन् का कहना है कि यदि हम दार्शनिक जयन्त में कवि के दर्शन 'न्याय-मञ्जरी' में करते हैं तो 'आगमडम्बर' में कवि जयन्त में दार्शनिक जयन्त के दर्शन करते हैं।[६६] धार्मिक एवं दार्शनिक मत-वादों के वाद-विवाद का प्रतिपादन करने के कारण यह नाटक समूचे संस्कृत वाङ्मय में अपने ढंग का अकेला और शैली में नया है। 'आगमडम्बर' के प्रारम्भ में जयन्त स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि यह नाटक 'नाट्य-शास्त्र' के सिद्धान्त के अनुकूल न होने से अशास्त्रीय है।[६७]

इस अनूठे नाटक की पाण्डुलिपियाँ 'जैन भण्डार पाटन' तथा 'भण्डारकर प्राच्यशोध संस्थान, पूना' से प्राप्त करके डॉ० ए० ठाकुर तथा वी० राघवन् ने इस नाटक को १९३४ ई० में मिथिला इंस्टीट्यूट दरभङ्गा से प्रकाशित किया है।

महामहिम पी० वी० काणे का मत है कि जयन्त ने धर्मशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखीं, जो काल के कराल गाल में समा गयीं।[६८]

जयन्त भट्ट का व्यक्तित्व

जयन्त भट्ट पदवाक्यप्रमाणपारावारीण पण्डित हैं। वैदिक अवैदिक सभी दर्शनों में इनकी गति अप्रतिहत है। ये जैसे उच्चकोटि के शास्त्रार्थ कुशल वक्ता हैं, उसी प्रकार से उच्चकोटि के मधुर वाक् रससिद्ध कवि भी।[६९] ये अपनी यशः प्रभा से समस्त दिङ्मण्डल को उद्भासित करने वाले महापण्डित चन्द्र के पुत्र थे। विद्वज्जन "नववृत्तिकार" कह कर इनकी प्रशंसा करते थे। शास्त्रार्थ सभाओं में सदैव विजय पाकर इन्होंने अपने जयन्त नाम के शब्द को अर्थ दिया।[७०] बौद्धों से वैचारिक लड़ाई लड़ने वाले प्राच्य नैयायिकों में ब्राह्मण तार्किक जयन्त का प्रमुख स्थान है। जयन्त धर्म-सहिष्णु थे और यह मानते थे कि धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व विशेष महत्त्व का नहीं है क्योंकि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है और वह है, मोक्ष। बौद्ध दर्शन का गहन अध्येता होने के कारण, वह धर्मनीति के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं और जहाँ

---

६५. सरसाः सदलङ्काराः प्रसादमधुराः गिरः।
कान्तास्तातजयन्तस्य जयन्ति जगतां गुरोः॥ का० क० सा० १।२।

६६ वी० राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका पृ० ८।

६७ नदिदमलौकिकमशास्त्रीयमप्रयुक्तपूर्वं कथं प्रयुञ्ज्महे ? आगमडम्बर पृ० ३।

६८. पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग १ (पूना १९३०) ६९८ बी०।

६९. द्रष्टव्य—पादटिप्पणी संख्या ४ और ५।

७०. न्या० म० का अन्तिम श्लोक।

वे बौद्ध लेखकों से वैचारिक साम्य रखते हैं, वहाँ इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। एस० मुखर्जी ने जयन्त की शान्तरक्षित से केवल इस बात पर तुलना की है कि दोनों ही विद्वान् सहनशील थे और अपने काल की समस्त साहित्यिक विधाओं का विश्व-जनीन ज्ञान रखने थे।[७१] जैसा कि जयन्त की वन्दनाओं से स्पष्ट होता है, वह शैव धर्मोपासक थे, तथा भासर्वज्ञ और अन्य शैव दार्शनिकों की तरह शिव के रूप में देवत्व सर्वज्ञत्व आदि की कल्पना करते हैं।[७२] जयन्त ने शिव में आत्मा के ९ विशेष गुणों में से तीन के स्थान पर पाँच विशेष गुण माना है। ज्ञान, इच्छा और कृति के अतिरिक्त उन्होंने शिव में धर्म और सुख नाम के दो अतिरिक्त गुण माने हैं। फिर भी जयन्त वेदों पर विश्वास रखते हैं और बौद्धों पर वेद-निन्दक होने का आक्षेप करते हैं। वे न्यायशास्त्र का समर्थन सदा वेद से करते हैं।[७३]

जयन्त ने भारतीय तर्क के छः सम्प्रदायों--न्याय, सांख्य, बौद्ध, जैन, चार्वाक और वैशेषिक का परिचय दिया है। यद्यपि 'न्याय-मञ्जरी', 'न्याय-कलिका' और 'आगमडम्बर' उनके ये ही तीन ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, परन्तु इन ग्रंथों में जयन्त ने जिस सार्वभौमिक विद्वत्ता का परिचय दिया है, उससे उनका कृतित्व ज्ञान का कोश और विश्वासास्पद बन गया है। इसके लिये उन्होंने विद्या के विविध-प्रस्थानों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया। बौद्ध-न्याय के सिद्धान्तों एवं साहित्य का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था। यद्यपि चार्वाकों के संकुचित विचारों के प्रति उनका बहुत ही शिथिल आक्षेप है, फिर भी चार्वाक तत्त्वमीमांसा को समझने में जयन्त ने कोई भूल नहीं की। उन्होंने मीमांसा-दर्शन के भट्ट एवं प्राभाकर मतों का विधिवत् अध्ययन किया था और दोनों की गवेषणाओं के सूक्ष्म अन्तर को समझा था। व्याकरण के क्षेत्र में उन्होंने 'महाभाष्य' और 'वाक्यपदीय' जैसे प्रौढ ग्रंथों तक का अच्छा अध्ययन किया था। नैयायिकों ने प्रायः वैदिक धर्मग्रंथों, विशेषतः अथर्ववेद को उपेक्षित रखा है, जब कि जयन्त एक उद्भट वैदिक विद्वान् थे। उनका वेद-सम्बन्धी अध्ययन इतना विस्तृत था कि उन्होंने वैदिक पाठ्यग्रंथों के सन्दर्भ में मीमांसकों के निष्कर्षों का पुनर्मूल्याङ्कन किया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि जयन्त को न्याय के हर महत्व-हीन या महत्त्वपूर्ण विस्तार का ज्ञान था। दूसरे शब्दों में जयन्त एक घूमता पुस्तकालय है। हम यह जानते हैं कि जयन्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्याय-मञ्जरी' का प्रणयन उस

---

७१. एस० मुखर्जी, बी० २४७७।

७२. न्याय-मञ्जरी पृ० २००, पंक्ति ११-२५।

७३. न्यायविस्तरस्तु मूलस्तम्भभूतः सर्वविद्यानां वेदप्रामाणयहेतुत्वात्। न्या० म० पृ० ३।

समय किया, जब वे निःशब्द जेल में बन्द थे,[७४] उनका सम्बन्ध पुस्तकों, साहित्य और समाज—सबसे टूट चुका था। उनके पास सूचना या परामर्श के लिये जेल में कोई सहायक सामग्री न थी। ऐसी स्थिति में ग्रंथ प्रणयन हेतु उन्हें केवल अपनी स्मृति और विद्वत्ता पर ही आश्रित रहना पड़ा। जयन्त के महत्त्व के सम्बन्ध में यह इतना शक्तिशाली और दृढ़ प्रमाण है जो भारतीय इतिहास में कभी ही कहीं देखने को मिला हो। हम 'न्याय-मञ्जरी' के साथ अन्याय करेंगे, यदि हम इसे केवल एक व्याख्या मात्र मानकर चुप हो जाते हैं। यह तो तर्क, अध्यात्म, नीति और धर्मशास्त्र का विश्वकोष है। यदि भारतीय-दर्शन का इतिहासवेत्ता 'न्याय-मञ्जरी' से अपरिचित रह जाता है तो उसका ज्ञान सदा के लिये अधूरा रह जाता है।

जयन्त एक प्रौढ़ नैयायिक थे। जयन्त से पहले सदियों तक बौद्धों ने न्याय-दर्शन का इतना मजाक उड़ाया कि उनके आक्षेपों का उत्तर देना कठिन हो चुका था। लगभग २०० वर्षों तक न्याय-सम्प्रदाय में कोई भी महत्वपूर्ण विद्वान न हुआ जो बौद्धों के आक्षेपों का उत्तर दे सके। जयन्त और वाचस्पति मिश्र ने इस चिर-प्रतीक्षित कार्य को पूरा किया। परन्तु वाचस्पति भी समर्पित नैयायिक न थे; उन्होंने अपने ही तर्कों एवं गवेषणाओं का विरोध स्वयं ही अन्य दर्शनों पर टीकायें लिखते समय किया है। इसलिये पूर्ण स्वर से बौद्धों के विरुद्ध आवाज उठाने वाले जयन्त ही प्रथम नैयायिक हैं। नैयायिकों के पूर्व मीमांसकों ने नैयायिकों के प्रतिष्ठित स्थान को प्राप्त करने के उद्देश्य से बौद्धों के आक्षेपों का उत्तर दिया था। इसलिये जयन्त ने साथ-साथ मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत पक्षों का भी खण्डन करके सर्वत्र न्याय की धाक स्थापित कर दी। बौद्धों के दिङ्नाग सम्प्रदाय और न्याय वैशेषिक के मध्य चलने वाले वैचारिक संघर्ष में जयन्त के योगदान को जानकर ही हम न्याय दर्शन के इतिहास में जयन्त भट्ट के योगदान को समझ सकते हैं।

जयन्त की शैली रोचक एवं भाषा शक्तिशाली है। उनका शब्द-चयन उदार है। कलात्मक अभिव्यक्ति की वेदी पर वे विषय की परिशुद्धता एवं यथार्थ की बलि नहीं देते। उनका विश्लेषण अति सूक्ष्म है। वे अपने आपको तर्क-प्रहारों में व्यस्त नहीं होने देते। उनका ध्यान हमेशा विषय पर केन्द्रित रहता है। उनका ज्ञानक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और निष्पक्ष है। वे अपने विरोधियों के तर्कों की भी सराहना करते हैं, यदि वे उचित और उच्चस्तरीय होते हैं। वह अपने विरोधियों द्वारा प्रस्तुत किसी भी तथ्य की निन्दा नहीं करते। विषय-प्रतिपादन एवं वैचारिक संघर्ष के सन्दर्भ में वे अपने विरोधियों में से किसी को भी छोड़ते नहीं, चाहे वह कितने ही कम महत्त्व का क्यों न हो। वे एक स्पष्टवक्ता हैं और अपनी स्पष्टवक्तृता में कहीं भी संकोच का अनुभव नहीं करते। वे निर्भय होकर यह घोषणा करते हैं कि, प्रभाकर ने अपने

---

७४. राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दकेबन्धनेविनिहितोऽहम्।
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः।। न्या० म० पृ० ३९४।

कृतित्व का अमुक-अमुक अंश बौद्धों से बिना उनकी स्वीकृति के चुराया है।[७५] यद्यपि जयन्त शब्द चयन के प्रति अत्यन्त सावधान थे, परन्तु फिर भी पूर्व लेखकों की लेखन शैली से प्रभावित होकर कभी-कभी वे मर्यादा का अतिक्रमण भी कर बैठते हैं और अपने कट्टर विरोधियों के लिये अमर्यादित शब्दावली का प्रयोग करते हैं।[७६] यद्यपि यह परम्परा परपक्ष खण्डन के सन्दर्भ में सभी लेखकों, यहाँ तक कि शङ्कराचार्य तक में पायी जाती है। आकर्षक स्थानों के प्रति उनका आत्म-संयम प्रशंसा के योग्य है। वे अक्सर विरोधियों के तर्कों का मजाक उड़ाते हैं और उनके विरुद्ध व्यङ्ग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हैं।[७७] यद्यपि बौद्धों के कटु आक्षेपों एवं तीखी भाषा ने जयन्त को पवित्र मार्ग का अतिक्रमण करने को प्रेरित किया होगा, फिर भी जयन्त ने अपने आप पर नियन्त्रण रखा और अपनी भाषा, अपने तर्क तथा परिवेश को विनय और शिष्टता से आच्छादित रखा।

जयन्त की ये समस्त विशेषतायें उनके प्रभावी व्यक्तित्व का संकेत करती हैं। उनके व्यक्तित्व एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर राजा ने उन्हें अपना मन्त्री बनाया था।[७८] धैर्य और साहस उनमें इतना था, कि वे अपनी विपत्ति का भी मजाक उड़ा सकते थे। क़ैद जैसी कठोर विपत्ति के काल में भी उन्होंने 'न्याय दर्शन' के कीर्ति-स्तम्भ सदृश 'न्याय-मञ्जरी' की रचना की। वस्तुतः न्यायदर्शन, तर्क, अध्यात्म, नीति और धर्मशास्त्र के लिये जयन्त भट्ट का योगदान चिरस्थायी एवं चिरस्मरणीय है। उनका कृतित्व भाषा-सौष्ठव, अर्थगाम्भीर्य, विषयचातुरस्र्य और प्रतिपादन-दाक्ष्य इन सभी दृष्टियों से महनीय, अनुशीलनीय तथा अभ्यसनीय है। इन विशेषताओं ने भारतीय दर्शन के इतिहास में जयन्त-भट्ट का स्थान अग्रपंक्ति में सुरक्षित कर दिया है।

---

७५. जा० व० भट्टाचार्य, न्या० म० (अंग्रेजी अनुवाद) भूमिका पृ० ३१।

७६. ये त्वीश्वरं निरपवाददृढप्रमाण-
सिद्धस्वरूपमपि नाभ्युपयन्ति मूढाः।
पापाय तैः सह कथापि वितन्यमाना
जायेत नूनमिति युक्तमतो विरन्तुम्॥ न्या० म० पृ० २०४।

७७. मीमांसकाः यशः पिबन्तु, पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मी-घृतं वा पिबन्तु, वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः। न्या० म० पृ० २३६।

७८. मन्त्री शास्त्रमहाटवीविहरणाश्रान्तो जयन्तोऽप्यसौ। आगमडम्बर ३।८, पृ० ५४।

चतुर्थ महापुराण की समस्या

डॉ॰ रमाशंकर त्रिपाठी

वाराणसी

The *purāṇas* are the only source of knowing our long old tradition. The evidence, these provide, cannot be overlooked. Our tradition lists *Śivapurāṇa* as the fourth *mahāpurāṇa* (also known as *Vāyavīya*), which may be easily accepted, as this is the view of the majority of the *purāṇas*.

'पुराण' भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के मेरुदण्ड हैं, कुल-पर्वत हैं। भारतीय इतिहास की सच्ची जानकारी पुराणों की सहायता के बिना दुर्लभ है। पुराणों की सत्ता उतनी ही प्राचीन है जितनी की भारतीय संस्कृति की।

यद्यपि पौराणिक साहित्य अत्यधिक प्राचीन है, किन्तु उनका वर्तमान स्वरूप पूर्णरूप से न तो अत्यन्त पुरातन है और न एक काल तथा एक कर्त्ता की ही कृति है। समयानुसार पुराणों में परिवर्तन एवं परिवर्धन बराबर होता चला आया है। 'पुराण' सामयिक परिवर्तनों को आत्मसात् करने से विमुख नहीं होता। कुमारिका खण्ड (४०।१९८) का स्पष्ट कथन है कि इतिहास और पुराण लोक में घटित महत्त्वपूर्ण वृत्तान्तों के कारण परिवर्तित होते हैं। **''इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्''।** महर्षि वात्स्यायन अपने न्याय-भाष्य (४।१।६१) में लोक वृत्तान्त को ही इतिहास तथा पुराण का विषय स्वीकार करते हैं। **''लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः''।**

आचार्य यास्क के निरुक्त (३।१९) के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है— 'पुरा नवं भवति'' (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है)। नवीन इस अर्थ में कि 'पुराण' में समय की गति के अनुसार नवीन बातों का भी समावेश होता चलता था। वह अत्यन्त पुरातन-काल से अपने समय तक का सारा इतिहास अपने भीतर सँजोये रहता था। वह एक लम्बी अवधि का विश्वकोष होता था।

महावैयाकरण पाणिनि के अनुसार 'पुराण' शब्द की निष्पत्ति 'पुरा भवम्' (प्राचीन समय में होने वाला) इस अर्थ में **'सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च'** (पाणिनि सूत्र ४.३।२३) इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने एवं 'तुट्'

के आगम होने पर 'पुरातन' शब्द बनता है। किन्तु स्वयं महर्षि पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' (२।१।४९) तथा 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४।३।१०५) में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुट् के आगम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। इस प्रकार महर्षि पाणिनि के अनुसार 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय अवश्य होता है किन्तु 'तुट्' का आगम जो नियम प्राप्त है, नहीं होता। पाणिनि व्याकरण की इस व्युत्पत्ति से पुराण साहित्य की ऐतिहासिकता सूचित होती है। 'पुराण' इस देश के इतिहास समझे जाते थे।

इसके अतिरिक्त स्वयं पुराणों में भी 'पुराण' की व्युत्पत्ति की गई है। वायुपुराण[1] के अनुसार पुराण की व्युत्पत्ति है "पुरा अनति" अर्थात् प्राचीन समय में जो जीवित था। पद्मपुराण[2] में इसकी व्युत्पत्ति कुछ भिन्न है—'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो परम्परा की कामना करता है, वह 'पुराण' कहा जाता है। इन सबसे भिन्न और अधिक तर्क-सम्मत व्युत्पत्ति ब्रह्माण्डपुराण उपस्थित करता है—'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ था[3]"।

इन सभी व्युत्पत्तियों से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि 'पुराण' का प्रतिपाद्य विषय अतीत काल की घटनाएँ एवं बातें थीं। यही कारण है कि पुराण का नामोल्लेख प्राचीन बातों का वर्णन करनेवाले इतिहास के साथ-साथ हुआ करता था।[4] 'पुराण' पौराणिक कल्पित बातों के साथ ही अतीत की सच्ची घटनाओं के प्रस्तावक भी समझे जाते थे।

शिवपुराण के अनुसार महापुराणों की संख्या अष्टादश है।[5] इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्म, (२) पद्म, (३) विष्णु, (४) शिव, (५) भागवत, (६) भविष्य, (७) नारद, (८) मार्कण्डेय, (९) अग्नि, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लिंग, (१२) वाराह, (१३) स्कन्द, (१४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) मत्स्य, (१७) गरुड, (१८) ब्रह्माण्ड।[6]

---

१. यस्मात् पुराह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ वायु० १।२०३ ॥

२. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् ॥ पद्म० ५।२।५३ ॥

३. यस्मात् पुराह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् ॥ ब्रह्माण्ड।१।१।१७३।

४. छान्दोग्य० ७।१।२।

५. शिवपुराण ७।१।४२।

६. शिव० ७।१।१।४३-४५ तथा ५।४४।११९-१२२।

अधिकांश महापुराणों में पुराणों की यही नामावली दी गई है ।[७] किन्तु कुछ महापुराणों में शिवमहापुराण के स्थान पर 'चतुर्थ महापुराण' में वायुपुराण का नामोल्लेख मिलता है ।[८] ऐसी अवस्था में किस महापुराण को 'चतुर्थ महापुराण' के रूप में गिना जाय, यह आशंका उठनी स्वाभाविक है ।

ऐसी परिस्थिति में पुराणों के बहुमत, पुराणों के व्याख्याकार एवं परम्परा के आधार पर ही निर्णय करना सम्भव एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है । जैसा कि पहले निर्देश किया गया है, दो-तीन पुराणों को छोड़कर स्पष्ट ही अधिकांश महापुराण 'चतुर्थ महापुराण' के रूप में शिव महापुराण की गणना करते हैं । पुराणों के इस बहुमत को कथमपि भ्रामक नहीं सिद्ध किया जा सकता है । 'पुराण' अतीत की एक लम्बी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनकी सम्मति सुदीर्घ परम्परा की अभिव्यंजिका है । अतः उनका बहुमत प्रामाणिक एवं आदरणीय है । भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१।१।४) में (तथा च वायवीये) कहकर ये साढ़े तीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते ।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः ।।
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् ।
प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ।।
तेऽपि हृष्टतमा विप्रा प्रणम्य जगतां प्रभुम् ।
प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत ।।
तद्वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम् ।

ये श्लोक शिवमहापुराण की पूर्व वायवीय संहिता के तृतीय अध्याय में उपलब्ध हैं ।[९] वायुपुराण में ये प्राप्त नहीं होते । इनमें केवल प्रथम श्लोक का भाव वायुपुराण में इस प्रकार प्राप्त होता है—

भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्रनेमिरशीर्यत ।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम् ।।२-७।।

इससे अधिक वहाँ कुछ भी इस विषय में उपलब्ध नहीं होता है । वायुपुराण में उस प्रसंग का निर्देश भर किया गया है, जिसका विस्तार शिवमहापुराण में उपलब्ध

---

७. देखिये—विष्णु० ३।६।२०-२४ तथा भागवत १२।१३।३-८ ।
पद्म० उत्तर खण्ड, २६३।८१-८४ आदि ।
८. देखिये—देवीभाग० १।३। मत्स्य० ५३ अ० ।
९. शिव० ७।१।३।५३

होता है। वायुपुराण की सरणि से प्रतीत होता है कि वह अति प्रसिद्ध कथानक का निर्देश कर रहा है। इससे यह बात पूर्ण प्रमाणित हो जाती है कि श्रीधर स्वामी जैसे प्रकाण्ड पौराणिक भी वायवीय शब्द से वायुसंहिताओं से समलंकृत 'शिव महापुराण' का ही अर्थ समझते एवं संकेतित करते थे। श्रीधर स्वामी का समय १२वीं या १३वीं सदी माना जाता है।

पुराण शृंखला में महनीय स्थान प्राप्त करने वाले विष्णु पुराण में भगवान् शंकर की उत्पत्ति के वर्णन प्रसंग में एक श्लोक आता है।[१०] उसकी व्याख्या में आचार्य श्रीधर ने "इति वायूक्तेः ऐसा कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है।[११] यह श्लोक वायुपुराण में नहीं मिलता। शिव पुराण इससे अलंकृत देखा जा सकता है।

सौंदर्यलहरी की लक्ष्मीधरा टीका में एक पंचाशत् तत्त्वों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि ये एक पंचाशत् तत्त्व वायवीय संहितादि सभी शैव पुराणों में उल्लिखित हैं।[१२] इससे यह प्रतीत होता है कि वायवीय संहिता को भी कभी-कभी शिवपुराण के रूप में उल्लिखित किया जाता था। यही कारण है कि 'इति वायवीये' कहकर जिस ग्रंथ का निर्देश किया जाता था वह अधिकांश स्थलों में वायुपुराण का बोधक न होकर शिवमहापुराणस्थ वायवीय संहिता का ही बोधक होता था।

पुराणों के अनुसार वायवीय पुराण की श्लोक संख्या चतुर्विंशति सहस्र होनी चाहिये।[१३] यह लक्षण शिवमहापुराण में पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है, यतः इसकी श्लोक संख्या चतुर्विंशति सहस्र ही है।[१४] वायुपुराण इस लक्ष्य से पूर्ण विसंगत है, क्योंकि इसमें श्लोकों की संख्या केवल द्वादश सहस्र ही निर्दिष्ट की गई है।[१५] आज तो इसकी संख्या इससे भी कम उपलब्ध होती है।

इस प्रकार यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि वायुपुराण को 'चतुर्थ महापुराण' मानने वाले स्वयं नारद पुराण तथा मत्स्य पुराण के द्वारा सूचित श्लोक संख्या रूपी

---

१०. रुदन् वै सुस्वरं सोऽथ द्रवंश्च द्विजसत्तम। वि० १।८।३

११. रुदन् द्रवंश्च प्रादुरासीदिति रुद्रनामनिरुक्तिः।
एवमुक्तास्तु रुरुदुर्दुद्रुवुश्च समन्ततः।
रोदनाद्द्रवणाच्चैव रुद्रनाम्नेति विश्रुताः॥ इतिवायूक्तेः॥

१२. देखिये--सौंदर्यलहरी प्रथम भाग, श्लोक ११ पर लक्ष्मीधरा टीका।

१३. मत्स्य० ५३।१८ तथा बृहन्नारदीय ४ पा० ९२ अ०।

१४. शिव० १।२।५६ तथा वही ७।१।१।५८।

१५ वायु० ३२।६६।

निकष पर वायुपुराण एकदम दो-टूक हो जाता है जबकि शिवपुराण उस पर खरा उतरता है।

उपर्युक्त इन तथ्यों के अतिरिक्त एक प्रबलतम तथ्य है, जो शिवपुराण को 'महापुराण' सिद्ध करने में रामबाण है। भगवान् शिव त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—में अन्यतम हैं। लोक-प्रसिद्धि की दृष्टि से अथवा साहित्य के आलम्बन की दृष्टि से शिव की महिमा विष्णु से कम नहीं थी और न आज भी कम है। पौराणिक युग में शिव की महिमा की प्रबलता का प्रबल प्रमाण है—अधिकांश पुराणों में उनके महत्त्व का प्राधान्येन निरूपण। अठारह पुराणों में दशपुराण शिवपरक कहे गये हैं—

"अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः" (स्कन्द, केदारखण्ड १)। ऐसी अवस्था में जबकि 'ब्रह्मा' के नाम से ब्रह्ममहापुराण तथा 'विष्णु' के नाम से विष्णु महापुराण का निर्माण हुआ तो शिव के इस नाम से शिवमहापुराण का न होना विश्व का अभूतपूर्व आश्चर्य माना जायगा। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शिव के महत्त्व को देखते हुये उनके नाम से निर्मित शिवपुराण ही महापुराण है न कि वायुपुराण।

उक्त साक्ष्यों से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि शिवपुराण ही 'चतुर्थ महापुराण' होने का अधिकारी है और यही पुराण 'वायवीय' के भी नाम से जाना जाता था। इसके वायवीय कहे जाने का मुख्य कारण यही है कि इसमें वायवीय संहिता का वर्ण्य विषय की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। उद्धृत करने योग्य दार्शनिक तथा धार्मिक बातें इसी संहिता में प्राधान्येन वर्णित हैं। "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस नीति के अनुसार वायवीय इस नाम से शिवमहापुराण एवं उसकी 'वायवीय संहिता' ही जानी जाती थी।

जैन पुराणों का उद्भव और विकास

डॉ० देवी प्रसाद मिश्र

इलाहाबाद

The Jain *ācārya* wrote *purāṇas* on the pattern of traditional *purāṇas*, and sometimes even adopted their titles, to propagate the principles of Jainism in the masses. They took the well-known plots and characters of *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata* and knitted them in the networks suiting their own purposes. The Jain *purāṇas* are the encyclopaedic works of their period.

प्राचीन भारतीय इतिहास में 'पुराणों' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'पुराण' शब्द का उल्लेख सबसे पहले वैदिक ग्रन्थों में मिलता है[1], जहाँ इसका तात्पर्य मात्र आख्यान से है। प्राथमिक पुराण संरचना का सूत्रपात इन आख्यानों के समावेश के साथ हुआ था। पारम्परिक पुराणों का विकास आख्यान, उपाख्यान, इतिवृत्त, कल्प, गाथा से हुआ है। चूंकि वैदिक वाङ्मय सभी के लिए सुगम नहीं था, अतः इनका उद्देश्य वेद-वाणी को आख्यान के माध्यम से जनसामान्य में प्रचारित करने एवं उच्च कोटि के धर्ममूलक और दर्शनमूलक तत्त्वों को सरल एवं सुग्राह्य शैली में उतारना था।

जैनाचार्यों ने 'जैन पुराण' का उद्भव प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से बताया है। जैन पुराणों में 'पुराण' के दो भेद वर्णित हैं—'पुराण' तथा 'महापुराण'। जिसमें एक शलाकापुरुष का चरित्र वर्णित हो उसे 'पुराण' कहते हैं और जिसमें एक से अधिक या तिरसठ शलाकापुरुषों का चरित्र वर्णित हो उसे 'महापुराण' कहते हैं।[2] वस्तुतः पारम्परिक पुराण एक रचयिता की रचना न होकर संकलित ग्रंथ हैं। इसलिये उनका समय एवं ऐतिहासिकता विवाद रहित नहीं है। इसके विपरीत जैन

---

१. ऋग्वेद ३।५।४९, ३।५।८६, १०।१३०।६, ९।८८।४, अथर्ववेद ११।७।२७, ११।८।७, गोपथ ब्राह्मण १।२।१०, १।१।१०।

२. महा०, १, २२।२३, पाण्डव० पृ० ९।

पुराण के रचयिता ऐतिहासिक पुरुष हैं। इसलिये जैन पुराणों का समय निश्चित होने से, उनकी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्ता है।

जैन पुराणों के उद्भव से संबंधित प्राचीम साक्ष्य स्नानांगसूत्र में मिलता है, जिसमें तीर्थंकर आदि के जीवन के कुछ तथ्यों का संग्रह मिलता है। इसके आधार पर श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र आदि ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र' आदि की रचनायें कीं। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि के चरित्र के तथ्यों का प्राचीन संकलन हमें प्राकृत भाषा के **'तिलोयपण्णत्ति'** ग्रंथ तथा स्वामी समन्तभद्र कृत **'स्वयंभूस्तोत्र'** में मिलता है। चौबीस तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र तथा ११ रुद्रों के जीवन के प्रमुख तथ्य भी इसी में संगृहीत हैं। इन्हीं के आधार पर विभिन्न पुराणकारों ने अपनी लेखनी के बल पर छोटे-बड़े अनेक पुराणों की रचना की है।

जैन पुराणों के उद्भव में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इन पुराणों का समय गुप्तोत्तर काल था। उस समय देश संक्रमण-काल से गुजर रहा था। सार्वभौमिक सत्ता का अभाव था। जैनधर्म देश के विभिन्न भागों में फैला हुआ था। बहुत से राजा जैन मतावलम्बी थे, जिससे जैन धर्म को राजकीय संरक्षण भी प्राप्त था।

तत्कालीन भारतीय समाज जाति प्रथा से जकड़ता जा रहा था और धार्मिक रीतिरिवाज़ के बन्धन दृढ़ होते जा रहे थे। समाज अनेक जातियों एवं उपजातियों में विभाजित होने लगा था। समाज के शिक्षित एवं अशिक्षित सभी लोग तंत्र-मंत्र, टोना-टोटका, मुहूर्त आदि अंधविश्वासों से ग्रसित थे। सामाजिक वैमनस्य एवं भेद-भाव का अन्तराल विशाल होता जा रहा था।

गुप्त युग को संस्कृत साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहा जाता है। इस समय रामायण, महाभारत, पुराण तथा धर्मशास्त्रों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, बाण आदि रीतिबद्ध शैली से संस्कृत साहित्य को समृद्ध कर रहे थे।

गुप्त युग ब्राह्मण धर्म का पुनर्जागरण काल था। ब्राह्मण धर्म में नाना अवतारों की अवधारणा, उनकी पूजा तथा भक्ति की प्रधानता हो गयी थी। इस समय वेदों के स्थान पर पुराणों का महत्त्व बढ़ गया था। रामायण एवं महाभारत लोकप्रिय हो गये थे। पारम्परिक पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। विभिन्न धर्मों में परस्पर आदान-प्रदान और सम्मिश्रण अधिक बढ़ रहा था। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा बौद्धों के भगवान बुद्ध को पारम्परिक ब्राह्मण धर्म

के अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया था। धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन हो रहा था।

उपर्युक्त तत्कालीन परिस्थितियों के अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि पारम्परिक पुराण जैन एवं बौद्ध धर्म को अनुत्साहित कर रहे थे। पारम्परिक पुराणों में बुद्ध को अवतार मानने तथा बौद्ध धर्म का समादर करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। मायामोह-आख्यान के माध्यम से बौद्ध धर्म को पौराणिक धर्म के अंगीभूत करने की चेष्टा की गई है।[३]

पारम्परिक विष्णु पुराण में वर्णित है कि कंक, कोंकण, वेंकट, कूठक, दक्षिणी कर्नाटक प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में ऋषभ के अनुयायी नग्न 'अरहत' रहते हैं। ये लोग कलियुग में व्यवस्था को ध्वस्त कर ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ एवं वेदों का विरोध करेंगे। ये दैत्य 'अरहत' कहे गये हैं। मयूरपिच्छधारी दिगम्बर तथा मुण्डित केश मायामोह नामक एक असुर को दैत्यों के प्रति मधुर वाणी में संशयात्मक वेद विरोधी मतों का उपदेश करते हुए पाया गया है। मायामोह को जैन धर्म का प्रवर्तक बताया गया है।[४] भागवत पुराण के पाँचवें स्कन्ध में प्रथम छः अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृत्तान्त वर्णित है, जो मुख्य-मुख्य बातों में जैन पुराणों से मिलता है।[५]

यह समीक्षा का विषय है कि क्या जैन पुराणों का उद्भव पारम्परिक पुराणों द्वारा जैन धर्म एवं बौद्ध धर्मों के अनुत्साहित करने से हुआ? वस्तुतः बौद्धों ने न तो 'पुराण' नामधारी कोई ग्रन्थ लिखा और न ही उसे लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की, क्योंकि बौद्धों के क्रिया-कलाप का क्षेत्र भारत के अतिरिक्त बाहरी देश भी थे। इस प्रकार उनकी लोकप्रियता बाहर अधिक बढ़ती गयी। इसके विपरीत जैनों के क्रिया-कलाप का केन्द्र भारत था। जैनधर्म को व्यावहारिक रूप प्रदान करने तथा उसे सर्व-साधारण तक सुप्रचालित करने के लिए जैनाचार्यों ने 'पुराण' नामधारी ग्रन्थों की भी रचना की।

---

३. एस०एन० राय—पौराणिक धर्म एव समाज, इलाहाबाद १९६८, पृष्ठ ३५, ३८५-३८७ हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन द पुराणाज, इलाहाबाद। १९७८, पृ० २४५-२६१।

४. एच०एच० विलसन—द विष्णुपुराण : ए सिस्टम आव् हिन्दू माइथालोजी एण्ड ट्रेडीशन, कलकत्ता १९६१, पृ० १३३, २७०-२७१।

५. उद्धृत—हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल १९४२, पृ० ११।

जैनाचार्यों ने तत्कालीन परिस्थितियों का आकलन किया। जैनधर्म मूलतः अहिंसा, तप, त्याग, ज्ञान, एवं वैराग्य प्रधान था। परन्तु युग की माँग के अनुरूप जैन विद्वानों ने न केवल संस्कृत में अपितु प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी अनेक प्रकार की रचनायें लिखीं। जैनों की साहित्य-साधना सर्वप्रथम लोकरुचि की ओर थी। इसी लिए उन्होंने सामान्य जनों के योग्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त अनेक प्रान्तीय भाषाओं तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, हिन्दी आदि में भी प्रचुर मात्रा में ग्रन्थ-प्रणयन किया। पारम्परिक ब्राह्मण धर्म की लोकप्रियता, प्रभाव एवं जैन धर्म की उपेक्षा के कारण जैन मुनियों का ध्यान शास्त्रों, मन्दिरों एवं मूर्तियों के संरक्षण में होने लगा। वे अब इन कार्यों के लिये दान भी लेने लगे। जिन आगम सूत्रों का अध्ययन मात्र जैन साधुओं तक ही नियत था, देश-काल के परिवर्तन तथा गृहस्थ श्रावकों के प्रभाव से उनकी रुचि का ध्यान रखकर आगमिक प्रकरण और औपदेशिक प्रकरणों के साथ पौराणिक महाकाव्यों, बहुविध कथा साहित्य, स्तोत्रों आदि की रचना होने लगी। जैनाचार्यों ने लौकिक धर्म को भी अपने धर्म में आत्मसात कर लिया।

तत्कालीन भारतीय समाज में रामायण तथा महाभारत के पात्र—राम, लक्ष्मण, सीता, रावण और पाण्डव, कौरव, कृष्ण, बलराम आदि समाज में लोकप्रिय एवं पूज्य थे। जैनपुराणों के रचनाकाल में पारम्परिक पुराणों का समाज में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसी समय पारम्परिक पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। जैनाचार्यों ने धर्म को लोकप्रिय बनाने तथा सर्वसाधारण में प्रचलित करने के उद्देश्य से रामायण एवं महाभारत की कथावस्तु तथा पात्रों को लेकर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्रादेशिक भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की। जैन विद्वानों ने न केवल रामायण एवं महाभारत की कथाओं एवं पात्रों को जैन पुराणों में निबद्ध किया, अपितु पारम्परिक पुराणों के कतिपय नामों को भी जैन पुराणों का नाम दिया। उदाहरणार्थ पद्मपुराण, महापुराण। उन्होंने अलौकिक तथा अविश्वसनीय घटनाओं के स्थान पर सरल, तर्कसंगत तथा बोधगम्य घटनाओं को अपने पुराणों में स्थान दिया। यह साहित्य सामान्यतया दिगम्बरों में 'पुराण' तथा श्वेताम्बरों में 'चरित्र' या 'चरित' नाम से अभिहित है।

पारम्परिक पुराणों की संख्या १८ है। इनका विस्तार तीन स्तरों में हुआ था। प्रथम स्तर पर (विष्णु पुराण के अनुसार) पुराणों की संख्या चार थी। वायु-पुराण में इनकी संख्या १० बताई गई है, जो दूसरा स्तर था। तीसरे स्तर में १० के स्थान पर १८ संख्या हो गयी है। १८ महापुराण इस प्रकार हैं—(१) ब्रह्म, (२) पद्म, (३) विष्णु, (४) वायु, (५) भागवत, (६) नारदीय, (७) मार्कण्डेय, (८) अग्नि, (९) भविष्य, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) वराह, (१२ लिंग, (१३) स्कन्द, (१४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) गरुड़, (१७) ब्रह्माण्ड, (१८) मत्स्य।

पारम्परिक पुराणों की भाँति जैन पुराणों की संख्या निर्धारित नहीं है। आधार ग्रन्थ तथा विषयवस्तु के आधार पर जैन पुराणों को निम्नांकित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है[६] :—

(अ) रामायण विषयक पुराण।

(आ) महाभारत विषयक पुराण।

(इ) त्रिषष्टि शलाकापुरुष विषयक पुराण।

(ई) तिरसठ शलाका पुरुषों के स्वतंत्र पुराण।

रामायण विषयक पुराण

रामायण विषयक सबसे प्राचीन जैनपुराण विमलसूरि का प्राकृत में निबद्ध **'पउम-चरियं'** है। याकोवी ने इसकी तिथि तृतीय ई० मानी है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसकी तिथि वि० स० ५३० मानी है। इसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा यापनीय—सभी सम्प्रदायों का समावेश पाया जाता है। इसमें पद्म (राम) के जीवन का वर्णन है, जो कि **वाल्मीकि रामायण** से साम्य रखता है।

'पउम चरियं' के आधार पर ६७७ ई० में जैनाचार्य रविषेण ने सर्वप्रथम संस्कृत में **'पद्मपुराण'** लिखा। रामविषयक यह कथा स्वयंभूकृत अपभ्रंश में **'पउम-चरिउ'**, जिनसेनगुणभद्र कृत संस्कृत में **'महापुराण'**, पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश में **'महापुराण'** तथा हेमचन्द्र कृत संस्कृत में **'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित'** में पायी जाती है।

'पद्मपुराण' के तिथि के विषय में **'पद्मपुराण'** में ही वर्णित है कि महावीर के निर्वाण होने के १२०३ वर्ष ६ माह बाद पद्म मुनि का चरित्र निबद्ध किया गया।[७] यदि वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद वि० सं० माना जाय तो इसकी रचना वि० सं० ७३३ अर्थात् ६७६-६७७ ई० में हुई है।

पद्मपुराण के आधार पर राम विषयक अधोलिखित पुराण लिखे गये हैं जिन्हें पुराण तथा 'चरित' या 'चरित्र' इन दो भागों में विभक्त किया गया है।

---

६. गुलाबचन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, इलाहाबाद १९७३, पृ० ३३।

७. पद्म० १२३–१८२।

(क) पुराण ग्रन्थ :

क्र० सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	पद्मपुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५वीं-१६वीं शती
२.	वही (रामदेव पुराण)	जिनदास	१६वीं शती
३.	वही (—)	सोमसेन	सं० १६५६
४.	वही (रामपुराण)	धर्मकीर्ति	सं० १६६९
५.	वही	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
६.	वही	चन्द्रसागर	—
७.	वही	श्रीचन्द्र	—

(ख) चरित या चरित्र ग्रन्थ :

क्र० सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	सीताचरित	भुवनतुंगसूरि	—
२.	राम लक्ष्मण चरित्र	वही	—
३.	पद्म महाकाव्य	शुभवर्धन गणि	—
४.	रामचरित्र	पद्मनाथ	—
५.	पद्म पुराण पंजिका	प्रभाचन्द्र या श्रीचन्द्र	—
६.	सीताचरित्र	वही	(अप्रकाशित)
७.	वही	शान्तिसूरि	—
८.	वही	ब्रह्मनेमिदत्त	—
९.	वही	अमरदास	—

महाभारत विषयक पुराण

'महाभारत' की कथा को आधार मानकर जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित संस्कृत में 'हरिवंशपुराण' इस प्रकार का सर्वप्रथम पुराण है। ये जिनसेनाचार्य 'आदि-पुराण' के रचयिता जिनसेनाचार्य से पृथक् हैं। 'हरिवंश पुराण' की तिथि शक सं० ७०५ (७८३ ई०) मानी गई है।

'हरिवंश पुराण' के आधार पर 'महाभारत' विषयक पुराण और चरित्र ग्रन्थों की रचना हुई है।

(क) पुराण ग्रन्थ :

क्र० सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)	यशःकीर्ति	१५०७
२.	,, ,,	जयानन्द	—
३.	,, ,,	सकलकीर्ति	वि० सं० १५२०
४.	,, ,, (अपभ्रंश)	श्रुतकीर्ति	१५५२
५.	,, ,, (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५-१६वीं शती
६.	,, ,,	कवि रामचन्द्र	वि०सं० १५६० से पूर्व
७.	,, ,,	श्रीभूषण	वि०सं० १६७५
८.	,, ,,	धर्मकीर्ति	वि०सं० १६७१
९.	,, ,,	जयसागर	—
१०.	,, ,,	जयानन्द	—
११.	,, ,,	मंगरस	—
१२.	,, ,, (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	—
१३.	,, ,, (वही)	चतुर्मुखदेव	(अनुपलब्ध)
१४.	पाण्डवपुराण (वही)	यशःकीर्ति	१४९७
१५.	,, ,,	कवि रामचन्द्र	वि०सं० १५६० से पूर्व
१६.	,, ,,	शुभचन्द्र	वि०सं० १६०८
१७.	,, ,,	वादिचन्द्र	वि०सं० १६५४
१८.	,, ,,	श्रीभूषण	वि०सं० १६५७
१९.	शान्तिनाथ पुराण	,,	,, ,, (लगभग)

(ख) चरित्र या चरित ग्रन्थ :

क्र० सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	पाण्डव चरित	देव भद्रसूरि	वि०सं० १२७०
२.	पाण्डव चरित्र	देव विजयगणि	वि०सं० १६६०
३.	,, ,, (हरिवंश पुराण)	शुभवर्धनगणि	—
४.	,, ,, (लघुपाण्डवचरित्र)	अज्ञात	—

त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक पुराण

तिरसठ शलाकापुरुषो (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण) के चरित्र के आधार पर पुराणों की रचना की गई है, जिसमें संस्कृत का 'महापुराण' सर्वप्रथम माना जाता है। 'महापुराण' में दो भाग हैं :—'आदिपुराण' और 'उत्तरपुराण'। जिनसेन द्वारा विरचित 'आदिपुराण' में १ से ४२ अध्याय एवं ४३वें अध्याय का ३ श्लोक है। चौथे श्लोक से ७३ अध्याय तक 'उत्तरपुराण' है, जिसके रचयिता जिनसेन के शिष्य गुणभद्र हैं।

'महापुराण' की तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है तथापि 'महापुराण' में उपलब्ध तत्कालीन साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि 'आदिपुराण' की रचना ९वीं शती के अन्त में और 'उत्तरपुराण' की रचना १०वीं शती के प्रारम्भ में हुई थी।

'महापुराण' के आधार पर त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक अधोलिखित पुराण एवं चरित्र नामधारी ग्रन्थों की रचना हुई है।

(क) पुराण ग्रन्थ :

क्र० सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	महापुराण (त्रिषष्टि महापुराण) या (त्रिषष्टिशलाका पुराण)	मुनि मल्लिषेण	शक सं० ९६९
२.	महापुराण	पुष्पदन्त	—
३.	पुराणसार	श्रीचन्द्र	वि० सं० १०८०
४.	,, ,,	अज्ञात	—
५.	,, ,,	सकलकीर्ति	—
६.	पुराण-सार-संग्रह	दामनन्दि	११वीं से १२वीं शती के मध्य
७.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	हेमचन्द्र	वि०सं० १२१६-१२१८
८.	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	आशाधर	वि०सं० १२९२
९.	आदिपुराण	सकलकीर्ति	वि०सं० १५२०
१०.	उत्तरपुराण	,,	,,
११.	आदिपुराण (कन्नड)	कवि पंप	—
१२.	कर्णामृत पुराण	केशवसेन तथा चन्द्रप्रभा	१७वीं शती
१३.	आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	,, ,,
१४.	लघुमहापुराण या त्रिषष्टिशलाका महापुराण	चन्द्रमुनि	—

(ख) चरित्र या चरित ग्रन्थ :

क्र० सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र	आशाधर	वि०सं० १२९२
२.	राममल्लाभ्युदय	उपाध्याय पद्मसुंदर	—
३.	चमपन्नमहापुरिसचरिय	विमलमति या शीलाचार्य	वि०सं० ९२५
४.	,, ,,	अज्ञात	वि०सं० १२९०
५.	कहावलि	भद्रेश्वरसूरि	वि०सं० १२४८
६.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	हेमचन्द्र	वि०सं० १२२९
७.	,, ,,	विमलसूरि	—
८.	,, ,,	व्रजसेन	—
९.	चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि	अमरचन्द्रसूरि	१२३८ ई०
१०.	महापुरुष चरित	मेरुतुंग	१३०६ ई०
११.	लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	मेघ विजय उपाध्याय	१८वीं शती
१२.	लघु त्रिषष्टि	सोमप्रभ	—
१३.	त्रिषष्टिशलाका पंचाशिका	कल्याण विजय के शिष्य	—
१४.	त्रिषष्टिशलाका पुरुष विचार	अज्ञात	—

तिरसठ शलाका पुरुषों के स्वतंत्र पुराण

रामायण, महाभारत, कथाओं तथा तिरसठ शलाका पुरुषों के पौराणिक महापुराणों का महाकाव्यों और उनके संक्षिप्त रूपों के पश्चात् स्वतंत्र रूप से तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों आदि के जीवन चरित्र भी बहुत लिखे गये। १०वीं शती से १८वीं शती तक में रचनाएं निर्बाधगति से लिखी जाती रहीं। १२वीं-१३वीं शती में वे रचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी गयीं। परन्तु आगे की शताब्दियों में भी इनका क्रम चलता रहा। तीर्थंकरों में सबसे अधिक रचनाएँ शान्तिनाथ पर हैं। द्वितीय स्थान पर २२वें नेमिनाथ तथा २३वें पार्श्वनाथ हैं। तृतीय क्रम में आदि जिन वृषभ, अष्टम चन्द्रप्रभ और अन्तिम तीर्थंकर पर चरित्र ग्रंथ लिखे गये। ये रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में हैं जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। उनमें से कतिपय 'पुराण' नामधारी ग्रन्थों का उल्लेख किया जा रहा है।

क्रम-संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचनाकाल
१.	वर्धमान पुराण	जिनसेन	तृ० शती (अनुपलब्ध)
२.	शान्तिनाथ पुराण	असमकवि	१०वीं शती
३.	महावीर पुराण	असमकवि	९१० ई०
४.	चामुण्ड पुराण (कन्नड)	चामुण्डराय	शक सं० ९८०
५.	पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९९९ ई०
६.	पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५-१६वीं शती
७.	पार्श्वनाथ पुराण	भट्टारक श्रीभूषण	१५वीं शती
८.	,, ,,	वादिचन्द्र	१६६८ ई०
९.	अनन्तनाथ पुराण	श्रीजन्नाचार्य	सं० १२०९
१०.	मल्लिनाथ पुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	१५वीं शती
११.	जयकुमार पुराण	ब्र० कामराज	१५५५ ई०
१२.	कर्णामृत पुराण	केशव सेन	१६८८ ई०
१३.	नेमिनाथ पुराण	ब्र० नेमिदत्त	१५७५ ई०
१४.	पद्मनमि पुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	१७वीं शती
१५.	चन्द्रप्रभ पुराण	कवि आशा देव	—
१६.	अजित पुराण	अरुणगणि	सं० १७१६
१७.	धर्मनाथ पुराण (कन्नड)	कवि बाहुबलि	—
१८.	मल्लिनाथ पुराण (कन्नड)	कवि नागचन्द्र	—
१९.	मुनि सुव्रत पुराण	ब्रह्म कृष्णदास	—
२०.	मुनि सुव्रत पुराण	भट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति	—
२१.	वागार्थ संग्रह पुराण	कवि परमेष्ठी	—
२२.	श्री पुराण	भट्टारक गुणभद्र	—

जैन पुराणों का रचना काल

जैन पुराणों की रचना विभिन्न कालों में हुई है। जैन पुराणों के अध्ययन तथा अन्य समकालीन साक्ष्यों के अनुसार प्राकृत (महाराष्ट्री) के जैन पुराणों का रचना-काल छठी शती ई० से लेकर १५वीं शती ई० तक, संस्कृत पुराणों का समय सातवीं शती से १८वीं शती तक और अपभ्रंश पुराणों की तिथि १०वीं शती से १६वीं शती तक है। प्रायः सभी जैन पुराणों का रचना काल लगभग छठी शती से १८वीं शती तक निर्धारित किया जाता है।

संस्कृत के तीन आधारभूत जैन-पुराण पद्म पुराण, हरिवंश तथा महापुराण (आदि पुराण एवं उत्तर पुराण) हैं, जिनका समय सातवीं शती से १०वीं शती के मध्य है।

जैन पुराणों की विशेषताएँ

जैन पुराण भारतीय वाङ्मय के आधारभूत स्तम्भ हैं। इनके परिशीलन से तत्कालीन भारतीय जीवन का सजीव चित्रण मिलता है। जैन पुराणकारों ने पुराणों को अपने-अपने काल में विश्वकोष बनाने का प्रयत्न किया है। जैन पुराणों में पौराणिक शैली तथा काव्यात्मक शैली का बहुत सुन्दर सामञ्जस्य है। इन पुराणों में अलौकिक तथा अप्राकृतिक तत्त्वों की प्रधानता नहीं है। जैन पुराणों में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति तथा फल—ये आठ 'पुराण' के विषय हैं। जैन पुराणों में तीनों लोक, काल-चक्र तथा कुलकरों का प्रादुर्भाव वर्णित है। जैन पुराणों में कथाओं के साथ ही जैनचार्यों के उपदेश, जैन सिद्धांतों का प्रतिपादन, तीर्थकरों की जीवनी आदि का चित्रण हुआ है। सांस्कृतिक दृष्टि से इन तत्त्वों में भाषातत्त्व का विकास, सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का चित्रण, राजनीति, शिक्षा, आर्थिक जीवन धार्मिक स्थिति तथा भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान होता है। जैन धर्म ने यद्यपि वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड का विरोध किया, किन्तु आगे चलकर जैन धर्म में भी ब्राह्मण आचार, व्रत, धर्म, संस्कार आदि धार्मिक कृत्य अपना लिये गये।

पारम्परिक पुराणों में देश एवं काल दोनों ही दृष्टियों से अनिश्चितता पायी जाती है, किन्तु जैन पुराणों में काल निर्देश की प्रवृत्ति प्रायः अधिक पायी जाती है और इनके प्रमुख रचयिता एवं रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जहाँ पारम्परिक पुराणकार इतिवृत्त की यथार्थता को सुरक्षित नहीं रख सके हैं, वहीं जैन पुराणकारों ने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है। इसलिये प्राक्कालीन भारतीय परिस्थितियों को जानने के लिए जैन पुराणों से जो साहाय्य प्राप्त होता है, वह अन्य पुराणों में नहीं। इतिहास का संचित भण्डार जैन पुराणों में मिलता है।

शब्दार्थ-संबंध-स्वरूप

डॉ० त्रिभुवन नाथ शुक्ल

जबलपुर

The author in this paper has discussed the nature of the relation between word and meaning according to Indian Grammarians, namely, Yāska, Vyāḍi, Pāṇini, Kātyāyana, Patañjali, Bhartṛhari, Kaiyaṭa and Nāgeśa.

१.०. शब्द और अर्थ के संबंध के विषय में यह सहज रूप से प्रश्न किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की जानकारी का स्रोत क्या है ? यह अनुभूत सत्य है कि शब्द-श्रवणानन्तर किसी व्यक्ति को अर्थ का बोध हो जाता है और किसी को नहीं। यदि एक व्यक्ति को अर्थ का बोध होता है तो शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध है, जिसका ज्ञान होने पर अर्थ का बोध होता है, अन्यथा नहीं। इस विषय में भाषाविश्लेषण-कर्ताओं, पदशास्त्र-प्रमाणज्ञों, वैयाकरणों, दार्शनिकों और काव्यशास्त्रियों ने गहन चिन्तन किया है। इस आलेख में शब्दार्थ-संबंध-स्वरूप का विवेचन, मात्र भारतीय वैयाकरणिक चिन्तन को दृष्टिकेन्द्र में रखकर किया जा रहा है।

१.१.०. निरुक्तकार यास्क

वैदिक व्याकरण के पुरोधा एवं पुरस्कर्ता यास्क ने वैदिक शब्दों की निरुक्ति के लिए 'निरुक्त' ग्रंथ की रचना की। किन्तु, इस ग्रंथ का आरंभ पदों के स्वरूप, शब्दों की नित्यता-अनित्यता एवं अर्थ और वाक् के संबंधों से होता है। मूल विवेचन के साथ 'निरुक्त' में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की चर्चा इस प्रकार है।

१.१.१. यास्क ने 'निरुक्त' में—'अथ गत्यर्थशब्दप्रयोगः' और 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' (१।१।१५) द्वारा शब्द और अर्थ में नित्य-संबंध स्वीकार किया है। यास्क ने इन सूत्र-खण्डों में यद्यपि नित्यता स्वीकार की है फिर भी, वे शब्द को

विशेष महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि लोक और वेद दोनों में अर्थ प्रकट करने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है—ऐसा स्वीकार किया है।

१.१.२. यास्क ने कौत्स के "वेद-मंत्र अनर्थक हैं" का उत्तर देते हुए कहा कि "ब्राह्मण तो मंत्र को दुहराता है।" यदि मूल ही अनर्थक हो, तो उसका अनुवाद करने वाला ग्रंथ कैसे सार्थक हो सकता है? तब तो अर्थबोध न तो मंत्र से होना चाहिए, और न ब्राह्मण से। किन्तु अर्थबोध होता अवश्य है। ऐसी स्थिति में अर्थबोध केवल ब्राह्मण से ही होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः मंत्र सार्थक हैं—यथो एतद्ब्राह्मणेन रूप-सम्पन्ना विधीयन्त इति, उदितानुवादः समवलि (१।१६) इस। प्रकार यास्क शब्द और अर्थ में नित्य-सम्बन्ध मानते हैं।

१.१.३. अर्थ को शब्द का पुण्य और फल मानते हुए निरुक्तकार ने लिखा है—"अर्थ वाचः पुण्यफलमाह" (१।२०)[1]।

१.१.४. निरुक्तकार की मान्यता है कि अर्थ के अन्वित होने पर शब्द आदि के प्रादेशिक परिवर्तन की जानकारी के अभाव में शब्दों की परीक्षा उनके अर्थों को ध्यान में रखते हुए कुछ वृत्ति सामान्य के आधार पर करनी चाहिए।[2] इस प्रकार यास्क ने शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है।

१.२.०. व्याडि

व्याडि ने 'संग्रह' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सम्प्रति अनुपलब्ध है। अन्यान्य विद्वानों द्वारा उद्धृत अंश से ज्ञात होता है कि इसका आरम्भ शब्दार्थ सम्बन्ध और शब्द के नित्यानित्यत्व-विवेचन से होता है।[3]

१.२.१. व्याडि ने शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध माना है। उनके अनुसार यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं है। अर्थ किसी शब्द के रूप में नहीं रहता अपितु वह भावना के रूप में सम्पृक्त रहता है। लोक और वेद में यह स्थिति समानरूप से और स्वतःसिद्ध है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है—

सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् मृतः कथम् ॥[4] —संग्रह

---

१. लक्ष्मणस्वरूप—निरुक्तम्।
२. अथानन्विते अर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्तिसामान्येन। —निरुक्त २।१
३. डॉ० सत्यकाम वर्मा, संस्कृतव्याकरण का उद्भव और विकास, पृ० ९४।
४. वही, पृ० ९४ से उद्धृत।

१.३.०. मुनित्रय : पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि

पाणिनि ने शब्दार्थ के सम्बन्ध में— अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (अष्टा० १।२।४५) का उल्लेख कर अप्रत्यक्षतः प्रातिपदिक, धातु व प्रत्यय को नित्य अर्थवान् स्वीकार किया है। कात्यायन के बहुर्चचित एवं महत्त्वपूर्ण सूत्र—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे (महा० १।१।१) की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने शब्द और अर्थ को ही नहीं, अपितु उसके सम्बन्ध को भी नित्य माना है। पतंजलि ने शब्द को अर्थवान् और उसका अर्थ से अनिवार्य सम्बन्ध निरूपित किया है (महाभाष्य १।१।१)।

उनके अनुसार शब्द त्रैकालिक सत्ता का बोध कराता है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध त्रैकालिक अर्थात् शाश्वतिक है।[५]

१.३.१. पतंजलि की मान्यता है कि विभिन्न देशों में एक ही शब्द एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः दोनों का सम्बन्ध नित्य है।[६]

अर्थविज्ञान की दृष्टि से यह सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। शब्द की अनेकार्थ-शक्तिमत्ता के परिणामस्वरूप एक ही शब्द भाषाभेद अथवा स्थानभेद के कारण बहुविध अर्थों का वाचक होता है।

१.४.०. भर्तृहरि

संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि ने अपने प्रशस्तग्रंथ वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना है। इस सन्दर्भ में उनका यह कथन है कि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध मानने की उनकी धारणा पूर्ववर्ती वैयाकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि प्रभृति महर्षियों के अनुरूप है।[७] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निरूपित करते हुए भर्तृहरि ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं जो अधोलिखित हैं :—

१.४.१. शब्द में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह किसी नियत अर्थ का बोध कराता है। इससे स्पष्ट है कि शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है।[८]

१.४.२. शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ही शब्द से वस्तु का ज्ञान

---

५. महा० ५।२।९४।

६. सर्वे सर्वार्थवाचकाः। उद्योत महा० (१।१।१)

७. नित्याः शब्दार्थसम्बन्धः समाम्नाता महर्षिभिः। —वा० ९।२३।

८. शब्दानां यत्शक्तित्वं तस्य शाखा सुदृश्यते।
तथार्थप्रत्यायने सामर्थ्यात्, तथाभ्युदये हेतुत्वात् (१।७।१।६)।

हो सकता है। वस्तु का ज्ञान शब्द से होता है, अर्थावबोध की इस प्रक्रिया से शब्द और वस्तु में सम्बन्ध का निश्चय होता है।[९]

१.४.३. भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में योग्यता और कार्य-कारण सम्बन्ध भी स्वीकार किया है। योग्यता-सम्बन्ध का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है—"जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों में रूप, रस, गन्ध आदि के ग्रहण करने तथा तद्-विषयकज्ञान की स्वाभाविक योग्यता होती है, उसी प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता होती है कि उच्चरित होने पर अर्थ का बोध कराता है। यही योग्यता-सम्बन्ध है—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ॥—वा० ३, पृ० ११।

कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में उनकी धारणा है कि शब्द और अर्थ अन्योन्य कारण और कार्य हैं। योग्यता यदि शब्द की अर्थबोधकताशक्ति पर प्रकाश डालती है तो कार्य-कारण सम्बन्ध उसकी व्यावहारिक शक्ति पर। शब्द ही एक साधन है जिससे वक्ता अपने भावों को श्रोता तक पहुँचाता है। अतएव शब्द अर्थ का कारण है अर्थात् श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ (वस्तु) विद्यमान रहता है उसका कारण शब्द है। शब्द श्रवणानन्तर श्रोता का बुद्धिगत अर्थ जागरित हो उठता है। बुद्धि में पहले से विद्यमान अर्थ के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है। इस स्थिति में अर्थ शब्द का कारण होता है क्योंकि अर्थ की बुद्धि में पूर्व उपस्थिति ही उसका ज्ञान कराती है—

शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते ॥

—वा० ३, पृ० ११२।

१.४.४ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निरूपित करते हुए वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य-वाचक, उपकार्य उपकारक, ग्राह्य-ग्राहक, प्रकाश्य-प्रकाशक, तथा संज्ञा-संज्ञि नाम से अभिहित किया है।[१०]

१.४.५ वेदान्त का आश्रय लेते हुए भर्तृहरि ने ज्ञान और ज्ञेय की भाँति शब्द और अर्थ का सम्बन्ध माना है। जैसे ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता आत्मा की परम

---

९. सति प्रत्ययहेतुत्वं सम्बन्ध उपपद्यते।
शब्दस्यार्थे यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ॥

—वा०, का० ३, पृ० ११४।

१०. वा० २-३२।

परिणति ज्ञेय ब्रह्म के रूप में होती है, वैसे ही शब्द द्वारा अर्थ अपने रूप को प्रकट करता है।[११]

१.४.६ शब्दार्थ का सम्बन्ध धातु अथवा ध्वनि से किसी रूप में नहीं है। (वा० २।२३०)।

१.४.७ भर्तृहरि के अनुसार शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी ज्ञात होता है कि शब्द से दृष्ट और अदृष्ट नैमित्तिक अर्थ का संस्कार किया जाता है अर्थात् तान्त्रिक विद्याओं से विष आदि के उतारने में सामर्थ्य देखी जाती है। प्रत्येक तंत्रशास्त्र में प्रसिद्ध बीजाक्षरों से अदृष्ट (धर्म) की प्राप्ति होती है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न होता तो यह कैसे सम्भव था —

शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्टप्रयोजनः।
क्रियते सोऽभिसम्बन्धः अन्तरेण कथं भवेत्॥
—वा० ३, पृ० ११४।

१.४.८ भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को अभिन्न स्वीकार किया है।[१२] दोनों एक ही वस्तु के दो धर्म हैं। बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने पर दोनों एक हो जाते हैं। ग्रहण के पूर्व दोनों की पृथक् स्थिति रहती है।[१३] शब्द उस धर्म को कहा जा सकता है, जिसका उच्चारण से सम्बन्ध है। अर्थ का सम्बन्ध ग्रहण से है। यदि 'अर्थ' रूप में शब्द का ग्रहण नहीं हो सका तो 'शब्द' को सार्थक भी नहीं कहा जा सकता।

१.५.०. कैयट और नागेश

कैयट और नागेश ने किसी स्वतंत्र व्याकरण ग्रन्थ का सृजन नहीं किया है। दोनों वैयाकरणों ने महाभाष्य पर टीकाएँ लिखी हैं। कैयट ने प्रदीप और नागेश ने प्रदीपोद्योत टीका लिखी है।

---

११. आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥
—वही० १।५०॥

१२. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।
—वा० २।३९।

१३. भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ।
भेदकार्येषु हेतुत्वं अविरोधेन गच्छतः॥
—वा० १।१५।८।

१.५.१. शब्दार्थ की नित्यता के सन्दर्भ में कैयट और नागेश का कथन है कि "शब्द सत्ता सामान्य का बोध कराता है"। इसके लिए "अस्ति" (है), "आसीत्" (था) और भविष्यति (होगा) का प्रयोग किया है। यह सत्ता की त्रिकाल सत्यता को द्योतित करता है।[१४] कैयट और नागेश ने इस प्रकरण में यह स्पष्ट किया है कि वर्तमान सत्ता बाह्य सत्ता है. यही मुख्य सत्ता है। जब इस मुख्य सत्ता का अभाव बताना होता है तो "नास्ति" (नहीं) का प्रयोग किया जाता है—

सम्प्रति सत्तायां वर्तमानायां सत्तायाम्। बाह्यां सत्तायामित्यर्थः। बाह्यां मुख्यामित्यर्थः।

—प्रदीपोद्योत ५।२।९४।

१.५.२. नागेश की मान्यता है कि सब शब्दों का सब अर्थों के साथ सम्बन्ध है।[१५] नागेश ने अपने व्याकरणग्रन्थ मंजूषा में तान्त्रिकों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—

नित्यो शब्दार्थसम्बन्धः इति तान्त्रिकाः। —मंजूषा, पृ० ४९।

१.५.३. नागेश ने शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही इस सम्बन्ध की स्थिति और व्यावहारिक नित्यता के कारण इसको नित्य कहा जाता है—

नित्यत्वं तु यावत्सृष्टिस्थित्या व्यवहारनित्यतया च बोध्यम्।

—मंजूषा पृ० ४९।

१.५.४. नागेश ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए श्रुति वचन को उद्धृत किया है कि वाक्तत्त्व (शब्दतत्त्व) सूक्ष्म और एक है। तात्त्विक रूप से यह अर्थ से पृथक् नहीं है। वही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, उसी के नाना रूप हैं, वह हृदय में रहता है। उसको सामान्य व्यक्ति पृथक्-पृथक् समझते हैं।

—मंजूषा पृ० ५०।

१.५.५. कैयट और नागेश का चिन्तन फिर भी अन्य वैयाकरणों से भिन्न है। कात्यायन और पतंजलि अर्थ को नित्य मानते हैं, किन्तु कैयट और नागेश अर्थ के

---

१४. प्रदीपोद्योत महा० ५।२।९४।

१५. मंजूषा पृ० ४९।

स्थान पर उसके प्रवाह को नित्य मानते हैं। क्योंकि उनका तर्क है कि यदि एक शब्द एक ही अर्थ देता है तो नित्य माना जा सकता है, अन्यथा नहीं।[१६]

१.६.०. निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विवेच्य विषय से सम्बन्धित निम्नलिखित उपयोगी निष्कर्ष सामने आते हैं—

(१) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समवाय एवं तार्किक नहीं, अपितु यादृच्छिक है।

(२) शब्द के सहारे ही बुद्धि प्रक्रिया सम्पन्न होती है। ऐसा कोई विचार नहीं है, जिसमें शब्द का अनुवेद्य न हो। इस दृष्टि से शब्द और अर्थ का संबंध नित्य एवं अभिन्न है।

(३) भाषा के भौतिक पक्ष अथवा ध्वन्यात्मक पक्ष और भाषा के मानसिक पक्ष अथवा अर्थ में जितना अंतर एवं जितनी निकटता है उतना ही अंतर और उतनी ही निकटता श्रूयमाण शब्द और बोधक अर्थ में है। शब्द के द्वारा ही अर्थ अभिव्यक्त होता है, किन्तु शब्द ही अर्थ नहीं, अपितु अर्थ का वाचक है।

---

१६. यद्येकः शब्दः एकस्मिन्नर्थनियतः स्यात् तत् एतद् युज्यतेऽवगन्तुम्, यतस्त्वनियमः। ततः प्रकृतरेव सर्वे अर्थाः स्युः।

—प्रदीप महा० १।२।४५।

शतक-काव्य-परम्परा : एक सर्वेक्षण

डॉ॰ दुर्गाप्रसाद

इलाहाबाद

The tradition of composing miniature lyrics (*Śatakas*), depicting sentiments and modes in a single stanza of four lines, with perfect observation, depth of feeling and beauty, is very old and rich in our Sanskrit literature. A short survey of the *Śataka* literature is presented here.

काव्य के विभिन्न रूपों में गीति-काव्य का अपना अनूठा स्थान है। गीति की आत्मा भावातिरेक है। सुख-दुःख के तीव्र अनुभव से आप्लावित कवि अपनी भावना को बाह्य-अभिव्यक्ति के रूप में परिणत करता है, । वह 'स्व' गम्य अनुभूति को 'पर' गम्य अनुभूति के रूप में परिणत करने के लिए मधुर, भाव-सम्पन्न, रसमय उक्तियों का आश्रय ग्रहण करता है, तो यही गीतियाँ होती हैं। आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत साहित्य के इसी पर्यावरण में ही 'शतक' काव्यों का विकास हुआ। इन शतकों का मूल उद्‌गम वैदिक ऋषियों की तपस्या तथा देवार्चना ही है।

'शतक' का अर्थ हमारी वैदिक परम्परा में पूर्णता का प्रतीक रहा है। शतक-काव्यों का स्थान गीति-काव्य के अंतर्गत आता है। संस्कृत गीतिकाव्य प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों में पाए जाते हैं। प्रबन्ध काव्य के लिए भावाभिव्यक्ति में पूर्व-प्रसंग की अपेक्षा होती है तथा वर्ण्य विषय प्रारम्भ से अन्त तक एक ही विषय से सम्बद्ध होकर विकसित होता है। मुक्तक काव्य सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति करनेवाला तथा रस-पेशल होता है।

"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते"

मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण शतक काव्य ही हैं।

शतक-काव्य हमें मुख्यतः तीन रूपों में प्राप्त होते हैं जिनमें शृङ्गारिक, धार्मिक तथा नैतिक रूपों की परिगणना की जाती है। संस्कृत के शतक काव्यों में प्रायः

अधिकतम ११० श्लोक तक ही उपलब्ध होते हैं। कुछ शतक काव्यों में १२० श्लोक तक प्राप्त हुए हैं।

स्तोत्र-साहित्य

धार्मिक शतक काव्यों का प्रतिपाद्य-विषय देवताओं की स्तुतियाँ हैं। कवि ने अपने तथा लौकिक कल्याण के भाव से ओत-प्रोत होकर देवताओं की स्तुतियों में अनेक शतकों की रचना की जिनमें देवता विशेष को ही आधार बनाकर उन्हीं के यशोगान में मुक्तक पद्यों में सुन्दर रस-पेशल भाव व्यक्त हुए। कवि ने देवता विशेष की दिव्याकृति, करुणामय स्वरूप तथा दैवी-शक्ति आदि बातों को काव्यरूप प्रदान किया। यही स्तोत्र-साहित्य के नाम से अभिहित हुए। ऐसी स्तुतियों की प्राचीनता संस्कृत में पर्याप्त रूप से है। समग्र वैदिक संहिताएँ देवताओं की विशिष्ट स्तुतियों से परिपूर्ण हैं। इन शतक काव्यों की उद्गम-स्थली तो स्वयं वेद का अखण्ड कल्याणकारी "जीवेम शरदः शतम्" आदि ही है।

संस्कृत का स्तोत्र-साहित्य अत्यन्त विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है, भक्त अपने हृदय की बातें भगवान के समक्ष प्रकट करने तथा महिमा-वर्णन में अपने कोमल, भक्ति-पूरित हृदय की अभिव्यक्ति करता है। परन्तु भारतीय भक्तों ने जिस उदारता के साथ भगवान के समक्ष अपने हृदय के भाव व्यक्त किए हैं, वे सचमुच उपमाहीन हैं। भारतीय भक्त भगवान के दिव्य-स्वरूप में चकित होकर उन्हीं के गुणगान में स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो जाता है। वह अपने कर्मों के ऊपर दृष्टिपात कर बेचैन हो जाता है, वह कल्याण की इच्छा से ईश्वर के समक्ष अपने हृदय के समस्त भाव बिना किसी संकोच के प्रकट कर देता है। भारतीय मनीषी ने वैदिक युग से ही ईश्वर के प्रति अपने को अर्पण करने में ही सफलता मानी है। देवताओं तथा देवियों के वन्दन में ही एक-एक सूक्त का निर्माण किया गया। स्तोत्र-शतकों का विकास इसी भाव-भूमि में हुआ, स्तोत्रों का इतना व्यापक प्रभाव रहा कि जैन तथा बौद्ध धर्मानुयायी भी अपने को इससे अलग न रख सके।

स्तोत्र का विकास पद्यात्मक, गद्यात्मक, तथा दण्डक तीनों रूपों में पाया गया। शतककाव्य परम्परा में शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सभी का ग्रहण किया गया है। कालक्रमानुसार स्तोत्र शतकों का विवरण इस प्रकार है—

चतुःशतक[१] तथा अध्यर्धशतक[२] (मातृचेट—१०० ई० के लगभग), चण्डी-

---

१. एफ० डब्ल्यू० थामस, अंग्रेजी अनुवाद—इण्डियन एण्टीक्वरी वाल्युम २९ (१९०५), पृ० १४५-६३।

२. जर्नल ऑफ दि रायल एसियाटिक सोसायटी १९७७, पृ० ७५१-७७ से प्रकाशित।

शतक[३] (बाणभट्ट—७वीं का पूर्वार्ध), सूर्यशतक[४] (मयूर भट्ट—६वीं का उत्तरार्ध) देवीशतक[५] (आनन्दवर्धन—९वीं शताब्दी), जिनशतक[६] (जम्बू कवि—९५९ ई० के लगभग), पद्मनाभशतक[७], रामशतक[८], कृष्णशतक[९] (ईशानदेव—११वीं शताब्दी), रामार्याशतक[१०] (गंगेश ११२० ई०). कृष्णकर्णामृतम्[११] (लीलाभुक -१२वीं शताब्दी), रामशतक[१२] (सोमेश्वर—१३ वीं शताब्दी) भक्तिशतक[१३] (रामचन्द्र कवि भारती—१३वीं शताब्दी), शैलेशशतक[१४] (देवाचाजी), अच्युतशतक[१५] (वेंकटनाथ वेदान्त देशिक—१३१८ ई०), वरदराजशतक[१६] (अप्पय दीक्षित—१५४४ ई०), आनन्द-मन्दाकिनीशतक[१७] (मधुसूदन सरस्वती—१६०० ई० के लगभग)।

ईश्वरशतक[१८] (अवतार कवि—१६२२ ई० के लगभग), आनन्दसागर-

---

३. काव्यमाला गुच्छक चतुर्थ में प्रकाशित।

४ काव्यमाला।

५. वही, गुच्छक नवम में प्रकाशित।

६. वही, गुच्छक सप्तम में प्रकाशित।

७. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन त्रावन्कोर।

८. वही।

९ वही।

१०. काव्यमाला में प्रकाशित।

११. एस० के० डे० द्वारा सम्पादित दकन यूनिवर्सिटी १९३८।

१२. रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी—आर० जी० भण्डारकर पृ० ८५।

१३. हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित अंग्रेजी अनुवाद जे० बी० टी० एस० वॉल्युम १ (१८९३) भाग २ पृ० २१-४३।

१४. ट्रीनियल कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास ३-११४६।

१५. ए कैटलाग ऑफ ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ दि (लेट) कालेज फोर्ट सेण्ट जार्ज बाई दि विलियम त्रावन्कोर, १-१४६।

१६. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया आपर्ट मद्रास ६०९, ११०५।

१७. काव्यमाला गुच्छक द्वितीय में प्रकाशित।

१८. वही ९ ,,।

स्तव[19] (नीलकंठ दीक्षित—१७वीं का पूर्वार्ध), शिवशतक[20] (गोकुलनाथ—१७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), नारायणशतक[21] (विद्याकर पुरोहित—१७वीं का उत्तरार्ध), आनन्दमन्दिरस्तोत्र[22] (कवीन्द्र बहादुर लल्ला १८०२ ई०), शूलपाणिशतक[23] (कस्तूरी शिवशंकर शास्त्री—१८३३ ई०), समुद्रशतक[24] (शिवशङ्कर शास्त्री); मीनाक्षीशतक[25], मालिनीशतक[26], हनुमच्छतक[27], लक्ष्मीनृसिंहशतक[28] (परिथियुर कृष्ण शास्त्री—१८४२ ई०), शोणाद्रीश शतक[29], व्याघ्रालयेशशतक[30] (केरला वर्मा—१८४५ ई०), शक्तिशतक[31] (श्रीश्वर विद्यालङ्कार - १८५० ई०), दुर्गासौन्दर्यशतक[32] (पेरीकाशीनाथ शास्त्री—१८५७ ई०), शैलाधीशशतक[33] (नीलकण्ठ शर्मा—१८५८ ई०), शारदाशतक[34], महाभैरवशतक[35] (श्रीनिवास शास्त्री—१९वीं का उत्तरार्ध), लक्ष्मीपतिशतक (जयन्ति वेकन्न—१८६४ ई०), कृष्णशतक[36] (वकथोल नारायण मेनन—१८९० ई०), नृसिंहशतक[37] (तिरुवेंकट

---

१९. काव्यमाला गुच्छक ११ में प्रकाशित।

२०. वही, १८८७, १ में प्रकाशित।

२१. सम्पादित करुणाकर शर्मा पुरी।

२२. काव्यमाला गुच्छक १४ में प्रकाशित।

२३. हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर—एम० कृष्णमाचारियर फर्स्ट रीप्रिन्ट १९७०।

२४. वही, मोतीलाल बनारसी दास, पैरा २८८।

२५. वही, पैरा ४९२।

२६. वही, ,,

२७. वही, ,,

२८. वही, ,,

२९. त्रावन्कोर से प्रकाशित।

३०. वही।

३१. हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर—एम० कृष्णमाचारियर, पैरा ७३७।

३२. वही, पैरा २४८।

३३. वही, पैरा २५४ के०।

३४. वही, पैरा २५४ के०।

३५. वही, पैरा ७३७।

३६. मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन १९७०।

३७. ओमोल से प्रकाशित।

ततदेशिक—१८९२ ई०), पञ्चशती[३८] (मूककवि), आर्याद्विशती[३९] (दुर्वासा), रामशतक[४०] (केशव भट्ट), रामार्याशतक[४१] (मुद्गलभट्ट) गीतिशतक[४२] (सुन्दराचार्य), गंगालहरीशतक[४३] (लक्ष्मी नारायण कवि), लक्ष्मीनृसिंहशतक[४४] (श्री निवासाचार्य), तारावलीशतक[४५], दयाशतक[४६], मातृभूतशतक[४७]।

इन स्तोत्र शतकों के अतिरिक्त भी बहुत से स्तोत्र-शतक पाए जाते हैं जिनका समय अज्ञात है तथा कुछ शतकों के लेखक भी अज्ञात हैं। ये शतक हस्तलेख रूप में ही सुरक्षित हैं। इन शतकों में शिवोत्कर्षशतक[४८] (हरदत्त), समाधिशतक[४९] (पूज्यपाद स्वामी), सूर्यशतक[५०] (राघवेन्द्र सरस्वती), देवीशतक[५१] (श्रीश्वर), सूर्यशतक[५२] (गोपाल शर्मा), न्यासशतक[५३], भवानीस्तव-

---

३८. काव्यमाला गुच्छक ५ में प्रकाशित।

३९. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ इन सदर्न इंडिया—आपर्ट-५३४।

४०. आफ़्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग १-१२७।

४१. महेश्वर टीका सहित ग्रन्थरत्नमाला से प्रकाशित।

४२. काव्यमाला गुच्छक ९ में प्रकाशित।

४३. बम्बई तथा बनारस से प्रकाशित।

४४. मद्रास से प्रकाशित।

४५. सम्पादित श्रीविद्या प्रेस कुम्बकोनम।

४६. वही।

४७. वही।

४८. अल्फाबेटिकल इण्डेक्स ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास—मद्रास, ९७।

४९. वही, मद्रास, मद्रास १०३।

५०. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन उलवर स्टेट—२४३८।

५१. नोटिस ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स बाई राजेन्द्र लाल मित्रा—कलकत्ता २३४१।

५२. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ इन सदर्न इंडिया—आपर्ट—मद्रास ८४२१।

५३. वही।

शतक[५४], वेंकटेशशतक[५५], स्मृतिशतक[५६], रामार्याशतक[५७] (सोमनाथ), रघुनाथशतक[५८] (गंगाधर शर्मा), लक्ष्मणशतक[५९] (नारोजि पण्डित), भक्तिसर्वधनशतक[६०] (ब्रह्मदत्त), भक्तिसप्तशती[६१], अन्नपूर्णाशतक[६२], कृष्णशतक[६३] (अच्युत), गुरुशतक[६४] (सच्चिदानन्द यति), जगदीशशतक[६५] (रघुराज सिंह), नारदशतक[६६], अपराधस्तुतिशतक[६७] (शंकराचार्य),

---

५४. नोटिस ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स बाई राजेन्द्र लाल मित्रा—कलकत्ता ३७८।

५५. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ इन सदर्न इंडिया—आपर्ट—मद्रास २०४०।

५६. वही, वाल्यूम २, ६८२६।

५७. काव्यमाला से प्रकाशित।

५८. गया से प्रकाशित।

५९. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस लाइब्रेरी तंजोर—पी० पी० एस० शास्त्री ३९६३।

६०. ट्रीनियल कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन ओरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास, भाग ६—७०९४।

६१. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ इन सदर्न इंडिया—गुस्तव आपर्ट—६७७३।

६२. मैनुस्क्रिप्ट्स सूचीपत्रम् ऑफ फोर्ट विलियम एसियाटिक सोसायटी इन कलकत्ता १८३८–८–१३९।

६३. न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, वाल्यूम ४ पृ० ३६१—डॉ० वी० राघवन।

६४. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि इण्डिया आफिस, लन्दन—१५९२।

६५. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स एक्जिस्टिंग इन अवध, ११–६।

६६. पुस्तकानाम् सूचीपत्रम् ऑफ दि लाइब्रेरी ऑफ दि पं० राधाकृष्ण ऑफ लाहौर—२२।

६७. ए हैण्ड लिस्ट ऑफ ५७१ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ दि लेट आर० कृष्णस्वामी शास्त्री सत्र रजिस्ट्रार तंजोर, इन दि संस्कृत डिपार्टमेन्ट, यूनिवर्सिटी मद्रास—५२८।

जगत्गुरुअष्टोत्तरशतक[६८], अद्वैतचन्द्रनामशतक[६९] (सार्वभौम भट्टाचार्य), अध्यात्मशतक[७०] (रामचन्द्र), अपराधशतक[७१], अभयहस्तशतक[७२], अमृतशतक[७३] (कृष्णमोहन कवि), आख्याशतक[७४], आशीर्वादशतक[७५] (कुन्ती कवि), कृष्णनामाष्टोत्तरशतक[७६], कृष्णशतक[७७], कृष्णशतक[७८],

---

६८. हिस्ट्री ऑफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर—इण्डेक्स ।

६९. ए ट्रीनियल कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स कनेक्टेड फार दि गवर्नमेंट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास—३०५३ ।

७०. मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट दकन गयमखान पूना १८९१-९५ का १५७४ ।

७१. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया—गुस्तव आपर्ट वाल्यूम २-३९५८ ।

७२. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेंट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर १९२२ ।

७३. ऐन अल्फाबेटिकल टाइप्ड लिस्ट ऑफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि कलेक्शन ऑफ दि डक्का युनिवर्सिटी, डक्का, बंगाल ९३४ ।

७४. ए कैटलाग आफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि अडयार लाइब्रेरी, इन टू पार्ट्स- पं० अक लाइब्रेरी—भाग १–पृ० १९९८ ।

७५. वाणी विलास प्रेस श्रीनगर से प्रकाशित ।

७६. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया—गुस्तव आपर्ट—वाल्यूम १—५९४४ ।

७७. आनन्दाश्रम—७०८५ ।

७८. ए रिवाइज्ड कैटलाग ऑफ पैलेस ग्रन्थप्पुर (लाइब्रेरी) त्रिवेन्द्रम—पृ० ५८, ११९५ सी ।

(कृष्णाहं भावना), कृष्णशतक[७९] (केशव), कृष्णार्याशतक[८०] (सुन्दर राज), गोपालशतक[८१], गोपालशतक[८२] (रघुनाथाचार्य)।

अनुरुद्धशतक[८३] (अनुरुद्ध), कैवल्यशतक[८४] (नीलकंठ गोस्वामी), गुरुत्रिशतीस्तोत्र[८५], गुरुशतक[८६], (सच्चिदानन्द भारती), गुरुस्तोत्रशतक[८७], घटिकाद्रिनाथशतक[८८], जप्येशाष्टप्रासशतक[८९] (वेंकटसुब्वकवि), जलकण्ठेश्वर-शतक[९०] (शिवराम कृष्णयुधि), जिनशतक[९१] (समन्तभद्र), ज्ञानक्रियाद्वयशतक[९२],

---

७९. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ दि बाम्बे – ब्रान्च ऑफ दि रायल एसियाटिक सोसायटी—११७९।

८०. तेलगू लिपि अनुवाद सहित प्रकाशित—वैखानस ग्रन्थमाला – ९, इगवरी पालेम १९२५।

८१. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ हिज हाइनेस दि महाराज ऑफ बीकानेर ४८६।

८२. ए कैटलाग ऑफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि अडयार लाइब्रेरी, इन टू पार्ट्स बाई द्रि पण्डित अक, लाइब्रेरी भाग १, पृ० १९०९।

८३. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत पालि एण्ड सिंहलीज लिटरेरी वर्क आफ सीलोन भाग १, कोलम्बो १८७०, पृ० १६८–७२।

८४. बंकुर १९२३ से प्रकाशित।

८५. ए हैण्डलिस्ट ऑफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स एक्वायर्ड फार दि त्रावन्कोर यूनिवर्सिटी मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम, ६३०० (डी)।

८६. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी ३९६४।

८७. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि तंजोर महाराजा (सरफोजी सरस्वती महल) लाइब्रेरी, तंजोर २४२९३।

८८. स्तोत्रसमुच्चय भाग २ में प्रकाशित।

८९. वही भाग १, पृ० १६७-९१ में प्रकाशित।

९०. वही भाग १, पृ० १९२-२१३ में प्रकाशित।

९१. ए हैण्डलिस्ट ऑफ ३०९ संस्कृत एण्ड कन्नड मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि श्री वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्त भवन, मूदविद्रि—१-११०।

९२. मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दकन गयमखान पूना १८७५-७६ का १२८।

सूर्यशतक[९३] (श्रीश्वर विद्यालंकार), सूर्यशतक[९४] (रखिलदास), सूर्यशतक[९५] (लिङ्गकवि), सूर्यशतक[९६] (कोदण्ड राम) श्रीकण्ठत्रिशती[९७]।

काव्य-साहित्य

संस्कृत के कवियों ने जहाँ एक ओर स्तोत्रशतकपरम्परा को समृद्धशाली बनाया, वहीं पर उनके ऊपर आचार्यों का भी प्रभाव पड़ा और उन्होंने काव्य के महनीय तथा मान्य प्रयोजन "कान्तासम्मित उपदेश" का समादर किया। शतक-काव्यों के माध्यम से भारतीय मनीषियों ने ऐसी उपदेशात्मक तथा नीतिपरक बातों की शिक्षा दी है जिसे शायद किसी भी भाषा के साहित्य में प्राप्त करना असम्भव है। इसका समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

यद्यपि शतक काव्यों का विकास हमें धार्मिक, शृङ्गारिक तथा उपदेशात्मक सभी क्षेत्रों में प्राप्त होता है किन्तु जो जीवनोपयोगी तथा सामाजिक हित की बातें उपदेशात्मक तथा नीतिपरक काव्यों में प्राप्त होती हैं, उन्हें अन्यत्र प्राप्त करना दुर्लभ है। उपदेश की दो शैलियाँ होती हैं एक तो साक्षात् रूप से, दूसरी परोक्ष रूप से। शतक काव्यों में हमें कवियों ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों रूपों में शिक्षाएँ प्रदान की हैं। इन शतकों का यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि समाज में प्रत्येक युग में यथार्थ दिशा प्रदान करने का कार्य भारतीय मनीषी ही अपने काव्य के माध्यम से करते रहे। नीतिविषयक उपदेशात्मक शतकों का इतिहास भी काफी प्राचीन है। काव्य साहित्य के अन्तर्गत नीति, उपदेश, सुभाषित आदि सभी शतकों का समावेश करके कालक्रमानुसार उनका विवरण प्रस्तुत है—

---

९३. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग १-७३२ पृष्ठ।

९४. हिस्ट्री ऑफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, इण्डेक्स पृ० ११०७।

९५. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, भाग १९—७६२४।

९६. ट्रीनियल कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास, भाग ४-४९५६।

९७. ए सप्लीमेन्ट्री कैटलाग ऑफ संस्कृत वर्क इन दि सरस्वती भण्डारम् लाइब्रेरी ऑफ हिज हाइनेस दि महाराजा ऑफ मैसूर—८।

चाणक्यशतक[९८] (चाणक्य–४०० ई० पू०), अवदानशतक[९९] (३ शताब्दी), चतुःशतक[१००] (आर्यदेव-३ शताब्दी), नीतिद्विषष्टिका[१०१] (सुन्दरपाण्ड्य–५वीं शताब्दी), नीतिशतक[१०२], वैराग्यशतक[१०३], विज्ञानशतक[१०४] (भर्तृहरि–६वीं शताब्दी), भल्लटशतक[१०५] (भल्लट–८वीं शताब्दी), चारुचर्याशतक[१०६] (क्षेमेन्द्र–१०वीं शताब्दी), शिलाशतक[१०७] (क्षेमेन्द्र), शान्तिशतक[१०८] (शिल्हण–१२०५ ई०), श्रीशयमकशतक[१०९] (धर्मघोष–१३वीं का उत्तरार्ध), दृष्टान्तशतक[११०] (कुसुमदेव–१५वीं शताब्दी), हंसदूत[१११] (वामन भट्ट–१५वीं शताब्दी), आर्याशतक[११२] (अप्पय दीक्षित १५४४ ई०), उद्धवशतक[११३] (रूपगोस्वामी–१७वीं शताब्दी), हंसदूत[११४] (रूपगोस्वामी), सभारंजनशतक[११५] (नीलकंठ दीक्षित–१६५० ई०), अन्यापदेशशतक[११६] (नीलकंठ दीक्षित),

---

९८. जीवानन्द विद्यासागर–काव्य-संग्रह भाग २ कलकत्ता ।

९९. डॉ० कावेल तथा नील द्वारा सम्पादित कैम्ब्रिज १८८६ ।

१००. आलोक प्रकाशन नागपुर से प्रकाशित ।

१०१ मार्कण्डेय शास्त्री द्वारा मद्रास से सम्पादित ।

१०२. जीवानन्द विद्यासागर काव्यसंग्रह भाग २ कलकत्ता ।

१०३. वही ।

१०४. संस्कृत चन्द्रिका—संस्कृत जर्नल, कोल्हापुर–भाग ६ ।

१०५. काव्यमाला गुच्छक ४ में प्रकाशित ।

१०६. वही २ ,, ।

१०७. हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर पैरा ८८३ ।

१०८. जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित 'काव्य-संग्रह' भाग २ कलकत्ता ।

१०९. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन ओरियण्टल लाइब्रेरी मैसूर एण्ड सप्लीमेण्ट द्वितीय ।

११०. काव्यमाला गुच्छक १४ में प्रकाशित ।

१११. डॉ० जे० बी० चौधरी सम्पादित कलकत्ता से प्रकाशित ।

११२. कैटेलोगस कैटेलोगोरम ऑफ आफ्रेक्ट भाग २–५ ।

११३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रो० शिवबालक द्विवेदी —सुशीला पाण्डेय संस्करण १९७६ पृ० २९६ ।

११४. जीवानन्द विद्यासागर 'काव्य-संग्रह' से प्रकाशित ।

११५. काव्यमाला गुच्छक ४ में प्रकाशित ।

११६. वही ६ ,, ।

कलिविडम्बनशतक[११७], वैराग्यशतक[११८] (नीलकंठ दीक्षित), उपदेशशतक[११९] (गुमानि कवि १७वीं शताब्दी), वैराग्यशतक[१२०] (अप्पय दीक्षित), अम्बुजवल्ली-शतक[१२१] (वरददेशिक–१७ वीं का प्रारम्भ), श्रीवाराहशतक[१२२] (वरददेशिक), पण्डितराजशतक[१२३], अन्यापदेशशतक[१२४] (पण्डितराज जगन्नाथ) १७वीं शताब्दी), रामभद्रशतक[१२५] (रामभद्र दीक्षित १७११ ई०), सतीशतक[१२६] (वेंकट शास्त्री १७वीं शताब्दी), होलिकाशतक[१२७], आर्याशतक[१२८], (आचार्य विश्वेश्वर १८वीं शताब्दी), आर्यात्रिशती[१२९] (रामराज दीक्षित १७१९ ई०), आर्यात्रिशतीमुक्तक[१३०] (व्रजराज दीक्षित–१८वीं शताब्दी), अन्यापदेशशतक[१३१] (मधुसूदनकवि–१७४५ ई०), माधवसिंहार्याशतक[१३२], हयग्रीवशतक[१३३] (वेल्लामकोदण्डराम–१८७५ ई०),

---

११७. काव्यमाला गुच्छक ५ में प्रकाशित।

११८. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ इन सदर्न इण्डिया आपर्ट, मद्रास ४६२९।

११९. काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित।

१२०. वही, १ ,, ।

१२१. हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, पैरा २४२।

१२२. वही।

१२३. अर्स प्रेस विजगपटम से प्रकाशित।

१२४. पण्डितराज 'काव्यसंग्रह', संस्कृत एकेडेमी, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद से प्रकाशित।

१२५. काव्यमाला १२ बम्बई से प्रकाशित।

१२६. हिस्ट्री ऑफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, पैरा ९४२।

१२७. काव्यमाला ८-५२ से प्रकाशित।

१२८. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेंट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास—११९८४।

१२९. काव्यमाला में प्रकाशित।

१३०. वही।

१३१. वही, गुच्छक ९ में प्रकाशित।

१३२. आफ्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग १ पृ० २६०।

१३३. हिस्ट्री ऑफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, पैरा २८९।

काकशतक या महिषशतक[१३४] (आनन्दराय मखिन–१८वीं शताब्दी), आर्यालंकार-शतक[१३५] (कवि कृष्णराय–१९०० ई० के लगभग), पलाण्डुशतक[१३६] सार-शतक[१३७] (कवि कृष्णराम), आर्याशतक[१३८] (नीलकंठ शर्मा १८५८ ई०), कानन-शतक[१३९] (महामहोपाध्याय ताराचन्द्र—१९वीं शती का पूर्वार्ध), अन्यापदेश-शतक[१४०] (रवि वर्मराज–१८७१ ई०), विज्ञप्तिशतक[१४१] (श्रीनिवास शास्त्री–१९वीं का उत्तरार्ध), योगिभोगिसंवादशतक[१४२] (श्रीनिवास शास्त्री), हेतिराजशतक[१४३] (श्रीनिवास शास्त्री), नखरशतक[१४४] (तिरुवेंकट ततदेशिक–१८९२ ई०), कालिका-शतकम्[१४५]–आत्मनिवेदनशतकम्[१४६]–शतकसप्तकम्[१४७] (वटुकनाथ शर्मा–१८९५ ई०), कचशतक[१४८] (वरदकृष्णमाचार्य–२०वीं शताब्दी), विधवाशतक[१४९] (वरद कृष्णमाचार्य), बल्लालशतक[१५०] (वल्लाल कवि), अन्योक्तिमुक्तालता[१५१] (शम्भु

---

१३४. क्लैसीफाइड इन्डेक्स टु दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस ऐट तंजोर बाई ए०सी० बर्नेल लन्दन १६३ बी।

१३५. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, पैरा २४५।

१३६. वही।

१३७. वही।

१३८. वही, पैरा २४८।

१३९. वही, पैरा २५४ एक्स।

१४०. तंजोर से प्रकाशित।

१४१. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, पैरा २५४ के०।

१४२. वही।

१४३. वही।

१४४. ओंगोल से प्रकाशित।

१४५. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर पैरा २५४ बी।

१४६. वही, २५४ बी।

१४७. वही, २५४ बी।

१४८. वही, ५०४।

१४९. वही, ५०४।

१५०. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्या-भवन वाराणसी १९७८ पृ० ६३४।

१५१. काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित।

कवि), सुदर्शनशतक[१५२] (कूरनारायन), वैराग्यशतक[१५३] (पद्मानन्द कवि), खड्गशतक[१५४], हंससन्देश[१५५], वाङ्मण्डनगुणदूत[१५६] (वीरेश्वर), मृगाङ्कशतक[१५७] (कवि कंकण), चन्द्रलक्ष्मोत्प्रेक्षाशतक[१५८] (नरहरि), जगमोहनवृत्तशतक[१५९] (वासुदेव ब्रह्मपण्डित), चर्वटशतक[१६०] (शंकराचार्य). त्रिविक्रमशतक[१६१] (त्रिविक्रम), योगशतक[१६२] (विदग्ध वैद्य), वाजिरहस्यशतक[१६३] (गीर्वाणयुद्ध विक्रम), व्याजोक्तिशतक[१६४] (त्रिविक्रम), सुश्लोकशतक[१६५] (f-ट्टन शुक्ल), अद्वैतशतक[१६६] (गंगाधर), आशौचशतक[१६७] (नीलकण्ठ), गोरक्षशतक[१६८]।

जारजातशतक[१६९] (नीलकंठ शर्मा), वरवरमुनिशतक[१७०] (देवराज),

---

१५२. काव्यमाला गुच्छक ८ में प्रकाशित।

१५३. वही ७ ,, ।

१५४. वही, ११ ,, ।

१५५. अनन्त शयन संस्कृत ग्रंथावली सं० १०३ त्रिवेन्द्रम १९३० ।

१५६. डॉ० चौधरी सम्पादित कलकता १९४१ ।

१५७. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग २, १५ ।

१५८. काव्यमाला से प्रकाशित।

१५९. ट्रीनियल कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास भाग ३–२७३५ ।

१६०. पीटर्सन्स रिपोर्ट आफ दि आपरेशन इन सर्च आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन बाम्बे सर्किल भाग, ४-३० ।

१६१. कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन कश्मीर १६४–एम० ए० स्टेन ।

१६२. वही, १८६ ,, ,, ।

१६३. वही, १८९ ,, ,, ।

१६४. लिस्ट्स आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी, आर०जी० भण्डारकर, भाग १ बम्बई–१८९३ ।

१६५. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन कश्मीर १७६ एम० ए० स्टेन ।

१६६. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग २–२ ।

१६७. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया आपर्ट–मद्रास वॉल्युम २–३०२६, ६६४४ ।

१६८. नोटिस ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, राजेन्द्र लाल मित्रा ४५१–कलकत्ता ।

१६९. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग १–२०६।

१७०. वही, भाग १–२५२ ।

भूपशतक[१७१] (राघव भट्ट), राघवसिंहकीर्तिशतक[१७२] (नरपति), शालिवाहन-सप्तशती[१७३] (कुमारदेव), पुराणदृष्टान्तशतक[१७४] (धर्मदेव), मोहनसप्तशती[१७५] (मोहन), योगशतक[१७६] (विदग्ध वैद्य), मूर्खशतक[१७७] (तेजसिंह), अन्योक्ति-शतक[१७८] (मोहन शर्मा), अन्योक्तिशतक[१७९] (वीरेश्वर भट्ट), आशौचशतक[१८०] (रामेश्वर), आशौचशतक[१८१] (वेंकटाचार्य), आशौचत्रिच्छ्लोकी[१८२] (भट्टोजी), वैराग्यशतक[१८३] (जनार्दन), वृत्तशतक[१८४] (मनोरथपुत्र महेश्वरकृत), अन्योक्ति-शतक[१८५] (दर्शन विजयगणि), अन्यापदेशशतक[१८६] (गणपति शास्त्री), अन्यापदेशशतक[१८७] (घनश्याम), अन्यापदेशशतक[१८८] (एकनाथ काश्यप),

---

१७१. आफ्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग ३–९१ ।

१७२. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन मिथिला–के० जायसवाल भाग २––१२५ ।

१७३. आफ्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम भाग १––११० ।

१७४. काव्यमाला से प्रकाशित ।

१७५. ए कैटालाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स एक्जिस्टिंग इन दि सेन्ट्रल प्राविन्सेज कीलहार्न, नागपुर १८७४–८ ।

१७६. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स कन्टेन्ड इन दि प्राइवेट लाइब्रेरीज ऑफ गुजरात, काठियावाड़, कच्छ एण्ड कम्पाइल्ड अण्डर दि सुपरविजन ऑफ जी० ब्यूहलर २–२३४ ।

१७७. आफ्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग १–२३४ ।

१७८. नोटिस ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स बाई राजेन्द्र लाल मित्रा––२०१३ ।

१७९. काव्यमाला से प्रकाशित––बम्बई ।

१८०. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया, आपर्ट, मद्रास, वाल्यूम २–३५९२, ३९६९ ।

१८१. वही, वाल्यूम २–१८५९ ।

१८२. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स कन्टेन्ड इन दि प्राइवेट लाइब्रेरीज ऑफ गुजरात, काठियावाड़, कच्छ एण्ड कम्पाइल्ड अण्डर दि सुपरविज़न ऑफ जी० ब्यूहलर, ३–७० ।

१८३. काव्यमाला से प्रकाशित ।

१८४. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन उलवर स्टेट ।

१८५. बम्बई से प्रकाशित ।

१८६. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन अडयार लाइब्रेरी ।

१८७. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस लाइब्रेरी–तंजोर, भाग ७–२९०० ।

१८८. आफ्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग २–४ ।

अन्यापदेशशतक[१८९] (गीर्वाणेन्द्र), ज्ञानप्रकाशशतक[१९०] (गोरखनाथ शिष्य मीननाथ), श्रीशतक[१९१] (विन्ध्येश्वरी प्रसाद), चतुःशती-वामकेश्वरतंत्र[१९२] (पद्मानन्द), सिद्धान्तशतक[१९३], शक्तिवाहनशतक[१९४], रत्नसारशतक[१९५], प्रश्नशतक[१९६], पद्यशतक[१९७], व्यासशतक[१९८], उद्देश्यशतक[१९९] (तंत्र), अद्वैतशतक[२००], अद्वैतशतक[२०१], ओष्ठशतक या अधरशतक[२०२]

---

१८९. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास २०—८०१९।

१९०. न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास-मद्रास भाग ४-१७७।

१९१. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ ऑफ दि नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज, बनारस एण्ड इलाहाबाद ५४८।

१९२. कैटलाग कोडिकम संस्कृति कोरम बिब्लियोथेसी बोडिलिएनए बाई आफ्रेख्ट ओक्सोनी १८६४, पृ० ११० ए०।

१९३. पुस्तकानाम् सूचीपत्रम् ऑफ दि लाइब्रेरी ऑफ पं० राधाकृष्ण ऑफ लाहौर यूज्ड बाई आफ्रेख्ट ७।

१९४. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ इन सदर्न इंडिया, आपर्ट, मद्रास ४।२६।

१९५. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग १—४९१।

१९६. पुस्तकानाम् सूचीपत्रम् ऑफ दि लाइब्रेरी ऑफ पं० राधाकृष्ण ऑफ लाहौर यूज्ड बाई आफ़ेख्ट—२१।

१९७. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ दि महाराज ऑफ बीकानेर—२५८ कम्पाइल्ड बाई राजेन्द्र लाल मित्रा—कलकत्ता।

१९८. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग २—१४८।

१९९. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज ऑफ दि नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज बनारस एण्ड इलाहाबाद ५—२२।

२००. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया बाई आपर्ट—मद्रास, भाग २—६१८२।

२०१. ए कलेक्शन ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ माडर्न संस्कृत लिटरेचर प्रेजेण्टेड टु दि लाइब्रेरी ऑफ इंडिया आफिस, ए० सी० बर्नेल—१०१।

२०२. आफ्रेख्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग १—७६।

(नीलकंठ), कर्मशतक[२०३] (अवदान शतक का), योगशतक[२०४] योगशत या शतक[२०५]।

वोपदेशशतक[२०६] (वोपदेश कवि), योगशतक[२०७] (मदन सिंह), योग-शतक[२०८] (बलभद्र), योगशतक[२०९] (लक्ष्मीदास), शान्तिशतकसंग्रह[२१०] (रामानन्द तीर्थ), वैराग्यशतक[२११] (शंकराचार्य), दृष्टान्तशतक[२१२] (तेजसिंह), आशौचशतक[२१३] (वैदिक सार्वभौम), आशौचशतक[२१४] (वरनेल), वैराग्यशतक[२१५]

---

२०३. एसियाटिक रिसर्चेज, कलकत्ता, वॉल्युम २० पृ० ४७९।

२०४. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ हिज हाइनेस दि महाराजा ऑफ बीकानेर, कलकत्ता १८८०, ८, ५६९।

२०५. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि संस्कृत कालेज लाइब्रेरी, बनारस, इलाहाबाद—२८८।

२०६. लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया, मद्रास—२—८२८७।

२०७. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स कन्टेन्ड इन दि प्राइवेट लाइब्रेरीज आफ गुजरात, काठियावाड़, कच्छ एण्ड कम्पाइल्ड अण्डर दि सुपरविजन आफ जी० व्यूहलर २—२३४।

२०८. कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इग्जिस्टिंग इन दि सेन्ट्रल प्राविन्सेज—कीलहार्न—नागपुर २३८।

२०९. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज आफ दि नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज बनारस एण्ड इलाहाबाद ४—३०।

२१०. नोटिस आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, राजेन्द्र लाल मित्रा—१०४२।

२११. लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया, आपर्ट, मद्रास—५४५४।

२१२. आफ्रेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग १—२३४।

२१३. कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन मैसूर एण्ड कूर्ग—लेविस राइस—बंगलोर १९४।

२१४. लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया, आपर्ट, मद्रास—२—५६८, ७९९।

२१५. काव्यमाला से प्रकाशित।

(सोमनाथ), अन्योक्तिशतक[२१६] (सोमनाथ), अलंकारशतक[२१७] (जयदेव), आर्यासप्तशती[२१८] (आर० गोपालसूरि, नागार्जुनीययोगशतक[२१९] (ध्रुवपाल), हास्यशतक[२२०] (कवीन्द्र), मरकतशतक[२२१] (अघोरनाथ वन्द्योपाध्याय), अमरनाथशतक[२२२] (कृष्णसिंह ठक्कुर), तुरगशतक[२२३], वृन्दावनशतक[२२४], शार्दूलशतक[२२५], आनन्दसागरस्तवशतक[२२६] (नीलकंठ दीक्षित), सुदर्शनशतक[२२७] (वेंकटनाथ वेदान्त देशिक), लोकेश्वरशतक[२२८] (वज्र दत्त), अच्युतशतक[२२९] (अच्युतराय मोदक), पार्थसारथिशतक[२३०] (देवशिखामणि अलिशिङ्गराचार्य),

---

२१६. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स कन्टेन्ड इन दि प्राइवेट लाइब्रेरीज आफ गुजरात, काठियावाड़ कच्छ एण्ड कम्पाइल्ड अण्डर सुपरविजन आफ जी० व्यूहलर, २–७० ।

२१७. लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन दि सदर्न इंडिया, आपर्ट, मद्रास–२–२७६३ ।

२१८. पुडुक्कोट से प्रकाशित ।

२१९. कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इक्जिस्टिंग इन अवध, १२–२६ ।

२२०. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर, पैरा ३७३ सी ।

२२१. वही, पृ० ९२१ (इन्डेक्स) ।

२२२. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन मिथिला के० जायसवाल भाग २–७१ ।

२२३. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर ।

२२४. जीवानन्द विद्यासागर 'काव्य संग्रह' कलकत्ता ।

२२५. लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन सदर्न इंडिया, आपर्ट, मद्रास १३३४ ।

२२६. काव्यमाला गुच्छक ११ में प्रकाशित ।

२२७. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर पैरा १२१ ।

२२८. सम्पादित—एफ० डब्ल्यू० थामस, जर्नल आफ दि रायल एसियाटिक सोसायटी १९२१ पृ० ७०३–२२ ।

२२९. कैटलाग आफ दि लाइब्रेरीज आफ दि इण्डिया आफिस लन्दन, वाल्यूम २, भाग १, पृ० २५ ।

२३०. हिस्ट्री आफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर—इण्डेक्स ।

अक्षरशतक[२३१] (आर्यदेव), अनिरुद्धशतक[२३२] (अनिरुद्धाचार्य), अनिरुद्ध-शतक[२३३], अष्टशतक[२३४] (प्रज्ञापारमितनाम), अष्टशती[२३५], आगमसार-शतकत्रय[२३६], आचरणशतक[२३७] (जैन), आत्मशिक्षाशतक[२३८] (जैन), आत्म-शतक[२३९] (वेदान्त), आत्मानुभवशतक[२४०] (जैन)।

आदिनाथशतक[२४१] (पन्नालाल), आभाणकशतक[२४२], आभाणक-शतक[२४३] (कुमार पाल), आभाणकशतक[२४४] (जैन), आयुदार्ययोगशतक[२४५],

---

२३१. चीनी-तिब्बती अनुवाद—वासुदेव गोखले, हीडेलबर्ग, १९३०।

२३२. पेरिस (वर्न० ६९, कम्बोदग)।

२३३. ए लिस्ट आफ प्रिन्टेड बुक्स इन दि जैन सिद्धान्त भवन अराह पृ० २२।

२३४. एन्नलेस ड्यू म्यूसी गुइमेट राम ज्यूक्सीम पेरिस १८८१, भाग २, पृ० २०१।

२३५. न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम, वाल्यूम १-४५५, मद्रास यूनिवर्सिटी—डा० वी० राघवन।

२३६. गवर्नमेन्ट लाइब्रेरी मद्रास-७।

२३७. जैन ग्रन्थावली पृ० १५८।

२३८. वही, पृ० २०८।

२३९. ऐन अल्फाबेटिकल टाइप्ड लिस्ट आफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि कलेक्शन आफ दि डक्का यूनिवर्सिटी, डक्का बंगाल १७३।

२४०. थियोसॉफिकल सोसायटी, अडयार, मद्रास २०, १७ (१८९५-९६) ६८६-८९।

२४१. बम्बई, भाग ४ पृ० १।

२४२. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि अनूप संस्कृत लाइब्रेरी फोर्ट-बीकानेर २९६।

२४३. ए हैण्ड लिस्ट आफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि दाहिलक्ष्मी लाइब्रेरी नाडियाड-२९।

२४४. जैन ग्रन्थावली पृ० २०८। जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स बम्बई से प्रकाशित।

२४५. ए स्क्रोल इन मैनुस्क्रिप्ट्स कन्टेनिंग टाइटिल आफ संस्कृत वर्क्स विद आथर्स नेम—पण्डित दामोदर शास्त्री, संस्कृत विद्यालय, कश्मीर, भाग २-१५१।

आर्यात्रिशती[२४६], आर्याद्विशती या राजयोगद्विशती[२४७], आर्याद्विशती[२४८] (वेंकत यज्वन), आश्लेषाशतक[२४९] (नारायण पण्डित), इन्दोरष्टोत्तरशतक-स्तव[२५०] (वेंकटाचार्य), इन्द्रियपराजयशतक[२५१], अन्यापदेशशतक[२५२] (नारायण दास), अन्यापदेशशतक[२५३] (मानिक्य), अन्यापदेशशतक[२५४] (शिवशंकर), अन्यापदेशशतक[२५५] (श्रीनिवास), अन्यापदेशशतक[२५६] (रघुनाथ-तीर्थ-शिष्य प्रणीत), अन्यापदेशशतक[२५७], अपराजितेशशतक[२५८] (त्रिलोक

---

२४६. ए हैण्डलिस्ट आफ ५४३ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि मठ आफ एच० एच० श्री शंकराचार्य आफ दि कामकोटि पीठ—कुम्बकोनम—१४१ (५)।

२४७. ए ट्रीनियल कैटलाग, कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स कलेक्टेड फार दि गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, २७५१।

२४८. कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेन्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मैसूर १९२२ पृ० ३२९।

२४९. ए कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स कलेक्टेड बाई दि कुरटोर फार दि पब्लिकेशन आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स त्रिवेन्द्रम—टी० गणपत शास्त्री ७ भाग, भाग ५—१११।

२५०. ए कैटलाग इन स्लिप्स आफ दि मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि तेलगू एकेडमी—कोकनद४०७३ सी।

२५१. प्रकरण रत्नाकर भाग ४—बम्बई १९१२, प्रकाशित।

२५२. ए हैण्डलिस्ट आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि अनिपुण्डित लाइब्रेरी, पी० ओ० वीनी बाजार, सिलहेत, आसाम।

२५३. ऐन अल्फाबेटिकल टाइप्डलिस्ट आफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि कलेक्शन आफ दि ढक्का, यूनिवर्सिटी, ढक्का बंगाल ४३३१।

२५४. कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेन्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मैसूर १९२२, पृ० ६३७।

२५५. वही, पृ० २८८।

२५६. ए ट्रीनियल कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स कलेक्टेड फार दि गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, ३१५२ (ए)।

२५७. ए हैण्डलिस्ट आफ १०३८ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि संस्कृत पाठशाला इन राजापुर, रत्नगिरि जिला, बाम्बे प्रेसीडेन्सी ९१६।

२५८. ए हैण्डलिस्ट आफ ८३८ संस्कृत प्राकृत एण्ड कन्नड मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि दानशालामठ शास्त्रभंडार मूदविद्रि ४५८ (सी)।

भूषण), अभिलाषशतक[२५९] (केवलराम), अलंकारशतक[२६०], अवधूतशतक[२६१] (जैन दिगम्बर), उपदेशशतक[२६२] (जैन), कर्मोपदेशशतक[२६३] (मेरुतुङ्ग), उपदेशशतक[२६४] (विमलकीर्ति), उपदेशशतक[२६५] (हरसुन्दर तर्करत्न), कबीरशतक[२६६], कबीरैकोत्तरशतक[२६७], कर्मशतक[२६८] (देवेन्द्र सूरि), कालविचारशतक[२६९], कालशतक[२७०], कालहस्तीश्वरशतक[२७१] (वरदन्त), कालिविचार-

---

२५९. ए सप्लीमेन्ट्री लिस्ट आफ ७०० संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लायब्रेरी आफ दि रायल एसियाटिक सोसायटी वंगाल, भाग ७–५५१३।

२६०. ए कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी उज्जैन—वाल्यूम १–पृ० ४३।

२६१. विज्म नासिक पटवर्धन–टू लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भारतीय इतिहास संशोधक मण्डल, पूना—वि० (६२।१)।

२६२. रिपोर्ट ऑन दि सर्च फार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेंसी ड्यूरिंग इयर १८८३-८४, पृ० १८०।

२६३. मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट दकन गमयखान पूना—४, १८९५-९८ का ६०९।

२६४. जैन ग्रन्थावली पृ० १७३, २०८। जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस बम्बई से प्रकाशित।

२६५. कैटलाग आफ दि लाइब्रेरी आफ इण्डिया आफिस, वाल्यूम २—भाग १, लन्दन १९३८ पृ० १९।

२६६. प्रिन्टेड विद हिन्दी मेट्रिकल वरसेज बाई अखयराम बनारस—१९०२।

२६७. कैटलाग आफ दि लाइब्रेरी आफ इण्डिया आफिस, वाल्यूम २—भाग १, लन्दन १९३८—पृ० १२०२।

२६८. ए कैटलाग आफ ३१६८ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जैन भण्डार्स आफ दि पंजाब भाग १—४७६।

२६९. जैन ग्रन्थावली पृ० २०८, जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस बम्बई से प्रकाशित।

२७०. वही।

२७१. न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम आफ मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, वाल्यूम ४–४०।

शतक[२७२] (जैन), काशीसारशतक[२७३], कीर्तिशतक[२७४] (द्विजराम शर्मा), कुमारविहारशतक[२७५] ।

कृष्णनामाष्टोत्तरशतक[२७६] (रूपगोस्वामी), कृष्णराजत्रिशती[२७७] (अच्चण्णाचार्य), कृष्णशतक[२७८] (विट्ठल दीक्षित), कृष्णषडुत्तरशतक[२७९], कृष्णार्याशतक[२८०] (राघव आपाखांडेकर), कृष्णार्याशतक[२८१] (सुब्रह्मण्यम्), कोवण्डरामशतक[२८२], गणेशनामाष्टशतक[२८३], गणेशशतक[२८४] (नीलकण्ठ शास्त्री), गणेशशतक[२८५] (यज्ञवेदेश्वर दुरास्वामी), गाथाशतकप्रकरण[२८६] (शिवशर्म सूरि),

---

२७२. मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट दकन, गयमखान पूना— ४, १८८०–८१ का ७७ ।

२७३. ए कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि बनारस संस्कृत कालेज—४४ ।

२७४. ऐन अल्फाबेटिकल टाइप्ड लिस्ट आफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि कलेक्शन आफ दि डक्का यूनिवर्सिटी आफ डक्का, बंगाल ५३०३ ।

२७५. भावनगर से प्रकाशित ।

२७६. काव्यमाला ८४ में प्रकाशित, बम्बई १९०३, पृ० १७-२७ ।

२७७. ए० एफ० गोवध रिकार्ड्स आफ एन्सियेन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १८६ ।

२७८. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ दि रायल एसियाटिक सोसायटी—११७९ (टीका सहित) ।

२७९. लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स डिस्कवर्ड इन अवध ड्यूरिंग इयर १८७९--४० ।

२८०. न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम, मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, वाल्यूम ५, पृ० १९ ।

२८१. पालघाट से प्रकाशित-१८९९ ।

२८२. तेलगू लिपि में प्रकाशित, मद्रास-१८४२ ।

२८३. रिपोर्ट आन सर्च आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन बाम्बे प्रेसीडेन्सी, वी० जी० भण्डारकर-२५, ४१ ।

२८४. ए ट्रीनियल कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स कलेक्टेड फार दि गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, १५८२७ ।

२८५. स्तोत्रार्णव में प्रकाशित, मद्रास गवर्नमेंट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी सीरीज-७० । पृ० १६-१७, १९६१ ।

२८६. मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट दकन गयमखान पूना ४, १४८ एफ-१८८१-८२ ।

गीतासप्तशती[२८७], गुरुगीताशतक[२८८], गुरुचरित्रत्रिशती[२८९] (वासुदेवनन्द स्वामी), गुरुराजशतक[२९०] (श्रीनिवास स्वामी), गुरुशतक[२९१], गोपालशतक[२९२] (गंगादास), गोमटेशशतक[२९३], गोविन्दशतक[२९४] (रामकुरूप), चकियाशतक[२९५] (सरयूप्रसाद मिश्र), चतुःशती[२९६] (नारद), चतुःशती[२९७] (रघुनाथ तर्कवागीश), चतुःशतीतंत्र[२९८], चर्चाशतक[२९९], चर्पटशतक[३००] (चर्पट), चिकित्सायोगशत[३०१], चिकित्साशत-

---

२८७. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि चुरातोर्स आफिस लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम ८६९ बी।

२८८. फाइव हैण्डलिस्ट्स आफ कलेक्शन आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन त्रिप्पुनित्तुर, कोचीन, केरला स्टेट– प्रथम लिस्ट ६४८ बी।

२८९. निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९१५।

२९०. नडुकावेरी १९०१ में प्रकाशित।

२९१. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ आफ दि नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज बनारस-इलाहाबाद ७-४४।

२९२. स्टडी इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री, बाई पी० के० गोडे, वाल्यूम १, पृ० ४६२।

२९३. कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि इण्डिया आफिस लन्दन बाई ईगलिंग–७६५५।

२९४. केरलसाहित्यचरितम्, वाल्यूम ४–पृष्ठ ७३६।

२९५. बनारस से प्रकाशित-१९०२।

२९६. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ दि रायल एसियाटिक सोसायटी–८०८।

२९७. नोटिस आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स– राजेन्द्र लाल मित्रा–३१८६।

२९८. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ महाराजा आफ बीकानेर–कम्पाइल्ड बाई राजेन्द्र लाल मित्रा–कलकत्ता–१६४६।

२९९. ए लिस्ट ऑफ प्रिन्टेड बुक्स इन दि जैन सिद्धान्त भवन अर्राह–पृ० ७।

३००. ए कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि महाराज आफ बीकानेर–१६४५।

३०१. पुस्तकानां सूचीपत्रम् ४८ पृष्ठ आफ दि लाइब्रेरी आफ पं० राधाकृष्ण आफ लाहौर–३१।

श्लोक[३०२], चित्रशतक[३०३] (नारायण), चिदम्बरनटराजशतक[३०४] (रामनाथ मेनन), चिदानन्दशतक[३०५] (अप्पय शास्त्री, चिमनीशतक[३०६], चैतन्यशतक[३०७] (वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य)।

चोबीसजिनशतक[३०८], छिन्नमस्ताष्टोत्तरशमशतक[३०९] (गोरक्ष संहिता से), जगन्नाथशतक[३१०] (रघु), जम्भलनामाष्टशतक[३११], जम्भलनामाष्टोत्तरशतक[३१२], जातकरत्नयोगशतक[३१३], जिनवैराग्यशतक[३१४], जिनशतक[३१५], जिनशतक[३१६]

---

३०२. दि मैग्ज़ीन कलेक्शन—ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग श्राफ श्रोरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स कलेक्टेड-बाई दि लेट ल्यूट कॉल कालिन मैग्जीन—एच० एच० विल्सन, कलकत्ता—१३४।

३०३. ए कैटलाग श्राफ दि मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी उज्जैन, लेटेस्ट एडिशन—३३५।

३०४. मलयालम लिपि में पालघाट से प्रकाशित. १९१९।

३०५. दीक्षित ग्रन्थमाला इन तेलगू लिपि मद्रास १९१४—प्रकाशित।

३०६. ए हैण्ड लिस्ट श्राफ दि मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी श्राफ नाथद्वारा उदयपुर, मेवाड़ स्टेट १७४, १६।

३०७. प्रकाशित—कलकत्ता १९११। कलकत्ता—बंगाली अनुवाद प्रकाशित १९३०।

३०८. रिपोर्ट श्रान दि सर्च फार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी ड्यूरिंग इयर १८८३-८४, पृ० २२६ बी।

३०९. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ महाराजा ऑफ बीकानेर १२६६।

३१०. ए सप्लीमेन्ट्री लिस्ट श्रॉफ ७०० संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी श्रॉफ रायल एसियाटिक सोसायटी बंगाल, वाल्यूम ७—५१८३।

३११. कैटलाग डु फोन्डस तिब्बतन डिला ब्रिब्लियोथेक्यू नेशनल परमारसेल लालोड पेरिस १९३१, पृ० ८३,८७।

३१२. एसियाटिक रिसर्च, कलकत्ता, वॉल्यूम १०, पृ० ५२८।

३१३. ज्योतिष, इलाहाबाद १७२।

३१४. ए कैटलाग ऑफ ३१६८ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जैन भण्डार ऑफ दि पंजाब पार्ट १ बनारसीदास श्रोरियण्टल कालेज, लाहौर—९५८—६०, ९६१।

३१५. जैन ग्रन्थावली पृ० २११।

३१६. मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि भण्डारकर श्रोरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट दकन गयमखान पूना ४, १:११, १८९१—९५।

(गुलाब दास), जीवशतक[३१७], जीवशतक[३१८] (शान्तिवर्मन), जैनवैराग्यशतक[३१९] (गुलालचन्द्र), जैनशतक[३२०] (भूधर), जैनीयवैराग्यशतक[३२१], ज्वरत्रिशती[३२२], ज्वरत्रिशती[३२३] (सारंगधर), आर्याष्टशत[३२४] (आर्यभटीय), तारासाधनशतक[३२५] (चन्द्रगोमिन), नीतिशतक[३२६] (वेंकट राय), नीतिशतक[३२७] (श्री निवासार्य), नीतिशतक[३२८], नीतिशतक[३२९] (सुन्दराचार्य), अन्यापदेशशतक[३३०]।

शृङ्गारी शतक

काम इस सृष्टि का मूल कारण है। श्रुतियों से लेकर परवर्ती संस्कृत साहित्य में सर्वत्र काम का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सनातन रूप में अवस्थित उस

---

३१७. रिपोर्ट ऑन दि सर्च फार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी ड्यूरिंग दि इयर १८८३-८४, पृ० १२६ बी।

३१८. कैटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि सेन्ट्रल प्राविन्सेज एण्ड बेरार बाई रायबहादुर हीरालाल, नागपुर १९२६, पृ० ७०९३।

३१९. कैटलाग ऑफ दि लाइब्रेरी ऑफ दि इण्डिया आफिस लन्दन पृ० ११३२।

३२०. ए लिस्ट ऑफ प्रिन्टेड बुक्स इन दि जैन सिद्धान्त भवन अर्राह पृ० ११।

३२१. ए कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स एण्ड अदर बुक्स इन दि श्री एलाक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन झालरापटन विद् टाइटिल ग्रन्थनामावली १९३३।

३२२. अत्रिदेव विद्यालङ्कार—आयुर्वेद का बृहद् इतिहास पृ० ३१९।

३२३. वही।

३२४. न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, मद्रास, वाल्यूम २, पृ० १७७।

३२५. सम प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन लिटरेचर वाल्यूम २, १–२६९।

३२६. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन ओरियण्टल लाइब्रेरी मैसूर एण्ड सप्लीमेन्ट—२४८।

३२७. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, १०—८०३८।

३२८. दि हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारियर पैरा २६८।

३२९. वही।

३३०. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस लाइब्रेरी, तंजोर बाई पी० पी० एस० शास्त्री, कैटलाग भाग ७–२९०१, ३, ६, १९०७।

काम भावना के कारण ही परमेश्वर भी 'तदैक्षत् बहु स्याम्' की भावना से प्रेरित होकर सृष्टि करता है। पुरुष काममय है, उसका स्वरूप, शक्ति, प्रकृति सभी काममय है। मानसिक प्रक्रिया, मानसिक व्यापार, अथवा रागात्मिका वृत्ति का नाम ही काम है। हमारे शृङ्गारी शतकों का विकास भी उच्चकोटि के सामाजिक वातावरण में ही प्रारम्भ हुआ है।

शृङ्गारी गीति काव्य का विकास ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दी में विशेष रूप से हुआ। इस समय भारतवर्ष की व्यापारिक उन्नति विशेष रूप से हुई तथा समृद्धि के फलस्वरूप संगीत तथा कला का पूर्ण विकास हुआ। नगरवासियों की सुख-समृद्धि तथा विलासप्रियता का ज्ञान हमें वात्स्यायन के कामसूत्र से होता है। उन्होंने जिस दिनचर्या का उल्लेख किया उसमें सायं-गोष्ठी का आयोजन, पर्वों, उत्सवों में विलास क्रीडा का आयोजन, गीति वाद्य का आयोजन आवश्यक माना है। साहित्य में इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा तथा मानवीय भावनाओं ने रति भावोन्मुख कविता को अग्र स्थान प्रदान किया। प्रेम भाव के प्राकृतिक स्वरूप के लिए कलात्मक रूपदान का प्रारम्भ हुआ, जिससे सूक्ष्मतापूर्वक रूप चित्रण की, अनुभाव वर्णन की प्रक्रिया चल पड़ी और शृङ्गारी शतकों का विकास हुआ। इन शतकों में शृङ्गार को ही प्रधान रस माना गया तथा काम के विभिन्न स्वरूपों मदन, मन्मथ, मार, काम, कन्दर्प, पञ्चशर आदि के मानव समुदाय में व्यापक व्याप्त प्रभाव का चित्रण किया गया। भारतीय कवि अपने को रमणी के सौन्दर्य से बचा न सके फलतः उन्होंने सौन्दर्य शास्त्र से प्रभावित होकर एक विधा का विकास किया जो शृङ्गार नाम से अभिहित की गयी।

संस्कृत के कवियों का नायिका-विषयक ज्ञान तथा प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान विस्मयकारी है। उन्होंने प्रकृति के उन नाना सूक्ष्मरूपों का भी विवेचन इन काव्यों में किया जो उद्दीपक रूप में इस जगत् में समस्त जड़ चेतन प्राणियों को कामोन्मुख कर, परस्पर आकर्षित करते हैं। प्रकृति के सुन्दर स्वरूप को ही सर्वप्रथम हमारे मनीषी सहन न कर सके और उन्होंने वैदिक ऋचाओं के रूप में नाना शक्तियों की प्रार्थना रूप में दिव्य शृङ्गारिक भावों की अभिव्यक्ति की। इसीलिए फ्रांसीसी प्राच्य विद्या विशारद लुई रेनू ने कहा है कि—"भारत की प्रतिभा से ज्ञान की जितनी भी शाखाएँ उत्पन्न हुईं उनमें सौन्दर्य शास्त्र जितने गहरे रूप में भारतीय है उतना और कोई नहीं।"

समाज में प्रचलित मान्यताएँ प्रायः रूढ़िवादी हो जाया करती हैं और उन पर चलना एक सामान्य बात सी हो जाती है। इसी प्रकार बाद में हमारे कवियों में भी यह शृङ्गार शतक रचना की परम्परा रूढ़िवादी बन गयी। कवियों ने रमणी के नयन, मुख, नासिका, केश, कटाक्ष, वक्षोज, कटि, रोमावलि आदि अवयवों को ही

विषय बनाकर काव्य-सर्जना की। इतना अवश्य है कि हमारे इन कवियों का ज्ञान अलौकिक था तथा अपनी अन्तः सूझ से इन्होंने विषय-वस्तु को जिस कलेवर में सँजोया, वह संसार के किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। कवि ने मर्यादित शृङ्गार का ही चित्रण किया है। जहाँ कहीं भावविभोर होकर वह लौकिक धरातल पर उतरने लगता है, अश्लीलता भी ला देता है पर उसमें भी एक अपूर्व सौंदर्य तथा आनन्द का समन्वित रूप पाया जाता है।

शृङ्गारी शतकों का विवरण क्रमानुसार प्रस्तुत है—

शृङ्गारशतक[३३१] (भर्तृहरि–६वीं शताब्दी), शृङ्गारशतक[३३२] (वृजलाल) शृङ्गारशतक[३३३] (जनार्दन), शृङ्गारशतक[३३४] (नरहरि), शृङ्गारशतक[३३५] (व्रजराज), अमरुकशतक[३३६] (अमरुक–७वीं शती), शृङ्गारकलिकात्रिशती[३३७] (कामराज दीक्षित-१७वीं शती) सुन्दरीशतक[३३८] (उत्प्रेक्षा वल्लभ–१६वीं शताब्दी), काव्य-भूषणशतक[३३९] (कृष्णवल्लभ भट्ट–१९वीं) भावशतक[३४०] (नामराज), रोमा-वलिशतक[३४१] (रामचन्द्र कवि), कटाक्षशतक[३४२] (मूककवि), कुचशतक[३४३] (आत्रेय श्रीनिवास) सौन्दर्यलहरी[३४४] (शंकराचार्य), शृङ्गारशतक[३४५] (पण्डितराज जगन्नाथ),

---

३३१. चौखम्बा विद्याभवन–बनारस से प्रकाशित।

३३२. काव्यमाला में प्रकाशित बम्बई।

३३३. वही, गुच्छक ११ ।

३३४. वही, गुच्छक १२।

३३५. काव्यमाला में प्रकाशित।

३३६. वही।

३३७. वही, गुच्छक १४।

३३८. वही, गुच्छक ९।

३३९. वही, गुच्छक ६।

३४०. काव्यमाला में प्रकाशित।

३४१. वही।

३४२. वही।

३४३. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, १०–३८९३।

३४४. गणेश एण्ड कम्पनी (मद्रास) प्राइवेट लिमिटेड, मद्रास–१७, सन् १९५७।

३४५. पण्डितराज 'काव्य संग्रह', संस्कृत एकेडेमी, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद से प्रकाशित।

कृष्णकर्णामृत[३४६] (लीलामुक), रसवतीशतक[३४७] (धरणीधर), कटाक्षशतक[३४८] (गणपति शास्त्री—१९वीं शताब्दी), शृङ्गारधनदशतकम्[३४९] (धनदराज १५वीं शताब्दी), रोमावलिशतक[३५०], वक्षोजशतक[३५१] आर्यासप्तशती[३५२] (आचार्य विश्वेश्वर—१८वीं शताब्दी), शृङ्गारसप्तशती[३५३] (परमानन्द), शृङ्गारकलिका-त्रिशती[३५४] (हरी)।

इस प्रकार शतक-काव्य-परम्परा का सर्वेक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत-काव्य की अन्य विधाओं के समान ही शतक-काव्य विधा भी समृद्धिशाली है। हमारे संस्कृत वाङ्मय में हर समय धार्मिक, काव्यात्मक तथा शृङ्गारी शतकों का निर्माण-कार्य प्रारम्भ रहा और इसी के परिणामस्वरूप यह साहित्य (शतक साहित्य) इतना विशाल बन सका। शतक-काव्यों में हमें हर तरह की सामग्री उपलब्ध हो जाती है, जो हमें लौकिक समाज से लेकर मोक्ष तक की उपयोगी शिक्षाएँ प्रदान करती है। यदि शतक-काव्यों की हस्तलिपियों का प्रकाशन एवं सम्पादन कार्य पूरा हो जाय तो हमारी संस्कृत वाङ्मय की ज्ञानराशि में और भी वृद्धि हो जाएगी, जो समाज को तथा ज्ञानेच्छुकों को हर काल तथा परिस्थिति में यथार्थ मार्गदर्शन करेगी।

---

३४६. काव्यमाला में प्रकाशित।

३४७. कैटलाग ग्रॉफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि इंडिया आफिस लंदन बाई इग्गलिंग—२०७९।

३४८. हिस्ट्री ग्रॉफ दि क्लैसिकल संस्कृत लिठरेचर, एम० कृष्णमाचारियर पैरा २५४ एन।

३४९. संस्कृत साहित्य का इतिहास शिवबालक द्विवेदी, सुशीला पाण्डेय, १९७६ संस्करण पृ० २९३।

३५०. काव्यमाला में प्रकाशित।

३५१. वही।

३५२. बम्बई से प्रकाशित। बनारस से प्रकाशित।

३५३. बनारस से प्रकाशित।

३५४. बम्बई से प्रकाशित।

भारतीय तन्त्र और वैदिक शील

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी

वाराणसी

Tantra is a mode of worship of *Puruṣa* and *Prakṛti* or *Śiva* and *Śakti*. *Tāntrika sādhanā* aims at nearness to *Brahma śakti* which is eternally manifest both in *Jīva* and creation. Tantra is the path of *Yogīs* but the licentious, in disguise of *Yogīs*, have corrupted this way of *Sādhanā*, by using the five *Makāras* to their selfish ends.

कुलार्णव, पारानन्दसूत्र एवं वायुपुराण में शिव ने पार्वती से कहा कि वेद और आगम को ज्ञान-खंड से मथ कर उन्होंने कुलधर्म की स्थापना की है। इस प्रकार तन्त्र का आधार वैदिक परम्परा कही गयी है किन्तु वही तन्त्र अन्यत्र कहता है कि वेद का अध्येता यदि कुलधर्म ज्ञान-शून्य है तो वह चाण्डाल से भी निकृष्ट है। कुलधर्म का ज्ञाता चाण्डाल वेदज्ञ ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। गुह्य समाज के अनुसार गुह्य का तात्पर्य है काय, वाक्, चित्त; और समाज का धर्म है इनका समष्टि भाव। वीर-साधन-कर्म हैं—मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा, मैथुन। इनके बिना जो चंडिका की उपासना करता है उसके चार नष्ट हो जाते हैं—आयु, विद्या, यश और धन। वह योगियों के द्वारा भक्ष्य होता है, साथ ही पाप का पात्र भी होता है। स्वामि-परायण शक्ति को वाम-भाग में स्थापित कर स्वयं शंकर स्वरूप वीर देवत्व की प्राप्ति करता है। बिना शक्ति के वीर पूजा का अधिकार नहीं माना गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तन्त्र की यह प्रक्रिया मात्र गृहस्थ के लिए है, अन्यत्र यह भोग का साधन ही हो सकती है।

महानिर्वाणतन्त्र में अन्यत्र कहा गया है कि जीव, प्रकृतितत्त्व, दिक्, काल, आकाश, क्षिति, तेज, अप्, वायु ही कुल हैं। यहाँ पृथ्वी, अप्, तेज, वायु [illegible] को पंचमकार के स्थान पर कहा गया है। इनके माध्यम से ब्रह्मप्राप्ति की प्रक्रिया कुलाचार कहा गया है। इसका लक्ष्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। शाक्त-संगम-तन्त्र मे काली के उपासक को 'कुल' कहा गया है। कुलार्णवतन्त्र में शिव-शक्ति से उत्पन्न गोत्र ही 'कुल' है। शिव को अकुल और शक्ति को कुल कहा है। इस कुलाकुल मर्म का ज्ञाता

ही कौलिक है। लेकिन यहाँ पंचमकार को अनिवार्य रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि भाग्यहीन को मद्य, मांस, मैथुन आदि प्राप्त नहीं होते। पारानन्दसूत्र के अनुसार परमात्मा एक है और ईश्वर सात हैं—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति और भैरव। इनकी प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—दक्षिण, वाम और उत्तर। दक्षिण से उत्तम वाम है और वाम से उत्तम उत्तर। उत्तर से उत्तम कुछ नहीं है। वामाचार दो प्रकार का होता है, मध्यम और उत्तम। मद्य, मैथुन, मुद्रा से युक्त उत्तम है और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन से युक्त मध्यम है। कुलार्णवतन्त्र में वैष्णव से उत्तम शैव, शैव से उत्तम दक्षिण, दक्षिण से उत्तम वाम, वाम से उत्तम सिद्धांत और सिद्धांत से उत्तम कौल है। कौल से उत्तम कुछ नहीं होता।

दक्षिण मार्ग का आधार है वेद, स्मृति और पुराण। वाम मार्ग का आधार है निगम और आगम। उत्तर गुरुवाक्य से आता है। गुरु को जीवनमुक्त माना गया है। परशुरामकल्पसूत्र में पंचमकार प्रयोग को अत्यन्त गुप्त रखने का आदेश हैं, अन्यथा प्रकट होने से नरक गमन होता है। शक्तिसंगम में तो वेद विद्या को वेश्या कहा गया है क्योंकि उसमें गुह्य नहीं होता। वेद, पुराण और शास्त्र को वेश्या और शाम्भवी विद्या को कुलवधू के समान माना गया है। कौलिकाचार सुगुप्तता में देवत्व और प्रकाशन में नाश को प्राप्त होता है। इस कौलिकाचार में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका गुरु की होती है जिसे जीवनमुक्त कहा गया है। पारानन्द में नव्यशिष्य के लिए तीन प्रकार का प्रयोग गुरु के लिए कहा गया है। इसके अनुसार स्वेच्छा ऋतुमती शक्ति साक्षात् ब्रह्म है। इसलिए वस्त्रालंकार भोजन के द्वारा भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिए। स्त्री ही देवता है, प्राण है और स्त्री ही भूषण है। न तो स्त्री की निन्दा करनी चाहिए न तो उसे क्रुद्ध करना चाहिए। देवों एवं गुरुओं की अभ्यर्चना वेदतन्त्रोक्त मार्ग से कर, देवता का स्मरण करते हुए मद्य पीते हुए वेश्यागमन में पाप नहीं है। इसी प्रकार की धारणा का प्रचार शक्तिसंगमतन्त्र, कालीखण्ड, ताराखण्ड, कौलावलीनिर्णय, कुलार्णवतन्त्र आदि में किया गया है।

पारानन्दसूत्र में तान्त्रिकों के उत्सवविधि का वर्णन है। इसमें चांडाल तक को दीक्षा दी जा सकती है। विभिन्न तन्त्रों में वर्ण-व्यवस्था का प्रयोग है और अनेक में नहीं। यहाँ तक कि अनेक तन्त्रों में रजकी आदि का विशेष महत्त्व है।

हिन्दूतन्त्र के दो पक्ष हैं—दार्शनिक या आध्यात्मिक, दूसरा रहस्यात्मक। दूसरे में मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, न्यास, चक्र और यन्त्र का प्रयोग होता है। महानिर्वाण-तन्त्र उपासना में पंचमकार का प्रयोग विहित मानता है। इसके अनुसार महातन्त्र का ज्ञान हो जाने पर वेद, पुराण और शास्त्रों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसके द्वारा ही मनुष्य ब्रह्म हो जाता है। जिस प्रकार सत्य, त्रेता, द्वापर में मद्यादि सेवन किया जाता था, उसी प्रकार कलियुग में भी करना चाहिए। जो व्यक्ति

कुलाचार के अनुरूप ऐसा करता है उसे कलि की बाधा नहीं होती। महानिर्वाण के अनुसार ही कुलस्त्रियों को मद्य का गन्ध-मात्र स्वीकार करना चाहिए। गृहस्थ साधक को भी मात्र पंचपात्र मद्य लेना चाहिए। यदि अपनी स्त्री जीवित है तो साधक अन्य स्त्री का स्पर्श नहीं कर सकता है।

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भैरवीचक्र प्राप्त होने पर सभी वर्ण द्विजोत्तम हैं। भैरवचक्र निवृत्ति में सभी वर्णों के अलग-अलग कर्म हैं। उच्छिष्टादि विवेचन में नाम-जाति का कोई विचार नहीं है। चक्रमध्य में गया हुआ वीर नर मात्र है। चक्र से विनिवृत्त सभी के अपने-अपने वर्ण और आश्रम होते हैं। लोकयात्रा सिद्धि के लिए सभी को पृथक्-पृथक् कर्म करना चाहिए। इसी प्रकार के विचार **कौलावली-निर्णय, भैरवीचक्र** में भी हैं। **महानिर्वाण** में शैवविवाह की विधि बड़ी विलक्षण है। इसमें वय और वर्ण का विचार नहीं है। इतना अवश्य है कि शैवविवाह से उत्पन्न सन्तति ब्राह्मविवाह से उत्पन्न सन्तति के रहते उत्तराधिकार से वंचित रहती है।

१८वीं शती में यशपाल का **मोहापराजय** नामक नाटक एक कौल का चित्रण करता है: मैं प्रतिदिन मांस खाता हूँ, मुक्त संकल्प होकर प्रतिदिन मद्यपान करता हूँ, अनिवारित मन का प्रसार करना ही मेरा धर्म है। अपरार्क ने आडम्बरग्रस्त व्यक्ति का चित्रण किया है: भीतर से कौल, बाहर से शैव और लोकाचार में वैदिक व्यक्ति नारिकेल फल के समान सार मात्र ग्रहण करता है। इस प्रकार के पाषण्ड-ग्रस्त व्यक्तियों का चित्रण **कुलार्णवतन्त्र, कौलावली निर्णय** में ही नहीं, **बृहज्जा-बालोपनिषद्** और **देवीभागवत्** में भी किया गया है। **महानिर्वाणतन्त्र** में इस प्रकार नानावेशधारी कौलों के आचरण की प्रशंसा है।

गुह्यसमाज की भूमिका में डॉ० भट्टाचार्य ने एक प्रश्न उठाया है कि तान्त्रिकों के पंचमकार के साथ वैदिक नैतिकता का क्या सम्बन्ध है? लगता यह है कि अर्थ-काम से विरक्त बौद्ध तान्त्रिकों ने तन्त्र के माध्यम से अवैदिक नैतिकता एवं व्यक्ति-भोग को तान्त्रिक दार्शनिकता देने का प्रयास किया। इसके विपरीत वैदिक तान्त्रिकों ने तन्त्र को वैदिक नैतिकता के साथ जोड़ने का प्रयोग सदा जारी रखा। **कौल रहस्य** में **हंस विलास** का उद्धरण है जिसके अनुसार जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं हो सकता और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं रह सकता। लेकिन गृहस्थ के साथ भोग है। सामान्यजन का भोग से सम्बन्ध अनिवार्य है। भोग के साथ भी योग या आध्यात्मिकता का विकास हो सके इसके लिए गृहस्थों के लिए या सामान्य जन के लिए भोग की आध्यात्मिकता तन्त्र की कठिन साधना के साथ जोड़ दी गयी। स्वयं **कौल रहस्य** में आगे कहा गया है कि श्री सुन्दरी सेवन से भोग और मोक्ष दोनों करस्थ हैं। **महानिर्वाणतन्त्र** ब्राह्मण, अंत्यज या भूतल के सभी व्यक्तियों को

कुलाचार का अधिकार देता है। इस प्रकार की तान्त्रिकता के साथ इस देश में एक नयी सामाजिकता का विकास होता है।

महानिर्वाणतन्त्र और अन्य तन्त्र ग्रन्थों की नैतिकता के प्रश्न को खुल कर उठाया गया है। परशुरामकल्पसूत्र के टीकाकार रामेश्वर ने स्पष्ट कहा है कि जो जितेन्द्रिय नहीं है उसके लिए कौलाचार नहीं है। वस्तुतः यहाँ रामेश्वर ने महा-निर्वाणतन्त्र की उस घोषणा का विरोध किया है जिसके अनुसार सभी व्यक्तियों को इस मार्ग पर चलने की छूट दी गई थी। गुह्य समाज में भी वज्रयानियों ने जो मार्ग बताया है वह योगियों के लिए ही है। लेकिन इस स्थिति में समस्या यह है कि कौन यह घोषित करेगा कि अमुक व्यक्ति योगी या जितेन्द्रिय है और वह पंचमकार की तान्त्रिक साधना का पात्र है? वस्तुतः यहीं सारी चरित्रहीनता तान्त्रिक साधना के साथ जुड़ती है, जब सभी अपने को योगी और वीर घोषित कर पंचमकार को मूलतः भोग और प्रचार में तन्त्र का रूप देते हैं। उडरफ ने इस आडम्बर की जड़ को वेदों एवं पुराणों तक में ले जाने का प्रयास किया है। लेकिन मदिरा और सुरा का प्रयोग उस काल तक जाता ही नहीं, सोम को सुरा का पर्याय माना जाना सर्वथा अनुचित है। सुरापान वैदिक काल से ही निषिद्ध हो चुका था। उत्तरवर्ती काल में तान्त्रिक साधना अपनी उच्च-स्थिति में थी, सुरा-पान महापातकों में आ चुका था। मनु ने अभिचार और मूल-कर्म को पातकों में परिगणित किया है। पुराणों के कुछ वर्णन पंचमकार के समर्थन में आते हैं, वे निश्चित ही तान्त्रिकों के द्वारा प्रक्षिप्त हैं।

महाव्रत में मैथुन का विधान प्रतीकात्मक है। इन प्रतीकों के भोग-मूलक प्रयोग ने तान्त्रिकों को समाज में अत्यन्त घृणित बना दिया। अन्ततः शक्ति-संगमतन्त्र जैसे तान्त्रिक ग्रन्थ ने इन प्रतीकों की हिन्दू नैतिकता के अनुकूल व्याख्या की। इस सम्बन्ध में प्रतीकात्मक व्याख्याओं का विश्लेषण आवश्यक है। इस पर अत्यन्त विस्तार से विचार पाया जाता है किन्तु हम अत्यन्त सारांश में कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं।

'कुलाचार' की दार्शनिकता

चिन्तामणिस्तबक में 'कुल' का अर्थ है पातिव्रतादिगुणयुक्त वंश। विश्वकोष में 'कुल' शब्द का अर्थ है देश, गृह, जाति, स्वजातीय पुरुष, गोत्र एवं शरीर। लेकिन आगम धारा में 'कुल' का अर्थ है 'कुण्डलिनी-शक्ति'। यथा—

अकुलं शिव इत्युक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता।
कुलाकुलानुसन्धानान्निपुणाः कौलिकाः प्रिये॥

अर्थात् अकुल से शिव और कुल से शक्ति कही है। इस अकुल और कुल के अनुसन्धाता लोग श्रेष्ठ कौलिक हैं।

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

अर्थात् कुल शक्ति और अकुल शिव हैं। अकुल के साथ कुल का मिलन कौल कहा जाता है। कौलज्ञ व्यक्ति भी कौल कहा जाता है।

कुलं शक्तिः समाख्याता अकुलं शिव उच्यते।
तस्यां लीनो भवेद्यस्तु स कुलीनः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् कुल शक्ति और अकुल शिव कहा जाता है। कुल नामक शक्ति में जो साधक रत है, वह कुलीन कहा जाता है।

'कुल' शब्द का अर्थ कुंडलिनी शक्ति है। यह शक्ति सहस्रार पद्म में पहुंच कर लय को प्राप्त होती है। कुल कुंडलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल है। कुंडलिनी के साथ जो आचार किया जाता है वही कुलाचार है। इसे ही कौलाचार, वामाचार का भी नाम दिया जाता है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इस पंच 'मकार' से सम्पन्न होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपंचकमाहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

यह पंचमकार ही योगियों के लिए मुक्तिदायक है। कुंडलिनी जागृत या उत्थित हो जाने पर सात्विक भावापन्न साधक पंच मकारों का सेवन करता हुआ मुक्ति प्राप्त करता है। इन पंच मकारों का रूप इस प्रकार है—

मद्य

विजयतन्त्र में निर्विकार, निरंजन परब्रह्म के ज्ञान से उत्पन्न आनन्द को मद्य कहा गया है। कुलार्णव में ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रदल कमल से क्षरित सुधा को मद्य माना गया है।

यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरंजनम्।
तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम्॥
विजयतन्त्र

व्योमपंकजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः ।
मधुपायी समं प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः ॥
कुलार्णव ५.१०८

योगिनीतन्त्र के अनुसार सहस्रार में कुंडलिनी का परम शिव के साथ सम्मिलन होने पर मस्तक में स्थित बिन्दु से जो आनन्दप्रद अमृतक्षरण होता है, उसी अमृतपान को कौलाचार में प्रकृत मद्यपान कहते हैं ।

कुण्डल्या मिलनादिन्दोः स्रवते यत्परामृतम् । आदि
योगिनी तन्त्र

भैरवयामल में कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रदल कमलरूपी पात्र से जो ब्रह्माण्ड तृप्तिकारी अमृतधारा बहती है, वही पान योग्य मद्य है ।

रुद्रयामल में और स्पष्ट कहा गया है कि भाँग या वाह्य मद्य पीकर बहिर्बोधशून्य होकर स्तब्ध रहने वाला योगी ज्ञानी नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो वायवी शक्ति कुंडलिनी से प्रसूत आनन्द से युक्त रहता है, वही ब्रह्मज्ञानी है । इसी प्रकार मेरुतन्त्र में भी वर्णन है । ब्रह्मरन्ध्रस्थ चन्द्र से क्षरित सुरापान मत्त योगी कामादि रिपुओं से अभिभूत नहीं होता ।

विजयारससारेण विना बाह्यासवेन च ।
वायव्यानन्दसंयुक्तो ब्रह्मज्ञानी प्रकीर्तितः ॥
रुद्रयामल

गन्धर्वतन्त्र के अनुसार योगी लोग जिह्वा को विपरीत कर भीतरी लघु जिह्वा में लगाकर सहस्रदल क्षरित अमृत का पान करते हैं, वे गुड़ या चावल से बनी सुरा का पान नहीं करते ।

जिह्वानलसंयोगात्पिबेत्तदमृतं तदा ।
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौडपैष्टिवम् ॥
गन्धर्वतन्त्र

कुलार्णव के अनुसार पुण्य और पाप रूप पशुओं को ज्ञानरूप खड्ग द्वारा विनाश कर योगी मन को ब्रह्म में लीन कर देता है ।

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते ॥
कुलार्णव ५.१०९

आगमसार के अनुसार 'मा' शब्द से जिह्वा समझी जाती है और वाक्य उसके अंश हैं। जो साधक वाक्यों का सदा भक्षण करता है वही प्रकृत मांस साधक है।

माशब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान्।
सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांससाधकः॥
आगमसार

मेरुतन्त्र में कहा गया है कि जीवों के देह मांस द्वारा वेष्टित रहते हैं। जीव अज्ञानवश देह में बद्ध रहता है। बन्धनरूप कर्म विचार से मांस तथा अज्ञान समान है।

देहबन्धकरं यत्तु तन्मांसं परिकीर्तितम्।
अज्ञानेन यतो जीवो देहपाशेन बध्यते॥
अज्ञानभक्षणं प्रोक्तं तन्मांसस्य भक्षणम्।
मेरुतन्त्र

इस प्रकार अज्ञान नाश ही मांस भक्षण है। भैरवयामल के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी पशुओं को विवेकरूप खड्ग द्वारा विनाश करके विवेकी पुरुष मोक्ष सुखदायी निर्विषयरूप मांस का भक्षण करता है।

मत्स्य

कुलार्णव मानता है कि मन प्रभृति इन्द्रिय वर्ग को वशीभूत कर जो साधक आत्मा में योजित करता है, वही उसका मत्स्य-भोजी है, इसके सिवा सभी जीव-हिंसक हैं।

मनसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद्देवि इतरे प्राणिहिंसकाः॥
कुलार्णव ५.११०

मेरुतन्त्र के अनुसार जिसने मन द्वारा इन्द्रिय समूह को आत्मा में संयुक्त किया है वह योगी ही प्रकृत मत्स्य भक्षणकारी है। इसके अतिरिक्त सभी मल्लाह हैं।

मनसा चेदिन्द्रियग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित्।
मत्स्याशी मे भवेद्देवि शेषा धीवरवृत्तयः॥
मेरुतन्त्र

भैरवयामल ने और स्पष्ट कहा है कि धीवरगण जैसे जाल फैला कर जलचर मत्स्यादि को बाँध लेते हैं, वैसे ही विषय विराग रूपी जाल द्वारा अहंकार, दम्भ, मद, पैशुन्य, मात्सर्य और द्वेष इन छः मत्स्यों को पकड़कर 'साध्वाचाररूपी अग्नि में भूनकर सर्वदा भक्षण करते हुए पापसंचय से बचना चाहिए। आगमचार के अनुसार शरीर में स्थित इड़ा और पिंगला दो नाड़ियों का नाम यथाक्रम से गंगा और यमुना है। इनके योग से सर्वथा प्रवाहित श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भक योग से सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का चालन करता है, वही यथार्थ मत्स्यसाधक है।

मुद्रा

कुलार्णव के अनुसार सहस्रदल महापद्म में मुद्रित कर्णिका में विशुद्ध पारद तुल्य आत्मा का निवास है। यद्यपि आत्मा का तेज कोटिसूर्य सम है तथापि वह कोटि चन्द्रतुल्य स्निग्ध भी है। वह अत्यन्त मनोहर एवं कुंडलिनी शक्ति समन्वित है। जिसमें वह आत्मज्ञान उदित होता है वे ही यथार्थमुद्रा साधक हैं :

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रितश्चरेत्।
कुलार्णव

मेरुतन्त्र के अनुसार आत्मा से जो आनन्द उत्पन्न होता है वही मुद्रा है। उसे धारणा, ध्यान तथा समाधि कहते हैं। इसी से मुक्ति होती है। विजयतन्त्र ने माना है कि सत्संग के प्रभाव से मुक्ति और असत्संग के प्रभाव से बन्धन होता है। असत्संग का त्याग ही 'मुद्रा' है। भैरवयामल के अनुसार आशा, तृष्णा, जुगुप्सा, मद्य, विषयलालसा, घृणा, मान, लज्जा और क्रोध ये आठ मुद्राएँ हैं। इनका ब्रह्माग्नि में उत्तम रूप से पाक कर के दिव्य भावानुरागी योगी, एकाग्र मन से प्रति दिन भक्षण करता है। पशुहिंसा से विमुख ऐसा महात्मा ही संसार में रुद्र स्वरूप है।

मैथुन

अष्टपाशबद्ध साधारण जीव की कुंडलिनी शक्ति निद्रित रहती है किन्तु योगी की वह शक्ति जागरित होती है। उस जागरित शक्ति का जो योगी सेवन करता है वही मैथुनसेवक है। कुलार्णव के इसी भाव का समर्थन मेरुतंत्र ने भी किया है। इसके अनुसार इड़ा और पिंगला में प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना में प्रवेश कराना चाहिए। सुषुम्ना ही शक्ति तथा प्राणरूपी जीव ही शिव है। सुषुम्ना और प्राण का संगम ही मैथुन कहा जाता है। स्त्री सहवास में जो क्षणिक सुख होता है उससे

भारतीय तन्त्र और वैदिक शील

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी

वाराणसी

Tantra is a mode of worship of *Puruṣa* and *Prakṛti* or *Śiva* and *Śakti*. *Tāntrika sādhanā* aims at nearness to *Brahma śakti* which is eternally manifest both in *Jīva* and creation. Tantra is the path of *Yogīs* but the licentious, in disguise of *Yogīs*, have corrupted this way of *Sādhanā*, by using the five *Makāras* to their selfish ends.

कुलार्णव, पारानन्दसूत्र एवं वायुपुराण में शिव ने पार्वती से कहा कि वेद और आगम को ज्ञान-खंड से मथ कर उन्होंने कुलधर्म की स्थापना की है। इस प्रकार तन्त्र का आधार वैदिक परम्परा कही गयी है किन्तु वही तन्त्र अन्यत्र कहता है कि वेद का अध्येता यदि कुलधर्म ज्ञान-शून्य है तो वह चाण्डाल से भी निकृष्ट है। कुलधर्म का ज्ञाता चाण्डाल वेदज्ञ ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। गुह्य समाज के अनुसार गुह्य का तात्पर्य है काय, वाक्, चित्त; और समाज का धर्म है इनका समष्टि भाव। वीर-साधन-कर्म हैं—मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा, मैथुन। इनके बिना जो चंडिका की उपासना करता है उसके चार नष्ट हो जाते हैं—आयु, विद्या, यश और धन। वह योगियों के द्वारा भक्ष्य होता है, साथ ही पाप का पात्र भी होता है। स्वामि-परायण शक्ति को वाम-भाग में स्थापित कर स्वयं शंकर स्वरूप वीर देवत्व की प्राप्ति करता है। बिना शक्ति के वीर पूजा का अधिकार नहीं माना गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तन्त्र की यह प्रक्रिया मात्र गृहस्थ के लिए है, अन्यत्र यह भोग का साधन ही हो सकती है।

महानिर्वाणतन्त्र में अन्यत्र कहा गया है कि जीव, प्रकृतितत्त्व, दिक्, काल, आकाश, क्षिति, तेज, अप्, वायु ही कुल हैं। यहाँ पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश को पंचमकार के स्थान पर कहा गया है। इनके माध्यम से ब्रह्मप्राप्ति की प्रक्रिया कुलाचार कहा गया है। इसका लक्ष्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। शाक्त-संगम-तन्त्र में काली के उपासक को 'कुल' कहा गया है। कुलार्णवतन्त्र में शिव-शक्ति से उत्पन्न गोत्र ही 'कुल' है। शिव को अकुल और शक्ति को कुल कहा है। इस कुलाकुल मर्म का ज्ञाता

ही कौलिक है। लेकिन यहाँ पंचमकार को अनिवार्य रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि भाग्यहीन को मद्य, मांस, मैथुन आदि प्राप्त नहीं होते। पारानन्दसूत्र के अनुसार परमात्मा एक है और ईश्वर सात हैं—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति और भैरव। इनकी प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—दक्षिण, वाम और उत्तर। दक्षिण से उत्तम वाम है और वाम से उत्तम उत्तर। उत्तर से उत्तम कुछ नहीं है। वामाचार दो प्रकार का होता है, मध्यम और उत्तम। मद्य, मैथुन, मुद्रा से युक्त उत्तम है और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन से युक्त मध्यम है। कुलार्णवतन्त्र में वैष्णव से उत्तम शैव, शैव से उत्तम दक्षिण, दक्षिण से उत्तम वाम, वाम से उत्तम सिद्धांत और सिद्धांत से उत्तम कौल है। कौल से उत्तम कुछ नहीं होता।

दक्षिण मार्ग का आधार है वेद, स्मृति और पुराण। वाम मार्ग का आधार है निगम और आगम। उत्तर गुरुवाक्य से आता है। गुरु को जीवनमुक्त माना गया है। परशुरामकल्पसूत्र में पंचमकार प्रयोग को अत्यन्त गुप्त रखने का आदेश है, अन्यथा प्रकट होने से नरक गमन होता है। शक्तिसंगम में तो वेद विद्या को वेश्या कहा गया है क्योंकि उसमें गुह्य नहीं होता। वेद, पुराण और शास्त्र को वेश्या और शाम्भवी विद्या को कुलवधू के समान माना गया है। कौलिकाचार सुगुप्तता में देवत्व और प्रकाशन में नाश को प्राप्त होता है। इस कौलिकाचार में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका गुरु की होती है जिसे जीवनमुक्त कहा गया है। पारानन्द में नव्यशिष्य के लिए तीन प्रकार का प्रयोग गुरु के लिए कहा गया है। इसके अनुसार स्वेच्छा ऋतुमती शक्ति साक्षात् ब्रह्म है। इसलिए वस्त्रालंकार भोजन के द्वारा भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिए। स्त्री ही देवता है, प्राण है और स्त्री ही भूषण है। न तो स्त्री की निन्दा करनी चाहिए न तो उसे क्रुद्ध करना चाहिए। देवों एवं गुरुओं की अभ्यर्चना वेदतन्त्रोक्त मार्ग से कर, देवता का स्मरण करते हुए मद्य पीते हुए वेश्यागमन में पाप नहीं है। इसी प्रकार की धारणा का प्रचार शक्तिसंगमतन्त्र, कालीखण्ड, ताराखण्ड, कौलावलीनिर्णय, कुलार्णवतन्त्र आदि में किया गया है।

पारानन्दसूत्र में तान्त्रिकों के उत्सवविधि का वर्णन है। इसमें चांडाल तक को दीक्षा दी जा सकती है। विभिन्न तन्त्रों में वर्ण-व्यवस्था का प्रयोग है और अनेक में नहीं। यहाँ तक कि अनेक तन्त्रों में रजकी आदि का विशेष महत्त्व है।

हिन्दूतन्त्र के दो पक्ष हैं—दार्शनिक या आध्यात्मिक, दूसरा रहस्यात्मक। दूसरे में मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, न्यास, चक्र और यन्त्र का प्रयोग होता है। महानिर्वाण-तन्त्र उपासना में पंचमकार का प्रयोग विहित मानता है। इसके अनुसार महातन्त्र का ज्ञान हो जाने पर वेद, पुराण और शास्त्रों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसके द्वारा ही मनुष्य ब्रह्म हो जाता है। जिस प्रकार सत्य, त्रेता, द्वापर में मद्यादि सेवन किया जाता था, उसी प्रकार कलियुग में भी करना चाहिए। जो व्यक्ति

कुलाचार के अनुरूप ऐसा करता है उसे कलि की बाधा नहीं होती। महानिर्वाण के अनुसार ही कुलस्त्रियों को मद्य का गन्ध-मात्र स्वीकार करना चाहिए। गृहस्थ साधक को भी मात्र पंचपात्र मद्य लेना चाहिए। यदि अपनी स्त्री जीवित है तो साधक अन्य स्त्री का स्पर्श नहीं कर सकता है।

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भैरवीचक्र प्राप्त होने पर सभी वर्ण द्विजोत्तम हैं। भैरवचक्र निवृत्ति में सभी वर्णों के अलग-अलग कर्म हैं। उच्छिष्टादि विवेचन में नाम-जाति का कोई विचार नहीं है। चक्रमध्य में गया हुआ वीर नर मात्र है। चक्र से विनिवृत्त सभी के अपने-अपने वर्ण और आश्रम होते हैं। लोकयात्रा सिद्धि के लिए सभी को पृथक्-पृथक् कर्म करना चाहिए। इसी प्रकार के विचार **कौलावली-निर्णय, भैरवीचक्र** में भी हैं। **महानिर्वाण** में शैवविवाह की विधि बड़ी विलक्षण है। इसमें वय और वर्ण का विचार नहीं है। इतना अवश्य है कि शैवविवाह से उत्पन्न सन्तति ब्राह्मविवाह से उत्पन्न सन्तति के रहते उत्तराधिकार से वंचित रहती है।

१८वीं शती में यशपाल का **मोहापराजय** नामक नाटक एक कौल का चित्रण करता है : मैं प्रतिदिन मांस खाता हूँ, मुक्त संकल्प होकर प्रतिदिन मद्यपान करता हूँ, अनिवारित मन का प्रसार करना ही मेरा धर्म है। अपरार्क ने आडम्बरग्रस्त व्यक्ति का चित्रण किया है : भीतर से कौल, बाहर से शैव और लोकाचार में वैदिक व्यक्ति नारिकेल फल के समान सार मात्र ग्रहण करता है। इस प्रकार के पाषण्ड-ग्रस्त व्यक्तियों का चित्रण **कुलार्णवतन्त्र, कौलावली निर्णय** में ही नहीं, **बृहज्जाबालोपनिषद्** और **देवीभागवत्** में भी किया गया है। **महानिर्वाणतन्त्र** में इस प्रकार नानावेशधारी कौलों के आचरण की प्रशंसा है।

गुह्यसमाज की भूमिका में डॉ० भट्टाचार्य ने एक प्रश्न उठाया है कि तान्त्रिकों के पंचमकार के साथ वैदिक नैतिकता का क्या सम्बन्ध है ? लगता यह है कि अर्थ-काम से विरक्त बौद्ध तान्त्रिकों ने तन्त्र के माध्यम से अवैदिक नैतिकता एवं व्यक्ति-भोग को तान्त्रिक दार्शनिकता देने का प्रयास किया। इसके विपरीत वैदिक तान्त्रिकों ने तन्त्र को वैदिक नैतिकता के साथ जोड़ने का प्रयोग सदा जारी रखा। **कौल रहस्य** में **हंस विलास** का उद्धरण है जिसके अनुसार जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं हो सकता और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं रह सकता। लेकिन गृहस्थ के साथ भोग है। सामान्यजन का भोग से सम्बन्ध अनिवार्य है। भोग के साथ भी योग या आध्यात्मिकता का विकास हो सके इसके लिए गृहस्थों के लिए या सामान्य जन के लिए भोग की आध्यात्मिकता तन्त्र की कठिन साधना के साथ जोड़ दी गयी। स्वयं **कौल रहस्य** में आगे कहा गया है कि श्री सुन्दरी सेवन से भोग और मोक्ष दोनों करस्थ हैं। **महानिर्वाणतन्त्र** ब्राह्मण, अंत्यज या भूतल के सभी व्यक्तियों को

कुलाचार का अधिकार देता है। इस प्रकार की तान्त्रिकता के साथ इस देश में एक नयी सामाजिकता का विकास होता है।

महानिर्वाणतन्त्र और अन्य तन्त्र ग्रन्थों की नैतिकता के प्रश्न को खुल कर उठाया गया है। परशुरामकल्पसूत्र के टीकाकार रामेश्वर ने स्पष्ट कहा है कि जो जितेन्द्रिय नहीं है उसके लिए कौलाचार नहीं है। वस्तुतः यहाँ रामेश्वर ने महानिर्वाणतन्त्र की उस घोषणा का विरोध किया है जिसके अनुसार सभी व्यक्तियों को इस मार्ग पर चलने की छूट दी गई थी। गुह्य समाज में भी वज्रयानियों ने जो मार्ग बताया है वह योगियों के लिए ही है। लेकिन इस स्थिति में समस्या यह है कि कौन यह घोषित करेगा कि अमुक व्यक्ति योगी या जितेन्द्रिय है और वह पंचमकार की तान्त्रिक साधना का पात्र है? वस्तुतः यहीं सारी चरित्रहीनता तान्त्रिक साधना के साथ जुड़ती है, जब सभी अपने को योगी और वीर घोषित कर पंचमकार को मूलतः भोग और प्रचार में तन्त्र का रूप देते हैं। उडरफ ने इस आडम्बर की जड़ को वेदों एवं पुराणों तक में ले जाने का प्रयास किया है। लेकिन मदिरा और सुरा का प्रयोग उस काल तक जाता ही नहीं, सोम को सुरा का पर्याय माना जाना सर्वथा अनुचित है। सुरापान वैदिक काल से ही निषिद्ध हो चुका था। उत्तरवर्ती काल में तान्त्रिक साधना अपनी उच्च-स्थिति में थी, सुरा-पान महापातकों में आ चुका था। मनु ने अभिचार और मूल-कर्म को पातकों में परिगणित किया है। पुराणों के कुछ वर्णन पंचमकार के समर्थन में आते हैं, वे निश्चित ही तान्त्रिकों के द्वारा प्रक्षिप्त हैं।

महाव्रत में मैथुन का विधान प्रतीकात्मक है। इन प्रतीकों के भोग-मूलक प्रयोग ने तान्त्रिकों को समाज में अत्यन्त घृणित बना दिया। अन्ततः शक्ति-संगमतन्त्र जैसे तान्त्रिक ग्रन्थ ने इन प्रतीकों की हिन्दू नतिकता के अनुकूल व्याख्या की। इस सम्बन्ध में प्रतीकात्मक व्याख्याओं का विश्लेषण आवश्यक है। इस पर अत्यन्त विस्तार से विचार पाया जाता है किन्तु हम अत्यन्त सारांश में कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं।

'कुलाचार' की दार्शनिकता

चिन्तामणिस्तबक में 'कुल' का अर्थ है पातिव्रतादिगुणयुक्त वंश। विश्वकोष में 'कुल' शब्द का अर्थ है देश, गृह, जाति, स्वजातीय पुरुष, गोत्र एवं शरीर। लेकिन आगम धारा में 'कुल' का अर्थ है 'कुण्डलिनी–शक्ति'। यथा—

अकुलं शिव इत्युक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता।
कुलाकुलानुसन्धानान्निपुणाः कौलिकाः प्रिये ॥

अर्थात् अकुल से शिव और कुल से शक्ति कही है। इस अकुल और कुल के अनुसन्धाता लोग श्रेष्ठ कौलिक हैं।

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥

अर्थात् कुल शक्ति और अकुल शिव हैं। अकुल के साथ कुल का मिलन कौल कहा जाता है। कौलज्ञ व्यक्ति भी कौल कहा जाता है।

कुलं शक्तिः समाख्याता अकुलं शिव उच्यते।
तस्यां लीनो भवेद्यस्तु स कुलीनः प्रकीर्तितः ॥

अर्थात् कुल शक्ति और अकुल शिव कहा जाता है। कुल नामक शक्ति में जो साधक रत है, वह कुलीन कहा जाता है।

'कुल' शब्द का अर्थ कुंडलिनी शक्ति है। यह शक्ति सहस्रार पद्म में पहुँच कर लय को प्राप्त होती है। कुल कुंडलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल है। कुंडलिनी के साथ जो आचार किया जाता है वही कुलाचार है। इसे ही कौलाचार, वामाचार का भी नाम दिया जाता है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इस पंच 'मकार' से सम्पन्न होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपंचकमाहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥

यह पंचमकार ही योगियों के लिए मुक्तिदायक है। कुंडलिनी जागृत या उत्थित हो जाने पर सात्विक भावापन्न साधक पंच मकारों का सेवन करता हुआ मुक्ति प्राप्त करता है। इन पंच मकारों का रूप इस प्रकार है—

मद्य

विजयतन्त्र में निर्विकार, निरंजन परब्रह्म के ज्ञान से उत्पन्न आनन्द को मद्य कहा गया है। कुलार्णव में ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रदल कमल से क्षरित सुधा को मद्य माना गया है।

यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरंजनम्।
तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम् ॥
विजयतन्त्र

व्योमपंकजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः ।
मधुपायी समं प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः ।।
कुलार्णव ५.१०८

योगिनीतन्त्र के अनुसार सहस्रार में कुंडलिनी का परम शिव के साथ सम्मिलन होने पर मस्तक में स्थित बिन्दु से जो आनन्दप्रद अमृतक्षरण होता है, उसी अमृतपान को कौलाचार में प्रकृत मद्यपान कहते हैं।

कुण्डल्या मिलनादिन्दोः स्रवते यत्परामृतम् । आदि
योगिनी तन्त्र

भैरवयामल में कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रदल कमलरूपी पात्र से जो ब्रह्माण्ड तृप्तिकारी अमृतधारा बहती है, वही पान योग्य मद्य है।

रुद्रयामल में और स्पष्ट कहा गया है कि भाँग या बाह्य मद्य पीकर बहिर्बोधशून्य होकर स्तब्ध रहने वाला योगी ज्ञानी नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो वायवी शक्ति कुंडलिनी से प्रसूत आनन्द से युक्त रहता है, वही ब्रह्मज्ञानी है। इसी प्रकार मेरुतन्त्र में भी वर्णन है। ब्रह्मरन्ध्रस्थ चन्द्र से क्षरित सुरापान मत्त योगी कामादि रिपुओं से अभिभूत नहीं होता।

विजयारससारेण विना बाह्यासवेन च ।
वायव्यानन्दसंयुक्तो ब्रह्मज्ञानी प्रकीर्तितः ।।
रुद्रयामल

गन्धर्वतन्त्र के अनुसार योगी लोग जिह्वा को विपरीत कर भीतरी लघु जिह्वा में लगाकर सहस्रदल क्षरित अमृत का पान करते हैं, वे गुड़ या चावल से बनी सुरा का पान नहीं करते।

जिह्वानलसंयोगात्पिबेत्तदमृतं तदा ।
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौडपैष्टिकम् ।।
गन्धर्वतन्त्र

कुलार्णव के अनुसार पुण्य और पाप रूप पशुओं को ज्ञानरूप खड्ग द्वारा विनाश कर योगी मन को ब्रह्म में लीन कर देता है।

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते ।।
कुलार्णव ५.१०९

आगमसार के अनुसार 'मा' शब्द से जिह्वा समझी जाती है और वाक्य उसके अंश हैं। जो साधक वाक्यों का सदा भक्षण करता है वही प्रकृत मांस साधक है।

माशब्दाद्रसना ज्ञेया तद्देशान् रसनाप्रियान्।
सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांससाधकः॥
आगमसार

मेरुतन्त्र में कहा गया है कि जीवों के देह मांस द्वारा वेष्टित रहते हैं। जीव अज्ञानवश देह में बद्ध रहता है। बन्धनरूप कर्म विचार से मांस तथा अज्ञान समान है।

देहबन्धकरं यत्तु तन्मांसं परिकीर्तितम्।
अज्ञानेन यतो जीवो देहपाशेन बध्यते॥
अज्ञानभक्षणं प्रोक्तं तन्मांसस्य भक्षणम्।
मेरुतन्त्र

इस प्रकार अज्ञान नाश ही मांस भक्षण है। भैरवयामल के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी पशुओं को विवेकरूप खड्ग द्वारा विनाश करके विवेकी पुरुष मोक्ष सुखदायी निर्विषयरूप मांस का भक्षण करता है।

मत्स्य

कुलार्णव मानता है कि मन प्रभृति इन्द्रिय वर्ग को वशीभूत कर जो साधक आत्मा में योजित करता है, वही उसका मत्स्य-भोजी है, इसके सिवा सभी जीव-हिंसक हैं।

मनसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद्देवि इतरे प्राणिहिंसकाः॥
कुलार्णव ५.११०

मेरुतन्त्र के अनुसार जिसने मन द्वारा इन्द्रिय समूह को आत्मा में संयुक्त किया है वह योगी ही प्रकृत मत्स्य भक्षणकारी है। इसके अतिरिक्त सभी मल्लाह हैं।

मनसा चेदिन्द्रियग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित्।
मत्स्याशी से भवेद्देवि शेषा धीवरवृत्तयः॥
मेरुतन्त्र

भैरवयामल ने और स्पष्ट कहा है कि धीवरगण जैसे जाल फैला कर जलचर मत्स्यादि को बाँध लेते हैं, वैसे ही विषय विराग रूपी जाल द्वारा अहंकार, दम्भ, मद, पैशुन्य, मात्सर्य और द्वेष इन छः मत्स्यों को पकड़कर 'साध्वाचाररूपी अग्नि में भूनकर सर्वदा भक्षण करते हुए पापसंचय से बचना चाहिए। आगमचार के अनुसार शरीर में स्थित इड़ा और पिंगला दो नाड़ियों का नाम यथाक्रम से गंगा और यमुना है। इनके योग से सर्वथा प्रवाहित श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भक योग से सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का चालन करता है, वही यथार्थ मत्स्यसाधक है।

मुद्रा

कुलार्णव के अनुसार सहस्रदल महापद्म में मुद्रित कर्णिका में विशुद्ध पारद तुल्य आत्मा का निवास है। यद्यपि आत्मा का तेज कोटिसूर्य सम है तथापि वह कोटि चन्द्रतुल्य स्निग्ध भी है। वह अत्यन्त मनोहर एवं कुंडलिनी शक्ति समन्वित है। जिसमें वह आत्मज्ञान उदित होता है वे ही यथार्थमुद्रा साधक हैं :

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रितश्चरेत्।
कुलार्णव

मेरुतन्त्र के अनुसार आत्मा से जो आनन्द उत्पन्न होता है वही मुद्रा है। उसे धारणा, ध्यान तथा समाधि कहते हैं। इसी से मुक्ति होती है। विजयतन्त्र ने माना है कि सत्संग के प्रभाव से मुक्ति और असत्संग के प्रभाव से बन्धन होता है। असत्संग का त्याग ही 'मुद्रा' है। भैरवयामल के अनुसार आशा, तृष्णा, जुगुप्सा, मद्य, विषयलालसा, घृणा, मान, लज्जा और क्रोध ये आठ मुद्राएँ हैं। इनका ब्रह्माग्नि में उत्तम रूप से पाक कर के दिव्य भावानुरागी योगी, एकाग्र मन से प्रति दिन भक्षण करता है। पशुहिंसा से विमुख ऐसा महात्मा ही संसार में रुद्र स्वरूप है।

मैथुन

अष्टपाशबद्ध साधारण जीव की कुंडलिनी शक्ति निद्रित रहती है किन्तु योगी की वह शक्ति जागरित होती है। उस जागरित शक्ति का जो योगी सेवन करता है वही मैथुनसेवक है। कुलार्णव के इसी भाव का समर्थन मेरुतंत्र ने भी किया है। इसके अनुसार इड़ा और पिंगला में प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना में प्रवेश कराना चाहिए। सुषुम्ना ही शक्ति तथा प्राणरूपी जीव ही शिव है। सुषुम्ना और प्राण का संगम ही मैथुन कहा जाता है। स्त्री सहवास में जो क्षणिक सुख होता है उससे

शतकोटिगुणित अधिक सुख सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने पर होता है। इसे ही प्रकृत में मैथुन कहते हैं। इसके अतिरिक्त गधे का मैथुन है।

इडापिंगलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
उत्पद्यते तु यत्सौख्यं शतकोटिगुणं तु तत्।
एतदेव रत-प्रोक्तमन्यत्स्याद्रासभं रतम्।।
मेरुतन्त्र

विजयतंत्र के अनुसार प्रत्येक देहधारी जीव में कुंडलिनी शक्ति विद्यमान है। उसे सहस्रारस्थ शिव के साथ संयुक्त करना ही मैथुन है। योगिनीतंत्र मानता है कि सहस्रारस्थ बिन्दु के साथ कुंडलिनी का मिलन यतियों का दिव्य मैथुन है। भैरवयामल मानता है कि परमानन्द प्राप्त, सूक्ष्मरूपवती सुषुम्ना नाड़ी ही आलिंगन सेवनीय कमनीय है, मानवी सुन्दरी वेश्या के समान रमण योग्य नहीं है। परब्रह्म के साथ सुषुम्ना का संयोग ही वास्तविक मैथुन है। स्त्री संभोग वास्तविक भोग नहीं है। योगीन्द्र वारवनिता के त्यागपूर्वक इस सुषुम्ना के भोग से ही आनन्द प्राप्त करते हैं।

या नाड़ी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्ना
सा कान्तालिंगनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित्।।
कुर्याच्चंद्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योगी
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने त्वां परिष्वज्य नित्यम्।।
भैरवयामल

स्पष्ट है कि वही कौलाचार का अधिकारी है जो परद्रव्य में अन्ध तुल्य, परस्त्री में नपुंसक, परनिन्दा में मूक और इन्द्रियजयी हो (मेरुतन्त्र)। शिव कथित, सर्वसिद्धिदाता, सर्वश्रेष्ठ कुलाचार धर्म इन्द्रियजयी व्यक्ति के लिए ही सुलभ है, अनन्त जन्म पर्यन्त प्रयत्न करने पर भी लोलुप मनुष्य इसे प्राप्त नहीं कर सकता है (पुरश्च-र्यार्णव)। तन्त्ररहस्य अत्यन्त लुप्त होने के कारण तन्त्र का भाव भी अत्यन्त गुप्त है। वेदशास्त्र का अर्थ तत्त्व ज्ञाता, बुद्धिमान जितेन्द्रिय उपासक ही मन्थन कर तन्त्र के अर्थ एवं भाव की उद्भावना कर सकता है और ऐसा ही व्यक्ति कुलाचार का अधिकारी हो सकता है। इससे भिन्न मांस का आलम्बन मात्र पाखण्ड है।

कुलार्णव में कहा गया है कि यदि मद्यपान से ही सिद्धि प्राप्त हो जाय तो पामर प्राणी प्रतिदिन मद्यपान करता है और वह सिद्ध हो जाय। मांस-भक्षण से ही यदि स्वर्गगमन हो सकता है तो नरक का दरवाजा ही बन्द हो जाय। जो व्यक्ति विषय भोगार्थ मद्यपान करता है और जो मनुष्य सांसारिक ग्राम्यसुख भोग के लिए

अथवा कामपीड़ित होकर मैथुन करता है वह साधना के माध्यम से अपनी दुर्दान्त वासना का प्रसार करता है। ऐसा व्यक्ति तन्त्र दर्शन के अनुसार ही नरक-गामी होता है। कौलाचार उक्त साधना की उस चरम परिणति का द्योतक है जहाँ कीचड़-चन्दन, पुत्र-शत्रु, प्रिय-अप्रिय, श्मशान और गृह, तृण और स्वर्ग में कोई भेद नहीं दिखायी पड़ता।

वामाचार का एक भ्रान्तिपूर्ण अर्थ किया जाता है कि वामा के प्रयोग से होने वाला अनुष्ठान। लेकिन तन्त्र में वाम का अर्थ प्रशस्य है, न कि कामिनी। ब्रह्महत्या से निवृत्ति के लिए वामजप का विधान है। हारीत ने श्रुति का दो रूप प्रस्तुत किया है, वैदिकी और तान्त्रिकी। फलतः आगम धारा भी निगम के समान ही अनादि है। इनके मिश्रण से पूजा तीन प्रकार की हो जाती है, वैदिकी, तान्त्रिकी और मिश्रित। इसमें रुचि वैचित्र्य से किसी भी मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है। तन् धातु में 'त्र' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होने वाले तन्त्र का तात्पर्य है शिवशक्ति की उपासना का विस्तारक शास्त्र। आगम, यामल और तन्त्र की समष्टि ही तन्त्र है।

आगम में सृष्टि, प्रलयादि का वर्णन, षट्कर्म साधन, पुरश्चरण, देवतार्चन, चतुर्विध ध्यान-योगादि का वर्णन है। यामल में सृष्टि के साथ ग्रह, नक्षत्र, गृह्य कल्पादि ग्रन्थों की उपयोगिता, नित्यकृत्य, वर्णभेद, जातिभेद, युगधर्म आदि का विवेचन है। तन्त्र में देवताओं की कल्पना और संस्थान, आश्रम धर्म, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, मानवधर्म, तीर्थमाहात्म्य, शिवचक्र का आख्यान, ज्योतिषशास्त्र की प्रामाणिकता, व्रतपरिचय, नरक वर्णन, स्त्रीपुरुष लक्षण, प्राणायामादि यौगिकक्रिया, धर्म की संस्थिति एवं अध्यात्मविद्या की अवतारणा इत्यादि बहुत से विषय हैं।

उपनिषदों में जो आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म कहा गया है, पुराणों में जो भगवान्, नारायण, सदाशिव आदि कहा गया है, तन्त्र में वही परमा प्रकृति, महाविद्या, महामाया, महादेवी, आद्याशक्ति इत्यादि नामों से अभिहित है। निर्गुण से चैतन्य में जब 'एकोऽहं बहुस्याम्' भाव प्रकट होता है तब वही चैतन्य ब्रह्मशक्तिरूप से प्रकाश पाता है। यह ब्रह्मशक्ति की महामाया, ब्रह्मचिच्छक्ति या स्वयं ब्रह्म है। भाषानुरोध से यद्यपि ब्रह्म सकल (शक्तियुक्त) और निष्कल (शक्तिविरहित) है तथापि ब्रह्म एवं ब्रह्मशक्ति में पार्थक्य नहीं है—अविनाभावसम्बन्धं तयोरेव परस्परम्। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति की अभिन्नता के समान ही ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया एक है। अव्यक्त स्थिति में जो एक, व्यक्तावस्था में वही अनेक हो जाती है। सृष्टि के पूर्व में भी विद्यमान होने से उसे आद्याशक्ति कहते हैं।

"प्र" शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट और 'कृति' का अर्थ है सृष्टि। अतः सृष्टि में

जो प्रकृष्ट है, वह प्रकृति है। सृष्टि में आत्मा ही प्रकृष्ट है और शेष सभी स्वप्नदृष्टवत् निकृष्ट। फलतः आत्मा ही प्रकृति है। प्रकृति नित्य सनातनी, ब्रह्म और ब्रह्मस्वरूप है। आद्याशक्ति निष्क्रिय रूप से ब्रह्म कही जाती है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय के समय वही महामाया कही जाती है। परब्रह्म से वह निर्गुण, किन्तु महामाया रूप से उसे परा, सूक्ष्म, स्थूल त्रिविध मानते हैं। उसका परम रूप बोधगम्य नहीं है—"तन्न जानाति कश्चन"। उसका सूक्ष्मरूप मन्त्रमय किन्तु अवयव शून्य है। निरवयव रूप की धारणा करने में मन असमर्थ है। फलतः सृष्टि, स्थिति, लय-कर्त्री घनीभूत मूर्ति की कल्पना करनी पड़ी। सृष्टिकर्त्री के रूप में ब्रह्मा, स्थितिकर्त्री के रूप में विष्णु, वैष्णवी, प्रलयकर्त्री के रूप में महाकाली का रूप प्राप्त करती है।

सांख्य एवं वेदान्त में जैसे प्रकृति से संसारोत्पत्ति और प्रकृति में ही पुनः उसका लय माना गया है, तन्त्र भी यही सिद्धान्त मानता है। लेकिन सामान्य भेद भी है। सांख्य में प्रकृति और पुरुष दोनों सद्वस्तु हैं, वे स्वतन्त्र और स्वयम्भू हैं। उन दोनों के संयोग से सृष्टि क्रिया होती है। वेदान्त में वे स्वतन्त्र और स्वयम्भू नहीं हैं। इनसे परे ब्रह्म है। तन्त्र में पुरुष प्रकृति सद्वस्तु है, किन्तु स्वतन्त्र नहीं है। जो पुरुष है, वही प्रकृति है और वही ब्रह्म है। निष्क्रियावस्था में पुरुष सक्रियावस्था में प्रकृति कही जाती है। प्रकृति जड़ नहीं है। चैतन्य का जड़त्व प्रतीति मात्र है। बोधवस्तु जड़ नहीं चेतन होती है। चेतन ही नहीं आनन्द भी उसका स्वरूप है। सत्ता, चैतन्य और आनन्द एक ही के तीन नाम हैं। परमानन्द की प्राप्ति ही विवेकख्याति है। प्रकृति पुरुष की याथार्थ्य उपलब्धि का नाम ही ख्याति है। केवलानन्द रस आत्मा का ब्रह्म अपने निरंजन स्वरूप को सदा अक्षुण्ण रखता हुआ भी एक साथ ईश्वर, जीव तथा जगद्रूप से प्रकट हो रहा है। वही ब्रह्म का ब्रह्मत्व है। उसी आत्मा को तन्त्र शास्त्र "मा" कह कर पुकारता है।

पुरुष और प्रकृति या शिव और शक्ति की उपासना ही तन्त्र है। फलस्वरूप तन्त्र में द्वैत और अद्वैत दोनों रूप आते हैं। शिव-उपासना में द्वैतभाव शक्ति उपासना में अद्वैत है। मुख्य लक्ष्य शक्ति की उपासना है। जो ब्रह्मशक्ति जीव और जगदाकार से नित्य प्रकाशित है, उसी शक्ति का सान्निध्य लाभ तान्त्रिक साधना का लक्ष्य है। आगम निगम भेद से तन्त्र के दो भेद हैं। जो तन्त्र महादेव से उक्त, महादेवी से श्रुत और वासुदेव से अनुमोदित है, वह आगम है। जो तन्त्र देवी के मुख से निःसृत, महादेव से श्रुत और वासुदेव से अनुमोदित है, वह निगम है।

मध्ययुग में तन्त्र के नाम पर व्यभिचार फैला हुआ था। बीसवीं शती में विशेषतः द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद, तन्त्र ने बड़ा वीभत्स रूप धारण कर लिया है। परम लम्पट, परस्त्रीगामी, सभी प्रकार के कुत्सित आचरण के स्वार्थी व्यक्ति

तान्त्रिक साधना के केन्द्र बन गये हैं। यान्त्रिकता से जनमी भविष्य के प्रति अस्थिरता ने इस प्रकार के वंचकों के लिए स्वर्णयुग ला दिया है। अपने तमाम कुत्सित आचरण को तन्त्र के साथ जोड़ना अपनी निजी मान्यता या मापदंड ही हो सकता है किन्तु तन्त्र दर्शन या भारतीय परम्परा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अब 'भोग से समाधि' दर्शन का रूप ले रहा है। अपना-अपना पक्ष है। विशेष प्रकार के व्यक्तियों के लिए वह आकर्षण का केन्द्र हो सकता है किन्तु उससे भारतीय साधना का कोई सम्बन्ध नहीं है और तन्त्र-दर्शन उसे अत्यन्त घृणित रूप में स्वीकार करता है। यह सही है कि सारी लोलुपताओं के पुतले घंटे भर कमरे में बैठ कर तत्काल सिद्धि का व्यामोह पाल सकते हैं और मोहान्ध व्यक्ति का मार्ग-निर्देशन करने का भी स्वांग रच सकते हैं किन्तु यह भारतीय-परम्परा और दर्शन से सर्वथा दूर है।

सिद्धपुर (गुजरात) से प्राप्त विष्णु की एक अभिलिखित प्रतिमा

प्रमोद कुमार त्रिवेदी

नई दिल्ली

The present Viṣṇu figure, made of brass, with an inscription dated Saṃvat 1485 provides an evidence of the usage of the metalic art side by side with the stone and wood work, in the north Gujarat, in the later medieval period.

सुप्रसिद्ध धार्मिक एवं ऐतिहासिक नगरी सिद्धपुर गुजरात राज्य के मेहसाना जिले में मुख्यालय से २६ कि० मी० दूर पालनपुर और दिल्ली प्रमुख मार्ग पर सरस्वती नदी के तट पर अहमदाबाद-दिल्ली मीटर गेज लाइन पर स्थित है। प्राचीन-काल में इसका नाम "श्री स्थल" तथा "श्री क्षेत्र" था। प्रचलित परम्परा के अनुसार १२वीं शती ई० में इसका नाम सिद्धपुर सोलंकी सिद्धराज के नाम पर पड़ा जिसका विवरण अल्बेरूनी के वृत्तान्त में उपलब्ध होता है। यह क्षेत्र वैष्णव धर्म के लिये मध्यकाल एवं परवर्ती युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इस तथ्य की प्रामाणिकता इस क्षेत्र में यत्र-तत्र प्राप्त पाषाण एवं धातुनिर्मित तत्सम्बन्धित कलाकृतियों एवं प्रतिमाओं से सिद्ध होती है। विवेच्य प्रतिमा नगर के श्री बाबूलाल ईश्वर लाल दवे के पूजागृह में विद्यमान है। १५.७×८×६ से० मी० माप की, पीतल में ढाल कर निर्मित भगवान विष्णु की इस प्रतिमा के पृष्ठ भाग में सम्वत् १४८५ (१४२९ ई०) तिथि से युक्त एक लेख उत्कीर्ण है (चित्र क्र० २)। लेख इस प्रकार है—

प्रथम पंक्ति

सं० १४८५ वर्षे माघ वदि १३ भौमे जालंधर जाताय श्रे० (श्रेष्ठि)

रणसी भार्या लखमादेव्या सुत जां (?) टा भार्या हस्ते (?)।

द्वितीय पंक्ति

सव (स्व ?) भ्रातृ (?) काला भार्या श्रमरा — (?) श्री न(ा)रायण प्रतिमा कारापिता श्र (श्रे०) यसे ।।

अभिलेख से विदित होता है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा माघ मास, कृष्ण-पक्ष त्रयोदशी मंगलवार को, जालन्धर नगर में उत्पन्न श्रेष्ठि रणसिंह, उसकी पत्नी लक्ष्मीदेवी, पुत्र जांटा (?), उसकी पत्नी एवं भ्राता काला (?) जिसकी पत्नी का नाम अमरा (? अस्पष्ट) था, के द्वारा कराई गई थी।

समभंग-मुद्रा में निरूपित विष्णु की निचले एवं ऊपरी दोनों दाहिने हाथों को क्रमशः वरद मुद्रा एवं गदायुक्त प्रदर्शित किया गया है। निचले एवं ऊपरी वामहस्तों में क्रमशः शंख एवं चक्र है (चित्र क्रमांक १)[1]। किरीट-मुकुट धारण किये, सिर के पीछे प्रभावली तथा ऊपर कलशयुक्त छत्र है। ये वप्रकुण्डल, वलय, रत्नकेयूर, कण्ठाभरण, वनमाला एवं पादवलय से विभूषित हैं। दोनों भुजाओं के मध्य लटकता हुआ उत्तरीय प्रदर्शित किया गया है। चार लड़ियों की मेखला द्वारा कटि पर बांधा गया अलंकृत अधोवस्त्र उरः जालक द्वारा सुसज्जित है, एवं उसका छोर दोनों घुटनों के मध्य स्पष्ट दिखाई देता है। निचले भाग में शंख एवं चक्र पुरुषों का मूर्तन, क्रमशः बायीं ओर चामरधारी पुरुष तथा दाहिनी ओर चँवर लिये स्त्री-परिचारिका विद्यमान है। ईलिका तोरण से सुसज्जित इस प्रतिमा के ऊपरी दाहिने कोनों पर अर्धपर्यंकासन में चतुर्भुजी श्मश्रुयुक्त ब्रह्मा अक्षमाला, कलश एवं पोथी धारण किये आसीन हैं। बायें कोने पर इसी मुद्रा में पीठिका पर आसीन शिव को वरद मुद्रा में त्रिशूल, पुष्प एवं सर्प धारण किये अंकित किया गया है। परिकर एवं पीठिका के रिक्त स्थान को रेखाच्छादित समवर्गीय एवं मालाकार अभिप्रायों के अंकन द्वारा सुन्दर बनाया गया है। सामने की ओर एक कोने पर पीठिका कुछ भग्न हो गयी है। इसका सम्मुख भाग नीचे की ओर शीर्ष किये त्रिकोणीय अलंकरणों द्वारा सज्जित है। पीठिका के दोनों ओर अञ्जलि-मुद्रा में दो उपासक विद्यमान हैं।

यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि यद्यपि अभिलेख में 'नारायण' के नाम से निर्दिष्ट यह प्रतिमा मूर्ति विज्ञान का अनुगमन पूर्णरूपेण नहीं करती है किन्तु शैली

---

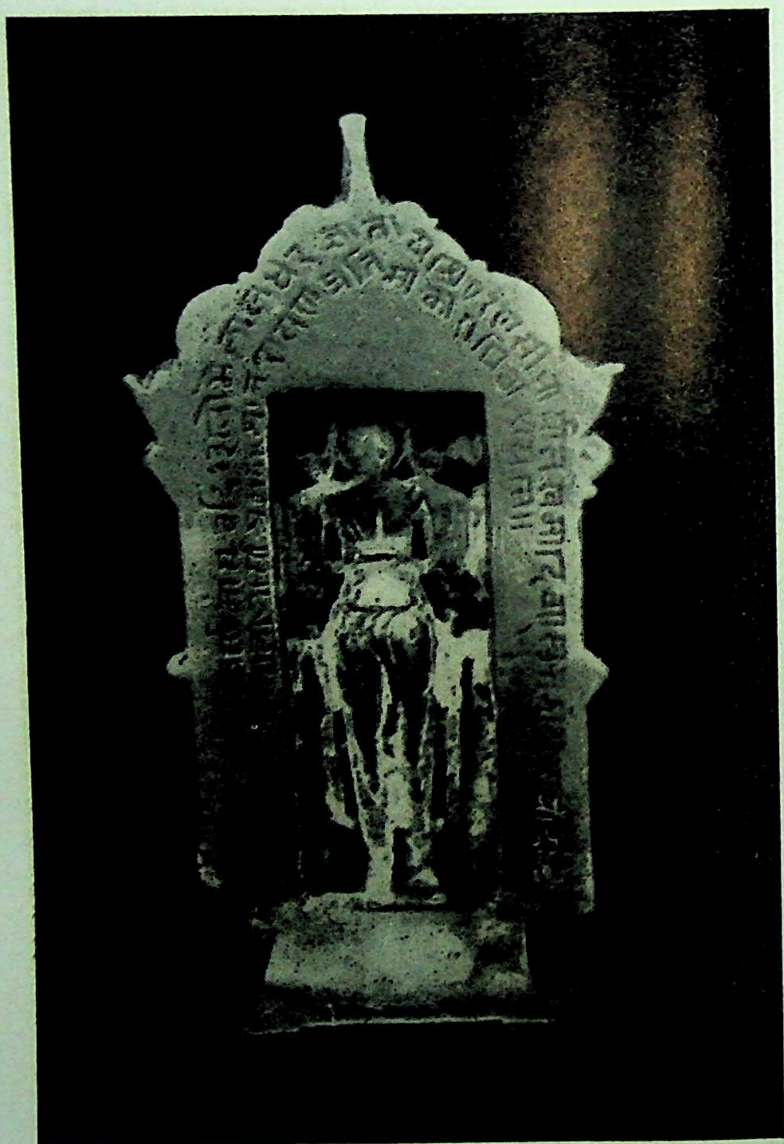
१. श्री हेनरी माइकल द्वारा तैयार किये गये चित्रों का प्रतिलिप्यधिकार भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा सुरक्षित है।

चित्र १



विष्णु की प्रतिमा

चित्र २



विष्णु प्रतिमा के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण अभिलेख

की दृष्टि से परिष्कृत न होते हुये भी यह तिथियुक्त कलाकृति उत्तरी गुजरात क्षेत्र में परवर्ती मध्यकाल में पाषाण एवं काष्ठकर्म के साथ धात्विक कला कर्म के प्रचलन की साक्षी है। इस युग में गुजरात में धात्विक कलाकृतियों के निर्माण हेतु पीतल का प्रचलन व्यापक रूप से होता था, क्योंकि यह स्वर्ण की भाँति चमकीला होता था।[२]

---

२. स्वर्णकमल : एन्शियेण्ट आर्ट ऐण्ड टेक्नालाजी ऑफ गुजरात, म्यूज़ियम एण्ड पिक्चर गैलरी, बड़ोदा, १९८०, पृष्ठ १३०.

सांख्य दर्शन में ब्रह्म की मान्यता

डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी

गोरखपुर

Yuktidīpikā—an anonymous treatise on *Sāṃkhyakārikā,* mentions views of several philosophers regarding *Sāṃkhya* system of which there is no trace in other works such as *Māṭharavṛtti, Gauḍapādabhāṣya, Jayamaṅgalā* and *Tattvakaumudī*. Though *Yuktidīpikā* does not accept *Īśvara* as the material cause of the creation but it does not mean that *Sāṃkhya* totally denies *Īśvara*. Only *puruṣa Parameśvara* can be the governing agent of the cosmos and not the *Jīvātmā puruṣa.*

सांख्यकारिका की अज्ञातकर्तृक पद्धति युक्तिदीपिका की भाषा-शैली, विक्रम की पाँचवीं शती (४१४) में विद्यमान, द्वादशारनयचक्र के रचयिता मल्लवादिसूरि की शैली से मिलती-जुलती है, अतः उक्त रचना पञ्चम[१] शतक (विक्रमीय) के बाद की नहीं हो सकती। युक्तिदीपिकाकार, "अनवस्थितं हि दृष्टादीनां लक्षणम्, दृष्टिवैचित्र्यात्" कह कर अनेक दार्शनिकों का मत प्रस्तुत करते हुए अन्त में कहते हैं 'कल्पनापोढमित्यन्ये'।[२] यह वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग का मत है।[३] इससे भी उक्त

---

१. श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते। जिग्ये स मल्लवादी बौद्धान् इति विजयसिंहसूरिप्रबन्धगतेन गाथावृत्तेन श्रीवीरवत्सरात् (८८४) नवमशतकः, विक्रमाच्च (४१४) पञ्चमशतकोऽवगम्यते।

—द्वादशारनयचक्र, उपोद्‌घात—विजयलब्धिसूरि

२. युक्तिदीपिका पृष्ठ ३५ दिल्ली संस्करण।

३. दिग्नागसमयस्तु ख्रिस्तीयो द्वितीयस्तृतीयो वा शतक इति विश्वकोषकार आह। शतीशचन्द्रविद्याभूषणमहाशयस्तु पंचशतकान्तभाग इति वदति।

—द्वादशार०, उपोद्घात।

रचना के समय की सूचना मिलती है। युक्तिदीपिका, सांख्यशास्त्रीय अज्ञात मतों का विस्तार के साथ उल्लेख करती है, जिनका माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य, जयमंगला और तत्त्वकौमुदी में संकेत तक नहीं मिलता।

युक्तिदीपिका के अनुसार सांख्यकारिका की अड़सठवीं कारिका प्रस्तुत रूप में उपलब्ध होती है—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
एकान्तमात्यन्तिकमभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

प्रायः अन्य टीकाओं वाले संस्करणों में, प्रस्तुत श्लोक ''अभयं' के स्थान पर 'उभयं' पाठ उपलब्ध होता है जो सर्वथा अशुद्ध है। टीकाकारों ने तो नहीं, किन्तु अनुवादकों ने 'उभयं' का उभयप्रकारक अर्थ किया है जिसकी कैवल्य के साथ कोई संगति नहीं बैठती। यहाँ कैवल्य को युक्तिदीपिकाकार इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

''एतत् परं ब्रह्म ध्रुवममलमभयमत्र सर्वेषां गुणधर्माणां प्रतिप्रलयः। एतत्प्राप्य सर्वायासैः सर्वबन्धनैरनादिकालप्रवृत्तरागद्वेषवियुक्तो मुक्तो भवति। एतदर्थं ब्राह्मणा दयितपुत्रदारधनसम्बन्धमपहाय गुरुशुश्रूषापराः शरीरमरण्येषु यापयन्ति।''

अर्थात् यह कैवल्य, ध्रुव, निर्मल, अभय परब्रह्म है; इसी में समस्त गुणधर्मों का लय हो जाता है। इसे प्राप्त करके सम्पूर्ण आयासों एवं समग्र बन्धनों से तथा अनादि काल से प्रवृत्त राग-द्वेष से वियुक्त होकर व्यक्ति, मुक्त हो जाता है। इसीलिए ब्राह्मण प्रिय पुत्र, स्त्री और धन के सम्बन्ध को छोड़कर गुरु-शुश्रूषा में तत्पर होकर जङ्गलों में शरीरयापन करते हैं।

उक्त कारिका के उत्तरार्द्ध के पूर्व इस कैवल्य के सम्बन्ध में युक्तिदीपिकाकार ने और भी लिखा है :—

''अतीन्द्रियमसंवेद्यं लघु सर्वत्र सन्निहितं प्रशस्तमनिर्मितम् विशुद्धमक्षयं निरतिशयम्। धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।'' २३।

इस कारिका की पद्धति में युक्तिदीपिकाकार का कथन है :—

''सङ्कल्पमूलोच्छिन्नविषयमृगतृष्णो हि अयं यतिरिन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरीष्टे। एकाग्र एकारामोऽविद्यापवर्णोऽतिक्रान्तः, परस्य ब्रह्मणः प्रत्यनन्तरो भवति।''

इसके अतिरिक्त उन्तीसवीं कारिका की युक्तिदीपिका की युक्ति है—"सोऽयं धर्मादिषु प्रवणः तत्प्रतिपक्षाऽऽक्रान्तः सत्त्वारामो विनिवृत्ताभिमानो ज्ञाननिष्ठः सविशुद्धयोनिरचिरेण परं ब्रह्मोपपद्यत इति।" (पृष्ठ १०९)।

छियालिसवीं कारिकागत 'प्रत्ययसर्ग' की व्याख्या के प्रसङ्ग में युक्तिदीपिका, आचार्य पञ्चशिख का एक वचन उद्धृत करती है :—

"अथवा प्रत्ययपूर्वकः सर्गः प्रत्ययसर्गः। बुद्धिपूर्वक इत्युक्तः। कथम् ? एवं हि शास्त्रम्"।—"महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्। उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये ये मे कर्म करिष्यन्ति। ये मां परं चापरं च ज्ञास्यन्ति। तस्याभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे। ततोऽन्ये तिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशतिः प्रजज्ञे। तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे। अथापरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवा प्रादुर्बभूवुः। तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने। ततोऽन्येऽष्टावर्वाक् स्रोतस उत्पेदुः। एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात्प्रत्ययसर्गः। स विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्य, तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्चेति।"

प्रत्यय, पदार्थ और लक्षण ये पर्याय हैं। प्रत्ययों, पदार्थों का सर्ग ही प्रत्यय सर्ग है। अथवा प्रत्यय, बुद्धि, निश्चय और अध्यवसाय ये पर्याय हैं।[४] प्रत्यय या बुद्धिपूर्वक सर्ग प्रत्यय सर्ग है। जैसी कि शास्त्र की उक्ति है :—

महत्तत्त्व से लेकर महाभूतपर्यन्त सर्ग बुद्धिपूर्वक होता है। कार्य अर्थात् देह और करण—अन्तःकरण (बुद्धि)[५] से सम्पन्न माहात्म्य शरीर (परमेश्वर) ने अपने को एकाकी देख कर संकल्प किया कि मैं पुत्रों की रचना करूंगा जो मेरे लिए कर्म करेंगे। जो, पर और अपर रूप मुझे जानेंगे। उसके इस प्रकार संकल्प करते हुए पाँच मुख्य स्रोतस् देव उत्पन्न हुए। उनके उत्पन्न होने पर उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब अन्य तिर्यक् स्रोतस् अट्ठाईस प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुए। उनमें भी इसकी बुद्धि स्थिर नहीं हुई। इसके अनन्तर नव प्रकार के ऊर्ध्व स्रोतस् देव उत्पन्न हुए। इतने पर भी उसने अपने को कृतार्थ नहीं माना। तब अन्य आठ अर्वाक् स्रोतस् प्राणी उत्पन्न हुए। इस प्रकार ब्रह्म के उस संकल्प से प्रत्यय सर्ग हुआ।"

---

४. प्रत्ययः पदार्थो लक्षणमिति पर्यायाः, प्रत्ययानां सर्गः प्रत्ययसर्गः पदार्थसर्गो लक्षणसर्ग इत्यर्थः। अथवा प्रत्ययो बुद्धिर्निश्चयोऽध्यवसायः इति पर्यायाः। (पृष्ठ १२७)

५. करणं बुद्धितत्त्वं, कार्यं शरीरम्—तत्त्वकौमुदी, कारिका ४३

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि परमेश्वर के दो रूप हैं एक पर और दूसरा अपर। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' वाला ही पर रूप है जिसे ब्रह्म कहते हैं, और दूसरा अपर रूप है कार्य-करण-सम्पन्न माहात्म्य शरीर। एक तीसरा रूप भी है जिसे महानात्मा या ब्रह्मा कहते हैं। यह एक ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता ईश्वर है।

"महान् बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विश्वर इति पर्यायाः।" (युक्तिदीपिका, पृष्ठ ९१)।

महान् या महानात्मा ही ईश्वर है। यह सही है कि युक्तिदीपिकाकार ने भी सृष्टि के उपादान रूप में ईश्वर को नहीं माना है, किन्तु सांख्य को ईश्वर[६] सर्वथा मान्य न हो ऐसी बात नहीं है।

युक्तिदीपिका प्रकृति और महान् के बीच में एक अन्य तत्त्व को मानने वाले आचार्य की विप्रतिपत्ति की बात कहती है :—

"केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महान्।"--पृष्ठ ९१।

यह मत निरुक्त में विवृत हुआ है। यथा—

"भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिषं ज्योतिर्वायुं, वायुराकाशमाकाशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां प्रतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति॥"

यहाँ महानात्मा और प्रकृति के बीच में प्रतिभा नामक तत्त्व गृहीत हुआ है। किन्तु वाक्यपदीय की वृत्ति में प्रतिभा को ही महानात्मा कहा गया है और वहाँ महानात्मा या प्रतिभा से परे विद्या-तत्त्व को स्वीकार किया गया है यथा—

"येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषामृषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते सत्तालक्षणं[७] महान्तमात्मानमविद्यायोनिं

---

६. "न ह्येकान्तेन वयं भगवतः शक्तिविशेषं प्रत्याचक्ष्महे माहात्म्यशरीरादिपरिग्रहात्"—युक्तिदीपिका, पृष्ठ ७२।

७. व्याकरण दर्शन में प्रतिभा को सत्ता, महानात्मा अविद्यायोनि, और प्रकृति के नाम से कहा जाता है इससे परे परा प्रकृति है जिसे शब्द ब्रह्म कहते हैं। यह चेतन तत्त्व है :—

"सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनु परैति। तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात्प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात्प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते।" वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १४ की वृत्ति।

पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसम्भवन्ति । केचित्तु विद्यायां विवर्तन्ते'' (ब्रह्मकाण्ड, (कारिका १३७) पूना संस्करण) ।

निरुक्त के चतुर्दश अध्यायगत 'अपश्यं गोपाम्....' इस मन्त्र की व्याख्या में यास्क कहते हैं :—

''आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरित्यथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः तत्परं तद्ब्रह्म तत्सत्यं तत् सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं... तन्निष्ठो भूतात्मा सैषा भूतप्रकृतिरित्येके तत् क्षेत्रम् ।''

यह अध्याय प्राचीन है प्रक्षिप्त नहीं । वृत्तिकार दुर्ग ने दैवत काण्ड के प्रारम्भ में इसे स्वीकार किया है :—

''प्रकृतिभूमभिः ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः'' । यास्क ''प्रक्रियन्ते अस्यां सर्वे विकारा इति प्रकृतिः स सत्तालक्षणो महानात्मा हिरण्यगर्भ इति । वक्ष्यति हि—स एव महानात्मा सत्तालक्षणः तत्परं तद् ब्रह्म.......।'' (दुर्गवृत्ति) ।

इसके अतिरिक्त माठराचार्य ने सांख्यकारिका श्लोक १७ की वृत्ति में षष्टि-तन्त्र से एक वचन उद्धृत किया है :—

''अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते ।' ततः पश्यामोऽसौ परमात्मा अस्ति पुरुषः येनाधिष्ठितं प्रधानं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतान्युत्पादयति । तस्मादस्ति पुरुष इति ।''

ऐसा प्रतीत होता है कि षष्टितन्त्र[८] आदि-विद्वान् कपिल की ही रचना है । इसमें पञ्चशिख ही प्रमाण हैं । यथा—'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ।'' (योगभाष्य १।२५)

---

८. युक्तिदीपिका के अनुसार सांख्यकारिका की बहत्तरवीं कारिका, उद्धरण मात्र है, मूल कारिकांश नहीं। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि सांख्यकारिका षष्टितन्त्र का संक्षेप है। यह रचना कपिल की ही हो सकती है। युक्तिदीपिका के मङ्गलाचरण में भी कहा है :—

''ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे । संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः ।
तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः । यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये ॥''

माठराचार्य ने भी कहा है :—

तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम् । तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पण-संक्रान्तमिव बिम्बम् ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि परमेश्वर के दो रूप हैं एक पर और दूसरा अपर। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' वाला ही पर रूप है जिसे ब्रह्म कहते हैं, और दूसरा अपर रूप है कार्य-करण-सम्पन्न माहात्म्य शरीर। एक तीसरा रूप भी है जिसे महानात्मा या ब्रह्मा कहते हैं। यह एक ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता ईश्वर है।

"महान् बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विखर इति पर्यायाः।" (युक्तिदीपिका, पृष्ठ ९१)।

महान् या महानात्मा ही ईश्वर है। यह सही है कि युक्तिदीपिकाकार ने भी सृष्टि के उपादान रूप में ईश्वर को नहीं माना है, किन्तु सांख्य को ईश्वर[६] सर्वथा मान्य न हो ऐसी बात नहीं है।

युक्तिदीपिका प्रकृति और महान् के बीच में एक अन्य तत्त्व को मानने वाले आचार्य की विप्रतिपत्ति की बात कहती है :—

"केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महान्।"—पृष्ठ ९१।

यह मत निरुक्त में विवृत हुआ है। यथा—

"भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिषं ज्योतिर्वायुं, वायुराकाशमाकाशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां प्रतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति॥"

यहाँ महानात्मा और प्रकृति के बीच में प्रतिभा नामक तत्त्व गृहीत हुआ है। किन्तु वाक्यपदीय की वृत्ति में प्रतिभा को ही महानात्मा कहा गया है और वहाँ महानात्मा या प्रतिभा से परे विद्या-तत्त्व को स्वीकार किया गया है यथा—

"येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषामृषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते सत्तालक्षणं[७] महान्तमात्मानमविद्यायोनिं

---

६. "न ह्येकान्तेन वयं भगवतः शक्तिविशेषं प्रत्याचक्ष्महे माहात्म्यशरीरादिपरिग्रहात्"—युक्तिदीपिका, पृष्ठ ७२।

७. व्याकरण दर्शन में प्रतिभा को सत्ता, महानात्मा अविद्यायोनि, और प्रकृति के नाम से कहा जाता है इससे परे परा प्रकृति है जिसे शब्द ब्रह्म कहते हैं। यह चेतन तत्त्व है :—

"सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनु परैति। तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात्प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात्प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते।" वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १४ की वृत्ति।

पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसम्भवन्ति । केचित्तु विद्यायां विवर्तन्ते'' (ब्रह्मकाण्ड, (कारिका १३७) पूना संस्करण) ।

निरुक्त के चतुर्दश अध्यायगत 'अपश्यं गोपाम्....' इस मन्त्र की व्याख्या में यास्क कहते हैं :—

''आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरित्यथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः तत्परं तद्ब्रह्म तत्सत्यं तत् सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं'' तन्निष्ठो भूतात्मा सैषा भूतप्रकृतिरित्येके तत् क्षेत्रम् ।''

यह अध्याय प्राचीन है प्रक्षिप्त नहीं । वृत्तिकार दुर्ग ने दैवत काण्ड के प्रारम्भ में इसे स्वीकार किया है :—

''प्रकृतिभूमभिः ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः'' । यास्क ''प्रक्रियन्ते अस्यां सर्वे विकारा इति प्रकृतिः स सत्तालक्षणो महानात्मा हिरण्यगर्भ इति । वक्ष्यति हि—स एष महानात्मा सत्तालक्षणः तत्परं तद् ब्रह्म.........।'' (दुर्गवृत्ति) ।

इसके अतिरिक्त माठराचार्य ने सांख्यकारिका श्लोक १७ की वृत्ति में षष्टि-तन्त्र से एक वचन उद्धृत किया है :—

''अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे —'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते ।' ततः पश्यामोऽसौ परमात्मा अस्ति पुरुषः येनाधिष्ठितं प्रधानं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतान्युत्पादयति । तस्मादस्ति पुरुष इति ।''

ऐसा प्रतीत होता है कि षष्टितन्त्र[८] आदि-विद्वान् कपिल की ही रचना है । इसमें पञ्चशिख ही प्रमाण हैं । यथा—'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ।'' (योगभाष्य १।२५)

---

८. युक्तिदीपिका के अनुसार सांख्यकारिका की बहत्तरवीं कारिका, उद्धरण मात्र है, मूल कारिकांश नहीं । इसमें स्पष्ट कहा गया है कि सांख्यकारिका षष्टितन्त्र का संक्षेप है । यह रचना कपिल की ही हो सकती है । युक्तिदीपिका के मङ्गलाचरण में भी कहा है :—

''ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे । संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः ।
तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः । यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये ॥''

माठराचार्य ने भी कहा है :—

तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम् । तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पण-संक्रान्तमिव बिम्बम् ।

'तन्त्रं' से षष्टितन्त्र को लिया जा सकता है। एक और प्रमाण है जिसे दुर्गाचार्य ने दैवतकाण्ड (निरुक्त) की वृत्ति में उद्धृत किया है : –

"सांख्यास्तु तमः शब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—"तम एव खल्विदमग्र आसीत्। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तत इति"।

परमर्षि कपिल को ही कहा जाता है। उन्हीं का यह वचन है। यह उक्त तन्त्र का ही हो सकता है।

माठरवृत्ति (कारिका ७१) में भी यह वचन मिलता है : —

"तम एव खल्विदमग्र आसीत्। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्तते प्रथमम्।"

समष्टि प्रकृति का अधिष्ठाता पुरुष परमेश्वर ही हो सकता है जीवात्मा पुरुष नहीं।

उपनिषदों, पुराणों एवं महाभारत में सांख्यशास्त्रीय ब्रह्म की स्वीकृति तो है ही :—

"पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्।।
—महाभारत, शान्ति पर्व, अ० २७५।३९।

साहित्यशास्त्रे रसानुमितिवादः

डॉ॰ ब्रजमोहन चतुर्वेदी

दिल्ली

Śaṅkuka's concept of *Rasānumiti* was fully established by Mahimabhaṭṭa. There is an inherent relation between word and meaning, and the meaning, which is in the form of *rasa*, is always inferable. To Mahimabhaṭṭa, the soul of poetry is *rasa*. Abhinavagupta agrees with him on this point but disagrees on its nature. To him, *rasa* is the experience of happiness, of *Ātman*, whereas Mahimabhaṭṭa takes it for delightful taste. *Rasa* is the experience of the very nature of the *Varṇya-vastu* of poetry. It is devoid of worldly sorrows. The theory of *rasānumiti* is in consistent with modern rhetoricians.

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
येषां नास्ति यशःकाये जरामरणजं भयम् ।।
वाङ्मयं कल्पवृक्षाभं विद्यास्तस्य फलं स्मृताः ।
काव्यं हि विद्यानिष्यन्दस्तस्यात्मा तु रसः स्वयम् ।।
रसामृतनदीमग्ने ध्वनिकारे महागुरौ ।
अनुमायास्तु महिमा काव्यगोष्ठीं न मुञ्चति ।।[1]

श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासार्थकाममोक्षप्रभृतीनां विद्यानां मूर्तिचित्रसंगीतनृत्यादीनां च कलानां सकलानां निर्गलितमेव काव्यमिति भूयो भूयो प्रतिपादितं कविभिः काव्यलक्षणविधायिभिश्च । तथा हि—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतमिति समुद्घोषितं कविपुङ्गवेन बिल्हणेन स्वकीये महाकाव्ये विक्रमाङ्कदेवचरिताख्ये । काव्यमीमांसाकृद् राजशेखरो लिखति—"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति चतस्रो विद्याः । पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः । सा हि चतसृणां विद्यानां निष्यन्दः" ।[2]

---

१. भट्टगोपाल कृत काव्यप्रकाश टीका पृ० ३, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली, त्रिवेन्द्रम् ।

२. काव्यमीमांसा, द्वि० अध्या०, पृ० ४, बड़ौदा, १९३४ ।

रसस्य पुनः काव्यात्मत्वं साहित्यसरणिव्यवस्थापकैराचार्यानन्दवर्द्धनैरेव प्रकारान्तरेण व्यधायि । तैर्हि खलु रसध्वनिः काव्यस्याङ्गिभूततत्त्वमिति प्रतिपादितम् । गुणालङ्कारयोर्भेदं विवृण्वन्तस्ते स्पष्टत उद्घोषयन्ति—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ।।[३]

यद्यपि रस एव काव्यपुरुषस्यात्मेति प्रथमं सर्वेषु निगदितं कविभावकोभयप्रतिभासमन्वितेनाचार्येण राजशेखरेण काव्यमीमांसायां तथापि रसं काव्यात्मपदे सुतरामभिषिच्य सुप्रतिष्ठापितमाचार्यपादैरभिनवगुप्तैरेव । अतएव महिमभट्टैरपि ध्वनिध्वंसात्मके स्वकीये ग्रन्थे व्यक्तिविवेके यदुक्तं—"काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः," तदेवाभ्यर्हितं पुनः पुनर्मम्मटविश्वनाथपण्डितराजप्रभृतिभिः स्वे स्वे ग्रन्थे ।

प्रकारान्तरेणापि तस्यैव तथ्यस्य परिपुष्टिर्भवति । तथा हि—काव्यजन्यानुभूतेस्तिस्रो विधाः स्वीकृताः । काव्यानुशीलनेन कदाचित् सहृदयहृदये वैचित्र्यमात्रमेवानुभूयते । विशेषतश्चालंकाराणां कार्यं वैचित्र्यसृष्टिरेव । अलंकारैः स्वभावोत्प्रेक्षायमकप्रभृतिभिः सचेतसां मनसि केवलं वैचित्र्यस्य सृष्टिः क्रियते । तेनैव सहृदयहृदयस्यावर्जनं भवतीति सुतरां प्रसिद्धम् । स एव प्रथमः काव्यानुभूतेः प्रकारः । द्वितीयस्तु प्रकारः वस्तुनाम्नोच्यते । वस्तु इत्यनेन ज्ञानमात्रमुपलक्षितं भवति । काव्यश्रवणेन नाट्यावलोकनेन वा यदा धर्मार्थकामविषये सहृदयसामाजिकानां कृत्याकृत्यविवेको भवति तदा वस्तुमात्रमित्यस्यावसरः काव्यविद्यायाः । अनया खलु विद्ययाऽस्माकं ज्ञानराशौ कापि वृद्धिः संभवति । तृतीयस्तु यः प्रकारस्तेन निरतिशयानन्दस्यानुभूतिः । लौकिकानामेव रत्यादीनां भावानामविद्यमानतायामपि तदुपादानभूतसामग्र्यां यदा काव्यवर्णनद्वारैव साक्षादनुभवः क्रियते तदा विलक्षणः कोऽपि आनन्दः समुद्भवति सहृदयहृदये । स एवानुभवः रसपदेन व्यवह्रियते । रस्यते आस्वाद्यते इति व्युत्पत्तित्वात् ।

काव्यजन्यानुभूतेरयं प्रकारः सर्वातिशायी सकलसहृदयसामाजिकमनोविनोदी वेद्यान्तरशून्यत्वात् सर्वविधानुभूतितिरस्कारीति प्रतिपाद्यते । अतः स एव प्रधानः प्रकारः काव्यानुभूतेः । उक्त हि हृदयदर्पणे—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि यः ।।[४]

---

३. ध्वन्यालोक, कारिका, २।६ ।
४. ध्वन्यालोकलोचनम्, चौखम्भा, पृ० ९३ ।

एवं हि काव्यरसं वाग्रूपा धेनुः दुग्धे स्वयमेव प्रस्नुतवती भवति किं वा यतः काव्यरसरूपं दुग्धं सहृदयबालानां काव्यरसलालसया तृष्णया वाग्रूपा धेनुः स्वयं दुग्धे प्रस्नुतवती, तेन तस्मादेव कारणात् अस्य रसस्य समः तुल्यकोटिकः सः अनुभवः नैवास्ति यः योगिभिः इन्द्रियसंयमादिप्रयासद्वारा सविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधौ दुह्यते अनुभूयते । सहजरूपेणोपलभ्यत्वात् काव्यजन्यरसानुभूतिः प्रयासजन्यसमुपलम्भमानीयां समाधिजन्यात्मानुभूतिं तिरस्करोतीति फलितार्थः खलु कारिकायाः भट्टनायककृतायाः ।

रसात्मिकायाः काव्यानुभूतेरस्याः स्वरूपं किमस्तीत्यस्मिन्विषये नैके विसम्वादाः सन्ति । ते खलु समुद्भवन्ति भरतीयरससूत्रव्याख्यया । तद्धि रससूत्रं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति । सूत्रेऽस्मिन् संयोगनिष्पत्तिपदयोरर्थविषये विसंवदन्ति व्याख्यातारः । तत्रापि संयोगपदस्यार्थो निष्पत्तिपदार्थमनुसरति । चत्वारोऽभूवन् प्रमुखव्याख्यातारो नाट्यशास्त्रस्य । ते सन्ति भट्टलोल्लटः, श्रीशङ्कुकः, भट्टनायकः अभिनवगुप्तश्च ।

मीमांसकधुरीणेन भट्टलोल्लटेन मीमांसादर्शनस्यापूर्वसिद्धान्तमनुसृत्य विभावानुभावव्यभिचारिणां कार्यकारणभावरूपात् सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरर्थात् अपूर्वात्मिककृतिर्भवतीति सूत्रार्थः कृतः । अनुमितिवादिना श्रीशङ्कुकेन पुनः ज्ञाप्यज्ञापकभावसम्बन्धाद्रसस्य ज्ञप्तिरर्थादनुमितिर्भवतीति पक्षः समुपस्थापितः । सांख्यशास्त्रविशारदेन भट्टनायकेन भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद्रसस्य भुक्तिर्भवतीति प्रतिपादितम् । परममाहेश्वरेणाभिनवगुप्तेन व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धाद्रसस्याभिव्यक्तिर्भवतीति व्यवस्थापितम् ।

उत्पत्तिपक्षे रामादावनुकार्य एवोत्पद्यते रसः । अनुकर्तारो नटादयस्तस्य प्रतीतेराश्रयाः । सहृदयसामाजिकाः पुनस्तस्यानुभूतेराश्रयाः भवन्ति । रत्यादिस्थायिभावा एवानुभवविषयतां गताः रसपदवीं प्राप्नुवन्ति । ते हि काव्यनाट्यादिषु निरूपितैर्विभावैः सहृदयहृदये समुत्पद्यन्ते, अनुभावैरुपचीयन्ते, व्यभिचारिभिश्च परिपुष्टाः सन्तोऽनुभवगोचरतां यान्ति । तत्रादौ शाब्दी भावना तत आर्थी भावना तदनन्तरं रसभावनेति क्रमः ।

अनुमितिपक्षे रसोऽनुमेयो भवति । तत्र अनुकर्तारो नटाः पक्षः, विभावादयो वर्णनरूपा अभिनयरूपा वा हेतवो रत्यादीनां स्थायिभावानामनुभवगोचरतैव साध्यतामुपयान्ति । रसात्मकोऽयमनुभवः सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यात्मकेभ्यो ज्ञानस्य चतुष्कोटिभ्यो विनिर्मुक्तः । अन्येभ्यश्च धूमादिना वह्न्याद्यनुमीयमानपदार्थेभ्योऽपि विलक्षणः । यतो हि वह्निप्रभृतिपदार्था अनुमिताः सन्तोऽनुभवगोचरतां न कदापि यान्ति । किन्तु रसात्मकोऽय रत्यादिपदार्थोऽनुमितः सन्ननुभवगोचरोऽपि भवति वासनात्मकस्वरूपत्वात् ।

भुक्तिपक्षे अभिधातो द्वितीयेन विभावादीनां साधारणीकरणात्मना व्यापारेण रत्यादिस्थायिभावस्यापि भावना संजायते। ततो सहृदयसामाजिकानामन्तःकरणे सत्त्वगुणस्योद्रेकः संजायते। तस्मात् प्रकाशानन्दात्मको बोधः कश्चनानुव्यवसायात्मको भवति। विश्रान्तिस्तस्य परिणतिः। सैव भुक्तिः। स एवानुभवो रसः। स च पुरुषस्य विशदीभूते मनो मुकुरे प्रतिफलितानां रत्यादिभावानां ममात्मकः प्रमात्मको बोधः।

रसाभिव्यक्तिवादस्तु सुतरामाध्यात्मिकः। साधारणीकृद्भिर्भावादिभिः सहृदय-सामाजिकानां मनसि साधारणीकृतानामेव रत्यादिस्थायिभावानां संवलितः स्वात्म-परामर्श एव रसः। आनन्दः खलु स्वात्मपरामर्शादेव जायते। स च स्वात्मपरामर्शो मनस एकाग्रतां विना न संभवति। चित्तस्यैकाग्रता पुनः स्वस्वभावप्रकाशनलक्षणे झटिति संजायते। स्वभावस्य प्रकाशनं तत्तल्लौकिकविषयाणामुपभोगक्षणे स्वत एव भवतीति सर्वेषामस्माकमनुभवः। तस्मिन्काले विषयोपभोगक्षणे चित्तैकाग्रे याते यः स्वात्मपरामर्शो भवति तेनापि आनन्दोऽनुभूयते। स एव विषयानन्द इत्युच्यते। काव्यानुशीलनकाले विषयाः साक्षादुपस्थिता न भवन्ति। अपि तु तेषां स्थायिरूपेण विद्यमानः संस्कारस्तिष्ठति। स एव काव्यानुरोधेनोद्बुध्यते। तस्मिन् क्षणेऽपि चित्तमेकाग्रं संजायते। तत्रैवैकाग्रे मनसि स्वात्मनो यत् प्रतिफलनं तस्य बोध एव काव्यानन्दः। स एव रसः। स च द्वितीयकोटिकः। निर्विकल्पके समाधौ तु विषयाणां न हि साक्षान्नापि संस्काररूपेणोपस्थितिः संभाव्यते। अतः तस्यामवस्थायां यः स्वात्म-परामर्शो भवति स परमानन्द इत्युच्यते।

काव्यजन्यानुभूतौ जायमानः स्वात्मपरामर्शो रत्यादिस्थायिभावसंस्कारसंवलितो भवति। पण्डितराजशब्दैः "रत्याद्यवच्छिन्न चिदेव रसः"। काव्यजन्येयं स्वात्मानुभूतिः सर्वाभिश्च कलाभिः शक्यते संपादयितुम्। अत एव कलानामपि जीवने महत्त्वमाध्या-त्मिकदृष्ट्यापि न्यूनं नास्ति। काव्यालापांश्च वर्जयेदित्यादि कथनं सर्वथा अभ्यर्ह-णीयम्। आध्यात्मिकानुभवः यथाकथंचित्सर्वेषामेव जनानां स्यादिति कलानामुद्भवो मानवानां श्रेयसे जातः।

एत एवोपर्युक्ताश्चत्वारो वादाः काव्यरसस्वरूपविषये प्रमुखाः। काव्यावलो-कनश्रवणकाले वर्ण्यवस्त्वनुसारं रत्यादिस्थायिभावानां सहृदयसामाजिकानां मानसपटले आविर्भावतिरोभावात्मकोऽनुभवः सर्वजनसाधारणः। स एव तत्तद्भावानामुत्पत्ति-ज्ञप्तिभुक्त्यभिव्यक्तिपदैः प्रकटितः। एष्वैकैकं पक्षमनुसृत्य विस्तृताः व्याख्याः विद्वद्भिः सम्पादिताः। एषु यथार्थः पक्षः क इति निर्णेतुं न शक्यते। सर्वेष्वपि पक्षेषु अस्ति काचिद् मौलिकोद्भावना यस्या निरसनं न शक्यते कर्तुम्। इह रसानुमितिपक्षम-धिकृत्य विस्तरेण किंचिदभिधीयते।

काव्यजन्यरसानुभूतिरनुमानस्यैव विषयः इति पक्षः श्रीशङ्कुकेन समुद्भावितः।

विक्रमस्य सप्तम्यां शताब्द्यां भारतस्य प्रायः सर्वेष्वपि भागेषु मीमांसादर्शनस्य प्राबल्यमभूत् । बौद्धविचारधारायाः विरोधार्थं सर्वेष्वेव क्षेत्रेषु मीमांसकाः कार्यमकुर्वन् । काव्यालापांश्च वर्जयेदित्यासीदुद्घोषो बौद्धानाम् । तत्प्रतिषेधार्थं मीमांसकधुरीणेन भट्टलोल्लटेन साहित्यविषयेऽपि लेखनी नियोजिता । भरतनाट्यशास्त्रस्य व्याख्या तेन सम्पादिता । मानवजीवनस्य कृते भोजनादिकं यथावश्यकं तथैव नृत्यसंगीतादय कलाः । अत एव धर्मादिशास्त्रवदेव नाट्यशास्त्रस्यापि व्याख्यानं मीमांसकैरभीष्टम् । मीमांसा-सिद्धान्तरीत्या रससूत्रस्य व्याख्या भट्टलोल्लटेन कृतेत्युक्तपूर्वमेव । तदनुसारं रसस्य कार्यत्वं सिध्यति । श्रीशङ्कुकदृष्ट्या रसस्य कार्यत्वं परीक्षाकृते न समीचीनमुपपद्यते । तथा हि—रसो हि यदि कार्यस्तदा "कारणमन्तरा कार्यत्वस्यासम्भवात्" नियतपूर्व-वृत्तित्वेन रसानुकृतान्वयव्यतिरेकेण वा विभावादय एव कारणत्वेन तस्य गृह्यन्ते । ते पुनः न शक्नुवन्ति भवितुं समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणं, कार्यरूपरसेन सह तेषामयुतसिद्ध्यभावात् । विभावादीनामभावे अनुभूतिपक्षमागतस्यापि रसस्यान्तर्धाना-न्नोपपद्यते तेषां निमित्तकारणत्वमपि रसस्य । यतो निमित्तापाये न भवति कार्यस्यो-त्पन्नस्याप्यपायः । रसस्तु विभावादिजीवितावधिरित्युक्तः । यावत्कालं विभावादय-स्तिष्ठन्ति तावत्कालपर्यन्तमेव काव्यरसानुभूतिर्जायते । यदैव विभावादयोऽपहृतास्तदैव रसानुभूतेरपि स्थगनं संजायते । एवं समवाय्यसमवायिनिमित्तेषु न कस्मिंश्चित्प्रकारे कारणस्यापतन्ति विभावादयः । तस्मान्नार्हति भवितुं रसः कार्यः ।

रसानुभूतेः कार्यत्वनिरसनेन ज्ञाप्यत्वं तत्र स्वतः समायाति । यतः कोऽप्यनुभवः कार्यो वा स्याज् ज्ञाप्यो वा । कार्यत्वं यदि युक्तिभिर्निरस्तं तर्हि ज्ञाप्यत्वमेवैकं शरणम् । अभूततद्भावत्वं हि कार्यत्वं, भूतस्यैव पुनरावरणनिरसनपूर्वकं बोधो ज्ञाप्यत्वम् । घटरूपकार्यस्य पूर्वतोऽविद्यमानस्य कुलालेन निर्मितिस्तत्र कार्यत्वमापादयति निर्मितस्यापि तस्य तमसाच्छन्नस्य प्रदीपेन प्रकाशनं ज्ञाप्यत्वं विदधाति । अतो रसो यदि न कार्यस्तदा ज्ञाप्यः स्यात् । विभावादयस्तदा तस्य ज्ञापका एव । एवं विभावादिभिः सह ज्ञाप्यज्ञापक-भावसम्बन्धरूपसंयोगाद्रसस्य निष्पत्तिरर्थाज्ज्ञप्तिर्भवतीति भरतसूत्रार्थः । ज्ञाप्यज्ञापकभाव एवानुमाप्यानुमापकभावः । ज्ञप्तिरेव रसस्यानुमितिः । पक्षेऽस्मिन् रसोऽनुमेयः विभावादयोऽनुमापकहेतवस्तस्य सिद्ध्यन्ति ।

रसानुमितिवादस्योद्भावकः श्रीशङ्कुक आसीत् । रससूत्रस्य व्याख्यां कुर्वता तेन विभावादीनां ज्ञापकत्वं रसस्य च ज्ञाप्यत्वं प्रतिपादितम् । तत्र रसानुमितेः पक्षो नटाः, साध्यं सहृदयकृद्रसानुभूतिः, हेतवः कविप्रकाशिता नटप्रकाशिता वा विभावादयः । अनुमाता सहृदयसामाजिकः । अन्यानुमीयमानतत्त्वेभ्यो वह्न्यादिभ्यो रसस्य पार्थक्यमेवं सिद्ध्यति यद्रसोऽनुमितिविषयः सन्नपि अनुभवपथमधिरोहति । नान्यत्तत्त्वं तथा । अत एवान्यानुमीयमानविलक्षणोऽयं ख्यातः ।

रसानुमितिवादस्य वस्तुतः प्रतिष्ठाताऽभूत् महिमभट्टः । ध्वनिध्वंसात्मको ह्यस्य

ग्रन्थो व्यक्तिविवेकः परमां ख्यातिमवाप। व्यक्तिविवेके व्यञ्जनायाः परीक्षाप्रसङ्गे काव्यानुभूतेः सर्वेषामेव प्रकाराणां विवेचनमनुमितिपरं व्यवस्थापनं चोपलभ्यते। महिमभट्टेन समेषामेव काव्यतत्त्वानां व्यवस्थापनं स्वकीये ग्रन्थे कृतम्। प्रसंगेऽस्मिन् रसनिष्पत्तिविषयकाः सर्वे पक्षाः सुतरां विवेचिताः। महिमभट्टस्य विवेचने काव्यविषयकाधुनातनविचाराणामपि समुपलब्धिर्भवति। रसविषये तु महिमभट्टस्य विवेचनं सर्वथा मौलिकं नूतनं युक्तिभिः समलंकृतं चास्ति। महिमभट्टस्याग्रहः ध्वनिसिद्धान्तखण्डने तथा बलवान्नास्ति यथानुमितिपक्षस्य प्रतिपादने। अत एव महिमभट्टेन स्वसिद्धान्तस्य प्रतिपादने काचनैतादृशी व्यवस्थाङ्गीकृता यथा शब्दार्थविषयको निखिलः क्रियाकलापोऽत्राङ्गीकृतः। अनुमितिरत्र न केवलं प्रमाणविशेषमनुहरति अपि तु निखिलेऽपि शाब्दव्यवहारे भूमिका ह्यस्या वरीवर्ति। अनुमितेरत्र वादरूपेण सिद्धान्तरूपेण च प्रतिष्ठा जाता। तमेवसिद्धान्तमक्षिलक्षीकृत्य रसानुमितिपक्षस्य विवेचनमत्र क्रियते।

(अ) शाब्दव्यवहारस्य साध्यसाधनगर्भता

अनुमितिवादे सर्वस्मिन् शाब्दव्यवहारे साध्यसाधनगर्भताङ्गीक्रियते। शब्दः साधनोऽर्थश्च साध्यो भवति। शब्दार्थयोर्मध्ये साध्यसाधनभाव एव सम्बन्धः कार्यं करोति। साध्यसाधनभावः खलु शब्दार्थयोरविनाभावसम्बन्धाश्रितः। येन शब्देन यस्यार्थस्याविनाभावसम्बन्धः सिद्धः स एव शब्दस्तस्यार्थस्य वाचको भवति। अर्थोऽपि द्विविधः प्रोक्तः वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारस्याभिधया यो विषयः स तु वाच्यः। अनुमेयस्तु सर्वथा अर्थान्तरं भवति। तस्यानुमानं वाच्याद्वा भवति वाच्यानुमिताद्वार्थात्। अर्थादनुमेयार्थस्य प्रत्यायकः शब्दः कश्चन न भवति अपितु अर्थ एवास्यानुमापकः स्यात्। तत्रापि पदस्य योऽर्थो भवति स वाच्यतां केवलमर्हति नानुमेयताम्। वाक्यार्थस्तु सदानुमेय एव भवति। अनुमेयस्त्वर्थस्त्रिविधः प्रकीर्तितः—वस्तुरूपोऽलंकाररूपो रसादिरूपश्चेति। वस्त्वलंकारौ कदाचिद्वाच्यावपि भवतः। रसादिरूपस्त्वर्थः सदाऽनुमेय एव भवतीति सिद्धान्तः। वाच्यरूपेणोपवर्णिता विभावादय एव तत्र लिङ्गत्वमुपयान्ति।

(इ) वाच्यानुमेययोः सम्बन्धः प्रतीतिक्रमश्च

ध्वनिसिद्धान्तानुसारं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धो भवति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्तु ध्वनिकृता घटप्रदीपन्यायेन व्यवस्थापितः। स च द्वयोर्यौगपद्यतां प्रत्याययति। उक्तं च ध्वनिकृता—"व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदाऽर्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। अन्यच्च नहि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति। वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्मात् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः।" विशेषतश्च रसादिध्वनौ व्यङ्ग्यव्यञ्जक-

भावः असंलक्ष्यक्रमेण व्यवस्थापितः । अस्यायमेवाभिप्रायो यद्यदा वाच्येन सहैव व्यङ्ग्यस्य प्रतीतिर्भवति स रसादिध्वनिः । यत्र च पृथक्तया प्रतीतिस्तत्र वस्त्वलंकारध्वनी भवतः । अनुमितिवादानुसारं वाच्यादेवानुमेयो रसः अतो वाच्यानुमेययोः प्रतीतिरेककालावच्छेदेन न भवितुमर्हति । यतो द्वयोर्मध्ये साध्यसाधनभावः कार्यं करोति । ध्वनिसिद्धान्तेऽपि यदि रसादिध्वनिप्रसङ्गे वाच्यव्यङ्ग्ययोः पार्थक्यं स्वीकृत्यैवालक्ष्यक्रमभावेन व्यवस्थापनं स्वीक्रियते तर्हि कृतं घटप्रदीपन्यायेन । पौर्वापर्यस्वीकारे लिङ्गलिङ्गिभाव एव श्लाघ्यो मन्तव्यश्च । अतो रसादिलक्षणोऽर्थः सदा अनुमेय एव भवति । वाच्यात्तस्य प्रतीतिस्तु क्रमशो भवति न कदापि सहभावेन । रसादिस्थले वाच्यानुमेययोर्युगपत्प्रतीतिः भ्रान्तिरेव । अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीतयोः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यंभावी ।

(उ) रसस्य काव्यात्मता

अनुमितिवादे काव्यतत्त्वेषु रसस्य स्थानं किमस्तीत्यस्मिन् विषयेऽपि विचारः स्पष्टतया कृतः । श्रीशङ्कुकद्वारा प्रस्तुतरससूत्रव्याख्यायां नास्ति कश्चन संकेतोऽपि येन काव्यात्मविषये तस्य स्थितिर्ज्ञायेत । किन्तु महिमभट्टेनास्मिन् विषयेऽपि सुतरां प्रकाशः कृतः । तदनुसारः काव्यस्यात्मा रस एव केवलं भवितुमर्हति नान्यत् तत्त्वम् । व्यक्तिविवेककारो न केवलमेतदेव कथयति यद्रसः काव्यस्यात्मा अपि तु एतादृशरचनायाः कृते काव्यसंज्ञा रसमेवाक्षिलक्ष्यीकृत्य दत्ता । रसवत्वमेव काव्यत्वमिति तेन सुतरां व्यवस्थापितमुक्तं च—

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।[५]

रसः काव्यस्य न केवलमात्मा अपितु संज्ञी अपि अस्ति । अनेन प्रकारान्तरेण तदेवोक्तं यद्विश्वनाथेन साहित्यदर्पणे प्रतिपादितम् । तद्धि रस एव काव्यस्य स्वरूपाधायकं तत्त्वमस्ति । विश्वनाथस्य प्रेरणास्रोतः महिमभट्ट एवात्रापि प्रतीयते । आनन्दवर्धनेन रसः काव्यस्याङ्गीत्युक्तः । महिमभट्टानुसारं रसः काव्यस्य संज्ञी भवति ।

न कस्यचिद्विमतिरित्यनेन रसस्य काव्यात्मत्वं सार्वभौमः सिद्धान्त इति प्रतिपादितं भवति । उक्तं च—अत एव न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत्काव्यं ...... तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात् ।[६] अनुमितिवादानुसारं यद्यपि वस्त्वलंकारावपि अनुमेयतां भजतस्तथापि रसस्तु सर्वथा अनुमेय एवेति न कदापि वाच्यतां यातीति, अयमेव काव्यस्यात्मा । रीतिध्वनिवक्रोक्तीनां काव्यात्मता न कथमपि

---

५. व्यक्तिविवेकः, सं० का० १।२५ ।

६. व्यक्तिविवेकः, पृ० २१, त्रिवेन्द्रम् ।

अभ्यर्हिता रसानुमितिसिद्धान्ते । अत एवानन्दवर्धनप्रतिपादितध्वनिसिद्धान्तानुरोधिनापि मम्मटेन रसस्यैव काव्यात्मता व्यवस्थापिता न ध्वनेः । शब्दस्यैव काव्यपदप्रवृत्तेः निमित्तत्वं प्रतिपादयता पण्डितराजेनापि रसस्यैव काव्यात्मता प्रशस्ता ।

अभिनवगुप्तमहिमभट्टौ यद्यपि सिद्धान्ततः परस्परविरोधिनौ तथापि रसस्य काव्यात्मताविषये एकमतौ स्तः । तयोरैकमत्यं रसस्वरूपविषये किञ्चिदपि नास्ति इति प्रतिपादयिष्यते ।

(ऋ) रसस्य सुखास्वादस्वरूपम्

अनुमितिवादे रसस्य स्वरूपं सर्वथा विलक्षणमेव प्रतिपादितमस्ति । भरतनाट्यशास्त्रे रसानुभूतिर्हर्षाद्यात्मिका विहिता । तत्र प्रयुक्तेनादिपदेन केचन व्याख्यातारः शोकादीनामपि ग्रहणं कुर्वन्ति । करुणवीभत्सभयानकादौ रसे हर्षस्यानुभवो न भवितुमर्हति । अतस्तत्र शोकक्षोभोपेक्षादीनामनुभवो भवतीति प्रतिपादयन्ति । आनन्दवर्धनेन रसः सामान्येन प्रह्लादनात्मकोऽनुभवोऽभिहितः । भट्टनायकेनैव सर्वप्रथमं रसो ब्रह्मानन्दसहोदरः प्रकाशानन्दसंविच्च कथितः । अभिनवगुप्तस्तु रसमानन्दात्मकमनुभवं विदधाति, आत्मनश्चैवानुभूतिं मनुते । ततो रसस्यानन्दात्मकतायाः प्रतिष्ठा सुतरां जाता । विश्वनाथजगन्नाथादयः सर्वेऽपि मतस्यैवास्यानुयायिकाः ।

महिमभट्टस्तु विषयेऽस्मिन् सर्वथा मौलिकः प्रतीयते यदा स कथयति रसः केवलं सुखास्वादः । क्वापि असौ रसानुभूतेर्ब्रह्मास्वादसहोदरतामानन्दरूपतां वा न समर्थयति ।

महिमभट्टो रसमात्मानुभवं न मनुते अपितु काव्यवर्ण्यवस्तुन एवानुभवं स्वीकरोति । काव्यविषयाणां सुखदुःखाद्यनेकरूपत्वेऽपि तेभ्यः सुखास्वाद एव यद्भवति तत्र कारणं वर्ण्यवस्तूनां स्वभावद्वैविध्यमेव । एतानि वस्तूनि यदा लोके साक्षादनुभूयन्ते तदा तेभ्यः सुखदुःखादयो विविधा भावा अनुभूयन्ते । परं यदा ते काव्ये वर्णिता भवन्ति तदा तेभ्यः केवलं सुखात्मक एवानुभवो भवति न कदापि दुःखात्मकः । वर्ण्यवस्तुनः स्वभाव एवायमतो न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम् ।

एवं रसानुभूतिः, अनुमितिवादानुसारं काव्यस्य वर्ण्यवस्तुनः स्वभावस्यैवानुभूतिर्नात्मतत्त्वस्य न वा ब्रह्मतत्त्वस्य । इत्थं रसानुमितिवादी आचार्यः सौन्दर्यानुभूतेः स्वरूपविषये ,सर्वथा वस्तुवादी एवास्ति । आधुनिककाव्यालोचने काव्यजन्यानुभूतेः स्वरूपं वर्ण्यवस्तुनः पृथङ् न स्वीक्रियते । काव्यवर्ण्यवस्तुस्वभावस्यानुभूतिरेव कापि काव्यानुभूतिर्भवितुमर्हति ।

लोके ये कारणकार्यसहकारिभावास्ते काव्ये न यथार्थतया घटयितुं शक्नुवन्ति। ते हि कृत्रिमा एव भवन्ति। कृत्रिमेभ्य एव तेभ्यः सहृदयसामाजिकानां मनःसु अनुभवात्मको यो बोधो जन्यते स एव रसः। अतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्तो रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्प्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भाविषु रत्यादिष्वसत्स्वेव प्रतीतिरूपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।

(लृ) रसस्योपायमात्रता

अनुमितिवादे रसो यद्यपि काव्यस्यात्मा तथापि न प्रयोजनं काव्यविद्यात्मकस्य वाङ्मयस्य। यतः काव्यस्यापि लक्ष्यं तदेवास्ति यदन्येषां शास्त्राणाम्। तद्धि कृत्याकृत्यविवेकः। उक्तं च—सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलम्। विवेकोऽयं शास्त्रान्तरैः कठिनः सम्पादयितुम्। नापि जनसामान्यस्य कृते सुलभः। काव्यस्यायं मार्गः सुकुमारबुद्धीनामपि जनानां शास्त्रविमुखानामपि सरसतापादनेन स एव कृत्याकृत्यविवेको सरलतया यथा संपादनीयः स्यात्तथोद्भावितः। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः। एवं च ये सुकुमारमतयः शास्त्रश्रवणादिविमुखाः सुखिनो राजपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राधिकृताः, ये चात्यन्तोऽपि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्रीनृत्यातोद्यादिप्रसक्ता उभयेऽपि ते अभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादनसुखं मुखे दत्त्वा तत्र कटुकौषधपानादाविव प्रवर्तयितव्याः।

रसस्तु तदवाप्तुं सरणिः। अतोऽयमुपायमात्रो नतूपेयः। अभिनवगुप्तपण्डितराजप्रभृतिभी रस एवाध्यात्मिकबोधतयोपेयात्मकफलम्। स एवानन्दात्मको रसो निखिलकाव्यविद्यायाः मौलिभूतं प्रयोजनमिति मम्मटभट्टैरपि प्रतिपादितम्।

अत्रापि अनुमितिवादिनः आधुनिकानां काव्यलोचनविधायिनां मतेन साम्यं भजन्ते। एतेऽपि पाश्चात्यपौरस्त्योभयविधाः काव्यरचनायाः प्रयोजनं कृत्याकृत्यविवेकस्योपदेश एवेति प्रतिपादयन्ति। महिमभट्टस्यैवाय प्रभावो यद्विश्वनाथेनोक्तम्—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते॥[7]

---

७. सा० द० १।१।

यथा हि कटुभेषजं मधुना सह गृहीतसुकरं भवति तथैव जटिलाः शास्त्रीय-सिद्धान्ताः काव्यरसेन सह जनसामान्यस्यापि बुद्धिविषया भवन्ति। अतो रसो न काव्यस्य लक्ष्यमपितु लक्षणमेव। काव्यस्येयं विधा सफला तदैव भविष्यति यदा जनानामधिकाधिकसंख्ययाऽत्र प्रवृत्तिः स्यात्। तदर्थमेव काव्येषु रसनिवेशः। रसा-स्वादलोभादत्र सुकरा प्रवृत्तिर्जनानाम्। अत एवोक्तं—"काव्यारम्भस्य साफल्य-मिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यमन्यथा प्रवृत्तिरेवैषां न स्यात् किमुत व्युत्पत्तिः।"[८]

(ए) रसानुभूतेरलौकिकता

अनुमितिसिद्धान्ते रसात्मको बोधो यद्यपि काव्येषु वर्णितानामेव विषयाणां बोधः प्रख्यापितस्तथापि सर्वथा अलौकिको भवतीति भूयो भूयो विवेचितम्। आपततः कथनेऽस्मिन् वदतोव्याघातः प्रतिभाति। यतः काव्येषु वर्णिता विषया लौकिका एव सर्वथा भवन्ति। लोकत एव वर्ण्यसामग्रीं गृहीत्वा काव्यानि लिख्यन्ते।

रसास्तु विशेषतो लोकवृत्तसमन्विता भवन्ति। विभावादयः सर्वथा लोकानु-रूपा भवेयुरिति भरतसिद्धान्तोऽपि वर्तते। महिमभट्टेनापि प्रश्नोऽयमुत्थापितः ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसंभवः? न हि लोके लिङ्गतः शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते, प्रत्युत साधूनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखं सममुपजायमानमवधार्यते न च लोकतः काव्यादौ कश्चिदतिशयो येनासौ तत्रैवोपगम्येत न लोके। त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः। त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः। तत्कोऽतिशयः काव्यादौ यत्तत्रैव रसास्वादो न लोक इति।

एवमेतादृशैर्विभावादिभिर्निष्पन्नो रसः कथमलौकिकः स्यादिति शंका सर्वथा स्वाभाविकी एव। किन्तु महिमभट्टेनोत्तरमस्याः प्रतिपादितम्—यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयसंवेद्यो रसास्वादोदय इति। एत एव हि लौकिका भावा लोके यदा साक्षादुपभुज्यन्ते लौकिकी एव तदा सुखदुःखादिकानुभूतिर्भवति। किन्तु यदा काव्ये कविवर्णनपथमनुयान्ति तदा तेभ्यः सुखास्वाद एव केवलं जायते। स पुनः लौकिकीमनुभूतिं सदा तिरस्करोति। अतो लौकिकः स न कदापि भवितुमर्हति। अत एवालौकिकोऽयं रसः।

अध्यात्मवादिनो रसस्यालौकिकतामन्यथैव प्रतिपादयन्ति। तेषामयमभिप्रायो

---

८. व्यक्तिविवेकः, पृ० २०, त्रिवेन्द्रम्।

यतो लोके केवलानां लौकिकवस्तुविषयाणां बोधो जायते स चेन्द्रियजः। काव्ये तु वर्णनं निमित्तमात्रं भवति। बोधस्तु तेन स्वात्मन एव जायते। स कथं बाह्यविषयाणामनुभवेन साकं समानतां भजितुमर्हति? अतोऽलौकिक एव सः।

अनुमितिवादिनस्तु वस्तुवादिनस्तेषामलौकिकत्वविधानं रसविषयकमाध्यात्मिकाद्लौकिकविधानात् सर्वथा भिन्न एवास्ति।

(ओ) रसात्मकबोधस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये

काव्यरसस्यानुमेयतायाः खण्डनमपि बहुभिराचार्यैः कृतम्। आनन्दवर्धनादारभ्य पण्डितराजजगन्नाथपर्यन्तं प्रायेण सर्वैरपि प्रमुखैराचार्यैः रसस्यानुमेयता विगर्हिता। वाग्देवतावताराख्यो मम्मटस्तत्र प्रमुखां भूमिकां निर्वहति। रसानुमितिपक्षे तेनानेके दोषा उद्भाविताः। मुख्यस्तत्राप्रामाण्यारोपः। तथा हि—अनुमाने सद्हेतुतैव सर्वदा सर्वथा चाभ्यर्थ्यते। काव्यवर्णने येऽपि हेतुत्वेनोपकल्पिता भवन्ति ते न सद्धेतुतां भजन्ते। अपितु तत्रावश्यं कोऽपि हेत्वाभासो भवत्येव। सद्धेतुतां विना कल्पितोऽपि हेतुसाध्यभावः केवलं प्रक्रियानुसरणम्। काव्ये पुनः व्याप्तिरसंभवनीया। व्याप्तिमन्तरा ज्ञप्तिः अनुमानाभास एव केवलं न तु प्रामाण्यबोधः। अनुमानं तु प्रमाणं तेन प्रामाण्यात्मक एव सर्वदा बोधो जायते। यथोक्तमपि—अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते तद्यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात्तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यावेक्षणीयत्वात्।

श्रीशङ्कुकेनास्मिन् विषये केवलं रसस्यान्यानुमीयमानविलक्षणता प्रतिपादिता। तथा हि—"अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणो रसः"।[९] महिमभट्टेन तु विस्तरेणास्य विवेचनं कृतम्। तेषां कथनमस्ति यत्काव्ये व्याप्तिग्राहप्रमाणस्यावश्यकतैव न भवति। तत्र हेतव एव तथा सशक्ताः प्रतिपाद्यन्ते यथा तैः साध्यस्य साक्षादेव बोधः संजायते। ये हि हेतवो लोकेषु प्रायेण प्रसिद्धाः त एव काव्ये प्रयुज्यन्ते। तेभ्यः साध्यस्यानुमानं व्याप्तिमन्तरैव सुतरां जायते। प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षा प्रतिक्षेपात्। तदुक्तम्—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः॥[१०]

---

९. का० प्र० चतुर्थोल्लासः।

१०. व्यक्तिविवेकः, पृ० १२, त्रिवेन्द्रम्।

काव्येन हि प्रामाण्याप्रामाण्यज्ञानं नापेक्षितं भवति। काव्यं तूपदेशस्तत्र रामादिवद्वर्तितव्यं न रावण दिवदिति कृत्याकृत्यविवेकः काव्यवर्णनैः स्वत एव जायते। तदर्थं तत्प्रत्यायकानां विषयवस्तूनां परीक्षाया अवसर एव नास्ति। अतस्तेषु हेत्वाभासोद्भावनं तुषोपघात एव केवलम्। अथ च भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा। सम्बन्धसामान्यात् जायमाना भ्रान्तिरपि प्रमात्मकबोधरूपैव भवति। अत्र धर्मकीर्तिविरचिता कारिकाऽपि समुद्धृता—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽप्यविशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥[११]

यथा कश्चन मणेः प्रभामवलोक्य तं प्रति प्रवर्तते। अन्यः कश्चिद् दीपप्रभामेव मणिप्रभामवधार्य तत्राभिसर्पति। मणिलाभस्तु केवलमेकस्यैव भवति किन्तु प्रवृत्तिर्द्वयोरेकप्रकारिकैव यथा स्यात्तथैव काव्येऽपि यद्यपि भावा रत्यादयो न भवन्ति वस्तुतः परं तद् बुद्धया तदात्मिकैव जायते सामाजिकानामनुभूतिः।

प्रतीतिसारत्वात्काव्यस्यानुमेयगतं वास्तवावास्तवत्वमप्रयोजकं भवति। उभयथा चमत्कारप्रतीतिलक्षणार्थक्रियासिद्धेः। प्रत्युतावास्तवत्वे यथा सिद्ध्यति तथा वास्तवत्वे, इति काव्यानुमितेरेवानुमानान्तरविलक्षणता। तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यविचारो निरुपयोग एव। ध्वनिसिद्धान्तानुसारमपि काव्यविषये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यविचारो न क्रियते प्रमाणान्तरपरीक्षा तु तस्योपहासायैव सम्पद्यते।

(ऐ) काव्यानुमितेर्महाविषयता

आनन्दवर्धनेन अलंकाराद्यपेक्षया ध्वनेर्महाविषयत्वं पदे पदे प्रत्यपादि। ध्वनिप्रस्थापनप्रसङ्गे पूर्वाचार्यप्रतिपादितेषु काव्यतत्त्वेषु ध्वनेरन्तर्भावप्रश्नस्य विवेचनं कुर्वता तेन निखिलेभ्योऽपि गुणालंकाररीति-वृत्ति-प्रवृत्तिप्रभृतिकाव्यतत्त्वेभ्यो ध्वनेर्महाविषयतया ध्वनावेव तेषामन्तर्भावो व्यवस्थापितः। तामेव सरणिमनुकुर्वता महिमभट्टेनापि अनुमानस्यैव महाविषयत्वं समुपपादितम्। वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्लिङ्गलिङ्गिभावेन व्यवस्थापनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावः सुतरां संसाधितो भवति। तदपेक्षया तस्य महाविषयत्वात्। तथाहि—वाच्यप्रतीयमानार्थयोः सर्वत्र लिङ्गलिङ्गिभावावसायित्वाद् ध्वनिस्थलेषु सर्वत्रानुमानं संभाव्यत एव। ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादावलंकारेऽपि साध्यसाधनभावस्य गर्भरूपेणावस्थितत्या अनुमानस्य सद्भावात् स्वत एव तस्य महाविषयत्वं सिद्ध्यति। अपि च महिमभट्ट-

११. व्यक्तिविवेकः, पृ० १४, त्रिवेन्द्रम्।

मतानुसारं लक्षणाया अपि अनुमानेऽन्तर्भावात् तत्रापि अनुमानस्य सद्भावः साधितो भवति । अथ च गुणालंकारविरहितेष्वपि स्थलेषु शास्त्रपुराणादिषु अनुमानस्य सद्भावात् महाविषयत्वं तस्य न केवलं ध्वन्यपेक्षया अपितु सर्वेषामेव विषयाणामपेक्षया वर्तते । तथा चोक्तम्—महाविषयत्वं चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात् ।

भारतीयसाहित्यशास्त्रे रसानुमितिवादस्यायमेव संक्षेपः । यच्चोक्तं व्यञ्जनानुमानयोर्भेदं प्रतिपादयद्भिः—बुद्धिसापेक्षमनुमानं हृदयसापेक्षा व्यञ्जनेति तदप्यसमीचीनम् । विषयानुसारमनुमानस्यैवोभयसापेक्षता सिद्ध्यति । वह्न्यादिपदार्थानामीश्वरस्य च तत्त्वस्यानुमानं भवतु नाम बुद्धिसापेक्षम् । परन्तु रत्यादीनां मानवीयकोमलभावानां यत्रानुमानं तत्र तु हृदयस्यापि सापेक्षता रसनीयतया वस्तुसौन्दर्यबलाच्च केन शक्यते वारयितुमित्यलम् । अतएव यदुक्तं भट्टगोपालेन काव्यप्रकाशटीकायां तदेव सुधीभिर्विभावनीयम्—

रसामृतनदीमग्ने ध्वनिकारे महागुरौ ।
अनुमायास्तु महिमा काव्यगोष्ठीं न मुञ्चति ॥

विध्यर्थविचारः

डॉ० गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरः

इलाहाबाद

Vidhi has been the main topic of discussion for the *Vaiyākaraṇas, Naiyāyikas* and *Mīmāṃsakas.* The *brāhmaṇa* portion of the *Veda* consists of *vidhi* and *arthavāda. Vidhi* is the incitor of the inclination in *karaṇa.* Certain specific action of stimulator inciting *pravṛtti* is called the *pravartanā* or *bhāvanā.* It is the meaning of the Verb (*ākhyāta*). The sentences like *svargakāmo yajeta* (one having desire for heaven, ought to perform sacrifice) etc., impregnated with *pravartanā* (initiative), are called *Vidhi.* By the evidence of the knowledge of the meaning of the sentence, we know that *liṅga* is used where *bhāvanā* is intended.

पद-वाक्य-प्रमाणशास्त्रविद्भिः सूरिभिस्तत्तच्छास्त्रेषु सप्रपञ्चं विध्यर्थविषये पराक्रान्तमिति न तिरोहितं विदुषाम्। मीमांसासूत्रकारेण मन्त्रातिरिक्तो वेदभागो ब्राह्मणमिति प्रतिपादितम्। तत्र द्विविधं हि ब्राह्मणं विधिरर्थवादश्चेति। तत्रार्थवादस्य विध्यङ्गत्वेन विधिवाक्यैकवाक्यतापन्नतयैवार्थावबोधकत्वाद्विधायकं वेदवाक्यं ब्राह्मणमिति तात्पर्यतः सिध्यति। बौद्धाद्यागमानां तु सादित्वेनालौकिकार्थबोधकत्वाभावेन वेदत्वाऽभावादेव न तत्र मन्त्रब्राह्मणलक्षणयोरतिव्याप्तिः।

तत्र कोऽयं विधिः? यस्यालौकिकार्थबोधने सामर्थ्यम् इति जिज्ञासायां लिङर्थो हि विधिरित्युच्यते, "विधिनिमन्त्रण०" इति शब्दानुशासनात्। यदर्थे यस्य शब्दस्यानुशासनं स तदर्थ इति सर्वसम्मतम्। एवमपि विधिशब्दार्थे विवदमाना बहवो दृश्यन्ते।

केचन इष्टसाधनताज्ञानमेव विध्यर्थ इत्याचक्षते। अन्ये तु कृतिसाध्यताविशिष्टबलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टं तदित्यभिमन्यन्ते। अपरे तु आत्माभिप्राय एव विध्यर्थ इत्यभिप्रयन्ति। एके तु प्रेरणमेव विधिः स च पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलः कश्चन प्रेरकगतो व्यापार इति सिद्धान्तयन्ति।

तत्र विध्यर्थे व्याकरणमतम्

"विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्" इति किल भगवतः पाणिनेरनुशासनम्। तत्र विधिः प्रेरणं भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। निमन्त्रणं नियोगकरणम्, आवश्यके प्रेरणेत्यर्थः। आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा। अधीष्टः—सत्कारपूर्वको व्यापारः। अत्र च सर्वत्रानुगतं प्रवर्तनारूपमतस्तस्यैव वाच्यता युक्ता। उक्तं च—

अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।
तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया॥
न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमतोऽपि वा।
विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम्॥

तदिदं प्रवर्तनात्वं प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्। तच्च इष्टसाधनत्वस्यास्तीति तदेव विध्यर्थः। यद्यप्येतत्कृतिसाध्यत्वस्याप्यस्ति, तज्ज्ञानस्यापि प्रवर्तकत्वात्। तथापि यागादौ सर्वत्र तल्लोकत एव गम्यत इति अन्यलभ्यत्वान्न तच्छक्यम्। बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं च न हेतुः, द्वेषाभावेनान्यथासिद्धत्वात्। आस्तिककामुकस्य नरकसाधनताज्ञानदशायामपि उत्कटेच्छया द्वेषाभावदशायां प्रवृत्तेर्व्यभिचारात्। तस्मादिष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तना। उक्तं च विधिविवेके मण्डनमिश्रपादैः—

पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्॥ इति।

अत्रायं विचारणीयोंऽशः—प्रवर्तनात्वं नाम प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयतावच्छेदकमेव भवितुमर्हति न वेति। प्रवर्तना हि प्रेरणा, प्रवृत्तिप्रयोजकः कश्चन प्रेरकस्य व्यापारविशेष इत्येवाभ्युपगन्तव्यम्। अचेतने यन्त्रादौ तथैव प्रेरकशब्दप्रयोगात्। तथाऽत्रापि प्रेरकस्य कश्चन स्वगतो व्यापार एव प्रवर्तनेति वक्तुमुचितम्। नाऽसौ व्यापारः सर्वत्रेष्टसाधनत्वबोधनमेव। राजाज्ञादिषु कारागृहे तथाऽभावात्। न हि तत्रेष्टसाधनत्वबोधद्वारैव बन्धादीनां प्रवृत्तिः, अपितु बलादेव।

ननु तत्र दण्डादीनां भयेन बलवदनिष्टसंभावनापरिहारार्थमेव प्रवृत्तिरिति चेदत्रापि तथाऽस्तु। धर्मानुष्ठानाभावे बलवदनिष्टसंभावनेति तत्परिहारार्थमेव धर्मे प्रवृत्तिरस्तु। अत एव नित्यादिकर्मसु फलाऽभावेऽपि प्रवर्तकत्वं विधेः। "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इत्यधिकरणे काम्यानामपि—फलेच्छाराहित्येनाऽनुष्ठीयमानानां चित्तशुद्धिद्वारा विविदिषायां विनियोगोऽप्यत एवोपपद्यते।

किञ्च न बलवदनिष्टसंभावनैव अकरणे प्रवृत्तिप्रयोजकम्। यन्त्रादौ अचेतने तस्याप्यसंभवात्। अतः प्रवृत्तिप्रयोजकः कश्चन प्रेरकस्य विशिष्टो व्यापार एव प्रवर्तना प्रेरणापरनामाऽभ्युपगन्तव्यः। स चाचेतने प्रेरके कर्म। चेतने तु सामर्थ्यमूलकस्तादृशोऽन्तःकरणनिष्ठो व्यापारः। सोऽपि क्वचिदिष्टसाधनत्वज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगरूपः।

यदि सर्वत्रेष्टसाधनत्वज्ञानमेव प्रवर्तना, तर्हि कान्तासम्मितादिषु अनिष्टसाधनत्वज्ञानेऽपि कान्ताभिमतकार्ये प्रवृत्तिः किंमूलिका स्यात्? अतो राजशासनमिव तत्राप्यकरणे प्रेरकसामर्थ्यमूलकानिष्टसंभावना वर्तत इति, तत्परिहारार्थमेव प्रवृत्तिः। यत्र तु स्वयं प्रवृत्तिः, न प्रेरणावशात् तत्र स्यान्नाम प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयतावच्छेदकमिष्टसाधनत्वम्। यत्र न तादृशी प्रवृत्तिस्तत्र तु प्रेरकशक्तिभयमेव तदवच्छेदकम्। अत एवोक्तं मनुना—

"सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते" ॥ इति।

वेदोऽपि न मित्रसम्मितमिव कान्तासम्मितमिव वा कर्माण्यनुशास्ति। किन्तु राजसम्मितमिव क्षेमाय कर्माणि विधत्ते। तत्र राज्ञः प्रवृत्तिप्रयोजकव्यापार इव वेदस्यापि कश्चन तादृशव्यापारोऽवश्यमभ्युपेयः। स च वेदे पुरुषाभावाच्छब्दनिष्ठ एव। सैव भावना, प्रवर्तना, प्रेरणेति। स च व्यापारः कृत्या सर्वत्रानुभूयते। गच्छति—गमनं करोति, चलति—चलनं करोति, स्पन्दते—स्पन्दनं करोति। अर्थात् येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नम्। यथा पुष्पेभ्यः सूत्रमिति भामत्युक्तयुक्त्या चलनगमनादिषु व्यावर्तमानेषु अनुवर्तमानं करणं तदपेक्षया भिन्नं भावनापदव्यपदेश्यं सिद्धं भवति। स एव चाख्यातार्थः। लिङि आख्यातत्वमिव लिङ्त्वस्यापि सत्त्वात्ततोऽपि कश्चनार्थो विधिरूपोऽधिक उन्नेयो भवति। स च तादृशभावनोत्पादानुकूलः कश्चन शब्दनिष्ठो व्यापारविशेष एवाभ्युन्नेयः। पुरुषगतव्यापारवदपौरुषेये वेदेऽभ्युन्नेतुमसंभवात्। तदुक्तम्—

"अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सा चाऽऽख्यातस्य गोचरः॥

लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना
भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः।
सम्बन्धबोधः करणं तदीयम्
प्ररोचना चाङ्गतया प्रयुज्यते॥ इति।

भूषणसारकारा एतदसहमानास्तु आर्थीभावनायां यथा वा स्वयं प्रवृत्तौ वा इष्टसाधनत्वज्ञानमेव प्रवृत्तिप्रयोजकं मन्यन्ते नान्यत् किमपि । तथैव वैदिकलिङादिष्वपि तदेव प्रवृत्तिप्रयोजकमभ्युपेयम् एकरूपेणानुगमसंभवात् । अभिधा तु लिङादिनिरूपिता शक्तिरेव, न तु तदतिरिक्तः कश्चन शब्दसमवेतो व्यापारः, मानाभावात् । विधेः प्रवर्तकत्वस्य पूर्वमुपपादनात् तदनुपपत्तेरप्यभावात् । अन्यथा शब्दातिरिक्तः शब्दसमवेत एको व्यापारः कल्पनीयः । तस्य च स्वप्रवृत्तौ परप्रवृत्तौ वा कारणत्वेन अक्लृप्तस्य तत्त्वेन कारणत्वम् । प्रवर्तनात्वेन परनिष्ठव्यापारबोधकत्वेन क्लृप्तस्य शब्दस्य स्वनिष्ठव्यापारबोधकत्वं सविषयकत्वं च कल्पनीयमिति गौरवस्य स्फुटत्वाच्च । प्रेरणाया विध्यर्थत्वेऽपि सामान्यस्य विशेषे पर्यवसानात् कोऽसौ व्यापार इति विशेषगवेषणायां समीहितसाधनत्वमेव स इति वक्तुमुचितम् । लिङस्तदर्थकत्वं विना प्रवर्तकत्वस्यैवासंभवात् । प्रेरणाविषयः पाक इति बोधस्येष्टसाधनत्वाद्यविषयकस्य प्रवर्तकत्वं लोकविरुद्धमेव । ज्ञानकरणस्य स्वनिष्ठव्यापारद्वारैव फलजनकत्वमिति नियमस्तु नास्त्येव, व्याप्तिज्ञानादौ व्यभिचारात् । तस्मात् लिङादिजन्यबोधविषयाभिधाया इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षायाः प्रवर्तकत्वं निर्युक्तिकमेव । शब्दरूपप्रेरणायादिनाऽपि तद्विषये इष्टसाधनत्वानुमितिद्वारैवोक्तयुक्त्या प्रवर्तकत्वं वाच्यम् । तच्च वैदिकविधिस्थले न संभवति । तस्यैव महाभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति श्रुत्युपष्टम्भेन निःश्वसितवद् वेदे तैरजन्यत्वाङ्गीकारेण यथार्थज्ञानवदुच्चरितत्वरूपाप्तोक्तरूपविशेषणवैकल्येनोक्तानुमानाप्रवृत्तेः । एवं सविषयत्वमप्यात्मविशेषगुणव्यतिरेकिण्यास्तस्याः सर्वतन्त्रविरुद्धम् । न च प्रेरणैव प्रवृत्तिहेतुः । स्वतन्त्रप्रवृत्तौ व्यभिचारात् । सर्वे इमे स्वभूत्यर्थं प्रवर्तन्ते इति समीहितसाधनताज्ञानप्रवर्तकताप्रतिपादकहेतुमतिचेति सूत्रभाष्यविरोधाच्च । कः प्रयोज्यस्य प्रेरणयाऽर्थो यदभिप्रायेषु सज्जत इति तत्सूत्रस्थभाष्येण णिजर्थप्रेरणाया अपि स्वातन्त्र्येणाप्रवर्तकत्वबोधनाच्चेति वैदिकविधेः प्रेरणार्थकत्वासंभवेन प्रवर्तकत्वानुपपत्त्येष्टसाधनत्वार्थकत्वमेवाङ्गीकरणीयम् । एवञ्च लौकिकविधेरपि तच्छक्त्यैव प्रवर्तकत्वोपपत्तौ तदर्थोऽपि साभिप्राय एव । तत्र विध्यर्थ इति कल्पस्तु वक्ष्यमाणाचार्यमतनिरासेनैव निरस्तो भवेत् । विधिः प्रेरणमिति भाष्यन्तु प्रेर्यते प्रवर्त्यतेऽनयेति व्युत्पत्त्या प्रवर्तकज्ञानविषयेष्टसाधनत्वपरम् । ज्ञानस्य तद्विषयकत्वेनैव प्रवर्तकत्वात् । यदपि तदुपष्टम्भकतया पृच्छतु मां भवानिति भाष्योपन्यसनं, तदपि न प्रतिकूलम्, यतस्तेन प्रवर्तकज्ञानजनकत्वेन प्रवर्तनापदव्यपदेश्याया लोडाद्यन्तशब्दप्रयोगरूपायाः प्रेरणाया णिजर्थत्वं प्रतिपाद्यते, न तु विध्यर्थत्वमपि । अर्थभेदस्य दर्शितत्वात् । अकर्तृत्वादित्यनेनाऽपि गमयतीत्यादेर्गच्छन्तं प्रेरयतीतिवत् पृच्छतीत्यस्य पृच्छन्तं प्रेरयतीति विग्रहस्याऽदर्शनेन कर्त्रसम्बद्धधात्वर्थविषयकप्रवृत्तिजनकज्ञानानुकूलायास्तस्या णिजर्थत्वाभावप्रतिपादनात् तद्विरोधाभावात् । अथापीत्याद्युक्तिस्तु एकदेशिनः । विध्यर्थप्रत्ययप्रकृत्यर्थस्य स्वाभाव्येन भविष्यत्तयैव प्रतीतेः । तदानीं प्रयोज्यस्य निर्व्यापारत्वेन कर्तृत्वासंभवादेव लोटा प्रेषणस्य धात्वर्थ-

विशेषणतयैवभानात् तद्विशेष्यतया प्रेरणाविवक्षायां णिचो दुर्वारत्वं तु लोडन्ताद्धात्वर्थविशेष्यतया प्रेरणायाः प्रतीतेः पूर्वपक्षस्यैव निर्बलत्वापत्तेः। इदं ते इष्टसाधनं इत्याद्युक्तिस्तु सर्वथेष्टसाधनत्वबोधनपरैव। इष्टसाधनत्वस्य प्रवर्तनात्वेन विधिवाच्यत्वमिति पक्षे पौनरुक्त्यसंभवान्नैयायिकमते कृत्यात्मकव्यापारस्य पच्याद्यर्थत्वाभावेन तन्मते इष्टसाधनत्वेनेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे पौनरुक्त्यापादनानवकाशाच्च। वस्तुतस्तु भाष्ये बहुषु स्थलेषु प्रेरणाया विध्यर्थकत्वकथनात् प्रामाण्याल्लिङाद्यन्तशब्दप्रयोगरूपाया एव तस्या विध्यर्थत्वमुचितम्। श्रुतेस्तु "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" इत्यादिश्रुतिबलात् पौरुषेयत्वमभ्युपेत्यैकरूपेणैव लोकवेदयोस्तद्विषये इष्टसाधनत्वानुमानेन विधेः प्रवर्तकत्वं निर्वाह्यमिति सर्वं चतुरस्रम्।

अत्र हि प्रथमतो भूषणसारानुसारेण प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं प्रवर्तनात्वं तच्चेष्टसाधनत्वमितिसिद्धान्तसमर्थनार्थं दर्पणे मीमांसामतं पूर्वपक्षीकृत्य उपर्युक्तं सर्वं समर्थितम्। तथापि हेतुमतिचेतिसूत्रस्थमहाभाष्यसमर्थनमन्यत्र च भाष्योक्तिसमर्थनं नेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वाङ्गीकारेण भवतीत्यन्ततो गत्वा वस्तुतस्तु इति ग्रन्थेन मीमांसामतमेव भाष्यकारमतमिति स्पष्टमेव प्रतिपाद्यते। केवल वेदे पुरुषप्रवेशाभावात् याऽनुपपत्तिः, सा च पौरुषेयत्वमभ्युपेत्य परिहृता। अत्र पौरुषेयत्वाभावेऽपि प्रेरणायाः सविषयकत्वं शब्दव्यापारस्वरूपत्वं च यथा संभवति तथा दर्पणदिशैवात्र प्रतिपादयामः।

विध्यर्थे मीमांसामतम्

परे तु लिङादिश्रवणेऽयं मां प्रेरयतीति नियमेन प्रतीतेः अभिधानामकः प्रेरणापरपर्यायो व्यापारो लिङादिवाच्यः। सा च लिङ्गसंख्यानन्वयित्वाद्व्यापारपदेन प्रवर्तकनिष्ठत्वात् प्रवर्तनापदेन च व्यवह्रियते प्रेरणात्वेन तस्याः सविषयकत्वमपि। शक्यतावच्छेदकं च प्रेर्यादिधात्वर्थतावच्छेदकतया सिद्धं प्रेरणात्वमखण्डोपाधिः। स च व्यापारः संभवात् लोकेप्रवर्तकपुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेष एव। तत्प्रवर्तकत्वं तु लिङाद्युच्चारयितृत्वम्। वेदे तु प्रयोक्तुरसंभवात् लिङाद्यन्तशब्दस्वरूप एव। तत्प्रवर्तकत्व तु तत्त्वे सति स्वतंत्रत्वम्। राजादिप्रेरितपदातेलिङाद्युच्चारयितृत्वेऽपि प्रवर्तकत्वेनाऽव्यवह्रियमाणत्वात् स्वतन्त्रेति। अद्विष्टतयाऽऽप्तोक्तया च तया स्वविषये इष्टसाधनत्वानुमानम्। ततश्च प्रयोज्यप्रवृत्तिः। शत्रूक्ताद्विषं भुङ्क्ष्वेत्यतो विषभोजने इष्टसाधनताऽनवगतेराप्तोक्तयेति। आप्तोक्तयाऽपि विषं भुङ्क्ष्व मा चास्यगृहे भुङ्था इत्यादिकयाऽपि तस्मिन्निष्टसाधनत्वानुमानात् अद्विष्टयेति। तत्र विषभोजनविषयकाभिप्रायस्य तदीयद्वेषविशिष्टत्वात् न व्यभिचारः। भवतु वा लिङादिसभिव्याहारे व्यापारान्तरस्य अननुभवात् सर्वत्र लिङाद्यन्तशब्दस्वरूपैव सा। अत एव हेतुमति चेति सूत्रे भाष्ये लिङादिशब्दप्रयोजककर्तृव्यापारस्य सत्त्वादित्याशयेन 'पृच्छतु मां भवान्' इत्यत्र 'णिच्' कस्मान्न भवतीति प्रश्ने

अकर्तृत्वादित्युक्तम् । सक्रियप्रेरणायां 'णिच्', निष्क्रियप्रेरणायां लोडादि । तत्प्रयोजक इत्यत्र तत्पदेन व्यापाराविष्टः कर्ता उच्यते इति तद्भावः । अथापि कथंचित् कर्ता स्यादेवमपि न दोषः । लोटोक्तत्वात् प्रेषणस्य 'णिच्' न भविष्यतीत्युक्तम् । तत आदृत्यैव प्रेरणाया विध्यत्वं लभ्यते । विधिनिमन्त्रणेति सूत्रभाष्येऽपि विधिः प्रेरणम्, इत्युक्तेश्च । तस्मान्नेष्टसाधनत्वादि विध्यर्थः । किंचेदं ते इष्टसाधनं तस्मात्त्वं कुरु इति स्वारसिकव्यवहारादपि न तस्य विध्यर्थत्वम् । पौनरुक्त्यापत्तेः । पौनरुक्त्यस्य सर्वथेष्टसाधनत्वबोधनतात्पर्यकत्वेऽपि तस्मादित्यस्याऽनन्वयापत्तेश्चेत्याहुः" इति ।

इदं च सर्वं भाट्टमतमेव । एवं च भाट्टमतवैयाकरणमतयोरेकरूपत्वाच्छब्दानुशासनस्य सम्यक्तया परिग्रहाच्चेदमेव युक्तम् । नेष्टसाधनत्वमाप्ताभिप्रायो वा विध्यर्थ इति मतान्तरम् । शब्दार्थनिर्णये शब्दानुशासनशास्त्रस्य विशेषतः प्रामाण्यात् । इदमेव भाट्टमतं सुचरितमिश्रैरपि प्रतिपादितम् । तदुक्तं शास्त्रदीपिकाटीकायां सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्—एवं हि वार्तिककृता भावार्थाधिकरणे उक्तम्—"लिङादिशब्दानां पुरुषं प्रति प्रयोजकव्यापारोऽभिधात्मिका भावना विधिः" इत्यादिना वार्तिकानुसारेण विधिस्वरूपं निरूपितं, तदेवास्माभिः संक्षिप्यते । द्वे किल भावने मीमांसकाः संगिरन्ते; शब्दात्मिका अर्थात्मिका चेति । तत्र अर्थात्मिका स्वर्गादिफलकर्मिका यागादिधात्वर्थकरणिका स्ववाक्यप्रकरणान्यप्रकरणानारभ्यवादस्मृतिलोकाचारप्राप्ततत्तदितिकर्तव्यतावती तत्र तत्र सिध्यतीति । शब्दात्मिका तु लिङादिशब्दानां प्रयोजकानां प्रयोज्यपुरुषकर्मिकाऽभिधासम्बन्धज्ञानकरणिका अर्थवादोदितप्राशस्त्येतिकर्तव्यतावतीति विवेकः । शब्दव्यापाररूपाऽपि अभिधाशब्दात्मिका व्यापारतद्वतोरनतिरेकात् । द्रव्यमेव हि पूर्वावस्थातः प्रच्युतं परावस्थामप्राप्तं पूर्वापरीभूतं व्यापारशब्दवाच्यम् । भावना हि लिङादिभिरभिधीयमाना न स्वरूपमात्रेण वर्तमानापदेशवदभिधीयते, किं तर्हि ? कुर्यादिति प्रवृत्तिविषयतया । अतो लिङादीनामभिधा पुरुषकर्मिकेत्युच्यते । उक्तं च—पुरुषं हि वदन्ति भावयेदिति । लिङादिश्रवणानन्तरं प्रवृत्तिहेतुप्रत्ययः सर्वस्य भवतीत्यविवादम् । प्रवृत्तिहेतुस्वरूपे तु विप्रतिपत्तिः । तत्र संभावितानामन्येषां प्रवृत्तिव्यभिचारित्वात् प्रमाणान्तरागोचरे च प्रवृत्तिहेतौ व्युत्पत्त्यसंभवादभिधेयप्रत्ययबलोन्नीयमानस्वरूपलिङादीनामभिधानमेव प्रवृत्तिहेतुरिति युक्तम् । स एव प्रवर्तना पुरुषप्रवर्तकत्वात् । लिङादिव्यापारोऽपि सन्नभिधेयप्रत्ययहेतुत्वादभिधेत्युच्यते, यतः प्रवृत्तिदर्शनम् । तद्व्यापारः प्रवर्तना प्रवृत्तिहेतुत्वात् । न च शब्दान्तरेभ्यः प्रवृत्तिरुपलभ्यते, अतो न तदभिधासु प्रवर्तनात्वप्रसंगः । यत्तु कार्योन्नेयत्वादनभिधानमुक्तं तन्न । भावनावगतिरूपस्य कार्यस्य वर्तमानापदेशेष्वपि प्रसंगात् । 'प्रवर्तेऽह'मिति ज्ञानं तु प्रवर्तनाज्ञानोत्तरकालीनं न तदुन्नायकम् । अतोऽनन्यप्रमाणकत्वादुपपन्नमभिधेयत्वमभिधायाः । नापि व्युत्पत्तिविरहः । प्रवृत्तिहेतुत्वेनैवार्थापत्तितस्तदवगमात् । तथाहि—यत्र तावल्लिङादिभ्यः प्रवृत्तिरुपलभ्यते, तत्र मया प्रवर्तितव्यमित्यन्तः संकल्पात्मा प्रवृत्तिविशेष

उन्नीयते। अप्रवर्तमाना अपि लिङ्श्राविणः प्रवर्तस्वेति मामयमाहेति वक्तारं निर्दिशन्ति। तेनावगम्यते प्रवृत्तिहेतुरभिहितो लिङा। स च नर्ते व्यापारात् सिध्यति। एतदेवास्यानन्यप्रमाणकत्वं यत्प्रवर्तकत्वेन शब्दादवगम्यते। न तु प्रवर्तनास्वरूपमेवान्यतो नावगतम्। येन व्युत्पत्तिविरहश्चोद्येत। न चाभिधानादभिधीयते इति मन्तव्यम्। अभिधाशब्दवदुपपत्तेः। यदेव हि शब्दश्रवणानन्तरं बुद्धौ विपरिवर्तते, तदभिधेयम्। उक्तं च—लिङादिभ्यः प्रवृत्तिहेतुरवगम्यते। न च लिङादीनामभिधाव्यापारादन्यः प्रवृत्तिहेतुः शक्यो निरूपयितुमिति। नाप्यनवस्थातदभिधानस्य शब्दादप्रतीतेः प्रवर्तनामात्रस्यैव प्रतीतेः। नापि लिङादिस्वरूपाभिधानापत्तिः स्वयमेव तद्व्यापारस्य वैलक्षण्यात्। अतो लिङादीनामभिधा प्रवर्तना सोऽयं विधिः। आह च—"अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः" इति। तदनेनैव रूपेण विधिना सम्बद्धा भावना प्रवृत्तिविषयतयाऽवगता फलवत्तया निश्चीयते। तथावगता चानुष्ठीयते। फलवत्ता च विधिशक्तिमवसीदन्तीमुत्तम्भ्नाति। सागरं तरेदित्यादौ तु सन्नपि लिङ्व्यापारो निर्वाहिकायाः फलवत्ताया अभावात् न निर्वहति। तदभावश्च अनाप्तवाक्यत्वात् वेदे तु अपौरुषेयत्वात् न पुरुषदोषशंकापीत्युपपन्नम्। विधौ तु तमतिक्रम्येति। "सुचरितमिश्रनिरूपितविधितत्त्वमिदं मयाऽत्र संक्षिप्तम्। वार्तिकराणकटीकाविरोधपरिहारस्तु सञ्चिन्त्यः"॥

एतेन आप्ताभिप्रायो विध्यर्थं इत्युदयनाचार्यादिमतमपि निरस्तम्। अभिप्रायस्य चेतनधर्मत्वेन लोके तथात्वसंभवेऽपि अपौरुषेये वेदे तदसंभवात्। यदि चाभिप्रायस्तात्पर्यादनर्थान्तरम्, तर्हि तु वेदस्यापि तात्पर्यवत्तासंभवेन सोऽपि पक्षः समर्थनीयः स्यादेव। परन्तु तात्पर्यस्य शब्दनिष्ठवृत्तिरूपत्वेनाभिधायाश्च शब्दनिष्ठप्रवर्तकव्यापाररूपत्वेन तयोर्भेदः वृत्तेस्तदतिरिक्तशब्दार्थत्वासंभवश्च।

यत्तु कर्तव्यत्वेन इच्छैव विध्यर्थः, तयाचेष्टसाधनत्वानुमानम्। तद्यथा—स्वर्गकामस्य मम यागः इष्टसाधनं कर्तव्यत्वेनाऽऽप्तोक्तलिङ्बोधेच्छाविषयत्वात्, मत्पित्रेष्यमाणमद्भोजनवदिति। विषभोजनादेरपि कस्यचित्कृतिसाध्यतया कर्तव्यत्वेनेश्वररूपाप्तेच्छाविषयत्वेन तत्रेष्टसाधनत्वरूपसाध्याभावाद् व्यभिचारवारणाय लिङ्पदबोध्येति। आप्तस्तु वैदिकस्थले ईश्वर एव। तस्मिन् विधिरेव तावत् कुमार्या गर्भ इव पुंयोगे मानम् इत्याहुः केचन। तदपि न। कृत्यसाध्यनिष्फलानिष्टे प्रवृत्तिवारणायेष्टसाधनतादिज्ञानहेतुताया आवश्यकत्वेन तद्विषयेष्टसाधनत्वादीनां विध्यर्थत्वोपगमेनैव निर्वाह आप्ताभिप्रायस्य विध्यर्थत्वे मानाभावात्। न हि इष्टसाधनत्वज्ञानमन्तरेण आप्तेच्छाविषयज्ञानमात्रात् प्रवृत्तिः कस्यापि दृश्यते। स्वतन्त्रप्रवृत्तौ व्यभिचारेणाऽऽप्ताभिप्रायज्ञानस्य प्रवर्तकत्वाऽसंभवाच्चेत्यलम्।

विध्यर्थपर्यालोचननिष्कर्षः

इत्थं लिङर्थे पक्षद्वयं प्रवर्तते। तत्र स्वतन्त्रप्रवृत्तिस्थलानुसारेण प्रवर्तकत्वमिष्टसाधनताज्ञानस्यैवाङ्गीकर्त्तव्यं लिङ्स्थलेऽप्यनुमानात्। अन्यथा लिङि प्रवर्तकत्वमभिधायाः। लोके चेष्टसाधनताज्ञानस्येत्यननुगमः स्यादित्यनुगम एवैतत्पक्षसमर्थकः। अभिधाया लिङर्थत्वमिति द्वितीयपक्षे तु शब्दार्थनिर्णये केवलं स्वतन्त्रलोकव्यवहार एव न प्रमाणम्। किन्तु तच्छब्दविषयकलोकव्यवहारः। तच्च शब्दशास्त्रान्निर्णीयत इत्यतो महाभाष्यकारः पतञ्जलिर्भगवान् यदि प्रेरणार्थं ब्रूते लिङः, तर्हि स एव तदर्थ इत्येवाभ्युपगन्तव्यम्। स्वतन्त्रप्रवृत्तौ स्यान्नामेष्टसाधनत्वज्ञानस्य प्रवर्तकत्वम्। नैतावता तदेवात्राभ्युपगन्तव्यम्। तथासति लोके यवादिशब्दानां म्लेच्छरूढ्याऽपि प्रियङ्ग्वाद्यर्थता स्यात्। न च तथा, किन्तु आर्यरूढेः शास्त्रानुगृहीतत्वेन बलवत्त्वात्तस्या एवाऽत्र ग्रहणम्। एवमेव लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रेरयतीति शास्त्रसंस्कारसंस्कृतानां प्रेरणार्थे स्पष्टतया भासमाने तदतिरिक्तशब्दशास्त्राऽननुगृहीतप्राकृतबोधमवलम्ब्य शब्दार्थवर्णनमिदमितरेषां न साम्प्रतम्। एवं चाभिधाया लिङर्थत्वे शब्दशास्त्राऽनुग्रहात् बोधस्य च तथैवोपजायमानत्वात् सिद्धत्वाच्च वेदस्याभिधाभिधेयकत्वमेव लिङः युज्यत इति निष्कर्षः।

यत्तु इष्टसाधनत्वबोधस्त्वनुमानात् पश्चाद्भवतीत्युक्तम्। तत्र ब्रूमः—अभिप्रायविषयत्वं प्रथमतो ज्ञायते चेत् लिङ्पदादेव। तत्राभिप्रायस्य विषयांशे नित्यसाकांक्षत्वेन विषयोऽपि यागो वाक्यार्थबोधविषयोऽभ्युपेयः नो चेत् पुत्रोऽहमित्यत्रापि वाक्यत्वं स्यात्। न हि साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वम्। "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेत् विभागे स्यात्" इति भगवतो जैमिनेर्वाक्यलक्षणम्। अत्र च पूर्णो बोध एव वाक्यत्वनिदर्शक इति सिध्यति। नो चेदद्य पुत्रस्ते इति आख्यातरहितस्यापि आकांक्षादिमत्पदकदम्बकस्य वाक्यत्वं स्यात्। एवं च पुत्रोऽहमित्यादाविवाभिप्रायस्यापि विषयांशे नित्यसाकांक्षत्वेन प्रकृत्युपात्तयागस्य संबंधो वक्तव्यः। सोऽपि क्रियात्वेन कर्तृसापेक्षत्वात् स्वर्गकामपदेन सम्बद्धव्यः। एवं च वाक्यसिद्धौ स्वर्गकामपदात् इष्यमाण स्वर्गस्य यागेन संबंधोऽपि बोधितो भवति। तं विना वाक्यार्थस्यापरिपूर्णत्वात्। न हि स्वर्गकामकर्तृको याग आप्ताभिप्रायविषय इति वाक्यार्थेन कस्यापि श्रोतुराकांक्षा निवृत्ता भवेत्। अन्ततो गत्वा स्वर्गसाधनो यागः स्वर्गकामकर्तृक इति आप्ताभिप्राय इत्येव वाक्यार्थोऽभ्युपेयः। अभ्युपेते च तस्मिन् साधनत्वस्यापि संसर्गमर्यादयैव भानात् वाक्यार्थमेवेति—साधनत्वमपि शब्दप्रमाणविषयमेव नानुमानगम्यमिति वृथाऽयं प्रयासस्तर्ककर्कशानाम्। एतादृशानुमानेनैव भावनाया अपि तर्कगम्यत्वं केचन प्रतिपादयन्ति। तदपि एतेन निरस्तम्। तत्सिद्धं प्रेरणापरपर्यायाया अभिधाया लिङर्थत्वमिति। आख्यातार्थत्वं तु आर्थीभावनायाः। तस्याश्च स्वनिष्ठविषयताकत्वरूपेण प्रेरणायामन्वयः। प्रेरणायाः प्रेर्यांशे नित्यसाकांक्षत्वात् तदेव विषयस्य विषयत्वं, यत् स्वेन रूपेण निरूपणीयी-

करणम् । विषिण्वन्ति निबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति ते विषया इति वाचस्पतिमिश्रोक्तेः । नान्यदपूर्वं विषयत्वं येन कल्पनीयं स्यात् । पुत्रोऽपि पित्रर्थे नित्यसाकांक्ष इति तत्रापि पितुर्जनकतारूपविषयत्वमस्त्येव । विषयताया रूढिस्तु आत्मविशेषगुणेषु ज्ञानेच्छादिष्विति त्वन्यत् । एतादृशविषयतासम्बन्धमनादृत्येष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्वांगीकार, आर्थीभावनायाः स्वज्ञानाधीनानुमितिजन्यत्वरूपः परम्परासम्बन्धः शाब्दीभावनया । उभयविधभावनाया अनुमानगम्यत्वं चेत्यादिकं केवलं तर्कप्रदर्शनमेव ।

वस्तुतस्तु क्रियायाः कारकांशे नित्यसाकांक्षत्वात् कस्य कस्मिन् कथं वा प्रेरणा इत्याकांक्षायां पुरुषस्यार्थीभावनायां कामनायां फलोद्देशेन प्राशस्त्यबोधादिना प्रेरणा इत्येवोत्तरमथमागच्छति । एवञ्च कामिनं कामनिर्देशपूर्वकमार्थीभावनायां यज्ञादिकर्मकरणिकायां प्राशस्त्यबोधादिद्वारा प्रेरयेदित्येव शाब्दभावनाबोधः । आर्थी-भावनायास्तु यागेनेष्टं भावयेदिति सर्वविदितमिदम् । इत्थं वाक्यार्थबोधोपपत्त्या लिङर्थो भावनेति सिध्यति ।

ईश्वरविषयकमीमांसकसिद्धान्तदिग्दर्शनम्

डॉ० कमलनयन शर्मा

प्रयाग

Mīmāṃsā is silent on the question of God's existence or non-existence. Neither Jaimini in his *sūtras,* nor Śabarasvāmī in his *bhāṣya* ever said anything about *Īśvara.* In *Jaimini Sūtra's athāto brahma jijñāsā,* the word *atha* is auspicious (*maṅgalārthaka*), as it is in *Aṣṭādhyāyī, Mahābhāṣya* etc. To *Mīmāṃsakas,* the Vedas are the highest authority. One who blames the Vedas is atheist. Thus to say of *Mīmāṃsakas* as atheists is due to ignorance and far from the truth.

सुविदितमेव विश्वेषां विद्वदपश्चिमानां यदास्तिकनास्तिकभेदभिन्नं दर्शनं द्विविधमिति। सर्वेषाञ्च दर्शनानां तत्त्वज्ञानप्रतिपादनमेव प्रयोजनमिति सर्वसम्मतम्। तत्र तत्त्वज्ञानप्रतिपादनाय प्रवृत्तेष्वास्तिकनास्तिकदर्शनशास्त्रेषु निखिलेष्वप्युपपाद्यत्वेन निरसनीयत्वेन वेश्वर-निर्देशः कृतः प्रातः स्मरणीयचरितैर्महर्षिभिः तत्त्वदर्शिभिः विद्वद्धौ-रेयैश्च दरीदृश्यते। तत्र नास्तिकदर्शनेषु व्युदसनीयतयैव ईश्वरोपादानं कृतमवलोक्यत इति सर्वसम्प्रतिपन्नोऽयं विषयः। एवं प्रकारेण नास्तिकोऽपि ईश्वरनाम गृह्णात्येवेति। न्यायवैशेषिकयोगवेदान्तदर्शनेषु ईश्वरसाधनाय हेतुद्वयं समानमेव दृश्यते। यथा—प्रथमं तावत् सृष्टिप्रलयसमर्थनम्। द्वितीयञ्च वेदप्रामाण्यसंस्थापनमिति।

प्रशस्तपादप्रणीते वैशेषिकदर्शनभाष्ये पदार्थसंग्रहाभिधे सृष्टिसंहारप्रक्रिया समुपवर्णिता दरीदृश्यते। "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" इति वैशेषिकम्। "ईश्वरः कारणपुरुष ·····दर्शनात्" "तत्कारित्वादहेतुः" "आप्तोपदेशश्शब्दः" "मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्याच्च" इत्यादीनि सूत्राणि सूत्रितानि गौतमेन। ऋषय एवाप्तास्तदुपदेशादेव वेदानां प्रामाण्यमायातीति। अयञ्चार्थः तेषां सूत्रभाष्ये विशदीकृतो वरीवर्त्ति। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वेन ऋग्वेदादिकर्तृत्वेन चेश्वरतत्त्वं प्रसाधयन्ति वेदान्तिनः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति", "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमित्यादिना। तथा चैते वैयासिके सूत्रेऽपि समवलोक्यते "जन्माद्यस्य यतः", "शास्त्रयोनित्वादिति"।

पातञ्जलयोगदर्शने पूर्वोक्तं प्रयोजनद्वयमुपेक्ष्य समाधिसाधनायैवेश्वरः स्वीकृतः। तथा च पारमर्षं सूत्रम्—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा", "शौचं तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इत्यादि।

कापिले च दर्शने ईश्वरासिद्धौ प्रमाणमेवोपलभ्यते। तथा च "ईश्वरासिद्धेः", मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात् न तत्सिद्धिः" इत्यादीनिसूत्राणि द्रष्टव्यानि।

अध्वरमीमांसकानां राद्धान्ते निष्प्रमाणक ईश्वरो निष्प्रयोजनश्चेत्यापाततः प्रतीयते। लोकप्रसिद्धिरपि अमुमेवार्थं पुष्णाति। तत्र कणादगौतमपतञ्जलिबादरायणसदृशेषु प्रतिपक्षिषु तिष्ठत्सु का नाम वाचोयुक्तिं प्रदर्शयद्भिः मीमांसकैः ईश्वरतत्त्वं पराक्रमित इति परामृष्टव्यम्।

किञ्च ततः प्रागेव सूत्रकारो जैमिनिरीश्वरमुररीकरोति न वेति विचारणीयमापतति। इतरथा कथं तत्पदानुजीविनां तन्निराकरणसमर्थनावसर इति। तत्र सूत्रकृता भगवता जैमिनिना भाष्यकारेण शबरस्वामिना च ईश्वरविषये कण्ठरवेण न किमपि अवोचि। तथापि तद्ग्रंथपौर्वापर्यालोचनया तत्तद्वचनविवेचनेन च नास्तीश्वरतत्त्वं तन्मत इति विज्ञायते। तत्रेश्वरस्वीकारे तस्य सर्वज्ञत्वेन धर्मस्य ईश्वरीयज्ञानविषयत्वमेष्टव्यम्। अन्यथा सर्वज्ञत्वहानिः स्यात्। तदीयज्ञानविषयत्वे मीमांसाशास्त्रसम्मतं चोदनैकगम्यत्वं तस्य व्याहन्यते। सेयमुभयतः पाशारज्जुरिति। ईश्वरस्तिष्ठतु नाम, का हानिः।

जैमिनिना धर्मलक्षणसूत्रप्रणयनव्याजेन तत्रेश्वरनिराकरणबीजं विहितमिति तर्कयामो वयम्। एवमौत्पत्तिकसूत्रे शब्दार्थसम्बन्धकर्तृत्वेन तार्किकपरिकलितः परमेश्वरो निराकृतो वेदितव्यः। अन्यथाऽनवस्थापत्तेः। वेदकर्तृत्वेन चाभिमत ईश्वरो निराकृतो वेदापौरुषेयत्वाधिकरणे। अपूर्वाधिकरणे अपूर्वद्वारेण यागादेः कर्मणः फलजनकत्वं न तु ईश्वरस्य फलदातृत्वम्। तथा च सूक्ष्मेक्षिकया परामृष्यमाणेषु जैमिनिसूत्रेषु परमेश्वरनिराकरणबीजानि निगूहितानीत्यवगम्यते।

एवं वेदान्तदर्शने साधनलक्षणे जैमिनिसम्मतापूर्वद्वारकरस्य यागादेर्धर्मस्य फलदातृत्वं न तु ईश्वरस्येति मतमुपस्थाप्य "पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशादि" ति सूत्रेण खण्डयामास। शाबरभाष्येऽपि "तस्मात्कारणादवगच्छामो, न कृत्वा सम्बन्धव्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता" इत्यादि। शब्दार्थसम्बन्धकर्तृनिराकरणपरं वचनजातं तार्किकाभिमतं वेदकर्त्तारमीश्वरं व्यासेधतीति स्पष्टमेवोपलभ्यते। अतएव तन्मतमनुसरता मीमांसादर्शनकेसरिणा कुमारिलभट्टेन स्वोपज्ञे श्लोकवार्त्तिके सम्बन्धाक्षेपपरिहारग्रन्थे शताधिकैश्श्लोकैरीश्वरतत्त्वं प्रत्याख्यातम्।

पार्थसारथिमिश्रोऽपि शास्त्रदीपिकायां तर्कपादे महता प्रबन्धेनेश्वरं पराकार्षीत् शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वप्रतिपादनेनेश्वरनिरासस्सूचितो भवति । अयमाशयः— यद्यपि भगवान् जैमिनिरीश्वरतत्त्वं स्पष्टं न प्रत्याचख्यौ, तथापि तद्बीजन्तु तेनैव स्वसूत्रेषु समुप्तम् । तदेवाङ्कुरितं शाबरे भाष्ये । श्रीमतः कुमारिलभट्टप्रयत्नेन पल्लवितं पुष्पितं फलितञ्च वार्त्तिकग्रन्थे । तदेव च यज्ञात्मसूनुना पार्थसारथिमिश्रेण स्वोपज्ञायां शास्त्रदीपिकायां सङ्गृहीतं सञ्जीवितञ्च चित्तं विनोदयति विचारचातुरीचर्चितचेतसां सुमनसामिति ।

प्रभाकरमिश्रस्तु—ईश्वरनिरासकस्यास्य सर्वस्यापि प्रकरणस्याऽऽनुमानिकेश्वरनिराकरणे तात्पर्यमुपवर्णयन् वेदप्रमाणसिद्धमीश्वरमङ्गीचकार । अतएवोक्तं तेन "एवञ्चेश्वरे परोक्तमेवाऽनुमानं निराकृतम्, नेश्वरोऽपि निरस्तः" इति । अमुमेव पन्थानमनुससार नन्दीश्वरः । शालिकाचार्यादीनामप्यत्रैव तात्पर्यमिति निश्चिनुमो वयम् ।

एतेन न्यायप्रकाशेऽऽपदेवस्येश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, अर्थसङ्ग्रहादौ लौगाक्षिभास्करादीनां 'श्रीगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुरित्यादीनि वचनान्यपि व्याख्यातानि बोध्यानि । अस्माकन्तु इदमेव प्रतिभाति यत् जैमिनिदर्शनस्येश्वरविषये ताटस्थ्यमेव वरमिति । अयमभिसन्धिः—मन्त्रब्राह्मणात्मके भगवति वेदे काण्डद्वयं समस्ति, पूर्वकाण्डमुत्तरकाण्डञ्चेति । पूर्वकाण्डेन धर्मतत्त्वं सुविचारितम् । उत्तरकाण्डेन च ब्रह्मतत्त्वमिति । इमे पूर्वोत्तरकाण्ड एव कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति च क्रमेण व्यवह्रियेते वेदव्याख्याननिष्णातैः । अधर्मनिरूपणञ्च तत्परिहारायेति प्राचीनैर्विबुधैरक्षुण्णः पन्थाः दर्शितः । अतो विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयनिषेधादिविभागप्रविभागोपेतं पूर्वकाण्डं प्रावर्त्तिष्ट धर्माधर्मतत्त्वनिर्धारणाय, न तु परमेश्वरतत्त्वविवेचनायेति, "यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः" इति न्यायात् । यथा सांख्यशास्त्रं स्वप्रतिपिपादयिषितप्रकृतिपुरुषविवेचनाय अलम् नेश्वरतत्त्वं प्रतिपादयति; ईश्वरप्रतिपादनस्य स्वशास्त्रतात्पर्यभूतप्रकृतिपुरुषविवेकख्यातिविवेचनं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् । तथैव कर्ममीमांसादर्शनमपि धर्माधर्मप्रतिपादनेनोपक्षीण ईश्वरतत्त्वविषये तूष्णींभावमवलम्बते । किञ्च धर्मब्रह्मद्वयकाण्डात्मके वेदे प्रथमे काण्ड एव ब्रह्मणोऽपि प्रतिपादनेऽन्तिमकाण्डस्य निर्विषयत्वापत्तिः, काण्डद्वयविभागानुपपत्तिश्च । स्वप्रतिपाद्यविषयभेदादेव काण्डद्वयव्यवस्थोपपत्तिः । अन्यस्मिन्नपि पुरुषविरचितेष्वपि ग्रन्थेषु विषयादिभेदादेव अध्यायादीनां भेदः दरीदृश्यते । तस्मात् काण्डद्वयव्यवस्थोपपत्तये पूर्वस्मिन् काण्डे धर्मनिरूपणमन्तिमे च काण्डे ब्रह्मनिरूपणं सङ्गच्छते । वार्त्तिककारोऽपि आत्मवादान्ते वेदान्तनिषेवणम्, व्याकरणाधिकरणे ग्रहैकत्वाधिकरणे चाऽन्यत्र ईश्वरतत्त्वं विवेचितमिति वदन् पूर्वोक्तमेवार्थमुपष्टम्भयति । अतएवोक्तं नैषधे महाकाव्येऽपि—

वेदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्तिरत्ने,
हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने ।
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमौलौ,
तस्मिन् महीभुजि तथानुमितिर्न भेजे ।। ११-६४

अस्मिंश्च श्लोके भीमसुतायाः दमयन्त्याः स्वयंवरस्य वर्णनं समस्ति । तत्र समवेतानां राजन्यानां परिचयप्रदानप्रसङ्गे तस्य राज्ञः गुणवर्णनं श्रुत्वा तद्विषये किमप्यनुक्त्वैव स्वयमेवाग्रे प्रससर्प दमयन्ती, यथा मीमांसाशास्त्रमीश्वरविषये मौनमुद्रामदीधरत्, तथैवेति दृष्टान्तविधया मीमांसाशास्त्रसिद्धान्तमचीकवत् ।

तस्मात् वार्त्तिककारादिभिः स्वीकृत ईश्वरो वेदप्रतिपाद्यः । तत्र तत्र ईश्वरनिराकरणञ्च तार्किकादिपरिकल्पितानुमानिकेश्वरनिराकरणपरमिति । तार्किका अपि वेदप्रतिपादितमेवेश्वरं मन्यन्ते । नानुमानेन तुष्यन्ति तेऽपि । अनुमानेनेश्वरसाधनानन्तरमपि वेदवाक्यं प्रमाणयन्ति तत्र । तदनन्तरमेव च परमसन्तोषः जायते । अनुमानन्तु बुद्धिविलासमात्रमेव प्रतिभाति । "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" इति पक्षता चिन्तामणौ स्वयमेवोक्तत्वात् ।

ईश्वरविषये प्रमाणरूपेण वेदवाक्यानामुपस्थापनमपि द्रढयति पूर्वोक्तं सिद्धान्तम् । अतएव नैयायिका अपि सधर्माण एवेति निश्चिनुमो वयम् । अतः कौमारिलाः प्राभाकराश्च मीमांसकाः निरीश्वरा इति वचनमनाघ्रातमीमांसागन्धानां विदुषां मनोरञ्जनमात्रम् ।

एवं धर्मतत्त्वप्रतिपादनाय प्रवृत्तमध्वरमीमांसादर्शनं ईश्वरोऽस्तीत्यपि न ब्रूते, न वा नास्तीति ब्रवीति ; अपि त्वीश्वरविषये तूष्णींभावमेव भजत इतीदमेव युक्तियुक्तम् । तस्मात् निरीश्वराः मीमांसका—इति वचनं गगनकुसुमायते । अपि च भारतीयाः महासृष्टिः खण्डसृष्टिश्चेति सृष्टिद्वयम् ; महाप्रलयः खण्डप्रलयश्चेति प्रलयद्वयमभ्युपगच्छन्ति । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिकं प्रमाणयन्तः अध्वरमीमांसकाः परं मन्त्रार्थवादयोः अनुष्ठेयस्मृतिस्तुतिनिन्दाप्रतिपादकत्वेनाऽर्थवादाधिकरणमन्त्राधिकरणयोर्व्यवस्थापनात् । अन्यत्र तयोस्तात्पर्यायोगात् "अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" इति न्यायात् । इतिहासपुराणयोश्चविधिनिषेधैकवाक्यतया व्याख्यानस्य "विधिना त्वेकवाक्यत्वादि" ति न्यायसिद्धत्वात् महासृष्टौ महाप्रलये च न किञ्चित् प्रमाणं प्रक्रमते । अतएव महासृष्टिमहाप्रलयौ अध्वरमीमांसकैर्नाङ्गीक्रियते "न कदाचिदनीदृशं जगत्" इति न्यायात् । तथा च भट्टपादवचनम्—

"तस्मादद्यवदेवाऽत्र सर्गप्रलयकल्पना ।
समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिद्धत्यप्रमाणिका" ।। इति ।

खण्डसृष्टिखण्डप्रलयौ स्वीक्रियेते मीमांसकैः। अतो महासृष्टिमहाप्रलययोरनभ्युपगमेन तत्समर्थनायेश्वराभ्युपगम आवश्यक इत्याद्यो हेतुः तार्किकानामभिमतो निरस्तो वेदितव्यः। शब्दार्थसम्बन्धस्यापौरुषेयापरपर्यायनित्यत्वप्रतिपादने सम्बन्धकर्तृकत्वेन वेदप्रामाण्यसंस्थापनायेश्वरसाधको द्वितीयो हेतुरपि परास्तः। शब्दार्थयोस्सम्बन्धस्य नित्यत्वप्रतिपादनस्याऽयमेव परमो लाभः कर्ममीमांसकानां यत् पुरुषसुलभभ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिदोषाणामनवकाशात् निरवद्यं वेदानां प्रामाण्यं सुरक्षितं भवेत्। तथा च पार्थसारथिमिश्रवचनम्—

"नित्यत्वे हि वेदानामवसिते तत्प्रामाण्यबलेनेश्वरस्यापरिच्छेद्यो महिमा, सृष्टिप्रलयौ ऋतुलिङ्गन्यायमाश्रित्य सिध्येन्मा वा"। इत्थं तार्किकादिसम्मतसृष्ट्यादिप्रक्रियातो किञ्चिद् वैलक्षण्येन सृष्टिप्रक्रियामुपवर्णयन्नमुमेवार्थं समाश्रये। अर्वाचीनैरध्वरमीमांसकैर्वेदान्तवासनावासितान्तःकरणैरीश्वरावादित्वपरीवादभीत्या स्वस्वग्रन्थे चेश्वरोऽभ्युपगतः स्पष्टमेव। अतएव हि मीमांसककुलमण्डनः खण्डदेवः देवताविग्रहादिकं निराकुर्वन् तद्दोषपरिजिहीर्षया ब्रवीति—"एवं वदतो मे वाणी दुष्यतीति हरिस्मरणमेव शरणमिति"। एतेनापदेवस्य 'ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वात् गतकल्पीयं वेदं स्मृत्वोपदिशति' इति वाक्यं व्याख्यातम्।

मीमांसकानां शिरसि नास्तिकत्वमुपक्षियन्त्यन्ये। कारणद्वयञ्च समुपस्थापयन्ति। तत्र प्रथमं देवताविग्रहादिखण्डनम्। यस्य समाधानं पूर्वमेवाभिहितम्। द्वितीयञ्च कारणं समस्ति यत् प्राचीने ग्रन्थे मङ्गलाचरणादिकं न दृश्यतेऽऽधुनिके च ग्रंथेऽवलोक्यतेऽन्येषां निन्दादिभयेन। तत्रोच्यते मया—ईश्वरानङ्गीकारेऽपि नास्तिकत्वमनाशङ्कनीयम्। वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तृत्वमेव नास्तिकत्वम्, न तु ईश्वरानभ्युपगन्तृत्वम्। ईश्वरादीनां सर्वेषां वेदप्रामाण्यान्तर्गतत्वात् वेदप्रामाण्यस्वीकारे स्वत एव तेषां प्रामाण्यं स्यात्। न भिन्नः प्रयत्नः कर्त्तव्योऽवशिष्यते मीमांसकानाम्। अयमेव च वैदिकानां राजमार्गः। वेदनिन्दकत्वमेव नास्तिकत्वम्। अतएव वैदिकशिरोमणिना मनुनोक्तम्—"नास्तिको वेदनिन्दकः"। पाणिनिनाप्युक्तम्—"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" इति। व्याख्यान्ति च व्याख्यातारः—अस्ति दिष्टमिति मतिर्यस्य, स आस्तिकः। नास्ति दिष्टमिति मतिर्यस्य, स नास्तिक इति। दिष्टमिति परलोकापरपर्यायः। तत्रबुद्धया विचार्यताम्—परलोकनिष्ठाभावे यागादौ कुतः प्रवृत्तिस्स्यात्। सर्वत्र च स्वर्गादीनामेव प्राप्त्यर्थं कर्मणां विधानं वर्वर्त्ति। तस्मात् मीमांसकोपरि नास्तिकत्वारोपणं केवलमज्ञानविलसितमेवेति निश्चप्रचम्। अष्टाध्याय्यां वार्त्तिकग्रन्थे, महाभाष्ये वा अतिरिक्तं मङ्गलाचरणं न दृश्यते। पतञ्जलिना सूत्रिते योगसूत्रेऽपि नैव मङ्गलाचरणमस्ति तथापि त आस्तिकाः। मीमांसासूत्रे भाष्ये वा मङ्गलं कृतं नास्ति तर्हि कुतः नास्तितकत्वमित्यहं न जाने। यदि तत्र तत्र वृद्धिशब्दस्य अथशब्दस्य वा माङ्गलिकत्वं कल्प्यते तर्हत्रापि समाना कल्पना। अत्राप्यथशब्दप्रयोगात्। "अथ योगानु-

शासनम्", "अथशब्दानुशासनम्", "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः', "अथ त्रिविधदुःखनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः", "प्रमाणप्रमेय०" इत्यादि "गौतमीयम्", "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि रूपेणैव तत्तत् ग्रंथानां प्रारम्भः, न तत्र तत्र पृथक् मङ्गलश्लोकोऽस्ति। एतेषां शिरसि नास्तिकत्वं न तिष्ठति, केवलं मीमांसकानामुपरि कुतः कस्माद्वा हेतोः स्थास्यति इति न जानीमः। अहो! कीदृशः पक्षपातः। अत्रापि 'अथातो धर्मजिज्ञासा" इत्यादिमेन सूत्रेण अथशब्दघटितेन ग्रन्थारम्भः वरिवर्त्ति। तेषां तेषामाचार्याणामथशब्दस्य यादृशोऽर्थः, तादृशस्यार्थस्य अत्रापि विवक्षितुं शक्यत्वात्। जैमिनिप्रयुक्तस्याथशब्दस्य माङ्गलिकत्वं केनापसारितम्, अन्यत्र च केन संयोजितमिति विचार्यताम्।

तस्मात् मीमांसकानां नास्तिकत्वेन प्रचारः केवलमज्ञानवशादेवेति न तिरोहितम्। बौद्धधर्मसंस्थापकः भगवान् बुद्धः अतुलैश्वर्यसम्पन्नस्य भगवतः विष्णोरवतार इति सर्वे सनातनधर्मावलम्बिनः पौराणिकाश्च समामनन्ति। पुराणप्रसिद्धेषु चतुर्विंशत्यवतारेषु उपान्तिमावताररूपेण तस्य गणना दर्शनात्। एवं जानन्तोऽपि बुद्धं नास्तिकत्वेनैवख्यापयन्ति वैदिकधर्मावलम्बिनः। तत्कस्य हेतोः? न विष्णुः नास्तिक इति कुत्रापि लिखितमस्ति। तत्र वेदनिन्दकत्वमात्रमेव कारणमस्ति। अस्मादिदमायाति—भगवान् स्वयमपि वेदानां निन्दां करिष्यति तेषामप्रामाण्यं वा वक्ष्यति चेत्तर्हि तदुपर्यपि नास्तिकत्वमारूढं भविष्यत्येव। अन्येषां का कथा? तस्मात् परमवेदभक्तानां मीमांसकानां नास्तिकत्वख्यापनं नैव समुचितमिति वेदितव्यम्। अतएव निरपेक्षमेव प्रामाण्यं वेदानामिति मीमांसकानां समुद्घोषः। वैदिकमन्त्रेषु एकमप्यक्षरं परिवर्त्तयितुं न समर्थ ईश्वरोऽपि। यादृशमुच्चारणं पुरा आसीत् अद्यापि तथैवास्ति। वेदानामयमेव विशेषः।

एतेनैव पथा सर्वं सुविचार्य नास्तिकत्वख्यापनं कर्त्तव्यम्; न "अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः" इति न्यायेन यथाकथञ्चिच्छ्रुत्वैव विद्वेषवशाद् वेति शम्।

नियतोपस्थितिकत्वविषये किञ्चित्

मनुदेवभट्टाचार्यः

वाराणसी

In pronouncing a *prātipadik*—crude form of a noun—the meaning that invariably comes to mind is *prātipadikārtha*. The uttering of *prātipadika* is *Vyāpya*, permeable, and the *bodhaviśeṣa* is *Vyāpaka*, invariably concomitant, pervading. Here, the term *niyatopasthitikaḥ* has been discussed in this article.

देवाधीश्वरमौलिरत्नविसरप्रोद्भासिदिव्यप्रभं
नत्वा श्रीधरणीधरेन्द्रतनयाविश्वेशपादाम्बुजम् ।
मनुदेवः स चरीकरीति विदुषां मोदाय चात्यल्पधी-
र्नियतोपस्थितिकार्थतत्त्वविषये किञ्चित् स्वचित्तानुगम् ।।[1]

अथेह स्मारं स्मारं गौरवीं गुर्वी गिरोऽधिनियतोपस्थितिकं किञ्चिदुपाचरामि । नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । नियता-व्यापिका, उपस्थितिः-बोधविशेषो यस्य स तत्प्रातिपदिकार्थः । बहुव्रीहावर्थोऽन्यपदार्थः ।

प्रकृते न्युपसृष्टयमेरर्थो व्यापकता । क्तार्थ आश्रयः । यस्येति षष्ठी विषयताथिका । एवञ्च—यद्विषयको बोधविशेषो व्यापकाश्रयीभूतः, तस्य तत्प्रातिपदिकार्थत्वम् । तदुक्तम्—

यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते यदर्थस्य व्यापकत्वेन बोधस्स तत्प्रातिपदिकार्थः । प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकताश्रयीभूतोपस्थितिनिरूपितविषयतावान् प्रातिपदिकार्थ इति यावत् ।

प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाया उदाहरणानि अव्ययानि निश्चितलिङ्गशब्दाश्च—उच्चैः, कृष्णः इत्युदाहरणम् ।

---

१. अत्र किं छन्द इति निबन्धान्ते द्रष्टव्यम् ।

तत्र अव्ययेषु उच्चैःप्रभृतिषु त्रयं प्रातिपदिकार्थः —

(१) प्रवृत्तिनिमित्तम्—उच्चैस्त्वम् । (२) प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयः—उच्चैः । (३) अनयोः सम्बन्धः समवायश्चेति ।

निश्चितलिङ्गेषु 'कृष्ण' इत्यादौ षट्कं प्रातिपदिकार्थः —

(१) प्रवृत्तिनिमित्तम् (शक्यतावच्छेदकम्)—कृष्णत्वम् ।
(२) प्रवृत्तिनिमित्तस्य (शक्यतावच्छेदकस्य) आश्रयः—कृष्णः ।
(३) पूर्वोक्तयोर्द्वयोस्सम्बन्धः—समवायः ।
(४) पुंस्त्वत्वम् । (५) पुंस्त्वम् । (६) एतदुभयसम्बन्धश्चेति ।

एष सर्वोऽप्यर्थसमूहो न्यक्षेण प्रातिपदिकार्थ एव, अत एतन्मात्रवुबोधयिषायां प्रथमा ।

तटादयः शब्दाः अनिश्चितलिंगास्सन्ति, तत्र न हि षट्कं प्रातिपदिकार्थः, अपि तु शक्यतावच्छेदकः, तदाश्रयः, तदुभयसम्बन्धश्चेति त्रयमेव प्रातिपदिकार्थः । एतदर्थत्रयस्यैव सर्वत्र अनिश्चितलिङ्गशब्देषु नियतोपस्थितिकत्वात् ।

अत्र किञ्चित्—यदुक्तं प्रातिपदिकोच्चारणं व्याप्यम् बोधविशेषोव्यापक इति, तत्कथमितिशङ्का । तथा हि—

यत्किञ्चित्प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकताश्रयीभूतोपस्थितिनिरूपितविषयतावान् तत्प्रातिपदिकार्थ इत्यत्र उच्चारणं समवायेन उच्चारयितरि, बोधविशेषः श्रोतरि, एवञ्च उच्चारणोपस्थित्योर्वैयधिकरण्याद् व्याप्यव्यापकता कथम् ? तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वरूपव्यापकत्वस्य बोधविशेषेऽभावात् प्रकृते व्याप्यव्यापकभावो दुर्घटः । अत्रोच्यते—

तत्प्रातिपदिकोच्चारणजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्वसम्बन्धेन व्याप्यतावच्छेदकस्वीकारे उच्चारणस्य श्रोतरि तदात्मन्येव समवायेन बोधविशेषस्य च विद्यमानत्वेन (एकत्रैवात्मन्युभयोस्सत्त्वात्) सामानाधिकरण्ये सिद्धे तन्मूलकव्याप्यव्यापकभावोऽपि सुघटः ।

इत्थञ्च बधिरस्य प्रातिपदिकोच्चारणात्परमपि बोधविशेषानुदयेन व्याप्यव्यापकतानाशो न भवति, बधिरात्मनि 'तत्प्रातिपदिकोच्चारणजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्व'सम्बन्धेन (व्याप्यतावच्छेदकाङ्गीकारे) प्रातिपदिकोच्चारणस्यैव अभावात् । अतो न कश्चिद्दोषः ।

अत्र पुनर्विमृश्यते—एवमुक्तरीत्यापि अज्ञातवृत्तिकस्य विस्मृतवृत्तिकस्य वा पुंसः प्रातिपदिकोच्चारणाव्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन बोधानुदयात् (तत्प्रातिपदिकोच्चारणजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्वरूपव्याप्यतावच्छेदकसम्बन्धेन श्रोतरि उच्चारणे विद्यमानेऽपि घटत्वाद्युपस्थितेस्तदात्मन्यभावात्) पुनर्व्याप्यव्यापकभावभङ्गापत्तिरितिचेन्न,—

'स्वकर्मीभूतप्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारसमवायित्व'—'स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्व' रूपसम्बन्धद्वयेन व्याप्यतावच्छेदकस्वीकारेऽदोषात् ।

यत्र तु 'घट' शब्दोच्चारणव्यापिका घटपटोभयविषयिणी समूहालम्बनात्मिकोपस्थितिः (ज्ञानविशेषः), तत्र तद्विषयताश्रयीभूतस्य पटपदार्थस्यापि 'घट' रूपप्रातिपदिकार्थता भविष्यतीति दोष उच्यते, तत्र 'प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपितबोधविशेषनिष्ठव्यापकतावच्छेदकीभूतविषयताश्रयत्वं तत्त्वम्' इति स्वीकारे पटविषयताया अव्यापकत्वात् ।

यत्तु—नियतलिङ्गोदाहरणीभूतकृष्णशब्दस्य वासुदेवातिरिक्तः कृष्णवर्णः, कृष्णवर्णवान् इत्यप्यर्थयुगली चकास्ति । तत्र 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इत्यमरोक्त्या कृष्णवर्णवद्वाचकस्य कृष्णशब्दस्य विशेष्यनिघ्नतया अनियतलिङ्गत्वम् । 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' इत्यपि प्रकृतेऽनुकूलम् ।

इदानीं कृष्णरूपवदर्थान्तरनिरूपितशक्तिग्रहवतः पुंस 'कृष्ण' पदश्रवणाव्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन वासुदेवरूपार्थेन सहैव अर्थान्तरोपस्थितेरपि सत्त्वेन (संस्कारवशात्) व्यापकत्वं पुनरपि दुर्घटमिति चेन्न, व्याप्यव्यापकलक्षणे तत्तद्रूपत्वविवक्षणेन क्षत्यभावात् ।

न चैवम् अनियतलिङ्गतटादिपदोच्चारणेऽपि समवायेन लिङ्गत्रयोपस्थितेरपि नियमेन सत्त्वेन लिङ्गत्रयस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वमायातमिति शङ्क्यम् ? लिङ्गत्रयस्य कुत्रापि नियमेन उपस्थितिर्न भवति, यत्र कुत्रचित् अन्यतमस्यैव लिङ्गस्यैवोपस्थितिर्भवतीति सर्वानुभवाद्दोषानवसरात् । किञ्च—

प्रकृते उपस्थितिशब्देन शाब्दबोधस्य ग्रहणात् 'तटस्तटीतटम्' इत्यादौ पुंस्त्वादिबोधस्य 'विसर्ग-ङीष्-अम्' एतदन्यतमसमभिव्याहारनैयत्येन—विसर्गसमभिव्याहृततटःशब्दात् स्त्रीत्वक्लीबत्वबोधानुदयात्, ङीप्समभिव्याहृततटीशब्दात् क्लीबत्वपुंस्त्वबोधानुदयात्, अथ च अम्समभिव्याहृततटंशब्दात् पुंस्त्वस्त्रीत्वबोधानुदयात्, कस्याप्येकतमलिङ्गस्य उपस्थितौ नैयत्याभावात् न तस्य प्रातिपदिकार्थत्वम् ।

एवञ्च तटादिशब्दानामनिश्चितलिङ्गानामुभयत्रशक्तिः—

(क) लिङ्गत्वोपलक्षितधर्मविच्छिन्ने । (ख) तटत्वाद्यवच्छिन्ने च ।

तत्र 'लिङ्गत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नः तटत्वाद्यवच्छिन्नश्च तटपदशक्यः' इति-समूहालम्बनशक्तिज्ञानाद् लिङ्गत्रयोपस्थितेः सत्त्वेन व्यापकत्वात् पुंस्त्वादीनामपि तटप्रातिपदिकार्थतापत्तौ, तन्निवृत्त्यै प्रकृते उपस्थितिशब्दः शाब्दबोधपक्षे न स्मृतिपरः। शाब्दबोधे तु तात्पर्यज्ञानमपिकारणमपीति सर्वलिङ्गविषयकबोधस्य युगपदेकस्मात्पदादसम्भवात् (तादृशतात्पर्यासत्त्वात्) प्रकृतेऽदोषात्। तथा हि—

१—यदा 'पुंस्त्वविशिष्टस्य तटशब्दस्य अर्थबोधो भवतु' एतत्तात्पर्येण 'तटः' इति सविसर्ग उच्चार्यते, तदा तदात्मनि तदितरस्त्रीत्वक्लीवत्वविषयकबोधानुत्थितिः।

२—यदा तु 'स्त्रीत्वविशिष्टस्य तटशब्दस्यार्थबोधोभवतु' एतत्तात्पर्येण 'तटी' इति ङीब्विशिष्ट उच्चार्यते, तदा तदात्मनि तदितरपुंस्त्वक्लीबत्वविषयक-बोधानुदयः।

३—इत्थं यदा 'क्लीवत्वविशिष्टतटशब्दार्थबोधोभवतु' एतत्तात्पर्येण 'तटम्' इत्यम्विशिष्ट उच्चार्यते, तदा तदात्मनि तदितरस्त्रीत्वपुंस्त्वविषयकबोधानुद्भव इत्यनुभवः।

चालनीन्यायेन एषा प्रक्रिया बोध्या, अतः पुंस्त्वादेर्नियतोपस्थित्यभावेन न प्रातिपदिकार्थत्वम्।

अत्र यद्यपि शाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानस्य हेतुतामादायोक्तदोषः चालनीन्यायेन वारितः, परमथापि तात्पर्यज्ञानाभावविशिष्टात्मनि घटादिपदसत्त्वेऽपि शाब्दबोधा-नुत्पादाद् घटत्वस्यापि प्रातिपदिकार्थता न भवेदितिचेन्न,

व्याप्यतावच्छेदकसम्बन्धे स्वविशेष्यकतात्पर्यज्ञानसमवायित्वस्यापि निवेशात् उक्ततात्पर्यज्ञानाभाववति आत्मनि स्वविशेष्यकतात्पर्यज्ञानसमवायित्वसम्बन्धेन घटादि-पदस्य भावाद्दोषानवसरात्।

नन्वेवं 'वृश्चिकाद्भीतो व्याघ्रमुखे पतितः' इत्यापद्येत। यतो ह्युक्तरीत्या अव्याप्तौ वारितायामपि अतिव्याप्तिः सावकाशा स्यात्, अर्थात् एवं सति लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थतापद्येत। तथा हि—

पुंस्त्वाद्यवच्छिन्नपुंस्त्वतटादिविषयकबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्येण उच्चारित-प्रातिपदिकव्यापकत्वस्य पुंस्त्वाद्यवच्छिन्नबोधेऽपि सत्त्वात् पुंस्त्वादेरपि व्यापकत्वापत्तौ लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थतापत्तिरिति चेन्न—

'स्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकतटत्वादिधर्मावच्छिन्नविशेष्यताकतात्पर्यज्ञानसमवायित्वसम्बन्धस्वीकृतौ दोषानवसराद् । अत्रेदं बोध्यम्—

अनियतलिङ्गतटादिशब्देषु लिङ्गस्य नियतोपस्थित्यभावात् प्रातिपदिकार्थता न भवति, तत्र प्रथमासिद्ध्यै लिङ्गग्रहणमर्थवत्, परन्तु निश्चितलिङ्गघटादिशब्देषु लिङ्गमपि प्रातिपदिकार्थ एव, तत्र यस्य कस्यचिदेकस्यैव लिङ्गस्योपस्थितिर्नैयत्या तस्य प्रातिपदिकार्थता निर्बाधा । एवञ्चेदृशस्थले लिङ्गस्य व्यापकतेति पर्यवसितम् ।

ननु 'आसत्ति-योग्यता-ऽऽकाङ्क्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते' इत्यभियुक्तोक्त्या योग्यताऽऽकाङ्क्षा-तात्पर्यज्ञान--विभिन्नविषयकप्रत्यक्षसामग्रीविरहादिशाब्दबोधकारणकलापाभावे घटपदोच्चारणेऽपि शाब्दबोधानुदयेनोपस्थितव्यापकताहानिरिति चेन्न—

''स्वकर्मीभूत-प्रातिपदिकजन्यशाब्दबोधसमवायित्व'' सम्बन्धेन व्याप्यतावच्छेदकाङ्गीकृतौ दोषानवसरात् ।

उपर्युक्तं कृत्स्नमपि प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपितोपस्थितिनिष्ठव्यापकतामादायेति ज्ञेयम् । केचित्तु—

प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतास्वीकारे एतत्सर्वं महद्गौरवमस्तीत्यालोच्य 'प्रातिपदिकनिष्ठव्याप्यतानिरूपितोपस्थितिनिष्ठव्यापकतामाश्रयन्ति । अत्र व्याप्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च—'स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्व'—'स्वनिष्ठशक्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारसमवायित्व'—'स्वजन्यशाब्दबोधसामग्रीसमवायित्व' रूपः । अथेदानीमिदमाशङ्क्यते—

उपस्थितिशब्दः शाब्दबोधपर इतिपूर्वमुक्तम् । ततश्च अनेकार्थकहर्यादिपदस्थले एकस्यार्थस्योपस्थित्यनैयत्या कस्याप्यर्थस्य प्रातिपदिकार्थता न भवेत् ? अर्थात्—

विष्णुत्वावच्छिन्नविषयकबोधेच्छयोच्चरितहरिशब्दाद् हरिपदनिष्ठविषयताव्यापकत्वस्य, यमत्वावच्छिन्नविषयतायामभावात्, अथ च यमत्वावच्छिन्नविषयताकबोधेच्छयोच्चरितहरिशब्दतो हरिशब्दनिष्ठविषयताव्यापकत्वस्य विष्णुत्वावच्छिन्नविषयतायामभावाद् चालनीन्यायेन हरिपदवाच्यस्य कतमस्याप्यर्थस्य हरिपदजन्यबोधे व्यापकताभावात्कस्याप्यर्थस्य हरिपदप्रातिपदिकार्थता न सम्भवेत् ? इति चेन्न—

उच्चरितप्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविशिष्टविषयताश्रयार्थस्यैव प्रातिपदिकार्थताङ्गीकारेण दोषाभावात् । एतेन लिङ्गस्य व्यावृत्तिः, हरिशब्दस्य संग्रहो जातः । तटादिषु एकैव शक्तिः, हर्यादिषु नानाशक्तिरिति भेद इति तत्त्वम् । अयं भावः—

तटशब्दनिष्ठशक्तिप्रयोज्यस्त्रीत्वावच्छिन्नविषयताकबोधानुयोगिताकस्य तादृशशक्तिप्रयोज्यपुंस्त्वावच्छिन्नविषयताकबोधप्रतियोगिताकस्य 'स्त्रीत्वावच्छिन्नविषयताको बोधः पुंस्त्वाद्यवच्छिन्नविषयताको न' इत्याकारकस्य शाब्दबोधनिष्ठभेदस्य सत्त्वेन तादृशभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकविषयताश्रयत्वस्यैव पुंस्त्वादौ विद्यमानत्वेन लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थता न भवति, परन्तु तटशब्दगतैकशक्तिप्रयोज्यतत्तल्लिङ्गविषयकेषु बहुषु बोधेषु परस्परं भेदसत्त्वेन लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थताभावेऽपि, अनेकार्थकहर्यादिपदस्थले विष्णुत्वावच्छिन्नविषयताया हर्यादिप्रातिपदिकनिष्ठसूर्यत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितशक्तिप्रयोज्यसूर्यत्वाद्यवच्छिन्नविषयकबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदतया तदाश्रयविष्ण्वाद्यर्थस्य प्रातिपदिकार्थत्वे न दोषः। केचित्तु विष्णुवाचको हरिशब्दो भिन्नः शिववाचको हरिशब्दश्च भिन्नः। समानानुपूर्वीमात्रेण च 'स एवायं हरिशब्दः' इति व्यवहारः। हरिशब्दो नानार्थ इति व्यवहारश्च। एवञ्च-एतद्रीत्या हरिशब्दस्य अनेकार्थत्वाभावादेव न काप्यनुपपत्तिः। परन्त्वस्मिन्कल्पे संयोगविप्रयोगादीनां शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतुत्वं कथं सञ्जाघटीत्विति चिन्तनीयम्।

इदम्पुनर्विचार्यते—सर्वनाम्नां बुद्धिस्थपरामर्शकत्वं सर्वमान्यम्। तत्र बुद्धिस्थत्वम्, बुद्धिविषयत्वम्, बुद्धिविशेषविषयत्वं वा शक्यतावच्छेदकम्। इत्थञ्च सर्वनाम्नां नानार्थत्वं न भवति, यथा क्रमजन्मनां व्यापाराणां समूहे बुद्धिगतैक्यमादाय क्रियाया न नानार्थता, तद्वदिति बोध्यम्। उक्तञ्च वाक्यपदीये—

गुणभूतैरवयवैस्समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

इदमप्यस्मदनुकूलम्। यत्र तु 'अनेकार्थो धातुः' इत्युच्यते, तत्र शक्यतावच्छेदकभेदमादायैव। परन्तु एकस्यैवार्थस्य गुणभूततत्तद्व्यापारभेदमादाय न नानार्थकत्वम्। अवच्छेदकबुद्धेरैक्यात्। तदुक्तं भूषणे—'आख्यातक्रियैकत्वव्यवस्थाऽपि अवच्छेदकबुद्धिविशेषैक्यमादायैव'। इत्यलं प्रासङ्गिकेन।

प्रकृते सर्वनाम्नां बुद्धिस्थत्वोपलक्षिततत्तद्धर्मावच्छिन्ने एकस्या एव शक्तेः स्वीकारेण, अथ च सर्वनामशब्दात् देवदत्तयज्ञदत्तादिसकलविषयकबोधस्य सर्वानुभवाद् चालनीन्यायेन तत्तद्बोधे तत्तद्बोधप्रतियोगिताकभेदस्य विद्यमानत्वेन तटादिशब्दे पुंस्त्वादेरिव कस्यापि सर्वनाम्नः प्रातिपदिकार्थता न स्यात्। एवञ्च—सर्वनामपदनिष्ठशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्ये घटविषयकबोधे 'अयं तच्छब्दः पटत्वविषयतावान्न' इति भेदो भवति। इत्थमेव पटविषयकबोधे 'अयं तच्छब्दः घटत्वविषयतावान्न' इत्याकारको भेदो वर्तते एव। अनुभवसिद्धञ्चैतत् सर्वम्। ततश्च चालनीन्यायेन सर्वविधबोधविषयतानां तथात्वापत्तौ कस्याप्यर्थस्य सर्वनामशब्दप्रातिपदिकार्थता न

सिद्ध्येत्, अतः 'प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविशिष्टविषयताश्रयत्वं प्रातिपदिकार्थत्वम्' इति मन्तव्यम् ।

सर्वनामशब्दे च 'बुद्धिस्थत्वोपलक्षितपटत्वावच्छिन्नः तत्पदशक्यः' इत्याकारकशक्तिविशिष्टविषयताया पटत्वनिष्ठत्वेन तदाश्रयाणां प्रातिपदिकार्थता सुसिद्धा ।

यत्र तु—एकेन सर्वनाम्ना घटः पटश्च परामृश्येते, तत्र समूहालम्बनशक्तिज्ञानप्रयोज्यघटविषयकबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य पटविषयतायामस्ति, अपरत्र घटविषयकभेदनिष्ठबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य पटविषयतायामस्ति, ईदृशस्थले घटपटयुगलविषयतयोस्तच्छब्दरूपप्रातिपदिकार्थता न स्यात्, तद्दोषमोषाय प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविशिष्टविषयताश्रयत्वं तत्त्वं ग्राह्यमिति तत्त्वम् । इत्थं 'स घटः, स पटः' इत्यादिपूह्यम् ।

निश्चितलिङ्गघटादिशब्देषु षट्कं प्रातिपदिकार्थ इत्यभाणि । घटः, घटत्वम्, समवायः, पुंस्त्वम्, पुंस्त्वत्वम् तत्सम्बन्धश्चेति । तत्र समवायसम्बन्धः शक्तिभास्यः, न तु आकाङ्क्षाभास्यः, अत एव, समवायः घटपदशक्यः शब्दलभ्यत्वात् । अशब्दलभ्यानां—संसर्गमर्यादालभ्यानाम्—आकाङ्क्षाभास्यानाम् पदार्थत्वं न भवति, यथा 'नीलो घट' इत्यादौ अभेदरूपार्थः संसर्गमर्यादालभ्यः, तस्य नीलपदार्थता घटपदार्थता वा नास्ति । तदुक्तं गदाधरभट्टाचार्यैः—'शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया लभ्यते' इति । विषयेऽत्र वैयाकरणमतमन्यत्र व्याकरिष्यते । वैयाकरणमतेऽशब्दलभ्योऽर्थो न भवितुमर्हति—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यश्शब्दानुगमादृते' इत्यभियुक्तोक्तेरिति दिक् ॥

नियतोपस्थितिको हि प्रातिपदिकार्थोऽस्तीति मान्यं मतं,
तस्याभूदिह कश्चिदेष हि परिष्कारो धिया तुच्छया ।
अव्याप्त्यादिकदोषजातमखिलं किञ्चिन्मयेहोद्धृतं,
शिष्टं शिष्टमतानुसारि च परं वक्ष्यामि कालान्तरे ॥[२]

---

२. अत्र निबन्धादौ निबन्धान्ते च उपजातिश्छन्दः । पूर्वत्र पूर्वार्धे उत्तरार्धे, इह च प्रथमपादे पादान्तरेषु च अतिधृतिजातिकस्य कृतिजातिकस्य ऊनविंशतिवर्णपादकस्य विंशतिवर्णकपादकस्य च समपादस्य शार्दूलविक्रीडितस्य मत्तेभविक्रीडितस्य च छन्दसोर्यथायथं मेलनात् । तल्लक्षणानि यथा—'सभरान्गौ यलगास्त्रयोदशयतिर्मत्तेभविक्रीडितम्' 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः स गुरवः शार्दूलविक्रीडितम्', अथ च 'इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम' इति च ॥

प्राचीनभारते क्रीडा

डॉ० नरेश झा

वाराणसी

From the very beginning of civilization, sporting as a natural instinct, has been helpful in building man's body and mind healthy. In this paper, the author has dealt with the sports of ancient India, their kinds and specific spots mentioned in different works.

क्रीडायाः वैदिकी चर्चा

क्रीडा शरीरिणां स्वाभाविकी प्रवृत्तिः। क्रीडया शारीरिकस्फूर्तिमनोविनोदौ च भवतः। अन्येषां कृते तु नानाविधाः व्यायामाः प्रवर्तितास्सन्ति किन्तु बालानां स्त्रीणाञ्च क्रीडैव शारीरिकव्यायामस्याधारभूता। प्राचीनग्रन्थानामनुशीलनेन ज्ञायते यत् संस्कृतेरादिकालादेव क्रीडा समेषां स्वाभाविकी प्रवृत्तिरासीत्। सामवेदस्यैकस्मिन् सूक्ते सोमः 'क्रीडुः' इति शब्देन सम्बोधितोऽस्ति। तद्यथा—

क्रीळुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्।[1]

हे सोम क्रीळुः क्रीडनशीलस्त्वमिति—सायणाचार्यः।

एवमेवाथर्ववेदेऽपि शिशुक्रीडायाः प्रयोगः उपलभ्यते। तथा च

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अर्णवम्।[2]

अत्र बालक्रीडायाः उपमानत्वेन निरूपणेनेदं ज्ञायते यत्तस्मिन् कालेऽपि क्रीडायाः महत्त्वमासीत्। वात्स्यायनेन मुनिनाऽपि चतुःषष्टिकलागमप्रयोगेषु

---

१. सामवेद उत्तरार्चिक ६।२।७।४; ऋग्वेद ९।२०।७।

२. अथर्ववेद १३।२।११।

द्विषष्टितमे प्रयोगे बालक्रीडनकानीति कथयित्वा गृहकन्दुकपुत्रिकादिभिर्यानि बालानां क्रीडनानि तानि बालोपक्रमार्थानीति व्याख्यातम् ।

पाणिनिकाले क्रीडायाः व्यापकत्वम्

किम्बहुना ईसवीयशताब्देः पूर्वमेवाभिनवव्याकरणप्रणेत्राऽऽचार्येण पाणिनिना क्रीडायाः सार्वदेशिकं महत्त्वमवलोक्य क्रीडार्थकधातूनां प्रचुरः प्रयोगः कृतः । दिङ्-निर्देशहेतोर्यथा—किल् श्वेतक्रीडनयोः, कुर्द क्रीडायाम्, कूर्द क्रीडायाम्, क्रीड् क्रीडायाम्, खूर्द क्रीडायाम्, खेल खेलने, खेला विलासे, गुद क्रीडायाम्, गुर्द क्रीडायाम्, तेव् देवने–क्रीडायाम्, दिव् क्रीडायाम्, देव देवने, द्रुम् गतौ, धाव् गतिशुद्धयोः, प्रु गतौ, प्लु गतौ, रमु क्रीडायाम्, लड् विलासे, लस् श्लेषणक्रीडनयोः, शश प्लुतगती, श्वल आशुगमने, हठ प्लुतिशठत्वयोरित्यादिभिः धातुपाठैस्तथा—'क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च'[3] इति सूत्रोदाहरणत्वेनानुक्रीडते, संक्रीडते, परिक्रीडते, आक्रीडते, इत्यादयः सिद्ध्यन्ति । अपि च 'प्राचां क्रीडायाम्'[4], 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः'[5] 'संज्ञायाम्' इत्यादिभिस्सूत्रैरुद्दालक-पुष्पभञ्जिकादिक्रीडानां सिद्धिर्जायतेऽतः सिद्ध्यति पाणिनिकाले क्रीडायाः पूर्णविकासत्वम् ।

क्रीडायाश्चत्वारो भेदास्तेषां निरूपणञ्च

एषा क्रीडा पद्मचरिते चतुर्भिर्भेदैः वर्णिता तत्र यासु क्रीडासु शरीराङ्ग-प्रत्यङ्गानां चालनस्यावश्यकता भवति तासां संज्ञा 'चेष्टा' अस्ति । यासु क्रीडासु च सहायकवस्तूनामावश्यकता भवति तासामुपकरणक्रीडेति । सुभाषितकाव्य-क्रीडादीनां वाक्क्रीडनमिति संज्ञा । एतदेव परिष्कृत्य विचारसौकर्यार्थं पण्डित-प्रवरेण श्रीमदनन्तशास्त्रिफडकेमहोदयेन क्रीडायाः प्रकारचतुष्टयं प्रतिपादितम् तत्र प्रथमे प्रकारे प्रधानतया स्वस्वमनोविनोदमुद्दिश्य विहितक्रीडानां संग्रहः । द्वितीये प्रकारे प्रेक्षकादिमनोविनोदादिकं प्रधानतयोद्दिश्य सम्पादितखेलानां सङ्कलनम् । तृतीये प्रकारे धर्मदृष्ट्या सम्पत्स्यमानानामनेकविधानां क्रीडानां समाहारः । चतुर्थे प्रकारे च स्वरूपविशेषोपलब्धिरहितानां नामत उपलब्धानामज्ञातविशेषप्रकारकाणां संग्रहः । तत्र क्रीडाशब्देन प्रधानतो मनोविनोदाय केनापि निश्चितप्रकारेणानेकैरेकेन वा शरीरचेष्टादिना यत्क्रियते तद् ग्रहणम् ।[6] अतः क्रीडा एकाङ्गी द्व्यङ्गी सामूहिकीति त्रिभिर्भेदैर्परिगणनीयेत्यस्मन्मतम् ।

---

३. अष्टाध्यायी १।३।२१ ।

४. तत्रैव ६।२।७४ ।

५. तत्रैव २।२।१७ ।

६. सरस्वती भवन स्टडीज भाग १०, १९३८ ई० ।

क्रीडास्थानानि

प्राचीनकाले एतासां क्रीडानां क्रीडाविनोदाय नगरेषु निकटवर्तिस्थानेषु राजप्रासादेषूद्यानेषु पर्वतेषु वनेषु चेदृशानि स्थानानि रचितान्यासन् यत्र प्राकृतिकवातावरणे जनाः स्वक्लान्तिं श्रान्तिञ्च दूरीकुर्वन्ति स्म । भगवतः श्रीकृष्णस्य रैवताचलः, गोवर्द्धनगिरिः, वृन्दावनञ्च क्रीडास्थानमासीत् ।[७]

पद्मपुराणे तु आशुतोषः शिवः शैले क्रीडन् सम्बोध्यते। अपि च—

क्रीडाशैलाः प्रत्यगारं नीलरत्नविनिर्मिताः ।
कुर्वन्ति शङ्कां मेघस्य मयूराणां कलापिनाम् ।।

इत्यनेन प्रतिगृहं नीलरत्नरचिताः क्रीडापर्वताः वर्णिताः ।[८] स्कन्दपुराणे च—

नानाक्रीडागृहयुतो गीतवाद्यमनोहरः ।
गन्धर्वनगराकारः संयुक्तः प्रत्यदृश्यत ।।[९]

अनेन वर्णनेन क्रीडागृहाणां स्थितेः सूचनोपलभ्यते ।

काचन क्रीडाः—कृत्रिमवृषभक्रीडा

बाल्यावस्थायां बालकाः प्राङ्गणे उपवने वा दलद्वयेन विभक्ताः स्वशरीराणि कम्बलकन्थादिभिराच्छाद्य विहितवृषभाकाराः वृषभवच्छब्दं कुर्वाणाः यस्यां क्रीडायां परस्परं युध्यन्ति सा कृत्रिमवृषभक्रीडा नाम्नोच्यते । अन्वर्थनामिकेयं क्रीडा । पुरेयं क्रीडा वृन्दावने स्ववयस्यैर्गोपबालकैस्सह श्रीकृष्णबलरामाभ्यामनुष्ठिता यथोक्तं श्रीमद्भागवते—

क्वचित्पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ।
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ।।[१०]

अत्र श्रीधरस्वामि-वीरराघवाचार्ययोर्टीकाकर्त्रोराशयोऽयं यत् क्रीडनावसरे श्रीकृष्णः स्वशरीरोपरि कम्बलाच्छादनपूर्वकं हस्ताभ्यां पद्भ्याञ्च गच्छन्

---

७. स्कन्द० वैष्णव २२।२३, पद्म० पा० ६९।१८ ।

८. पद्म० उत्तर १३।४४, ३९।६ ।

९. माहेश्वरखण्डे कौमारिकाखण्डम् १६।११ ।

१०. श्रीमद्भागवतम् १०।११।३९-४० ।

गोपबालकैस्सह युद्धाभासमिव करोति स्म। अद्याप्येषा क्रीडा क्वचित् क्वचित् ग्रामाञ्चलेषु दृश्यते। शारीरिकश्रमेण युक्ता कौतुकावहेयं क्रीडा।

चतुरङ्गक्रीडा (शतरंज इति भाषायाम्)

इयं क्रीडा अतिप्राचीनकालादेव भारते प्रचलिताऽस्ति। प्रतीयते यत् युद्धस्य पूर्वाभ्यासायेयं क्रीडा विधीयतेस्म। तथा च चतुष्कोणात्मकश्चतुःषष्टिफलेषु क्रीडन्ति स्म यस्मिन्ननेके चतुष्कोणकोष्ठाः रच्यन्ते स्म। अस्यां क्रीडायां राजामन्त्रीगज-अश्वरथपदातयश्चैतानि षडङ्गान्यासन्। अधुना रथस्थाने उष्ट्रसन्निवेशः सञ्जातः। यथा युद्धे व्यूहानां प्रयोगः तथैव चतुरङ्गक्रीडायामपि सीमा-सुमेरु-गोमूत्र-व्यूहानां प्रयोगो भवति। यथा युद्धे राज्ञां मन्त्रिणां हस्तिनां घोटकानां उष्ट्राणां रथानां पदाति-सैनिकानाञ्चावश्यकता भवति तथैवास्यां क्रीडायामपि तत्तत् पात्रविशेषाः भवन्ति। वैदिके काले क्रीडितेयं क्रीडा 'चतुरङ्ग' नाम्ना सुप्रसिद्धा। वी० आर० दीक्षितार-मतेन ऋग्वेदाथर्ववेदयोरेतादृशानेके प्रसङ्गा समुपलब्धा यैर्ज्ञायते यत्तस्मिन् काले[११] क्रीडा युद्धकर्तृकं प्रियं मनोरञ्जनमासीत्।

अयं शब्दप्रयोगो धर्मशास्त्रीयषोडशसंस्कार-निरूपणप्रसङ्गे विष्णुबलिसंस्कारे दृश्यते। तथा च नारायणभट्टकृते प्रयोगरत्ने विष्णुबलिप्रकरणेऽपि प्रयोगः। इयं च फारसीभाषायां चतुरंगसंज्ञया अरबीभाषायां शतरंज इति नाम्ना प्रसिद्धा। विदेशीयानां यवनशासकानां प्रभावादेवाधुनापि 'शतरंज' इत्येव नाम धत्ते। बौद्ध-साहित्यस्य समवायसुत्ते 'अट्ठावयम्' नाम्न्याः क्रीडाया उल्लेखः चतुरङ्गक्रीडैव। तथैव कादम्बर्यामपि अभ्यस्यताष्टापदव्यापाराणि[१२] हर्षचरिते च 'अन्धकारित-ललाटपट्टाष्टपदा'[१३] इत्युभयत्राष्टापदक्रीडा चतुरङ्गद्योतिका।

उपर्युक्तोपक्रमैर्नात्र सन्देहावसरः यदियं क्रीडा भारतीया प्राचीना च न। यद्यपीयं बुद्धिविलासिनी आलस्ययुक्तानामवलम्बिनी तथापि स्वास्थ्याय शारीरिकबल-प्राप्तये च न श्रेयसे इति। विशेषविवरणाय शूलपाणिकृता चतुरङ्गदीपिका द्रष्टव्येति।

---

११. वार इन एंशियेन्ट इण्डिया, पृ० १५४।
१२. कादम्बरीकथामुखम्।
१३. हर्षचरितम् १।९।

पातञ्जलयोगसूत्रोक्तेश्वरप्रणिधानम्

डा० सुरेशचन्द्रश्रीवास्तव्य:
प्रयाग :

The term *īśvarapraṇidhāna,* used by the *sūtrakāra* means unmistakably the 'devotion to God'. But what sort of 'devotion' is actually intended here, is difficult to identify or pinpoint. It is in this context that all the commentators have resorted to divergent interpretations of the term. In this article, an attempt has been made to ascertain as to which of the rival interpretations has the stronger claim to preference. The term *īśvarapraṇidhāna* means 'an all out concentration on God'.

इह तावद् योगसूत्रप्रयुक्तेश्वरप्रणिधानपदस्यार्थो विचार्यते । तत्पदस्य प्रयोगः भगवता सूत्रकारेण पतञ्जलिना कस्मिन्नर्थे कृत इत्येतत्समीक्ष्य तदर्थम् निर्धारयितुमिदानीं प्रयत्यते । किं योगसूत्रोक्तं प्रणिधानपदं, भक्तिपरम्, भावनापरम्, उपासनापरम्, ज्ञानपरम् अथवैतद्विलक्षणं कञ्चिदन्यमर्थं प्रतिपादयति ? एतत्सर्वं समालोचयितुकामैरस्माभिः प्रथमं तावदिदं द्रष्टव्यम् यदयं शब्दस्सूत्रकृद्भिस्त्रिः प्रयुक्तः, तद्यथा—

१—ईश्वरप्रणिधानाद्वा—योगसूत्रम् । १·२३ ।

२—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः—योगसूत्रम् २·१ ।

३—शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः —योगसूत्रम् २·३२ ।

एतेषु त्रिषु प्रयोगेषु क्रियायोगनियमयोः प्रतिपादनपरायणयोः साधनपादान्तर्वर्त्तिनोस्सूत्रयोरुपात्तमीश्वरप्रणिधानम् तु सुगमव्याख्यानम्, यतो हि तत्र परमगुरौ सर्वकर्मार्पणरूपा एव क्रिया योगसाधनत्वेन हेतुना योगरूपा प्रतिपादिता भवति । व्याख्यातारोऽपि तत्र नैव विप्रतिपन्नाः । सर्वं एव ते तत्रत्यमीश्वरप्रणिधानम् ईश्वरे सर्वकर्मार्पणरूपतया, सर्वकर्मफलस्य तस्मिन् परमगुरौ संन्यासरूपतया च व्याख्यान्ति, क्रियायोगपदस्य योगसाधनभूतक्रियापरतया, नियमानाञ्च क्रियारूपतयेव व्याख्यातत्वात् । एतत् प्रणिधानम् योगसाधनपरायणानां युज्यमानसाधकानां प्रारम्भिकीष्वेव भूमिकास्वपेक्ष्यमाणमुपदिष्टम् ।

परन्तु नैयं स्थितिः प्रथमपादीयत्रयोविंशसूत्रपठितस्यासम्प्रज्ञातसमाधिशीघ्रतमतोपायभूतस्येश्वरप्रणिधानस्य । अस्योपयोगस्तु सम्प्रज्ञातसमाधिसिद्धौ नैव विहितः, प्रत्युतासम्प्रज्ञातसमाधिविषयकासन्नतमतोपलम्भ एवास्योपयोग उपदिष्टः । नूनं तर्हीदमीश्वरप्रणिधानं काचिदुत्कृष्टरूपा योगान्तर्वर्तिनी साधना । एतत्स्वरूपस्य विशदव्याख्याने नैका विप्रतिपत्तय आभान्ति । ताः सर्वाः सम्यगालोच्य तासामापेक्षिकमुपपत्तिमत्त्वमत्रोपदिष्टेश्वरप्रणिधानस्य निर्विचिकित्सितनिर्भ्रान्तिसुसंगतार्थं च प्रतिपादयितुकामेन मयेदानीं यत्यते ।

प्रथमोपात्तप्रणिधानपदस्य "भक्तिविशेष"[1] इत्यर्थः योगभाष्यकारेण कृतः । वाचस्पतिमिश्रेणापि "भक्तिविशेषो मानसः कायिको वाचिको वा"[2] इत्येवाभिप्रायः स्वीकृतः । यतिवरेण विज्ञानभिक्षुणा पुनरस्य प्रणिधानस्य "असम्प्रज्ञातकारणीभूतसमाधिभावनाविशेष"[3] इत्येवार्थो घोषितः । भास्वतीकारो हरिहरानन्दारण्यस्तु समन्वयात्मकमर्थं स्वीकृत्यैवमकथयत् यत् "सर्वकर्मार्पणपूर्वभावनारूपं प्रणिधानं, न तु कर्मार्पणमात्रम् तच्च भक्तिविशेषः"[4] इति । वृत्तिकारभोजोऽपि अचकथत् यत् "तच्च प्रणिधानं भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं, विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति"[5] इति ।

परवर्तिनोऽप्यनेके योगसूत्रभाष्यव्याख्यातारोऽत्रत्यप्रणिधानपदमेवं व्याचख्युः—

भावागणेशः —

"तज्जपस्तदर्थभावनमिति वक्ष्यमाणात्तद्विषयकधारणाध्यानसमाधित्रयतुल्याद् (ईश्वरप्रणिधानात्) ।"[6]

नागोजीभट्टः —

"तज्जपस्तदर्थभावनमिति वक्ष्यमाणतद्विषयकधारणाध्यानसमाधित्रयाद्······ परमात्मसंप्रज्ञातात्तं (उक्तोपायं) विनापि स आसन्नतम इति[7] भावः ।"

---

१. द्रष्टव्यम्—योगभाष्ये ६३ तमं पृष्ठम् ।
२. द्रष्टव्यम्—तत्त्ववैशारद्याम् ६३ तमं पृष्ठम् ।
३. द्रष्टव्यम्—योगवार्त्तिके ५३ तमं पृष्ठम् ।
४. द्रष्टव्यम्—भास्वत्याम् ६३ तमं पृष्ठम् ।
५. द्रष्टव्यम्—राजमार्त्तण्डवृत्तौ २९ तमं पृष्ठम् ।
६. द्रष्टव्यम्—भावागणेशवृत्तौ २८ तमं पृष्ठम् ।
७. द्रष्टव्यम्—छायाव्याख्यायाम् २९ तमं पृष्ठम् ।

यतिवररामानन्दः —

ईश्वरे कायिकाद्वाचिकान्मानसात्प्रणिधानाद् भक्तिविशेषात् ।[८]

अनन्तदेवः —

सुगमोपायोऽयं भक्तिविशेषः ईश्वरे सर्वक्रियाणामर्पणं वा ।[९]

सदाशिवेन्द्रशास्त्री —

प्रणिधानं भावनाविशेषः ।............ईश्वरो हि समाराधनादिना साधनेनाराधितः ।[१०]

राघवानन्दसरस्वती —

भक्त्या (प्रणिधानेन) वशीकृतः[११] ।

स्वामीविवेकानन्दः— Or by devotion to God.[१२]

एतानि मतानि सूक्ष्मेक्षिकयेक्षमाणः कोऽपि प्रेक्षावान् सारभूतमेतत्तथ्यं ननं प्रपद्यते यत् द्विविधास्तत्र व्याख्यातारस्सन्ति । एके तावद् "ईश्वरप्रणिधानम्" ईश्वरे मानस-वाचिक-कायिकव्यापारान्तःकक्षीकृतसर्वक्रियार्पणत्वेन व्याचक्षते, मन्वते च भक्तिविशेषम् एवेश्वरप्रणिधानम् असम्प्रज्ञातसमाधितत्फललाभे मोक्षसाधनभूतम् । अस्याञ्च व्याख्यातृकोटौ वाचस्पतिभोजराजरामानन्दादयः प्राञ्चोऽनन्तदेवराघवानन्दसरस्वत्यादिका मध्ययुगीनास्स्वामिविवेकानन्दादयोऽवञ्चिश्च प्राधान्येन समावेशमर्हन्ति । अपरे पुनर्विज्ञानभिक्षुप्रभृतय आचार्याः न तत्क्षमन्ते । तेषां मतेऽत्रत्यस्येश्वरप्रणिधानस्य न कर्मार्पणादिवाचकत्वम् प्रत्युतेश्वरविषयकधारणादिसमानार्थकभावनारूपत्वमेवाभीष्टम् । नव्याश्च बहवो भावागणेशनागोजीभट्टहरिहरानन्दाख्यादयः एतदेव भिक्षूक्तं मतं क्षोदक्षमं मत्वोररीकुर्वन्ति ।

स्पष्टमेव विज्ञानभिक्षुणोद्घुष्यते यत्—

"प्रणिधानमत्र न द्वितीयपादवक्ष्यमाणं किन्त्वसंप्रज्ञातकारणीभूतसमाधिर्भावनाविशेष एव, तज्जपस्तदर्थभावनमित्यागामिसूत्रेणैवात्मप्रणिधानस्यात्र लक्षणीयत्वात् ।

---

८. द्रष्टव्यम्—मणिप्रभायाम् २९ तमं पृष्ठम् ।

९. द्रष्टव्यम्—चन्द्रिकायाम् २९ तमं पृष्ठम् ।

१०. द्रष्टव्यम्—योगसुधाकरे २९ तमं पृष्ठम् ।

११. द्रष्टव्यम्—पातञ्जलरहस्ये ६३ तमं पृष्ठम् ।

१२. Vide—*Rājayoga* page 91.

तथा च सूत्रद्वयस्यायमर्थः प्रज्ञान्तो यो योगोपायो जीवात्मपरमात्मसाधारणविषयक उक्तस्तत्र जीवात्मप्रज्ञान्तस्योपायस्याधिमात्रतीव्रसंवेगत्वे सत्येवासन्नतमोऽसम्प्रज्ञातो भवति, परमात्मप्रज्ञान्तस्योपायस्यत्वधिमात्रतीव्रसंवेगत्वाभावेऽप्यासन्नतमोऽसम्प्रज्ञातो भवतीति। एवं च सति मुख्यकल्पानुकल्पभेदेन परमात्मजीवात्मप्रज्ञयोर्योगमोक्षहेतुत्वं बोध्यम्, उभयप्रज्ञयोरेव देहाद्यभिमाननिवर्तकत्वेन परवैराग्यद्वारकत्वसाम्येऽप्यतितीव्राभ्यासं विनापि परमात्मप्रज्ञाया आसन्नतमयोगहेतुतया श्रैष्ठ्यात्।''[१३]

एतन्मते प्रणिधानपदेनेश्वरविषयकधारणाध्यानसमाधिरूपः भावनाविशेष एवात्र विवक्षितो मन्तव्यः, स च निरीश्वरसांख्यसाधनामूलजीवात्मालम्बनकग्रहीतृविषयकसमापत्तिविशेषणकयोगादतिरिक्तः परमेश्वरालम्बनकः पातञ्जलयोगवैशिष्ट्यसाधकोऽन्य एवासाधारण एको योग इति निश्चेतव्यः। अयमेव च विज्ञानभिक्षुवर्यैर्मुख्यकल्पत्वेनोपदिष्टः। यद्यपि भाष्यकारैर्व्यासदेवैर्नात्र विषयेऽर्थस्पष्टीकरणे बहुधा प्रायत्यत, तथापि ''भक्तिविशेषमेव'' तदर्थत्वेन प्रस्तावयद्‌भिस्तैः कर्मार्पणादिव्यतिरिक्तं मानसमेव किञ्चिद् व्यापारजातम् प्रणिधानपदबोध्यमङ्गीकृतम्[१४] इति लक्ष्यते। समीचीनमेवैतत्प्रतिभाति यतो यदि कर्मार्पणादिकम् एव प्रणिधानस्यार्थः स्यात् कथं तर्ह्येतस्योपायस्य वैकल्पिकत्वं निर्दिश्येत भगवता पतञ्जलिना, नियमान्तर्गतस्य तस्यानिवार्यत्वेनोपदिष्टत्वात्। अनेन वैकल्पिकत्वोपदेशेनैश्वरप्रणिधानस्य प्रथमपादीयसूत्रोपात्तेन द्वितीयसूत्रोपात्तक्रियायोगनियमान्तर्गतप्रतिपादितेश्वरप्रणिधानस्य ब्रह्मकर्मार्पणार्थस्यावश्यकर्त्तव्यस्य भिन्नार्थता स्वयसिद्धा सूपपादिता च।

एवंसिद्धायां भिन्नार्थतायामीश्वरप्रणिधानयोरत्रत्यस्यार्थनिश्चयोऽपि सुकरः। प्रथमपादीयत्रयोविंशसूत्र ईश्वरप्रणिधानं प्रस्ताव्य ततः चतुर्थे सूत्रे ईश्वरस्वरूपं व्याख्याय परिचाय्य च तद्धर्मादीन्, अष्टाविंशे सूत्रे पतञ्जलिस्तत्प्रणिधानं व्याख्यातुकामो[१५] दृश्यते। तज्जपस्तदर्थभूतस्येश्वरस्य भावनम् ध्यानं पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनम् इत्यर्थं प्रतिपिपादयिषुराह सूत्रकारः 'तज्जपस्तदर्थभावनमिति'। वाचस्पतिप्रभृतयो व्याख्यातारोऽप्यत्रार्थभावनपदेन ईश्वरस्य पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनरूपमेव करणीयतया व्याख्यान्ति।[१६] ततश्च स्पष्टमेवेश्वरप्रणिधानस्य भावनापरपर्यायध्यानरूपतैवाभिप्रेता भगवता योगसूत्रकृता तथैव च यथायोगं स्पष्टास्पष्टरूपेण सर्वैष्टीकाकृद्-

---

१३. द्रष्टव्यम्—योगवार्तिके ६३।
१४. द्रष्टव्यम्—योगभाष्यम् ६३ तमं षष्ठम्।
१५. द्रष्टव्यम्—योगसूत्रम् १।२८।
१६. द्रष्टव्यम्—तत्त्ववैशारद्याम् ८४ तमं पृष्ठम्।

भव्याख्यातम् । किञ्चेश्वरप्रणिधानस्यावान्तरफलत्वेन श्रूयमाणौ प्रत्यक्चेतनाधिगमान्तरायाभावौ वास्येश्वरालम्बनधारणाध्यानसमाधिप्रकारकयोगस्वरूपतामेवाभिदधाते । अयमस्ति विशेषोऽस्य पारमेश्वरयोगस्य यदेतमभ्यस्यतानेन साधकेनान्तराया नानुभूयन्ते ततश्च योगसाधनोत्कृष्टत्वलाभात् सिध्यत्यसम्प्रज्ञातपर्यन्ता सकला योगसाधना । एवञ्च विशदव्याख्याता भवतीश्वरप्रणिधानपरायणानामसम्प्रज्ञातलाभविषया आसन्नतमता । ततश्चेश्वरप्रणिधानस्यात्रोक्तस्येश्वरसमाधिरूपत्वमेव उपपत्तिमत्तया योगसूत्रकारस्य प्रतिपिपादयिषितम्, नान्यत् कर्मार्पणादि किञ्चिद् । प्रणवजपस्य त्वीश्वरभावनायामङ्गत्वमपि विज्ञानभिक्षुणाङ्गीकृतम् ।[१७] वाचस्पतिमिश्रेणापि प्रणिधानव्याख्यावसरे वाचिकभक्तिविशेषस्य स्वीकृतत्वात् प्रणवजप एव लक्षितो दृश्यते ।[१८] तथा चान्येऽपि केचित्तदनुगामिनो वस्तुयाथातथ्यपरिशीलनपरायणाः परवर्तिनष्टीकाकृत एवमेव गौणप्रधानभावेन जपमप्यन्तर्भावयन्त ईश्वरविषयकसमाधिमेव प्रणिधानपदलक्ष्यमामनन्ति । ये पुनः ब्रह्मकर्मार्पणमात्रमेव द्वितीयपादोक्तम् अत्रत्येश्वरप्रणिधानपदवाच्यं प्रतिपादयन्ति ते तु प्रामाणिकजनगर्हणार्हा एव । नूनं तैस्सकलम्पौर्वापर्यं नैवाक्षिलक्ष्यीकृतं, न वा तैः प्रतिपिपादयिषितार्थालोचनमेव सम्यगनुष्ठितम् ।

---

१७. "प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानं तच्च वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा कर्तव्यमिति समुदायार्थः ।"—वार्तिके ८३ तमं पृष्ठम् ।

१८. द्रष्टव्यम्—तत्त्ववैशारद्याम् ६३ तमं पृष्ठम् ।

व्याकरणशास्त्रे आगमप्रामाण्यम्

कृष्णकान्तशर्मा

वाराणसी

Āgama is the eternal live flow of knowledge passed on to us through teacher-pupil relation. It causes one to have worldly as well as subtle knowledge, which is beyond the cognizance of senses. The Grammarians take Āgama as the highest authority than other *pramāṇas*. In this paper. Āgama as pramāṇa and its importance have been discussed.

'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः', "प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा"[1] इति कृत्वा सर्वेष्वपि दर्शनेषु प्रमाणस्य विचारः कर्तव्यो भवति। किं बहुना यद्यपि सांख्यशास्त्रं प्रमेयप्रतिपादकं तथापि "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि"[२] इति कृत्वा तैरपि सांख्याचार्यैः स्वप्रमेयसिद्धये प्रमाणविचारः कृत एव। इदानीं सुतरां जिज्ञासेयं समुदेति किमिदं प्रमाणं नाम, किम्वास्य लक्षणमिति? अत्रोच्यते ज्ञेयपदार्थस्य यथार्थस्वरूपानुभूतिरेव प्रमा, तस्याश्च प्रमाया यत् साधनं भवति तदेव प्रमाणमित्युच्यते।[३] 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमि'ति व्युत्पत्त्या येन साधनेन ज्ञेयतत्त्वमुपलभ्यते, ज्ञेयतत्त्वं ज्ञायते तदेव साधनं प्रमाणमित्युच्यते। महाभाष्यकारेणापि प्रोक्तम्—"मानं हि नाम तद् येनानिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामि।"[४] उद्योतकारेणापि "अनिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञापकत्वं हि तत्त्वम्"[५] इत्युक्त्वा ज्ञेयपदार्थस्य यज्ज्ञापकं तदेव प्रमाणमिति प्रतिपादितम्। 'प्र'पूर्वकस्य 'मा'

---

१. वात्स्यायनभाष्यम्, न्या० द० १।१।१।

२. सांख्यकारिका, ४।

३. "यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनञ्च प्रमाणम्"—उदयनाचार्याः।

४. महाभाष्यम्, २।१।५४ पा० सूत्रे।

५. तत्रैव, उद्योतः।

धातोरर्थः 'प्रमा' कृत् (ल्युट्) प्रत्ययस्य चार्थः 'करणम्'। एतावता 'प्रमाकरणम्' प्रमाणम्। अत एव च "प्रमायाः करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमि"ति[६] तर्कदीपिकाकारः।

इदानीं प्रश्नोऽयं समुदेति यत् किं तत् प्रमायाः करणं किम्वा तद् यथार्थ-ज्ञानस्य साधनं कियती वास्य संख्या येन साधनेन ज्ञेयपदार्थो ज्ञायते ? विषयेऽस्मिन् दार्शनिकेषु दृश्यते मतभेदः। तत्र प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं तदतिरिक्तमनुमानादि तु प्रमाणपदवीं नाधिरोढुमर्हति इति चार्वाकाः। प्रत्यक्षातिरिक्तमनुमानमपि स्वतन्त्रं ज्ञानसाधनं (प्रमाणम्) इति बौद्धवैशेषिकदर्शनाचार्याः। प्रत्यक्षानुमानागोचरधर्मा-धर्मादिनिर्णयार्थं मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदानामाप्तोक्तानां समेषां शब्दानां चापि स्वतन्त्रमेव प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षानुमानशब्दाख्यप्रमाणत्रितयवादिनः सांख्ययोगा-चार्याः। गो-सादृश्यज्ञानेन गवयपदार्थे गवयपदीयशक्तिग्रहायोपमानमपि स्वतन्त्रं प्रमाणमिति प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वारि प्रमाणानि इति प्रमाणपटवो नैयायिकाः। दिवाऽभुञ्जानं देवदत्तं स्थूलं दृष्ट्वा 'अवश्यं रात्रिभोजनवानयम्' इति स्थौल्यज्ञानेनास्य रात्रिभोजनमर्थादापद्यत इति कल्पयन्तोऽर्थापत्तिमपि पञ्चमं स्वतन्त्रं प्रमाणमिति कथयन्ति प्राभाकरमीमांसकाः। प्रत्यक्षादिना नाभावस्य ज्ञानं सम्भवतीति तज्ज्ञानार्थमनुपलब्धिरपि षष्ठं प्रमाणमिति भाट्टमीमांसका अद्वैतवेदा-न्तिनश्च,। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शब्दोऽर्थापत्तिरनुपलब्धिः सम्भव ऐतिह्यञ्चेत्यष्टौ प्रमाणानीति पौराणिकाः। चेष्टासहितान्येतानि नव इति तान्त्रिका आलङ्का-रिकाश्च। तदित्थं विभिन्नदर्शनेषु प्रमाणसंख्याविषयिणी भिन्नता स्पष्टैव।

प्रमाणसंख्याविषये सत्यपि मतभेदे प्रत्यक्षानुमानशब्दरूपाणि त्रीण्येव प्रमाणानि प्रमुखानि वर्तन्ते। एष्वेवान्येषामुपमानादीनाम-तर्भावो भवितुमर्हतीति सम्यक् साधितं तत्रभवता वाचस्पतिमिश्रमहाभागेन।[७] यद्यप्येतेषु त्रिष्वपि प्रमाणेषु प्रत्यक्षं ज्येष्ठम् उपजीव्यञ्चानुमानादीनां[८] तथापि न्यायदर्शने अनुमानस्यैव प्रामुख्यं सर्वप्रमाणेषु। तत्र वेदस्यापि प्रामाण्यमनुमानाधीनम्। किन्तु व्याकरणदर्शने आगमस्य प्रामाण्यं प्रत्यक्षमनुमानञ्चाप्यतिरिच्य विद्यते। आगमः सर्वप्रमाणेषु श्रेष्ठं प्रमाणमिति व्याकरणदर्शनस्य सिद्धान्तः। अतोऽत्र व्याकरणदर्शनदृशा आगम-प्रमाणम्, तस्य महत्त्वञ्च प्रस्तूयते।

---

६. तर्कदीपिका, तर्कसंग्रहः, पृ० २४ पूना सं०।

७. द्र० सां० त० कौ०, सां० का० ५।

८. "प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्चानुमानादीनाम्।" (सां० त० कौ०, सां० का० ५)

चित्स्वभावस्य स्वात्मनो यदान्तरं शब्दनं विमर्शो वा स एव आगम इत्युच्यते। विमर्शजनकत्वात् तदुपयोगितया च शब्दराशिरप्युपचारेण आगम इत्युच्यते। यतो हि सर्वमपि ज्ञानं शब्दानुविद्धं भवति। संसारे न किमपि ज्ञानमेतादृशं स्याद् यच्छब्दं विना सम्भवेत्। अत एवोक्तं तत्रभवता महावैयाकरणेन भर्तृहरिणा—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[९] इति।

यद्यपि इदमपि सत्यं यद् विनापि शब्दप्रयोगमिङ्गितेन चेष्टितेनाभिनयादिना च वयं परस्मिन् स्वबोधं सम्प्रेषयामः[१०] तथापि इदमपि नापलपितुं शक्यते यदभिनयादिकं स्वबोधसङ्क्रान्तेरपूर्णं साधनम्। यतो हि अभिनयादिना सरलतया परत्र स्वबोधसङ्क्रमणं न केवलं कठिनमपितु कदाचिदसम्भवमपि भवति। किञ्च इङ्गितेषु चेष्टितेषु वा यद्यपि स्फुटतया शब्दप्रयोगो न भवति तथापि बोद्धुर्बोधस्तु शब्दानुविद्ध एव भवति। यतो हि आवाहनस्याभिनयं कुर्वन्तं देवदत्तं विलोक्य यज्ञदत्तस्य मनसि 'अयं मामाह्वयती' त्येवंप्रकारकः शब्दः सूक्ष्मरूपेण भवति, तदनु च तस्य बोधो जायते। अतः यदि संसारेऽस्मिन् स्वबोधसङ्क्रान्तेः किमपि पूर्णं साधनं विद्यते तर्हि शब्दः (आगमः) एव। 'आ समन्तादर्थं गमयती' ति आगमः। अर्थात् यः पूर्णरूपेण सर्वतोऽर्थं बोधयत्यसौ आगमः। शब्देन परत्र स्वबोधसम्प्रेषणमेवागमस्य स्वरूपम्। यथोक्तं योगभाष्यकृता—"परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिष्यते"[११] इति।

गुरुशिष्यपरम्परारूपेण निरन्तरं प्रवहमाणा या अविच्छिन्नधारा सैवागमपदेनोच्यते। अत एवोक्तं हरिणा—

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।[१२]

अनादिकालादारभ्य गुरुशिष्यपरम्परानुक्रमेण यतोऽयमागत अत एवास्य इयमागमसंज्ञा। तदुक्तं शारदातिलकेन—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतञ्च गिरिजाश्रुतौ।
तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम्॥

---

९. वाक्यपदीयम् १।१२३।

१०. "अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था विज्ञायन्ते।" (महाभाष्यम्)।

११. व्यासभाष्यम्, पा० यो० सू० १।७।

१२. वाक्यपदीयम् १।४१।

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।। इति ।

आगमस्य स्वसंवेदनरूपत्वम्

गुरुशिष्यपरम्परारूपेण स्वबोधसङ्क्रमणेऽपि यः स्वबोधः सः प्रत्यक्षेण स्वसंवेदनात्मैव वर्तते । अत एवोक्तं वाक्यपदीये हरिणा—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।।[१३] इति ।

अर्थात् तपसा निर्दग्धकिल्बिषाणां निर्मलचेतसाम् अत एव आविर्भूतज्ञानानाम् ऋषीणामाप्तपुरुषाणां वा अतीतमनागतञ्च यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षाद् भिन्नं न भवति । यतो हि यत् किञ्चित्तैः प्रत्यक्षीकृतम्, तदेवोपदिष्टम् । यथोक्तं योगभाष्यकारेणापि—"आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपादिश्यते" इति । अर्थाद् आप्तपुरुषैः यः कश्चिदर्थः प्रत्यक्षीकृतः, अनुमानेन वा ज्ञातः तमेवार्थं ते शब्देन अन्यस्मिन् संक्रामयन्ति । एतावतागमस्य स्वसंवेदनरूपत्वं स्फुटं भवति ।

अन्यप्रमाणेभ्य आगमस्य प्राबल्यम्

यद्यपि प्रत्यक्षेण स्वसंवेदनात्मन आगमस्य प्रत्यक्षान्न भेदस्तथापि लौकिकप्रत्यक्षात्त्वयं बलवत्तरः । यतः अस्ति तावद् अन्तर्यामी कश्चन सर्वशक्तिसम्पन्न आदित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रवाय्वग्न्यादीनां स्वस्वक्रियासु यथाकालं नियमेन प्रवर्तकः, सन्ति च परमाणवो अखिलस्य जगत उपादानकारणम्, अदृष्टम्, शब्दब्रह्म, शक्त्यधिष्ठानं देवताः, सूक्ष्ममातिवाहकं शरीरम् । सन्ति चैतेभ्योऽन्येऽपि एवंविधाः पदार्थास्तीर्थप्रवादेषु प्रसिद्धा ये न रूपादिवदिन्द्रियग्राह्या न वा सुखादिवत् प्रत्यात्मसंवेद्याः । एवंविधान् अतीन्द्रियान् असवेद्यानपि पदार्थान् ते ऋषय आर्षेण दिव्येन चक्षुषा पश्यन्ति । अतस्तेषामिदमार्षं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वेन लौकिकप्रत्यक्षादभिन्नमपि अतीन्द्रियभावग्राहकत्वादसंवेद्यवेदकत्वाच्च विलक्षणं प्रबलतमञ्च । अतस्तेषामिदमार्षं वचनमागमापरपर्यायमनुमानेनापि न बाध्यते । सोऽयमागमः चैतन्यमिव अविच्छिन्नरूपेण विद्यते । अतोऽयं तर्केण न बाधितुं शक्यः । यथोक्तं हरिणा—

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।।[१४]

---

१३. वाक्यपदीयम् १।३७ ।
१४. वाक्यपदीयम् १।३८ ।

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ।।[१५] इति ।

आगमस्य प्रामाण्यं प्रसिद्धपरम्पराप्राप्तत्वान्न तु तर्कसिद्धत्वात् ।

आगमं विना धर्माधर्मव्यवस्थापि नानुमानेन सम्भवति ।[१६] आगमामूलकेन केवलेन शुष्कतर्केणेदं पुण्यमिदम्वा पापमिति नैव निश्चेतुं शक्यते । आगममूलकस्तु तर्को धर्मं व्यवस्थापयितुमर्हति । तदुक्तं मनुना—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।[१७] इति ।

आगमामूलकः पुरुषतर्कस्तु दृष्टमप्यर्थं व्यवस्थापयितुं न क्षमते, किमुत अदृष्टरूपं धर्मम् ! सर्वेऽपि वादिनस्तर्कमालम्ब्य विचारे प्रवृत्ता दूरमपि गत्वा तर्कं परित्यज्य अन्ते वस्तुस्वभावमेव समाश्रयन्त । न वस्तुस्वभावं व्यतिवर्तन्ते । अत एवोक्तं हरिणा "को हि अनवस्थितसाधर्म्यवैधर्म्येषु नित्यमलब्धनिश्चयेषु पुरुषतर्केषु विश्वासः !"[१८] तस्माद्धर्माधर्मव्यवस्थापने आगमस्यैव प्रामाण्यं प्रबलतममिति स्फुटम् ।

किञ्च स्वभावभेदात्पदार्था अनेकरूपा भवन्ति । तद्यथा यौवने पुरुषाणां यादृशं बलसत्त्वादिकं न तादृशं वार्धक्ये दृश्यते । पिप्पल्याख्यस्य चौषधेरार्द्रावस्थायां कफजननशक्तिः, शुष्कस्य च त्रिदोषशमनशक्तिरित्येवमवस्थाभेदेन पदार्थानामनेकरूपत्वं विद्यते । एवमेव देशभेदादपि पदार्थानां स्वभावभेदः शक्तिभेदश्च दृश्यते । तद्यथा हैमवतीनामपामत्यन्तं शीतः स्पर्शः, तद्रूपाणामेव च बलाहकेषु अग्निकुण्डादिषु च विद्यमानानामत्युष्णः स्पर्शोऽनुभूयते । एवमेव कालभेदादपि पदार्थेषु स्वभावभेदः शक्तिभेदश्च दृश्यते । तद्यथा ग्रीष्महेमन्तादिषु कूपनद्यादीनां जलेषु भिन्नाः स्पर्शा दृश्यन्ते । ग्रीष्मे कूपजलं शीतलं भवति हेमन्ते चोष्णम् । तदित्थमवस्थादेशकालानां

---

१५. तत्रैव १।४१ ।

१६. न चागमावृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते ।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ।।
(वा० प० १।३०)

१७. मनु० १२।१०६ ।

१८. स्वोपज्ञवृत्तिः वा० प० १।३० ।

भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु स्थितासु तासामप्रत्यक्षविशेषाणां शक्तीनां निश्चयो नानुमानेन कर्तुं शक्यः किन्तु आगमेनैव तत्तच्छक्तिभेदप्रसिद्धिरिति ।[१९]

किञ्च काष्ठादिदाहे दृष्टसामर्थ्यानामपि अग्न्यादीनां पदार्थानामभ्रपटलादिषु द्रव्येषु तथाभूतं सामर्थ्यं प्रतिबध्यते । एवमेव विशिष्टद्रव्यसम्बन्धेऽपि सा शक्तिः प्रतिबध्यते । तद्यथा दाहयोग्येष्वपि काष्ठादिद्रव्येषु मणिमन्त्रौषधिरसादिभिर्दाहादिकं प्रतिबद्धं दृश्यते ।[२०] अतो न हि दर्शनमात्रेण सर्वेष्वग्निषु दाहकत्वशक्तिरनुमातुं शक्या । एवञ्चैकस्मिन् विषये दृष्टसामर्थ्यानामपि पदार्थानां पुनर्विषयान्तरेषु शक्तयो न निश्चेतुं शक्यन्त इति आगमेनैव ता अवसेयाः, न तु तर्केण ।

किञ्च तर्कस्य तु दशा एवंविधा विद्यते यत् कुशलैरनुमातृभिः प्रयत्नपूर्वकमनुमितोऽपि कश्चन अर्थः कुशलतरैरनुमातृभिः अन्यथैव प्रतिपाद्यते ।[२१]

यो हि तार्किक आगममुपेक्ष्य स्थालीपुलाकन्यायेनैकदेशं दृष्ट्वा अवशिष्टेऽर्थे तद्दृष्टान्तेन तादृशोऽयमपीति निश्चिनोति, सोऽन्ध इव विषमे गिरिमार्गे चक्षुष्मन्तं नेतारमन्तरेण त्वरया परिपतन् कञ्चिदेव मार्गैकदेशं हस्तस्पर्शेनावगम्य समतिक्रान्तस्तत्प्रत्ययादपरमपि तथैव प्रतिपद्यमानो विनाशं लभते । तथैवागमचक्षुषा विना केवलेनानुमानेन क्वचिदाहितप्रत्ययस्तार्किको दृष्टादृष्टफलेषु कर्मस्वागममुत्क्रम्य प्रवर्तमानो नियतं महता प्रत्यवायेन युज्यते । अत एवोक्तं हरिणा—

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ।।[२२] इति ।

तदित्थं धर्माधर्मव्यवस्थापने, अवस्थादेशकालभेदाद् भिन्नशक्तीनां पदार्थानां ज्ञाने च सर्वत्रागमस्यैव प्राबल्यं सिद्धम् ।

सोऽयमागमो वेदशाक्तशैवपाञ्चरात्रादिभेदतो विविधो नित्यश्च । यद्यप्यनाद्यपौरुषेयमन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो 'निगम' पदेन व्यवह्रियते, तस्य च निगमस्य स्वरूपं

---

१९. अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ।। (वा० प० १।३२)

२०. निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति ।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते ।। (तत्रैव १।३३)

२१. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते । (वाक्यपदीयम् १।३४)

२२. वा० प० १।४२ ।

"सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्" तथापि प्रमाणप्रसङ्गे आगमपदेन पौरुषेयापौरुषेययोः निगमागमयोरुभयोरपि बोधो भवति ।

निगमागमयोस्त्वयमेव भेदो यन्निगमोऽनादिः अविच्छिन्नपरम्परागतः, अपौरुषेयश्च । आगमस्तु शिष्टैराप्तपुरुषैः काले काले निबध्यते ।[२३] सम्प्रदायाविच्छिन्नता त्वागमेऽपि समाना किन्त्वागमस्य स्मर्यमाणकर्तृकत्वान्निगमाद् भेदः । प्रमाणप्रसङ्गे उभयोरपि प्रामाण्यम् ।

इत्येवमनाद्यविच्छिन्नपरम्परारूपेण स्वबोधसंक्रान्तेरियं धारा आगमः समस्तज्ञेयपदार्थानां यथार्थज्ञाने प्रमुखं साधनं विद्यते । आगमेनैव प्रमेयस्य ज्ञानं सम्भवति । अतः स्वयं भगवती श्रुतिरप्याह—'तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति', 'त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि ।

न केवलं परमतत्त्वविषयकमेव ज्ञानमपितु विश्वस्य समस्तस्थूलपदार्थानां ज्ञानमप्यागमं विना न सम्भवति । यतः स्थूलपदार्था अपि प्रतिबन्धकवशान्न प्रत्यक्षेण ज्ञातुं शक्यन्ते । यद्यप्यनुमानस्य क्षेत्रं प्रत्यक्षापेक्षया व्यापकं तथाप्यागमापेक्षया व्याप्यमेव । किञ्चागमेन यथा सारल्येन पदार्था ज्ञायन्ते न तथान्येन केनापि प्रमाणेन । अत एव सांख्यकारिकाकारेणेश्वरकृष्णेनानुमानेनाप्यगम्यानामलौकिकानामतीन्द्रियाणाञ्च पदार्थानां ज्ञानमागमेनैवाभिमतम् । तथा चोक्तम्—

"तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्"[२४] इति ।

तदित्थं सूक्ष्मातिसूक्ष्मपदार्थस्य ज्ञापने आगमस्यैव सामर्थ्यं न प्रत्यक्षस्य नाप्यनुमानस्य । अत एवोक्तं शब्दतत्त्वविद्भिः शिष्टैः —

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।। २५ इति ।

अत एव शब्दप्रमाणकैर्वैयाकरणैरागमस्य प्रामाण्यं गभीरदृशा समर्थितमिति शम् ।

---

२३. अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः ।। (वा० प० १।१४४)

२४. सांख्यकारिका ६ ।

२५. ऋग्वेद भा० भू० ।

आगमस्तन्त्रञ्च

डॉ० मुरलीधरपाण्डेयः

जम्मू

The author has discussed here the meaning of the terms *Āgama* and *Tantra* and the difference in their nature.

आगमः तन्त्रं चेति पदद्वयं तावत् तान्त्रिकश्रुतिरूपेषु शास्त्रेषु बहुधा प्रयुज्यते, परं कानि शास्त्राणि तन्त्राणि कानि चागमसंज्ञानीति निश्चप्रचं न प्रतिपादयितुं शक्यते। यतो हि बहुप्रकारेषु तावच्छास्त्रेषु, पदद्वयमेतत् प्रयुक्तं प्राक्तनैर्विद्वद्भिः। दार्शनिकया दृष्ट्या निरुक्तं तावदागमपदं शैवदर्शनाचार्यैः। तदनुसारमागमशास्त्राणां कोटिद्वयम्। मुख्यास्तावदागमाः—आसमन्तादर्थं भोगमोक्षसाधनात्मकमुपायजातं गमयन्तः परमतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्ति महायोगिनामागमाः। तदुक्तम्—"आसमन्तादर्थं गमयतीत्यागमसंज्ञकं प्रमाणं सर्वस्य तावद्भवति इति" (ई० प्र० वि० खं० २, पृ० ८२)।

आगमशब्दान्तर्गताक्षरविशेषानुसारं निरुक्तः केनाप्यागमशब्दः इत्थम्—

आगतं शिववक्त्रात्तु, गतं च गिरिजामुखे।
मतं श्रीवासुदेवेन आगमस्तेन कीर्तितः॥

(ई० प्र० वि० भास्करीटीकायाम्)

एतेन ज्ञायते यच्छिवप्रोक्तं ज्ञानं शिवशक्तिसम्वादात्मकमेवागमसंज्ञया प्रसिद्धिमगमत् तच्च ज्ञानं भगवता श्रीकृष्णेनैव पूर्णतयावगतमङ्गीकृतं चेति, ततो यद्यपि सर्वमपि तावदपरोक्षसाक्षात्काररूपं ज्ञानमागमः तथापि शिवशक्तिसंवादात्मकमेव शास्त्रं प्रसिद्धमागमसंज्ञयेति।

दार्शनिकदृष्ट्या यद्यपि साक्षात्कारात्मकं ज्ञानमेवागमो वस्तुतः तथापि तत्-साक्षात्कारानुसारि शब्दप्रयोगात्मक संवादरूपं शास्त्रमपि द्वितीयसोपानावतीर्णं आगम एव। तदुक्तम्—

आगमस्तु नामान्तरः शब्दनरूपो द्रढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्येश्वरस्यान्तरङ्ग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः तेन यद्यथामृष्टं तत् तथैव यथा नैतद्विषं मां मारयति। गरुड एवाहमिति। (ई० प्र० वि० खं० २, पृ० ८२)

स एव प्रथमसोपाने विजृम्भमान आगमः। द्वितीयसोपानावतीर्णस्य तस्यैव स्वरूपान्तरस्य प्रतिपादनमित्थं तत्र कृतम्—

तत्र तु तथाविधे शब्दनात्मनि विमर्शे आनुकूल्यं यो भजते शब्दराशिः सोऽपि प्रमाणम्। यथा वेदसिद्धान्तादिः, अन्यो वा बौद्धार्हतागमादिः। (ई० प्र० वि० खं० २, पृ० ८२।

प्रथमे परावाग्रूपं पश्यन्तीरूपं वा शब्दनम्। द्वितीये च मध्यमा वैखरी रूपम्। इत्थं वैदिकं तान्त्रिकं बौद्धमार्हतं च सर्वशास्त्रजातमाचार्याभिनवगुप्तेनागम इति सम्मतम्। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिन्याष्टीकाकृता भास्करेण भास्कर्यां म्लेच्छ-शास्त्राणामप्यवतरमागमत्वमागमाभासत्वं वा प्रतिपादितम्। आगमानामोत्तराधर्य-प्रतिपादनविषये क्रमात् मनुष्यकृतम्, ऋषिप्रोक्तं, देवोपदिष्टं, ब्रह्मदेवकथितं च शास्त्रमुत्तरोत्तरमुत्कृष्टतरम्। तदूर्ध्वं चोत्कृष्टतरत्वं यथाक्रमं वैष्णवरौद्रेश्वरसादा-शिवानामागमानाम्। सर्वोपरितनं च स्थानं शाक्तानां शैवानां च। तदुक्तं **तन्त्रालोके—**

नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम्।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम्॥
सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषतेस्म महेश्वरः॥

(तन्त्रा० ४–२४८, ४९)

सर्वज्ञानोत्तरतन्त्रस्य पङ्क्तयोऽप्युद्धृताः जयरथेन त्रयोदशाह्निकटीकायाम्।

भास्कर्याः टीकायाः प्रारम्भिकेषु पृष्ठेषु त्रिकशास्त्रद्रष्टॄणां मठिकागुरूणाम् ऋषिवत् प्रामाण्यं प्रतिपादितम् भास्करकण्ठेन सविस्तरम्। तेन ज्ञायते यत्तस्य कालेऽष्टादशशतके विद्वांसः शैवान्येव तन्त्रशास्त्राण्यागमत्वेन गणयन्ति स्म। तदित्थं सर्वमपि साक्षात्कारात्मकं दर्शनविद्योपयोगि धर्मोपयोगि वा अर्थकामसाधनभूतं वा स्वसंवेदनरूपमृषीणामन्येषां वा ऋषिकल्पानां महाजनानां यज्ज्ञानं यच्च तदनुसार्युपदे-शाज्जातं तत् सर्वमप्यागमत्वेन स्वीकृतं शैवदर्शनगुरुभिः। तत्रमुख्यं वर्गद्वयमुत्कृष्टा-

नामागमानाम्। प्रथमो वर्गस्तावद्रौद्रादारभ्य शवान्तानामागमानां, द्वितीयश्च ब्राह्मणामागमानाम्। प्रथमस्य लोकप्रसिद्धा संज्ञा आगम इति द्वितीयस्य च निगम इति। अनयोर्मध्ये स्थितिः पाञ्चरात्रागमानां वैष्णवानाम्। अवराश्च प्रसिद्धा आगमाः बौद्धजैनसौर-गाणपत्यकार्तिकेयप्रभृतयः ततो निगमा आदि तावदागमेष्वेव विशेषा आगमाः उत्कृष्टतरागमापेक्षया संज्ञान्तरेणोक्ताः वेदितव्याः।

एवमेव तन्त्राण्यप्यागमविशेषा एव। प्रायशः सर्वेषु उत्कृष्टतरेषु मध्यमेष्ववरेषु चाप्यागमेषु तन्त्रेति संज्ञा तत्र तत्र प्रयुक्ता लभ्यते। ततः प्रतीयते यत् पुरातनेषु युगेषु तन्त्रपदं सर्वेष्वप्यागमेषु प्रयुज्यतेस्म समानार्थकत्वेनेति कुल्लूकभट्टेन तावदवैदिकाः श्रुतयस्तन्त्रशब्देनोक्ताः —

वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिरुच्यते। इति (मनुस्मृति १–२ टीकायाम्) कोषे तावत् तन्त्रशब्दस्य बहवोऽर्थाः कथिताः। तद्यथा—

तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे इत्यमरः॥ (३,३-१८५)।

तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात् सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तुवाये च शास्त्रभेदपरिच्छदे॥
श्रुतिशाखान्तरे हेतावुभयार्थप्रयोजके।

इति कर्तव्यतायां·········· च (इति मेदिनी)

एवं प्रसिद्धा आगमग्रन्थाः तन्त्रसंज्ञा लभन्ते। तद्यथा—

स्वच्छन्दतन्त्रं, मालिनीविजयतन्त्रम्, मृगेन्द्रतन्त्रमित्यादि शिवसूत्रं सुप्रसिद्धेष्वागमेषु तावदपरिगणितमपि दर्शनगुरुभिरागमत्वेन स्वीकृतम्। तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

आत्मात एव चैतन्यं तत्क्रिया चितिकर्तृता तात्पर्येणोदितस्तेन जडात् स हि विलक्षणः॥ (ई० प्र० १-५-१२)

तद्विमर्शिन्यां चैतत् स्पष्टीकृतः किञ्च तत्र योगसूत्रं तद्भाष्यमपि चागमेषु परिगणितम् का पुनः कथा तन्त्राणाम्। ततः स्वआगमेष्वेव केचन भूयांस आगमाः तन्त्रेति संज्ञया प्रसिद्धिमगच्छन्। ततः तन्त्राण्यागमाः इति आगमाश्च केचन तन्त्राणि इति कथ्यन्तेस्म। विद्वत्परम्परासु सिद्धजनशिष्यप्रशिष्यसन्तानेषु च। नासीत् पुरातने युगे तयोः परस्परं विच्छेदकारिणी सीमारेखा क्वापि। अत इदं तावत् स्मर्तव्यं यच्छर्मण्यविदुषा विन्तर्नित्जनाम्नेतिहासलेखकेन यद् घोषितं "आगमाः शिवप्रोक्तास्तन्त्राणि च देवीप्रोक्तानीति" तत् स्वकल्पनाकल्पितमेव न प्रमाणमिति।

वाचस्पतिमिश्रैस्तावत् सांख्यतत्त्वकौमुद्याष्टीकायां तुष्टीनां सिद्धीनां च व्याख्यावसरे तन्त्रेभ्यः प्रमाणान्युद्धृतानि। पंचशिखाचार्यकृतस्य सुप्रसिद्धस्य सांख्यशास्त्रस्याभिधानं षष्टितन्त्रमित्यासीत्। पाशुपतसूत्रस्य कौण्डिन्यकृते भाष्ये यमनियमानां प्रतिपादनावसरे केषामपि तन्त्राणां पंक्तय उद्धृताः लभ्यन्ते। पाञ्चरात्रागमाः वैष्णवाः श्रुतिग्रन्था अपि तन्त्राणीत्युच्यन्ते। वज्रयानकालचक्रयानादिबौद्धसम्प्रदायेष्वपि बहूनि तन्त्रशास्त्राणि प्रसिद्धानि व्यावहारिकसिद्धिप्रदानि सुबहूनि विदेशेषु विकासमुपेतानि शास्त्रतत्त्वानि चीनाचारतन्त्राणीति प्रसिद्धानि। मारणमोहनाध्याननादिबहुतरलौकिकसिद्धिसमुपयोगीनि चापि कानिचिदवरतरकोटिभाञ्जि शास्त्राणि शाबरादितन्त्राणीतिप्रथितानि। परम् अष्टाविंशत्यागमेभ्योऽप्युत्कृष्टतमा ये चतुःषष्टिभैरवागमाः तेषामपि बहूनां तन्त्रेति संज्ञा प्रसिद्धा, यथा रुद्रयामलतन्त्रम्, ब्रह्मयामलतन्त्रम्, सर्वमंगलातन्त्रम् इत्यादीनि। शिवप्रोक्तानां, शैवरौद्रभैरवागमानामप्यपेक्षया यान्यूर्ध्वाम्नायेति प्रसिद्धानि सौरभर्गशिखादीनि षट्शास्त्राणि तेषां मध्येऽप्युत्कृष्टतराणि यानि त्रीण्यागमशास्त्राणि सिद्धानामकमालिनीसमाख्यानि षडर्धशास्त्राणीति त्रिकशास्त्राणीति वा प्रसिद्धानि तान्यपि तन्त्रसंज्ञाभाञ्जि।

तदित्थमागमशब्दः सर्वप्रकारकतत्त्वसाक्षात्कारेऽपरोक्षेऽविकल्पे ज्ञाने तदनुकूले तदनुसाराणि च विकल्पात्मके शब्दात्मके शास्त्रे पूर्वैर्गुरुभिः प्रयुक्तो वेदितव्यः। स च पूर्वत्र परापश्यन्तीवागात्मक उत्तरत्र च मध्यमावैखरीशब्दसमूहरूपः। परं तथापि लोकप्रसिद्ध्यनुसारमसावागमशब्दः मुख्यतया शैवरौद्रात्मकेष्वष्टाविंशतिसंख्येषु दाक्षिणात्येषु शिवागमेषु रूढ इव जातः। तेन आगमिको मोक्षमार्गश्चर्याक्रियायोगज्ञानात्मक इति। ये च चतुःषष्टिर्भैरवागमाः ते तावत् कश्मीरेष्वेव सुप्रसिद्धा अन्यत्र क्वचित् क्वचित् संख्योल्लेखमात्रमेव तेषां लभ्यते। काश्मीरेषु तेषां वर्गीकरणं पृथक्-पृथक् वर्गाणां, वर्गस्थानां चागमानामपि च नामसंकीर्तनम् क्वचित्-क्वचित् तेभ्यः समुद्धृताः पंक्तयश्चापि बहुतरं लभ्यन्ते। परं तेषामागमत्वेन देशान्तरेषु नेदानीं प्रसिद्धिः यद्यपि तेषु प्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तान्त्रिकयोगप्रधानस्तथापि नासौ मार्गः आगमिक इति संज्ञां लभत इदानीम्। इयमेव वार्ता त्रिकागमप्रतिपादितस्य सरलतरस्य सुखोपायस्य योगमार्गस्य। यतो आगम इति पदं रूढमिव चर्यादिप्रतिपादकेषु दाक्षिणात्येष्वष्टाविंशत्यागमेषु तदनुसारिषु च बहुषूपागमेषु मृगेन्द्रपौष्करादिषु चेत्तेषामपि, तन्त्रेतिसंज्ञा नेदानीमपि सर्वथा विस्मृतिपथमुपयाता।

तन्त्रशब्दस्तावत् सर्वेष्वप्यवैदिकेषु आगमशास्त्रेषु पूर्वाचार्यैः प्रयुक्तः सन्नपि वर्तमाने युगे पञ्चमकारप्रयोगबहुलेषु तावदागमिकेषु मार्गेषु प्रयुज्यते। तन्मार्गप्रदर्शीनि चागमशास्त्राणि तन्त्राणीति विज्ञायन्ते साधारणैर्जनैर्वर्तमाने युगे। प्राक्तने काले वज्रयानसम्प्रदायस्य गुरुभिर्यदा मत्स्येन्द्रनाथीयस्तान्त्रिकः साधनमार्गो गृहीतस्तदा

तैस्तस्य दुरुपयोगं विदधद्भिर्लौकिकसिद्धिजालोपार्जने तस्य नितरां प्रयोगः कृतः। यानि च रहस्यतरमकारप्रयोगमयानि सपकालं सद्यो मुक्तिभुक्तिप्रदानि साधनानि कौलादितन्त्रेषूपदिष्टानि आसन् तेषां तैः स्पष्टतर उपदेशो विहितः साधारणजनतामध्ये। ततस्तदनन्तरं चीनदेशे प्रवृत्तिरेषाऽधिकतरं बहिर्मुखतां याता। तेन च तन्त्रशब्दस्य प्रयोगो लोके वामकौलादिषु पञ्चमकारप्रयोगबहुलेषु साधनमार्गेषु सुप्रवृत्तो। तदिदानीं मत्स्यमांसमदिरादिप्रयोगोपदेशिनां चीनादितन्त्राणामेव तन्त्रसमाख्यया बोधो भवति नेतरेषां सहजयोगप्रतिपादकानां मालिन्याद्यागमानाम्।

पूर्वमपि कियत्या मात्रया तन्त्र-कुलागमशब्दप्रयोगेषु दृष्टिभेदोऽयं प्रवर्तमान एवासीत्। तथाहि जयरथेन त्रिकसम्प्रदायमार्गः प्रकृततन्त्रमार्ग इत्युक्तः, मत्स्येन्द्रनाथीयश्च मकारप्रयोगबहुलो मार्गः कुलप्रक्रियेति कथितः तद्यथा—

(१) वक्ष्यमाणतन्त्रप्रक्रियायाः त्र्यम्बकमठिकाश्रयणेन....।

तन्त्रा० वि० ख० १, पृ० २७

(२) कुलप्रक्रियायाः प्रक्रियान्तरेभ्यः प्राधान्यात्......तदवतारकं तुर्यनाथमेव तावत् प्रथमं कीर्तयति। (तत्रैव—पृ० २४)।

तन्त्रालोकस्य तेन कुल—तन्त्रोभयात्मकत्वं कथितम्। वक्ष्यमाणशास्त्रस्य कुलतन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि।

(तत्रैव—पृ० २४)।

तत्र तन्त्रप्रवर्तकाः श्रीसोमानन्दनाथादयः कुलप्रक्रियाप्रवर्तकाश्च श्रीमत्स्येन्द्रप्रभृतयः उक्ताः।

परं नात्र विषये सीमानिर्धारणनियमः कोऽपि। यच्च मकारप्रयोगपरत्वं तन्त्रस्य तत् त्रिकाद्यागमेष्वपि रहस्यमय्यां वाचि प्रतिपादितं तत्र। तदाधारत्वेन लोकैर्मन्यमानस्य पञ्चमस्य मकारस्यापि रहस्यमयो स्पष्टो निर्देशस्तत्र दृश्यते। तद्यथा विज्ञानभैरवे—

शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्।
यत् सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत् सुखं स्वाद्यमुच्यते॥ इति॥

(वि० भै० ६८)

मालिनीविजयवार्तिके—

अत्रैव पूर्णं वै सर्गं पदे लब्धुं प्रवेशनम्।
लेहनामन्थनेत्यादिसम्प्रदायमुपासते॥

(मा० वि० वा० १-८१६)

तन्त्रालोकस्थशाम्भवोपाय-निरूपणस्य टीकायां जयरथकृतायां च—

१. चर्याक्रमे हि बीजं सिसृक्षुः पुमान् स्वयं क्षुभ्यति। प्रमदां तु क्षोभयति इति। इह चैतदतिरहस्यत्वादप्रस्तुतत्वाच्च न प्रपञ्चितं, यथोपयोगमूह्यत एव केवलम्।

(तन्त्रा०वि० ख०-२, पृ ९४)

२. चर्याक्रमेऽपि हि यत्सामरस्यमासाद्य पौंस्नोऽभिलाषः कार्तार्थ्यमेति स योनि-लक्षणः क्षोभाधार इति।

(तत्रैव पृ० ९५)

तन्त्रालोकेऽपि मूले—

यत्तदक्षरमव्यक्तं कान्ताकण्ठे व्यवस्थितम्।
ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम्॥

(तन्त्रा० ३—१४७, ४८)

परात्रीशिकाविवरणे अभिनवगुप्तपादकृते 'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि" इति शब्दसन्दर्भव्याख्याने (प० त्री० वि० पृ० २२.२) तत्रैव ५२ तमे पृष्ठे श्री सोमानन्द-मतोल्लेखपूर्वकम्—

भगवत्या रतस्थायाः प्रश्न इति परैकमयत्वेऽपि तन्मयमहदन्तरालाभिप्रायेणेति—(प० त्री० वि० पृ० ५२)।

त्रिकदर्शनगुरूणां मध्ये यः प्रख्याततमो गुरुराजतरङ्गिण्यां प्रशस्तः कल्हनामासौ श्रीभट्टकल्लटोऽपि यथा दूतीवर्णनं क्वचिद् ग्रन्थे कृतवांस्तथा तन्मतमुद्धृतमाचार्याभिनवगुप्तपादैस्तन्त्रालोके—

स्वशरीराधिकसद्भावभावितामिति ततः प्राह।
श्री मत्कल्लटनाथः प्रोक्तसमस्तार्थलब्धये वाक्यम्॥

(तन्त्रा० २९-१२३)

एतेन ज्ञायते यत् त्रिकसम्प्रदायतुल्याः शुद्धप्रशस्तयोगमार्गोपदेशकाः अप्यागमिकाः भोगमोक्षमार्गाः पञ्चममकारप्रयोगं प्रशस्तमङ्गीकुर्वन्तिस्म पूर्वमपि। तेषां मते समकालं सद्यो भुक्ति-मुक्तियोगफलत्वेन स्वीक्रियेते। सैद्धान्तिके च दाक्षिणात्ये आगममार्गे स्त्रीपुरुषसंगमस्य वा मद्यमांसादेर्वा न कोऽपि प्रयोगेऽदृश्यत् न चापि तत्र भुक्तिमुक्त्योरुभयोरुपादेयत्वं स्वीकृतमभूत्। तस्य च चर्यादिसाधन-मार्गस्य सुप्रसिद्धा संज्ञा आगममार्ग इति। ततो विलक्षणस्य भोगमोक्षोभयप्रदस्य उत्कृष्टस्यागममार्गस्य मकारप्रयोगं च सहमानस्याभिनवस्य सुघटस्य मार्गस्य

प्राक्तनादति दुर्घटाच्चर्यादिसेवादिमार्गाद्विभिन्नत्वं विलक्षणत्वं च प्रतिपादयितुं साधारणैर्जनैस्तस्य कृते तान्त्रिकोऽयं मार्ग इति शब्दप्रयोगः प्रवर्तितः। यतः चीनाचार-वज्रयानादिगुरुभिः पूर्वमेवासौ मकारबहुलो मार्गस्तन्त्रनाम्ना प्रसिद्धिं नीत एवासीत्। तदिदानीन्तने युगे वाम-कौलत्रिकादयः आर्यजुष्टाः योगसाधनसम्प्रदायाः वज्रयानादयश्च सङ्कीर्णाः सम्प्रदायाः, सर्वेऽपि तान्त्रिकाः मार्गाः इति ज्ञायन्ते। चर्याक्रियादिप्रधानश्च कष्टतपो मार्गः आगमिको मार्ग इत्यभिधीयते। मार्गेषु प्रचलतां शिष्यप्रवृत्तिषु परिवर्तनेन तेषां मार्गाणामपि विषये जनानां विचारेषु शब्दप्रयोगेषु च परिवर्तनं जायते। त्रिककौलादिशिष्यसन्तानेषु केनापि कालेन लौकिकसिद्धिष्वेव प्रवृत्तिरवशिष्टा। मोक्ष-साधनं तैर्मारणमोहनवशीकरणाप्यायनादावेव अवधानं दत्तं मोक्षप्राप्तिसाधना च शिथिलीकृता। ततस्तेऽपि क्रमेण चीनाचारतुल्यामवस्थामवतीर्णाः। उत्कृष्टतराश्च साधनपद्धतयः केषुचिद् विरलविरलेषु साधकेष्ववशिष्टाः। तत एव ते त्रिकादि-सम्प्रदाया अपि चीनाचारवत्—तान्त्रिका इति संज्ञामलभन्त। जनानामेष दृष्टिभेद एवागमतन्त्रयोर्विषये भेदजनको यद्यपि मूलत उभयमेकमेव वस्तुतः।

———

THE PRIMARY MEANING OF AGNI

AYODHYA CHANDRA DASS

Kurukshetra

The archaic old Vedic term *Agni* is a term of Indo-European origin with the morpheme *√*ag*, meaning 'to strive'. The author in this paper tries to analyse the structural scheme of the words *agra-*, agru-, *agrū-*, *gnā* etc. mentiond in Yāska's set of traditional derivations and concludes that **ag* with suffix *n'i* primarily denoted the agency that helps growing prosperity.

Some prevalent terms of Sanskrit, which can plausibly be assigned to the pre-Vedic period on the basis that only a few of their forms are retained in the Vedic literature, due to their archaic nature, pose an apparent semantic problem. Such terms are mostly found either in the form of a proper noun or in the shape of an adverb. Quite a number of such archaic old terms[1] of Indo-Aryan origin have been preserved since the Vedic language to the modern Indo-Aryan languages.

The term *agni-* is one of such problems, both structurally as well as semantically. This term is noticed almost in the entire Indo-Aryan literature. It, very frequently, appears in the Saṃhitā literature in the sense of 'the Fire-god', a member of the Vedic trinity, and passes to Brāhma-

1. For example, compare the episode of Purūravas and Urvaśī in *Ṛgveda* (=*RV*), X.95: *Śatapatha-brāhmaṇa* (=*ŚB.*), XI.5.1; *Harivaṃśa-purāṇa*, Ch. 26 & c. For an exhaustive reference to this episode described in the Purāṇas, see R. P. Sharma: *Paurāṇika Kośa*, Varanasi, Saṃvat 2028, pp. 64-5; 315-6.

ṇas signifying 'the Fire-god' as well as 'the ordinary fire'. In the subsequent literature, i. e. Sūtras, Purāṇas and Classics, it appears similarly to denote both the meanings.[2] Is this the primary meaning of *agni-*? Certainly not. The primary import of a term can be decided only through the ascertainment of its root from which the term in question has been derived.

According to a tradition, particularly ascribed to a group of grammarians as well as Nairuktas, every noun is a derivative of a particular root purporting a peculiar import. Is the case with this term the same? Yāska[3] endeavours only to collect a number of derivations some of which are factually ascribed to his predecessors. All these derivations, quoted by Yāska, seem to have aimed at finding a suitable meaning of *agni-*, which might have been in agreement with the contextual variations, or with social conceptions.

This confusing state of *Nirukta* may suggest that the original meaning of *agni-* had altogether been forgotten well before the period of Yāska. If the original meaning of this term had persisted those days, then that primary factor would have predominently been a common feature in all of these explanations, although secondary differences might have crept in.

Yāska explains *agni-* thus: *agraṇīr bhavati. agraṃ yajñeṣu praṇīyate. aṅgaṃ nayati sannamamānaḥ.*[4] Then,

2. For a special reference to the historical development of the cognates of this term in the Indo-Aryan languages see R. L. Turner: *A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages*, London, 1966, p. 3.

3. *Nirukta* (=*Nir.*), I. 4: *tatra nāmāny-ākhyāta-jānīti śākaṭāyana nairukta-samayaś ca.* Also cp. *Bṛhaddevatā*, I. 23-33.

4. *Nir*, VII.4. Here √*nī* appears to be the common feature which is also present in the definition given by Śākapūṇi, while it is absent in that of Sthaulāṣṭhīvi,

he puts other's definitions thus : *aknopano bhavatīti sthaulāṣṭhīviḥ*[5] *...tribhya ākhyātebhyo jāyata iti śākapūṇiḥ. ītād aktād dagdhād vā nītāt.*[6]

According to this group of explanations, *agni-* should have been derived from either (1) *agra-*+√*nī*,[7] (2) *aṅga*+√*nī*,[8] (3) *na-*+√*knu*, (4) √*i*+√*añj* or √*dah*+√*nī*. Among these derivations, *agra-* requires a special mention. Other derivations suggested here obviously denote such a natural phenomenon that burns, and, as such, these explanations seem to be hypothetical. The reason for this is that almost in the entire Vedic literature, probably there is not a single reference where *agni-* is used to denote 'a burning agency'. Neither this term nor a seemingly cognate has been included, in the *Nighaṇṭu*, either in the list of verbs signifying 'to burn', or among the nouns indicating 'a natural agency that burns'.[9] Moreover, if this term had been principally used to denote 'a burning agency', the √*dah* should not have been considered, by Sthaulāṣṭhīvi, as an alternate root which might have constituted a minute part (*g*) of this term, *agni-*. Yāska also might have cited, in illustration, a *mantra* concerning *agni*'s burning capacity.

---

5. Here Yāska explains *aknopanaḥ* as 'a drying agent'. *na knopayati na snehayati. Ibid.*

6. Śākapūṇi further explains the structural scheme of this term showing how this term was made up of three roots. *Sa khalveter akāram ādatte gakāram anakter vā dahater vā nīḥ paraḥ Ibid.*

7. *agram āgataṁ bhavati. Ibid.*, VI. 1.

8. *aṅgam aṅganād añcanād vā. Ibid.*, IV. 1.

9. *bhrājate, bhrāśate, bhrāśyati, dīdayati, śocati, mandate, bhandate, rocate, jyotate, dyotate, dyumad iti* (*ekādaśa*) *jvalatikarmāṇaḥ jamat, kalmalīkinam, jañjaṇābhavan, malmalābhavan, arcis, śocis, tapas, tejas, haras, ghṛṇiḥ, śṛṅgāṇi—ity* (*ekādaśa*) *jvalato nāmadheyāni, Nighaṇṭu*, I. 16-17.

The common feature found, in these sets of proposed derivations, is $\sqrt{}$*nī* 'to lead'. This phenomenon may be taken for the fact that it is a clear indication towards a common belief on 'the leading capacity of Agni'. Possibly, this belief was one of the most ancient concepts traditionally known to all the scholiasts. But, being out of date, it might have ceased to serve the purpose before long, because of the perpetual changes of life with time. And, therefore, the ancient scholiasts had to continue the search to find out a new way in order to keep pace with the conceptual advancement of the society.

In fact, the entire Vedic literature depicts the mythical status of Agni in a very peculiar way. In the opinion of the Vedic society Agni was neither a celestial agency nor a terrestrial one. Rather, it is a mediatorial agency that always stands between man and god, between earth and heaven.[10] Nevertheless, Agni is the presiding deity of sacrifice (*yajñasya devaḥ*),[11] the principal religious institution of the Vedic society. Agni is believed to reside at all the three regions (*triṣadhastha*).[12]

Now, it is clear that there is a wide difference in this matter between the Vedic depiction and the *Nirukta*'s explanations. The explanations, quoted by Yāska, seem to be a series of attempts arbitrarily made by Nairuktas either to stand in accordance with the social concepts of their times,

---

10. Cp. present author's article "Sun-Worship: the Source of Sanātana System of Worship", *Journal of the Oriental Institute*, Baroda, XXX, Nos. 1-2, 1980, p. 11.

11. *RV*, I. 1.1.

12. Also cp. *tripastya*-in the *RV*, VIII, 39.5. For a detailed study, see A. A. Macdonell : *Vedic Mythology*, (reprint). Varanasi, 1971, Sec. 35.

or to postulate as an explanatory device to reveal *nirukti*, to their students, of an ancient term which had already ceased to yield its original import.

The first set of derivations[13] given by Yāska in the *Nirukta* may be considered to be his own for he has put it at the very first place without ascribing it to any of his predecessors. But, on the contrary, this view may also be taken as traditional one and widely accepted by the Nairuktas, and therefore, so generally placed at the beginning.

There are some Vedic words which exhibit a phonetic affinity to the term in question. These are *agra-*, *agru-*, *agrū-*, *agasti-*, *agastya-*, *gnā-* etc. *Agra-* generally means 'a top, the front, the beginning, the last, the first, the future', and the like. Though, there is a wide concept that *agra-* is a term of Indo-European origin with no ascertained root, yet the morpheme *ag* attached with it cannot be absolutely overlooked. *Agru-* means 'a finger, a river' ; *agrū-* denotes 'a maid servant' ; *agasti-* or *agastya-* is widely known as a name of a 'seer' ; and *gnā-* means 'wife of god'. All these words show the morpheme *ag* and, as such, indicate a semantic affinity with a*gni-*.

Here it seems to be proper to analyse the structural scheme of these words having the *ag* morpheme as formation of these terms is shown in various ways by different scholars. The term *agasṭi-* seems to have been formed from *aga-* with a suffix *sti* like *pula-sti-* (bearing straight hair), *gabha-sti-* (a hand) and so on. According to T. Burrow, these terms have two affixes *s* and *ti*.[14] If so, these terms had taken a

---

13. *agraṇīr bhavati. agraṃ yajñeṣu praṇīyate. aṅgaṃ nayati sannamamānaḥ.*

14. *The Sanskrit Language*, London, p. 163.

primary suffix *s* (and probably *-as* in *agas-*) before they took the final affix *ti*. The term *agastya-* is a subsequent development of *agasti-*. *Agra-* appears to have been formed from **ag* by adding an affix *ra* like in *ug-ra-* (powerful), *aj-ra-* (plain), *vaj-ra-* (thunderbolt) and the like.[15] In this way *agni-* might have been formed from **ag* by affixing *ni* like in *Vah-ni-* (carrying), *aś-ni-* (eating) etc.[16]

These words obviously show two types of stems—*ag* in *agra-* and *agni-* etc. and *aga* in *agastya*. Was **aga-* a noun, a derivative of *√*ag*? The question remains to be unanswered as not even a single verbal form is found in the entire Indo-Aryan literature.[17] Thus it leads to the questions: what was the original form of this *ag* or *aga* morpheme? And, what did it accurately mean? These questions actually seem to be too difficult to answer with the help of this scanty evidence of a few words found scattered in the Indo-Aryan literature.

The term *agni-* meaning 'fire' has its roots in the Indo-European (=IE) languages. Quite a score of cognates to this term signifying the same meaning are abundantly found

15. Cp. *ibid.*, pp. 46-7.

16. According to a concept, the term *agni-* being derived from √*aj* 'to move' means 'a moving agency'. (e. g. cp. Adolf Kaegi: *The Rigveda*, [2nd edition], Delhi, 1975, p. 132, Note No. 119). But, in the opinion of the author of these lines, despite a seeming cognation between √*ag* and √*aj* 'to move', as evidenced by *gmā*— and *jmā*— 'the earth' (*Nigh*, I. 1), √*aj* invariably seems to be a later evolution of √*ag* which, barring some derivatives, is almost absent even in the *Ṛgveda*.

17. Cp. B. P. Tripathi: "Agaḥ Arthavivecanā", *Sārasvatī Suṣamā*, Varanasi, XXI, No. 1, Saṃvat 2023, pp. 68-72. And, also see Vishvabandhu (ed.): *A Vedic Concordance*, Hoshiarpur, I. pt. 1, p. 20; II. pt. 1, p. 9; IV. pt. 1, p. 22.

in a number of languages belonging to the IE family.[18] It is believed that *agni-* and its cognates might have been evolved from either **egni-* or **ogni-* 'the fire'.[19] Which of these two was original? What did it primarily signify? The answer to these questions are yet to be found. Whatever the case may be, the original stem, whichever of these two might be, was one of such early IE stems which had become out of use even during the later part of that very period, principally due to the changes that took place in growth and development of IE languages.

As regards the primary significance of **√ag* or **ag-*, this cannot easily be determined with the help of its derivatives found in the languages of the IE family for they have also ceased to yield their original connotations. The same is the case of *agasti-* and *agastya-* because of being proper noun these terms are unable to show the nature of action (*kriyā*) which was invariably inherited by them from their original source.

Agra- usually signifies "the top, the front, the edge, the beginning, the best, the last, the first, the future' and so on. A feature common to all these meanings, as it now comes out of the observations here, is a peculiar phenomenon of 'an extreme part, an end' or 'an outer point' of an element. *Agru-* connotes 'a river' and also 'a finger'.[20] Though a finger may mean an extreme part of a body, yet a river does not appear to be fit to this meaning group. Nevertheless,

---

18. *ignis*—(Latin), *ugnis*—(Lithuanian), *ugnus*—(Lattic), *ogni*—(Slavic), *ogien*—(Polish), *Ogon*—(Russian) etc. Cp. Carl Darling Buck: *A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages*, Chicago, 1949, pp. 71-72.

19. *Ibid.*

20. *Nir.* I. 3; II. 5.

if a river is taken for 'an extension which touches two extreme ends', the problem may be solved to a great extent.

Agra-, otherwise, may also be compared with other IE stems like *agro-* and *ogro-* etc. which generally mean 'sharp, high, first' and so on.[21] So, here, it may be surmised that **ag*, besides the previous meanings, might have been used to signify the 'fineness' also. This hypothesis may be supported by the term *gnā-* 'wife of god', a cognate to the Avestan *gənā-* 'a wife'.[22] If this *gnā-* is included among the derivatives of *√*ag*,[23] the original meaning of this root should have been 'the extremely best' part of a phenomenon.

According to modern historical linguistics **ag-* may also be found present in a number of other IE stems, such as *ager-* (Latin) 'a field', *agronomos-* (Greek) 'a peasant', *agriculture-* (English) 'land cultivation', etc. But, here, this is also hypothetically postulated that this group of stems distinctly belongs to two types of the bases signifying absolutely two different meanings. One is **ag-* 'to drive' and the other is **agro-* 'an uncultivated field'.[24]

The emerging question, therefore, is: to what group of these two, does *agni-* belong? The answer, most preferably, is that *agni-* appears to belong more to **ag-* 'to drive' rather than to **agro-* an uncultivated field'. The fire had very closely been connected with the ancient method of agriculture in creating a piece of wood-land fit for the pur-

---

21. Cp. B. P. Tripathi: *Ibid.*, p. 69.

22. T. Burrow: *Ibid.*, p. 39.

23. **ag+an* > (*a*) *gan+ā* > *g* (*a*) *nā*. Here also Cp. *Nir.*, II. 1: ...*nivṛtti-sthāneṣu ādilopo bhavati*...*athāpy-upadhā-lopo bhavati.*

24. Cp. Eric Partrige: *The Origins*, 2nd ed., London, 1959, p. 10.

pose of agriculture by burning all types of harmful weeds. Thus, the fire might have been connected with the consequent fertility. Otherwise, no such relation between fire and a barren field can be established through even a single reference from Sanskrit literature.[25]

On contrary to this, the driving capacity is always present in fire. According to the Vedic literature, fire drives away the enemy, keeps off the wild beasts, expels the darkness alongwith its agents and so on.[26] The driving capacity may also be discovered in *agru-* 'a finger, a river' which repels everything away, and in *agrū-* 'a maid' who exclusively assists in driving out almost all types of disorderliness in order to maintain a thorough appropriation at home. Here, the term *dāsa-* which actually means 'a destroyer' can well be compared.[27]

A conclusion drawn from the discussions here is that the term *agni-* almost fundamentally connotes 'the Fire-god' and very rarely 'the fire' in the Vedic literature, and it appears signifying both the meanings in the subsequent literature in India. Most probably, this term is a derivative of an IE stem, *√*ag* or **ag-*, the meaning of which is yet to be decided. From *agra-*, which generally means 'top, front, beginning, last, first, future etc.', it may be surmised that this root connotes 'an elevation'.[28] From *agru-*, which

25. Cp. A. M. Ghatage (General Editor) : *An Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit on Historical Principles*, I. pt. 2, Poona, 1977, pp. 329-40.

26. See A. A. Macdonell : *The Vedic Mythology*, (reprinted) Varanasi, 1971, Sec. 35.

27. See present author's article 'Vaidika-das-dhātor Mukhyārthaḥ', *Viśva-saṃskṛtam*, Hoshiarpur, XVI, pts. 3-4, 1979.

28. *Nigh*, V. 1. *Nir*. VII. 4. Cp. *Nir*, VI. 1 : *agram āgataṁ bhavati*.

signifies either 'a finger' or 'a river', and *agrū-* meaning 'a maid servant', it is also obvious that 'forcefulness' is present in the import of this root. These conclusions are evidently confirmed by a group of cognates noticed in some sister languages of the IE family. Furthermore, the Vedic term *gnā-* 'wife of god', an equivalent to Avestan *genā-*, Greek *gyné'*, 'a wife',[29] here suggests that the 'goodness' or the 'beautifulness' is also added to 'the powerful elevation'. Roughly, *agni-* means an agency that 'gracefully elevates to power or prosperity'.

Now, the only task that remains is to find out a proper term which contains, in itself, these three semantic elements, *viz.*, 'elevation', 'force' and 'beauty'. 'To thrive' can almost accurately be taken for the primary meaning of *√*ag*. The terms, previously discussed as cognates of *agni-*, seem to promise towards the hypothesis, *viz.*, *√*ag* 'to strive' ; *agra-* 'the highest, the best' : *agru-* 'the finger, the river' ; *agrū-* 'the maid' ; *gnā-* 'wife of god' etc., can easily be fitted with this meaning. In other words, these terms invariably exhibit their natural inclination towards the sense of an element that either 'thrives' or is 'thriven'.

Now, this may safely be concluded that *ag-ni-* primarily conveyed the sense of 'an agency that helps in growing prosperity'. In fact, it is by the anthropologists as well as historians that the discovery of fire was, indeed, the dawn of human civilisation. Actually, it was fire which led *homo sapiens* towards the sweeping victory over everything on this earth. This is why Agni came first on this earth,[30] why he was used to be placed in the front on all occasions

29. Cp. T. Burrow : *Ibid.*, p. 39.

30. Cp. *RV*.X.110.11 : *Aitareya-brāhmaṇa*, 1.1 : *Taittirīya-brāhmaṇa*, II. 4.33,

(*agraṃ . . . praṇiyate*[31]) and, later, why he was considered 'a (divine) leader' (*agraṇīr bhavati*).[32] In addition to these, a number of other meanings of secondary type had also been developed, such as 'light, (zigzag) motion, burning, heat, devastation, seizure etc.[33]

The other explanation—*angaṃ nayati sannamamānaḥ* and *aknopano bhavati*[34] indicate the natural phenomena of fire. More-over, Śākapūṇi's explanation being merely based on phonetical similarity does not appear strictly to be in accordance with the rules of Nairuktas who always prefer the semantic element to all other similarities.[35] This derivation might have been in conformity with the social concepts prevalent during the days of Śākapūṇi.

---

31. *Nir.*, VII. 4.

32. *Ibid.*

33. Cp. B. P. Tripathi : *Ibid.*, p. 68 : *agni-śabdasya dyuti-tiryaggati-dāha-tāpa-nāśana-grahaṇādayo Vyāpārāḥ.*

34. *Nir.* VII.4.

35. Cp. *Nir*, II. 1 : *...artha-nityaḥ parīkṣeta kenacid vṛtti-sāmānyena...yathārthaṃ vibhaktiḥ sannamayet.*

GRAMMATICAL INTERPRETATION OF RV.II.41.11

Dr. S. G. Moghe

Bombay

Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* helps us in the correct interpretation of the *Ṛgveda*. Sāyaṇa, though sometimes not quoting Pāṇini by name, relies on him, is clear from his *bhāṣya* on *Ṛgveda* II.41.11. The accent in *mṛḷáyāti* is due to the *nipāta* in the sense of "it" and not due to anti-thesis as is understood by H. D. Velankar.

As regards the Ṛgvedic interpretation, there are different schools. Some scholars interpret Ṛgvedic passages in the light of the *Ṛgveda*.[1] Other, interpret in the light of comparative linguistics and mythology. Some other scholars offer historical interpretation. Some scholars consider anthropological evidence to interpret the *Ṛgveda*. Recently about 25 years ago, the utility of Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* is also appreciated in interpreting the Ṛgvedic passages. In this respect, it may be remarked in passing that Sāyaṇa has also made some uṣe of Pāṇini for this purpose. The supreme importance of Pāṇini as an aid to Ṛgvedic interpretation is also emphasised by S. S. Bhave[2] and P. Thieme[3] and Dr. M. D. Balsubramanyam. Dr. G. V. Devasthali has ably pointed out the difficulties in utilising the aid of Pāṇini in the

---

1. S. A. Dange–*Pastoral symbolism from Ṛg-Veda.*
2. S. S. Bhave–*The Soma hymns of the Ṛg-Veda.*
3. P. Thieme–*Pāṇini and Veda.*

vedic interpretation and sounded a good warning.[4] In this paper, therefore, an attempt is made to point out the grammatical interpretation of the *Ṛg-Veda* II.41.11 as offered by Haradatta, the commentator of the *Āpastamba Dharma-Sūtra*. An attempt is also made here to point out that the interpretation suggested by Haradatta is favoured by Sāyaṇa and Nāgeśa but neglected completely by the modern scholars like Prof. H. D. Velankar.[5]

The passage under discussion is *Ṛg-Veda* II.41.11 which runs thus :

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ।

Professor H. D. Velankar[6] translates this passage as follows :—

'As soon as Indra may be gracious to us, no evil may reach us from behind. May auspiciousness be before us.' Prof. Velankar in his notes on the word *ca* in the above passage points out that it conveys simultaneity of the two ideas as in the later Samuccaya Alaṃkāra. He further adds that the accent of 'मृळयाति' is due to antithesis.

Haradatta (between 1150—1300 A.D. according to Mm. Dr. P. V. Kane) in his comments on the *Āpastamba-Dharma Sūtra* I.4.14.4 makes the interesting observations.[7]

---

4. *A. B. O. R. I.*, Vols. LXVIII and LXIX—1977-78, pp. 439-443.

5. *H. D. Velankar Commemoration Volume*, pp. 20-26.

6. H. D. Velankar—*Ṛg-Veda Maṇḍala II*, 1967, p. 117, Bombay University Publication.

7. चणिति निपातोऽस्ति । निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चणकच्चिद्यत्र युक्तमिति [पा० 8, 1, 30] स चेदर्थे वर्तते ।
Āpastamba Dharma-Sūtra, p. 125 (Bühler's edition 1932).

Here he notes that the word *ca* in the *Āpastamba Dharma-Sūtra* is a *nipāta* and is to be understood in the sense of 'if'. In order to support this mode of interpretation. Haradatta quotes the *Ṛg-Veda* II.41.11 and thereby suggests that the word *ca* in the *Ṛg-Veda* II.41.11 is also to be interpreted in the sense of 'if'. It is interesting to remember that Haradatta supports this mode of interpretation by relying on Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* VIII.1.30 which is not at all quoted by Sāyaṇa[8] on the *Ṛg-Veda* II.41.11 though he has also understood the word *ca* in the sense of 'if'.

Besides. Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* VIII.1.30 suggests that the finite verb retains its accent in connection with the particles *yat-* that. *yadi-* if. *hanta-* also *oh*. *kuvit-* well. *net-* not. *cet-* if. *ca-* if. *kaścit*. I hope or I hope not and *yatra-* where.

From this. it is evident that the accent in ' 'मृळयाति'' in the *Ṛg-Veda* II.41.11 can be explained on the basis of Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* VIII.1.30. Needless to say that this explanation is quite different from the one that is already given by Prof. H. D. Velankar.

If, however, one consults the 'Svaraprakriyā' portion of the *Siddhānta Kaumudī* edited with Marathi translation by Prof. K. V. Abhyankar[9] then it becomes clear that if the verb is connected with any one of these *nipātas* mentioned in Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* VIII.1.30. then it does not become anudātta. It becomes udātta.

It is further interesting to remember that even Nāgeśa, the reputed grammarian of the 18th century A.D., has

---

8. परमैश्वर्यवानिन्द्रश्चेत् अस्मान् सुखयेत् etc. Sāyaṇa on *Ṛg-Veda*, II. 41-11.

9. एतैर्निपातैर्युक्तं न निहन्यते । K. V. Abhyankar—*Svara Prakriyā*, p. 263.

quoted the same passage from the *Ṛg-Veda* II.41.11 in his commentary *Laghuśabdenduśekhara* and particularly on the 'Svaraprakriyā' portion and explains the same as 'If Indra becomes gracious to us'.[10]

From the foregoing discussion, it is evident that according to Haradatta and the well-known grammarians the interpretation of the *Ṛg-Veda* II.41.11 would be as follows :—

'If Indra becomes gracious to us, no evil may reach us from behind. May the auspicious be before us.'

It is further clear that the interpretation suggested by Haradatta and favoured by Sāyaṇa, and Nāgeśa is certainly different from the Alaṃkārika interpretation suggested by Prof. Velankar.

---

10. इन्द्रश्चेदस्मान् सुखयेदित्यर्थः । *Laghuśabdenduśekhara Svara prakriyā*, p. 535 (Motilal Banarasidas edition 1951—Delhi).

A NOTE ON KING MANORATHAVARMAN OF ILIA (VARANASI-INDIA) AND MY-SON (CHAMPA-INDONESIA) INSCRIPTIONS

ANAMIKA ROY

Allahabad

The author in the present article has tried to identify King Manorathavarman of a little damaged *Ilia Stone Inscription* in the *Siddhamātṛkā* script with the Manorathavarman of the *My-Son Stelae Inscription* of Champa who was the immediate successor of King Gaṅgarāja and not a scion of Maukhari family as Dr. D. C. Sircar takes it to be. The Kambuja rulers had a great respect for river Gaṅgā.

In the present note we are suggesting a hypothesis for the identification of king Manoratha Varman mentioned in the Ilia Stone Inscription. to which sufficient attention has not been paid by the scholars so far. Ilia is the name of a village situated some 40 miles from the main city of Varanasi. For the first time this inscription was brought to the notice of the scholars by Dr. D. C. Sircar in the pages of *Epigraphia Indica* (Vol. XXXIV, 1961-62)[1] It is engraved on a piece of stone, the lower part of which is broken (At present the stone-piece is preserved in the house of Sri Siddheshwar Prasad Singh alias Manna Baboo). Consequently out of a total number of three lines, only the first two are in a satisfactory stage of preservation. The

1. The inscription reads as follows: *"Siddham Śrī Manorathavarmmadevasya pravarddhamānavijayarājye tatpādānuddhyāta ....tivarmma....Kīrttiḥ.*

record does not contain any date. But the *Siddhamātṛkā akṣaras* employed in it point to a period round about 7th century A.D.[2] The record mentions some kind of religious donation made either by king Manoratha Varman or by his successor, whose name is not preserved in it.

Dr. D. C. Sircar rightly thinks that king Manoratha Varman of this inscription is not known from any other source. He is of the opinion that the said king appears to have been a scion of Maukhari family. In this connection the learned scholar has drawn our attention to the political career of Grahavarman, son and successor of Avantivarman. The Maukhari king was ruling over the wide regions of U. P. and Bihar. He was killed in his encounter with the invading forces of the Gauda king Śaśāṅka and the Malva (Eastern Malva) king Devagupta about 605 A.D. Later on, Harṣavardhana, a relation of Grahavarman, drove out the Gaudas and Malvas from the Maukhari dominions and ultimately annexed U. P. and Bihar.[3] On the other hand, a Maukhari seal shows that the Maukhari throne was not vacant on Grahavarman's death. Sircar has cited another noteworthy inscription which calls one Bhogavarman as 'the crest-jewel of the illustrious Varmanas of the Maukhari race'. It is stated in the record that Bhogavarman was the son-in-law of king Ādityasena of Magadha and the father

---

2. The *Siddhamātṛkā akṣaras* are available in North Indian inscriptions belonging to the 6th and 7th centuries A.D. Nail-headed script, Wedgeshape script, Kuṭila lipi are some of the names applied to the script of these two centuries. According to G. Buhler, this script may be named as *Siddhamātṛkā*, which appears to have been known to Alberuni; *Indian Palaeography*, p. 68.

3. *Epigraphia Indica*, Vol. XXX, p. 296, cited by Sircar.

in-law of king Śivadeva II of Nepal.[4] Sircar's conjecture that Manorathavarman of the Ilia Stone Inscription should be taken as a ruler of the Maukhari lineage mainly rests upon the above evidences. He also concludes that even during the life-time of Harṣa, the Maukharis were in-charge of some parts of U. P. as feudatory rulers.

The suggestion of Dr. Sircar that the Maukharis continued to rule in feudatory capacity even after the death of Harṣa no doubt points to the political condition of Northern India in a correct historical perspective and is also supported by the evidence quoted above. But the conclusion that Manorathavarman seems to have been a scion of Maukhari family is too much conjectural to be linked up with the political history of Northern India in the 7th century A.D. The writer of the present note is of the opinion that Manorathavarman of the Ilia Stone Inscription may be equated with his namesake mentioned in the My-Son Stelae Inscription of Champa. The said inscription alludes to the installation of some *Kīrti* by Śrī Manorathavarman. The line of the inscription is, however, a little damaged, and consequently we cannot form any idea about the place, where the installation of the Kīrti was effected.[5]

From the content of the My-Son Inscription it is evident that Manorathavarmman was the immediate successor of king Gaṅgarāja, the progenitor of the concerned family. About Gaṅgarāja it is stated that in order to avail of 'the joy arising from a view of Gaṅgā' he had gone to Jāhnavī

4. *Indian Antiquary*, Vol. IX, p. 181, cited by Sircar.

5. *tasya kīrtti yaśo (?) . . . Śrī Manorathavarmmaṇaḥ*, R. C. Majumdar, *Inscriptions of Kambuja*, p. 17.

(Gaṅgā).[6] The fact that Gaṅgarāja had come to India at some stage of his career, is narrated in the Chinese accounts also.[7] There are a number of Kambuja inscriptions which allude to the worship of Gaṅgā by the people of that country. We are illustrating only a few of them. To begin with, the Prasat Andom Inscription of Jayavarmman IV, which is engraved on a temple at Koh Ker, has an invocatory verse in praise of Gaṅgā along with a number of deities of the traditional Hindu pantheon.[8] The Bakong Stelae Inscription of Indravarmman refers to the installation of Gaṅgā's image in a Śiva-temple.[9] The Pre Rup Stelae Inscription of Rājendravarmman mentions that the king had issued an order for the construction of three doorways on the bank of the divine river Gaṅgā.[10] A verse in the Pra Khan Inscription of Jayavarman VII shows that the ancient Cambodians considered Prayāga as a place of great religious importance, because of its association with the two

---

6. *Gaṅgārāja iti śruto nṛpaguṇaprakhyātavīryyaśrutiḥ / ....*
Gaṅgādarśanajam sukham mahadiṣi prāyādato jāhnavīm //

R. C. Majumdar, *Ancient Indian Colonies in the Far East*, Vol. 1, p. 16; M. Finot, *Bulletin De L' Ecde Francaise D' Extreme Orient*, Vol. IV, p. 918–No. III; M. Coedes, *ibid.*, Vol. XII,–No. 8, p. 15.

7. B. N. Puri, *Sudoor Poorva Men Bhāratīya Saṃskṛti Aur Usakā itihāsa*, p. 75.

8. *jayanti gaṅgajihmāṅgāstaraṅgā haramūrddhani /*
vadanyodanvatā dattā bālacandrārbbudā iva //

R. C. Majumdar, *Inscriptions of Kambuja*, p. 172.

9. *umāgaṅgābhujalatāsanśliṣṭajaghanasthalam /*
sa īśvaram sthāpitavanumāgaṅgāpatīśvaram //

R. C. Majumdar, *ibid.*, p. 68.

10. *sitanadītīrakṛtāspadāyai /*
dvāratrayam yo' diśadeva nadyai //

R. C. Majumdar, *ibid.*, p. 264.

sacred rivers (Gaṅgā and Yamunā).[11] The Angkor Vat Inscription mentions the case of a Brāhmaṇa whom king Śrīndravarmman had appointed priest of Gaṅgā's image installed in Yaśodharataṭāka.[12] These instances convincingly prove that the Kambuja rulers had a great respect for river Gaṇgā and some of them (for example Rajendravarmman of Pre Rup Inscription quoted above) made religious endowments even in the country where this river physically exists.

The Champa-ruler Manorathavarmman belongs to a similar category. It is not improbable that he followed in the footsteps of his predecessor Gaṅgarāja, who had visited the region when Gaṅgā flows. Unfortunately the word *Kīrti* of the My-Son Inscription has neither been translated nor explained by its editor. It would not be out of place to mention that the word *Kīrti* in this inscription has the same meaning as that of the Ilia Inscription. The observations of Sircar shows that the word in these contexts should be taken in the sense of fame-producing (religious) work.[13] It is also noteworthy that Manorathavarmman of

---

11. *satkṛtya tīrthadvayasannidhānāt|*
sādhyo viśudhyaiva jagatām prayāgaḥ||

R. C. Majumdar, *ibid.*, p. 480.

12. *sthapitāyyām ca gaṅgāyām yaśodharataṭākake|*
siṁhāsanam svarṇṇamayantasyāḥ kṛtvā divaṁgataḥ||

R. C. Majumdar. *ibid.*, p. 554.

13. Bhagawan Lal Indraji and K. T. Telang believe that the word *Kīrti* is the same as *Kīrtana*, which in certain connections means a 'temple'. *Indian Antiquary*, Vol. IX, p. 36, note 13. R. G. Bhandarkar has quoted a few passages from *Agnipurāṇa*, *Kādambarī* and Someśvara's *Kīrttikaumudī*, and holds that in all these passages *Kīrtana* means a 'temple', *Indian Antiquary*, Vol. XII, pp. 228ff. : J. F. Fleet has referred to the Mandar rock

Ilia Inscription is supposed to have flourished in the 7th century A.D., since its script belongs to that period. This is exactly the date of Manorathavarmman of the My-Son Inscription, which is dated in the Śaka-Saṃvat 579 (579+78=657 A.D.). The above equation can also be established from the point of view of the orthography of the two records. Both of them have identically spelt the name of Manorathavarmman, in which letter *M* in conjunction with the preceding *R* has been doubled.[14] These various considerations allow us sufficient ground for the hypothesis that Manorathavarmman of the Indian inscription can well be equated with the person of similar name referred to in the Indonesian inscription.

---

inscription of the time of Ādityasena mentioning *puṣkarṇi-kīrtti* and has rendered it as the "famous work of a tank", *Corpus Inscriptionum Indicarum,* Vol. III, p. 212, fn. 6. The word *Kīrtti* of the two inscriptions under review may be taken in the sense of some religious construction for public utility.

14. Besides, doubling *dha* (in *pravarddhamāna*) and *ta* (in *Kīrtti*) preceded by *r* in the Ilia inscription brings this record nearer to the Myson inscription in respect of orthography. In the latter inscription which contains as many as 28 lines the composer has followed this practice in all cases of the above nature.

SOURCE-MATERIAL FOR INDIAN ART HISTORY

PROF. K. D. BAJPAI

Sagar

Indian culture, developing from time immemorial, gave shape to various forms of creative arts. For the study of Indian Art history, one trained in modern methodology, has to be familiar with world history, travellers' accounts, ancient literature, inscriptions, numismatics, religious and secular symbols on coins, seals and sealings, guilds of the artisans, rock paintings as well as with folk elements and popular stories.

Indian art-history rightly claims a considerably long span of period. Right from the pre-historic times to the modern age, Indian civilization has passed through several vicissitudes. The creative arts naturally assumed numerous forms as a result of the growth of regional cultures throughout the ages.

The student of Indian art history has to make himsell familiar with the traditional growth of the variegated aspects of Indian cultures which developed in this subcontinent. He has also to acquire a good grounding of the world history, particularly of the countries with which India had close contacts. Our ancient cultural relations with Iran, Greece, Rome, Central Asia and the Arab countries, on the one hand, and those with Tibet, China, Japan, Sri Lanka, Burma, Indo-China and Indonesia, on the other, should be known, at least broadly, to the students of art history. Similarly the necessity of adequate training in modern methodology of the study of art history cannot be over-emphasised.

Art history of the region has to take into account not only the geographical and political background of a particular period, but also its socio-economic set-up as well as the related religious and aesthetic norms.

For the study of ancient and medieval Indian history and culture there is a vast indegenous literature and also written accounts left by foreign travellers. The evidences furnished by these is largely corroborated by the archaeological sources including monuments, objects of plastic and pictorial art, inscriptions, coins and seals. So far adequate work has not been done on the source-material furnished by epigraphical records, coins, seals and sealings with special reference to Indian art-history. The material undoubtedly supplements the evidence known from other relevant sources. Several inscriptions mention the names of artists and in some cases, their guilds are named. A few rare coins from Taksasila, Kaushambi and Vidisha refer to the names of guilds (*nigamas*), which issued them.

By about 200 B.C. the followers of several arts and crafts had formed their guilds in India. *Goṣṭhīs* and *nigamas* (guilds) of various professionals are mentioned in ancient literature and inscriptions. One of the inscriptions of 2nd century B.C. found at Bhattiprolu refers to a *goṣṭhī* and *nigama*, which made a combined gift of Buddhist caskets. Several pre-gupta inscriptions from Nasik, Junnar, Kārlā, Mathura, Bhita and other places have supplied the names of guilds of several crafts. The Deopara inscription of Vijayasena of the Sena dynasty refers to one Rāṇaka Śūlapāṇi, who is called "the Crestjewel of the *goṣṭhī* (guild) of the *śilpis* (artists) of Varendra". Like the guilds of bankers (*śreṣṭhīs*), some guilds of the artists also had their own seals. Some of the names occurring on the seals and sealings from Mathura, Vidisha, Bhita, Kaushambi and

several other sites seem to refer to the names of head-artists of the guilds.

For the study of art-history in Indian context, ancient inscriptions furnish interesting material. In a large number of epigraphs from north and south India several terms are used for the artists. The terminology for art and architecture and the component parts of structures as well as the art-objects is very rich indeed. For various types of artists, terms like *kāru, śilpi, sūtradhāra, Karmika, takṣaka, sūpakāra* and *citrakāra* occur in inscriptions.

Quite a large number of inscriptions found at Bharhut, Sanchi, Mathura, Nasik, Amaravati, Nagarjunikonda, Ajanta, Tanjaur, Kanchipuram and other sites are important for the study of Indian art and architecture. The art terminology found in the inscriptions, particularly in the regions of Maharashtra, Andhra Pradesh, Karnataka and Tamil Nadu, is extremely valuable for the study of the plastic and pictorial art which developed in the country during the course of several centuries. Some of the old names of artists, and also for the component parts of various types of structures and statues, preserved in ancient Sanskrit, Prakrit, Kannada, Telugu and Tamil literature are still current in several parts of our country.

About the artistic activities of various types, the inscriptions give reliable evidence. They provide very useful material pertaining to the contribution made by different catagories and groups of people to the progress and enrichment of art.

Several inscriptions, particularly from the period of the Sātavāhanas to about 1300 A.D. open with the *dhyāna* or eulogy to a deity. From time of the Guptas, one or more such *stuti* verses formed the opening part of an in-

scription. Some of the *dhyānas* throw welcome light on the iconographic forms of the deities concerned and also on their designations. Śiva is contemplated in the form of Paśupati, Maheśvara, Umāpati, Kalyāṇasundara, Ardhanārīśvara, Lakulīśa, etc. Similarly Viṣṇu is mentioned in the inscriptions as Vāsudeva, Nārāyaṇa, Janārdana, Murāri, Śrīpati, etc. Other deities, including the Buddha and the Tīrthaṅkaras, are also similarly eulogised in the inscriptions.

As regards numismatics as a source for the study of art history, some scholars still entertain a wrong notion that coins do not come under the purview of art history. These tiny pieces of metalic art in fact furnish an important source material. Not only have they a bearing on the political and economic history but also on the art history.

Students of Indian art history should be familiar with the symbols occurring in art right from the time of the pre-Harappan culture. The significance of these symbols in Indian art cannot be minimized. Several symbols are known in some archaic rock-paintings also. In the rock-paintings we get the symbols of the Sun, the Moon and the Stars and the Fire. These and a few other symbols also occur on coins, seals and sealings. At the initial stage these symbols are shown in the natural forms of the Sun, Moon, Fire etc. Later on they assume human forms. We may take the example of Sūrya. On the coins of the Pañchāla kings, Sūryamitra and Bhānumitra we get the representation of Sūrya both in the natural and in the human forms. Besides Sūrya, several other Vedic-Purāṇic deities are represented on the coins of the Pañchāla rulers and also on the coins of the Sātavāhanas, the Kṣaharāta-Kṣatrapas, the Kushāṇas, the Yaudheyas, the Kuṇindas, the Guptas etc. Besides the religious and secular symbols, the figures of animals and birds also occur on coins, seals and sealings.

We may, for instance, take up the evolution of the bird *garuḍa* in art. We should notice the early depiction of this bird on the coins of the Gupta ruler, Rāmagupta (last quarter of the fourth century A.D.). By now I have identified more than one thousand coins of Rāmagupta and have noticed various forms of this bird on them. *Garuḍa* is usually shown as a bird, sometimes with outstretched wings. He has also been depicted on several coins in the human form having one or three heads (as in the case of Śiva or Kārtikeya). If we compare the forms of Garuḍa on the coins of Rāmagupta with those found on the coins of Chandragupta-II or Kumāragupta-I of the same dynasty, we find a very close similarity. The carving of garuḍa in the Śeṣaśāyī cave at Udaigiri (dist. Vidisha, M. P.) is of a similar type. On the same lines we can trace the evolution in the figures of Śiva, Kārtikeya (Skanda-Kumāra), Viśākha, Mahāsena, Viṣṇu, Lakṣmī and some other deities. The depiction of these deities is found on the coins and seals and also on stone, metal and other media.

On the coins of the Indo-Greeks, the Scythio-Parthians and Kushāṇas and the Indo-Sassanids a number of Indian deities are depicted. Mention may be made of Lakṣmī, Agni, Indra, Śiva, Umā, Skanda and Gaṇeśa. Their figures on coins are important not only from the study-point of view of their iconographic features but also for the study of aesthetics. On a few coins of the Indo-Greek ruler Hermios we get the depiction of Gaṇeśa, which shows that by the beginning of the Ist century A.D. the image of Gaṇeśa was portrayed on some coins of the foreign rulers. On a recently discovered coins of Indo-Greek king Agathocles of 2nd century B.C. we notice the figures of Kṛṣṇa and Balarāma with their names. The two deities wear interesting drapery. The drapery shown on the figure of Kṛṣṇa is

similar to one found on the unique 4-handed inscribed figure of Viṣṇu known from Malhār, district Bilaspur. We can thus visualise the importance of coins for the study of ancient Indian art-forms.

For the study under consideration we have also some interesting *Janapada* coins from Mathura, Ujjain, Vidisha, Eran, Kausambi and a few other sites. Similarly the coins of the Yaudheyas, the Kuṇindas, the Mālavas, the Audumbaras, etc. are before us. If we compare the portrayal of the figure of Śiva on the coins of the Kushāṇas with that found on the coins of the Yaudheyas, we can find some similarities. The contemporary coins of the Yaudheyas bear almost the same traits in the depiction of Śiva as we find on the Kushāṇa coins.

When we go to the times of the Guptas, we have a more sumptuous numismatic material for the study of art particularly in regard to the developed aesthetic sense of the Gupta Age. Later we come to the time of Harṣavardhana (606-647 A.D.). Some years ago I published a gold coin of this ruler. On the reverse of the coin is a fine depiction of Śiva and Pārvatī seated on their bull Nandī. Pārvatī is gazing at her lord. The delineation of their bodies is perfect. On a recently discovered panel of Śiva-Pārvatī from Kanauj (distt. Farrukhabad in U. P.) assignable to the 7th century A.D. we can notice a surprising similarity. This can lead to the presumption that the same artist was probably responsible for the preparation of the stone sculpture and the coin device of the gold coin referred to above.

If we trace the depiction of Śiva on the coins and seals and sealings right from the 2nd-1st century B.C. to the 7th century A.D. we find a good deal of change. If we compare the form of Śiva found on the Ujjayinī coins or on

those of the Kushāṇa emperor, Vima Kadphises or Kaniṣka I, with the depiction of Śiva on the gold coin of Harṣavardhana we can notice a good deal of change due to the evolution in the iconographic form of the deity.

On ancient Indian coins, besides the portrayal of gods and goddesses we have other religious and secular depictions. On some coins of the Sātavāhana king Yajñaśrī Sātkarṇi, we find the depiction of a boat. We can compare this form of boat with a few depictions of the same in rock-paintings or in the Indus Valley art or with the boat portrayed in the Ajanta paintings. This kind of a comparative study in regard to the religious and secular motifs, including a large number of elements from Nature represented on coins and seals, can prove to be rewarding.

A few more words here about rock-paintings. During the recent years rock-paintings have been discovered in thousands in central India. They furnish interesting material for the study of the life of not only the pre-historic and proto-historic people but also of the historical times. Some of the painted rocks bear inscriptions in the Aśokan Brāhmī script, which reads *"Siṃhakasa Leṇa'* (i. e. the cave of Siṃhaka). From the inscription it is clear that one of the big caves in the famous Bhīmabaiṭhakā area belonged to a person called Siṃhaka in the 3rd-2nd century B.C. The name of another person Dambhuka is written in the same script in a painted rock-shelter discovered near Gwalior (*Dambhukena-Kāritaṃ*). The inscription suggests that the painting was done on the rock by one Dambhuka. Dr. V. S. Wakankar and his associates have recently discovered some more inscriptions in and near the painted shelters in central India.

Recently a remarkable site Pāngudārī has been discovered in the sehore district of Madhya Pradesh. This

site has several rock-shelters with beautiful paintings on the walls and ceilings of some of them. Near one of the shelters are carved two inscriptions of the Maurya emperor Aśoka. This indicated that the site was located on the south-western route joining Vidisha with Deccan, after crossing the Narmada. The Buddhist *Bhikṣus* from all quarters were welcome there and they had to be provided with necessary facilities.

It appears that some of the monks residing in the shelters were good artists, who painted the shelters. This can furnish a clue to a broad-based study of the rock art of western India, including that of Bagh and Ajanta. The credit for the preparation of some good paintings and sculptures particularly at Ajanta and Bagh, can go to the monk-artists who resided in the caves. The recent discoveries at Govind Nagar near Mathura have brought to light some very interesting evidence. Among the newly discovered antiquities there is a stone sculpture representing the Buddha carved in 454 A.D. by a *bhikṣu* called *Yaśadinna,* as is known from the inscription on the pedestal of the image. The same artist prepared another excellent inscribed image of the Buddha during the time of Kumāragupta-I. Both these statues are now exhibited in the State Museum, Mathura and offer an eloquent tribute to the monk artist Yaśadinna who carved out the two Buddha statues of exquisite beauty.

So far as the ancient Indian *Śilpaśāstras* are concerned, they are available from the Gupta period onwards. The *śilpa* texts are also incorporated in some of the *Purāṇas.* We have also some material of this nature in the Buddhist and Jaina works. When we study the *pratimā-lakṣaṇas* enumerated in these technical works, along with the extant art relics, say from the 4th century A.D. onwards, we find

that all the artists did not adhere to the prescriptions given in the śāstras. In my study of the sculptures of Madhya Pradesh and eastern Rajasthan, I have found that several distinct *śāstric* injuncions have not been strictly followed by the artists, who could utilize a good deal of their free thinking in depicting particular art-forms, especially in regard to some of the Brahmanical deities. The earliest cult image of Viṣṇu from Malhār can be cited here. The heavy mace of the image bears an inscription in the Aśokan Brāhmī script, which mentions that the image was installed by a lady called Bhāradvājā, wife of one Parṇadatta. The image is four-handed and wears an undergarment of leaves (*Parṇas*). This early image stands in *samabhaṅga* and is carved in the round. Its stiffness and the straight standing posture are remarkable. The features of this statue are indicative of the local folk elements. As mentioned above, similar drapery can be noticed on the figure of Kṛṣṇa found on a rare coin of the Indo-Greek ruler Agathocles of 2nd century B.C. I feel that the rare stone image of Malhār represents the early Vāsudeva-Kṛṣṇa form of Viṣṇu.

Early images of Yakṣas and Nāgas, carved in the round, are known from several sites in North India. The Viṣṇu image from Malhār is of the same pattern. It has four hands carrying śaṅkha, cakra and gadā. The śaṅkha (Conch) is mutilated and was held in front of the chest by the two lower hands. There is also a miniature sword (*asi*) hanging from the waist of the deity. We do not come across any definite injunctions for this kind of Viṣṇu image. It shows that in so far as the extant *lakṣaṇa granthas* are concerned they are silent about certain traits discernible in ancient Indian art. The folk elements played their role and had a considerable impact, particularly in the Yakṣa and Nāga worship forms.

This kind of folk impact continued later on also. Mention may be made of the images of Gaṇeśa. From Mathura one Kushāṇa stele has been found, which shows five *Gajānana* Yakṣas with elephant heads. They are carved together around one slab. The later Gaṇeśa images were evolved out of the basic concept of *Gajānana Yakṣa*. Several interesting images of Gaṇeśa have been found at Baḍoh, Kadwāhā and a few other places in the north and south India. We come across the *pañca gaṇeśa* images and subsequently the images of *sapta Mātṛkās* and *sapta Sūryas*. Then we have *sapta Gaṇeśa* and *dvādaśa Āditya* statues also. This shows that in course of time the old folk elements were amalgamated with the rising of the Tāntric beliefs. This resulted in the formation of several complex types of syncratistic images in the early medieval age. This may explain the fact that the injunctions or prescriptions of the *Śilpa* texts have not always been faithfully followed in the visual forms of several deities.

Another important aspect of Indian art pertains to the popular stories. It may be mentioned here that several popular Buddhist Jātaka stories were portrayed in art from early times. The story of the tortoise (*Kacchapa Jātaka*) and that of the owl (*ulūka Jātaka*) were carved in stone at Bodhgaya, Mathura, Malhār and several other sites. These and other depictions provide interesting material for the study of the life of the people in the context of their entertainments. The story of Ṛṣya Śṛṅga was also quite popular with the people, as it is known from Sanchi and Mathura. So also was the love story of the fisherman Śūrpaka and the beautiful princess Kumudvatī, which is portrayed on the terracotta figurines. We have also the stories from the *Rāmāyaṇa*, the *Mahābhārata* and several *Purāṇas* and other works. Particular mention may be made of the story of

Udayana and Vāsavadattā and that of Śakuntalā. The interesting stories of the *Bṛhat Kathā,* the *Pañcatantra* and other works were also popular with the artists.

As regards the question of revising the nomenclature of Indian art, it may be pointed out that before the time of the Mauryas we do not have any clear-cut nomenclature for Indian art forms. It is from the Maurya period onwards that the terms such as Mauryan art, Kushāṇa art, Sātavāhana art, Gupta art etc. are used. Prior to the Maurya Age, art in India existed in different forms. The Chalcolithic art is there. We have numerous rock-paintings which in point of time, are spread from the pre-historic period to about 1000 A.D. These rock-paintings at present are rightly designated as the Narmada Valley, the Chambal Valley or the Betwa Valley paintings. A nomenclature based on the related hill-tract can equally be given to them.

It is from the time of the Mauryas that we are confronted with the problem of nomenclature. I feel that the major dynasties, such as those of the Mauryas, the Sātavāhanas, the Kushāṇas, the Guptas, the Pallavas and the Cholas were great dynasties contributing largely to the life and thought of their respective periods. So it would be in the fitness of things if we continue the use of art nomenclature in the names of those dynasties till we come to some more cogent nomenclature which we can adopt. We have also to see that there are certain factors which require adequate emphasis. For instance, the geographical factor is there. Similarly the guilds of the artisans undoubtedly played a remarkable role in ancient times and their contribution to the development of various facets of Indian art has to be given due weightage when we study Indian art history.

THE MAHĀPURUṢAVIDYĀ

An unknown text on the glorification of Puruṣottama Kṣetra

Gaya Charan Tripathi
Allahabad

The author introduces a hitherto unknown Māhātmya of Puruṣottama-Kṣetra (Puri, Orissa), describes its nature and contents and discussing its authorship and date comes to the conclusion that it must have been composed sometime between 1525 A.C. to 1550 A.C.

1. *General Introduction*

The most commonly known Māhātmya of Puruṣottama Kṣetra is found incorporated in the Utkalakhaṇḍam of the Vaiṣṇavakhaṇḍam of the *Skanda Purāṇa.* It consists of 49 Adhyāyas and describes mainly the legend of the construction of the main temple of Jagannātha at Puri and the ceremony of the installation of wooden images in it by the legendary King Indradyumna. The text has often been printed in Devanāgarī and Bengali Scripts. There are also older adaptations of this work in Oriya and modern translations into Bengali and English.[1] It has recently been cri-

---

1. The more significant adaptations in Oriya verses of this Māhātmya are:

(a) *Nīlādrimahodaya* (17th C., different from the Sanskrit work of the same name), now rarely available.

(b) *Jagannātha Purāṇa*, published more than once, mostly from Cuttack.

tically studied by Dr. Gopinatha Mahapatra.[2]

There are two more māhātmyas pertaining to the Kṣetra of Jagannātha, one incorporated in the *Brahma-purāṇa* (Adhy. 39—69) and the other in the *Nārada-Purāṇa* (Adhy. 52—61) both of which are considerably influenced by the Māhātmya found in the *Skd. Purāṇa.* There is a minor māhātmya occurring in the *Padma-purāṇa* as well. However, it is of slightly different character and forms a group by itself.

Apart from these Purāṇic texts, there is an independent work hardly known to the scholars till now, which stresses the sanctity of the Kṣetra and glorifies the temple of Jagannātha as well as the Deities worshipped there. It is a work by an unknown author and not yet published. The work is referred to as *Mahāpuruṣavidyā* at the end of all Adhyāyas which may be taken as its title for the time being for the sake of convenience. There is only *one* manuscript of this work in the Orissa State Government Museum, Bhubaneswar (No. Dh. 68) in whose records and catalogues it is mentioned as "*Puruṣottama-māhātmya* (according to *Viṣṇu-rahasya*)".

It is proposed to introduce this work to the scholars and to throw some light on its nature, authorship and date. The work has recently been critically edited by Prof. Ulrich Schneider of the University of Muenster (W. Germany)

(c) *Nīlagiricaritam,* not widely known. This work has not yet been published and is available only in the form of manuscripts.

The Bengali translation of the work has been done by Biswanatha Das (*Śrī Śrī Utkalakhaṇḍam*), and published in 1917 from Calcutta. For English tr. cf. the following note.

2. *The Land of Viṣṇu,* D. K. Publishers, Delhi 1980. The work also contains an English translation of the Māhātmya.

who has also studied it from the text-critical, sociological and religious points of view. It is going to be published shortly (1984) by *Otto Harrassowitz*, Wiesbaden under the title: *Der Holzgott und die Brahmanen* (Freiburger Beiträge zur Indologie, 16). The scope of the present paper is different from that of the study of Prof. Schneider.

2. *The Nature of the work*

The *Mahāpuruṣavidyā* is an uncommonly erudite, highly philosophical and scholarly Māhātmya of Puruṣottama Kṣetra composed in a comparatively chaste Sanskrit. There are not many *Sthalamāhātmyas* which can vie with the *Mahāpuruṣavidyā* in matter of superior content and the treatment of the subject.

The *Mahāpuruṣavidyā* has an entirely different character as compared to the previously mentioned three Puruṣottama Māhātmyas appended to the Purāṇas. It does not deal with the legend of the establishment of the Kṣetra by Indradyumna, nor does it mention that the wooden statues of Jagannātha etc. have been erected as a replacement for an older stone statue of Nīlamādhava.[3] It seems to have been composed by the Brahmanic priesthood of the Puri temple, a priesthood which had not only already accepted the wooden Deities but which had also deep sense of veneration for them.

The author of *Mahāpuruṣavidyā* exudes a different sort of self-confidence when he talks about the material out of which the statues are carved or about the queer shape of the statues. He does not evoke the impression that he is

---

3. The legend of Indradyumna in all its versions has been studied in great detail by Dr. R. Geib in his work *Die Indradyumna Legende*, Ein Beitrag zur Geschichte des Jagannātha-Kultes, Wiesbaden, 1975.

helplessly apologetic about the substance and the appearance of the statues. For him the Blue Mountain is the highest and the permanent abode of Viṣṇu mentioned in the Vedas (Cf. *RV*.1.20.20, 21 and 1.154.5, 6) as the *paramaṃ padaṃ*. The shape of Jagannātha is the primeval shape of Viṣṇu out of which his various incarnations proceed and his body consists of *dāru* because in this form the Deity 'Cleaves asunder the miseries of the world (*dār*)' and 'imparts eternal bliss (*ruḥ*, from *rā*=to give)'.[4]

The *Mahāpuruṣavidyā* deals mainly with the philosophical nature of the Deities and underlines their importance for the moral and spiritual uplift of a human being leading ultimately to salvation. Nīlādri, according to it, is the place which remains intact and undestroyed even at the dissolution of the world and it is from here that the next nexus of creation proceeds.

3. *The Manuscripts of Mahāpuruṣavidyā*

Only four manuscripts of the *Mahāpuruṣavidyā* are known to exist : one each in the manuscripts libraries of Bhubaneswar (State Museum), Calcutta (Asiatic Society), Bombay (Royal Asiatic Society) and London (India Office Library).[5] It is difficult to explain why in spite of its unique importance and scholarly character, the work has not received that wide a circulation which it deserves. A de-

---

4. *dāraṇāt sarvaduḥkhānām akhaṇḍānandadānataḥ /*
padmajāham sadā dāruḥ saṃśayo nāsti cātra vai //
MV—III.147.

5. A description of these manuscripts may be found in the following catalogues :

(i) *Cat. of Sanskrit Mss in Orissa State Museum*, compiled by K. N. Mahapatra, Vol. III (1962), p. 32, Ms. No. Dh. 68.

cayed manuscript in the collection of the Orissa State Museum (Bhubaneswar) is the sole survival of this work in Orissa. It is also the only manuscript of this work on palm-leaf in Oriya character. Judging from the condition of the leaves it seems to have been written approximately 250 years ago. All other are paper transcripts in Devanagari characters belonging to late 18th (e. g. London, which was written in 1797 A.C.) or 19th century (e. g. Calcutta, 1832 A.C.), got prepared obviously by pilgrims for their personal use. The manuscript deposited in the collection of Asiatic Society, Calcutta was prepared at Varanasi (cf. the colophone : *śubham astu/mitī pauṣakṛṣṇa* 13 *budhavāsare saṃvat* 1889 *kāśyām madhye likhitam*) and the manuscript at London must also have been copied somewhere in the northern region of India. The non-availability of the copies of this work in the Orissa-Bengal region which has the maximum number of the devotees of Jagannātha remains indeed enigmatic.

4. *Content-analysis of the text*

The Sanskrit text of *Mahāpuruṣavidyā* consists of approximately 1100 ślokas distributed over 10 Adhyāyas. The last 60 ślokas which describe the glory of *Mahāprasāda* (the cooked food offered to Deities) have an independent charac-

---

(ii) *Cat. of Books and Sanskrit Mss. belonging to the Asiatic Society of Bengal,* No. III F 36 ; previously described by R. L. Mitra in his catalogue (1874) on p. 231f., Ms. No. 828.

(iii) *Cat. of Sanskrit Mss.* compiled by H. D. Velankar (1928), p. 281, Ms. No. 913. This Ms. is incomplete and consists of only 10 folia.

(iv) *Cat. of Sanskrit Mss. in India Office Library* compiled by J. Eggeling Vol. I & II (1899), p. 1402, Ms. No. 3716.

ter and ought to be treated, for all practical purposes, as forming a separate Adhyāya. These are, however, usually found to have been incorporated in the IX Adhyāya itself which basically deals with the Mantras to be empolyed in the worship of the *Dārubrahma* or Jagannātha.

The work opens up with a question of the sage Śaunaka unto Sūta as to who is the ultimate Creator, Protector and Destroyer of the world. Sūta replies that it is Lord Viṣṇu who is endowed with all these qualities. As reply to further queries of Śaunaka, Sūtra explains the absolute and transcendental nature of the Lord and deals with the four forms of his Vyūhas namely : Vāsudeva, Saṃkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha which progressively have a diminishing degree of abstraction. It is Aniruddha who manifests Himself in form of various incarnations. The second and the third Adhyāyas describe the beginning of creation by the primeval Lord Viṣṇu with the help of Māyā. After creating myriads of worlds and placing them or the heads of Śeṣanāga, the Lord creates the central world ('aṇḍa') and places it on the top of the central hood of Śeṣanāga. On it He creates his Highest Abode (*paramaṃ padaṃ*) in the form of 'Blue Mountain' (*nīlācala*, i. e. the temple of Jagannātha) and starts living in it in his original and primeval form (*svarūpa*) in the shape of a wooden deity. The abode of Viṣṇu is called *nīla* because the word is made up of two elements *nī* and *la* ; the former stands for *nirvikāra* (unchangeable) and the latter for *laya* (dissolution). Since the place remains unchangeable or imperishable even at the time of the destruction of the worlds and since all other beings get dissolved into it at the time of *pralaya*, it is known as such.[6] However, the Lord does not want to be so easily approach-

6. *nirvikāre layaṃ yānti yatra caiva hi jantavaḥ |*
kadāpī na calaty eva tena nīlācalaḥ smṛtaḥ ||

able to the mortal beings, otherwise everybody would get an easy liberation bringing the cycle of creation to stand-still. He, therefore, requests Ambikā, the Mother of the worlds who is standing to his left, to prevent people coming to Him and getting liberated. The Ambikā laughs and out of her laughter Mahāmāyā is born. She gets instruction from the Lord to engulf the sentient beings with ignorance so that they remain in the cycle of birth and death (*saṃsāra*) and the creation moves on the preordained lines.

Feeling pity for the ignorant creatures Śaunaka asks Sūta about the ways and means of getting rid of this ignorance. Sūta narrates the story further and says that after sometime Lord Himself felt sorry for the tormented humanity, afflicted with sorrow and sufferings. So he ordained that the Blue Mountain and the region around it should be developed as a special divine recluse leading to the spiritual uplift of human beings. First of all He lets all the Vaiṣṇavas living on the various planets reborn on this earth.[7] After they are purified by doing desireless *karmans* on the lines of *Bhagavadgītā* and have given up the guṇa of *tamas* they come to behold the goddess Virajā (at Jajpur).[8] They cast aside their quality of *rajas* here and enter into the field consisting of purely *sattva*. The land from Virajā right upto Ekāmra-kṣetra (i. e. the Lingarāja temple at Bhubaneswar) is full of pure sattvaguṇa. Thereafter, from Ekāmra to Nīlācala is a land consisting of supreme bliss.[9]

7. *brahmāṇḍeṣveva cānyeṣu ye ye santi ca vaiṣṇavāḥ/*
tāṃs tu sarvān samākṛṣya brahmāṇḍe'smin śubhodaye/
śrjasva vatsa vegene bhogabhūmīṣu sarvadā// *MV*.III.80

8. On Virajā see U. N. Dhal, *Virajā Kṣetra–A Śākta Pīṭha* in ARUṆA–BHARATI (*Prof. A. N. Jani Fel. Vol.*), Aligarh. 1983, pp. 67-76.

9. *eṣā parāṇandamayī bhūmir atyantadurlabhā/*
Adh.III.88

The temple at Puri on the Blue Mountain represents the highest and the real abode of Viṣṇu. This abode is protected by the Mother Goddess as well as by Śiva in their eight forms each, situated at the eight cardinal points around the Blue Mountain. A short description of these sixteen temples is then given. The Vaiṣṇavas come to see the Lord after having fully transformed themselves spiritually and after having a darśana of Him they either get his Attendantship (pārṣadatva) or become One with Him (sāyujya). Those who have totally surrendered themselves to the Lord are eligible to get the Attendantship and those who, being disgusted and fed up with this world, crave for liberation achieve unity with the Lord (III.157–162).

To a further question regarding the process of dissolution and the existence of Lord on the Blue Mountain, Sūta replies that at the time of dissolution of the creation, the worlds get dissolved into the Prakṛti (Nature) ; the Prakṛti into the Puruṣa (Conscious Being) and the Puruṣas into Lord Jagannātha Himself. Only the Lord remains after the destruction of the worlds and he sports in His primeval form and shape at his eternal and the highest abode, the Nīlācala. Sūta adds that the real nature of the Lord at the Blue Mountain could be understood only through the study of Upaniṣads and the Vedānta philosophy and that He could be achieved only through devotion (*bhakti*).

The IV Adhyāya takes up afresh the description of the glory and importance of the Highest Abode (*paramaṃ padaṃ*) of Viṣṇu,[10] this time by way of a conversation bet-

10. For the concept of the 'highest *step*' of Viṣṇu and its development into the 'highest or the foremost *abode*' of Viṣṇu, see U. Schneider, "Viṣṇus Höchste Fusstapfe" in *Z.D.M.G.*, Supp. II (Proceedings of the XVIII German Oriental Conference, Lübeck, 1972), Wiesbaden, 1974, pp. 390-409.

ween Vyāsa and Nārada. The latter explains to the former that in order to have a glimpse of the Lord at the Blue Mountain one has to undergo a long process of self purification and spiritual development. Those who are devoted to Viṣṇu and meditate upon his highest abode are ultimately born on this earth which is situated on the central hood of Śeṣanāga. They worship Viṣṇu in different forms at different places and when they have achieved mental purity, they develop staunch devotion towards the Lord of the Blue Mountain. Thereupon they are over-powered with the keen desire to have a glimpse of the Lord. They then set out on a pilgrimage to see the Lord and become devoid of their impurities at the sight of the goddess *Virajā*. Later, proceeding step by step, they have a darśana of the wooden Lord who is described in the *śrutis* as 'the Eternal Truth, the knowledge, and the Brahman.[11] All other gods like Śiva, Brahmā, Indra, Yama, Kubera and Varuṇa etc. stand in attendance to the Lord of Nīlācala and wait upon him.

There follows a philosophical interpretation of the 'palace' of the Lord with its three boundary walls which has the shape of a Yantra. The outer wall of the temple is identical with *praṇava* having three mātrās (a, u, m), the middle one stands for *savikalpa* knowledge and the innermost precincts represent the ninefold *bhakti* (IV.42—48). The various Deities in different shrines situated within the precincts of the temple are then described in detail (end of Adhy. IV).

Thereafter the author proceeds to describe the main temple enshrining the wooden statues of Lord Jagannātha,

11. *satyam jñānēti vākyena sadā yad vadati śrutiḥ/*
tad brahma dārurūpeṇa bhāti nīlāchalāntare//
Adh. IV.26

Balabhadra, Subhadrā and Sudarśana. The temple is endowed with seven sheathes (*āvaraṇa*). It is unique in the whole world in so far as it is made of the wish-fulfilling stone (*cintāmaṇiśilā*). It has the shape of a conch. In the centre of this conch upon a lotus there sits the Lord majestically and the gods, goddesses, sages, Snakes and Yakṣas etc. have a darśana of the Lord standing in the audience-hall (*jagamohana*). "It is the same place which is described in the Vedas (Cf. *RV*.I.22.20, 21) as the "Highest abode (or step) of Viṣṇu. There is no other place of Viṣṇu higher than this place. That is why the Kṣetra is known as *Puruṣottama*. (the highest place of Puruṣa or God.)" :

ity etat kathitam vipra hareḥ prāsādam uttamam/
yad vedajñā vadantīha tad viṣṇoḥ paramam padam//
etasmāt paramam sthānam viṣṇor anyam na vidyate/
tasmāt paratamaṃ sthānam āhuḥ śrīpuruṣottamam//
V.23, 24

The Lord is available here along with Balabhadra and Ramā (=Lakṣmī) in form of Subhadrā. He is identical with the form and the essence of the divine syllable Oṃ. The Lord has manifested Himself at this place in order to do favour to poor and downtrodden. He cannot be won over by the rituals of worship nor by giving alms and donations to the poor. It is the love which can win him, the love of devotee towards his Lord. Those who do not have loveful devotion towards the Lord are not even eligible to have a darśana of Him :

prītya yatha vaśam yāti nīlaśailaśiromaṇiḥ/
na tathārcanadānādi-karmabhir jagadīśvaraḥ//
V.37

yadā pibanti tāṃ premalakṣaṇām te madhuvratāḥ/
tadā te yogyatām yānti prabhupādābjadarśane//
V.30

One should have the same kind of emotional attachment towards the Lord as one has towards his child. Love is the only means to please the Lord and once the Lord is pleased, there is nothing in the world which might remain unattainable to a dedicated devotee. "It is astonishing, O Scholar (the sage Vyāsa is thus addressed), that the Lord who is rather difficult to be achieved by even the best and the highest of Yogins (through yoga practices) behaves like a servant with those poor persons who have love towards him."

yathā sve caurase putre prītaḥ svātmani vā dvija/
sneham tathā prakurvīta dārudehadhare pare//
prītyā prasanno bhagavān bhavaty etac ca nānyathā
nāprāpyam vidyate kiñcit prīte śrījagadīśvare
ity etat kathitam vidvann āścaryam param adbhutam
dīnānām vaśatam eti prītyā yogendradurlabhaḥ//
V.40-42

The present visible form of Lord Viṣṇu is his original form and the temple is his eternal abode. He resides there with Balabhadra and Subhadrā for the sake of salvaging the poor and the helpless people (*dīnānātha-samuddhṛtau*, V.57). In fact, the idea that Lord Jagannātha is a god of the poor, helpless and downtrodden is met with in this Māhātmya again and again, cf. e. g. :

dīnahṛttāpanāśāya paramānandamandiram/
VI.10cd.
dīnānāthān samuddhartum svarūpeṇa virājate/
VI.106cd.
vedavedyo dayāsāro dīnānāthaikavallabhaḥ/
VI.109ab

The special position of the arms of the image of Jagannātha is interpreted by the author as the Lord stretching out His arms like a father to his son to hold the hands of

the persons in distress and to help them out of sorrow and sufferings :

tasmād uttolya bhagavān bāhuyugmaṃ sadaiva hi/
bhaktān bhavāntare devaḥ pitêvôddharati dvija//
VI.60

It may noted here in passing that the temple of Jagannātha has been the only temple in India which has been open to the persons belonging even to lowest of all castes including untouchables and that all the norms of caste behaviour cease to operate as soon as one enters the temple which is manifested in the practice of enjoying the Mahāprasāda (cooked rice) of the Deity without the least regard to the caste of the person offering it.

The Adhyāya VI. mainly describes the *svarūpa* of the Lord i. e. the nature of the deity and her physical features etc. It describes the various organs and limbs etc. of the deity much on the lines of the *nakha-śikha-varṇana* of the Sanskrit literature with the only difference that it is a description of the masculine beauty (VI.14—45). It also describes the various attributes of the Lord, his weapons and the position of his hands, eyes etc. The Lord wears garments of different colours depending upon the weakdays. He wears, e. g., pink clothes on Sundays, white on Mondays, dark red on the Tuesdays, green on Wednesdays, yellow on Thursdays, white shining garments (inlaid with silver thread) on Fridays and blue on Saturdays (VI.63-67). One is advised to worship the wooden sandals of the Lord because they are capable of generating the feeling of devotion towards God in the heart of a worshipper.

The author then turns towards Subhadrā and terms her as *Lakṣmī*. He identifies the one with the other and declares that 'Subhadrā' is in fact Lakṣmī, the Mother of

the Universe, one who is beyond the scope of mind and speech, the lady who resides to the left of the Lord and who has specially assumed here the form of Subhadrā—

vāṅmanogocarātītām narakalmaṣanāśinīm/
mahālakṣmīṃ jagadahātrīm subhadrārūpadhāriṇīm//
VI.79

She is the 'queen' of the Lord and yet in her nature, she is identical with the Lord (like *Māyā* of Vedānta which is *bhinnāpyabhinnā,* separate yet identical with Brahman). She protects the creatures starting right from the god Brahmā upto the immobile beings (trees) like a mother her children with the orders of the Lord :

yā harer jagadīśasya mahiṣī svasvarūpiṇī/
subhadrā sā jaganmāta kuṅkumāruṇarūpiṇī//
ājñayā śrījagadbhartur brahmādīn sthāvarāntakān/
putrān mātêva sā nityam subhadrā pālayaty api//
VI.84, 85

It is through her grace that the protectors of the ten quarters (dikpālāḥ) like Indra, Yama etc. have achieved their assignments to protect the world (VI.83).

The author thereupon proceeds to describe the form and shape of Balabhadra. He is described as having seven cobra-hoods over his head. No one can ever have an exact notion of the nature of Balabhadra. He is said to be *ananta* or Eternal and because of his supernatural powers, he is known as *Baladeva* (VI.94, 95, 97). As for the fourth figure, the Lord Himself appears in the temple in form of Sudarśana Cakra. The ignorance of one who meditates upon it, is immediately dispelled. (IV.102, 104).

The Adhyāya concludes with the eulogy of the act of remembering the Lord (*smaraṇa*), of partaking of his *Naivedya,* of accepting his *nirmālya* and of having a darśana of the huge discus fixed on the top of temple. One who even

once sees the Lord does not have to see this world again. The very *mangalācaraṇa* śloka of the text, paying the first veneration to Lord Jagannātha mentions that the Lord of Blue Mountain is there to salvage the people drowing in the Ocean of transmigration. (*saṃsārāmbhodhimagnānām uddhāraṇaparāyaṇam*).

The sage Vyāsa whom the glory of Lord Jagannātha has hitherto been narrated by Nārada, is gratified to listen to it. He makes up his mind to visit the Kṣetra immediately and have a *darśana* of the Lord. In this context the author describes the various holy places situated in the town of Puri. The procedure of the darśana of the Lord that Vyāsa followed, is recommended to all the pilgrims for observance. After having baths at the Mārkaṇḍeya tank, the sea, the Aśvamedha tank (=Indradyumna-sarovara) and Śvetagaṅgā and after worshipping various deities situated at these places, Vyāsa enters the main temple. Visiting the different smaller shrines dedicated to Śiva and Devī etc., when he comes to the temple of Jagannātha and gets an opportunity to behold the Lord of Blue Mountain, he forgets himself and about his existence. "Indeed, there is no difference between the Viewer and the Viewed, the Knower and the Known, the Subject and the Object when one has an experience of the real nature (*svarūpa*) of the Lord. What the great Ṛṣis describe as the *Svarūpa* of God in the Upaniṣads and Vedānta philosophy, is majestically present at the Blue Mountain in form of wooden figures." This is the reason why Vyāsa forgets about himself after having a darśana of Him, whose nature consists of highest Bliss.

tasmin parānandamaye paramātmani mādhave/
niveśitamanā vyāso nātmānam veda vai dvija//
yat svarūpam vadantīha vedānte paramarṣayaḥ/
tad ayam nīlaśaile tu dārurūpeṇa rājate//

VII, 34, 35

When after sometime Vyāsa comes to himself he utters a highly devotional hymn in the praise of Lord in which he refers to His Vyūhas and incarnations etc. He identifies Him with all other deities as also with various objects of the world and underlines the importance of total dedication and surrender to the Lord. The devotional verses of Vyāsa uttered in praise of Lord Jagannātha constitute the climax of the whole work. Pleased with the devotion of Vyāsa, the Lord shows him His Viśvarūpa (the Universal form) and blesses him. Vyāsa returns to his recluse meditating upon the glory of the Lord.

The Adhyāya VIII gives a general description of the glory of Lord and stresses His rôle as the Saviour of the distressed human souls. It also makes a cursory reference to the two most important festivals of the temple namely *Mañcasnāna* (snānayātrā) and *Guṇḍīcā* (Ratha-Yātrā) as well as of *Netrotsava* (the festival of the painting of the pupils of the eyes of the statues on the eve of Car-festival). It again takes up the issue of the highest abode of Viṣṇu and declares the temple of the Lord Jagannātha as the *parama pada* of Viṣṇu and the land surrounding the Blue Mountain as the land of highest Bliss (*parānandamayī bhūmi*).

The IX Chapter describes the mode of worship of the Lord in short and deals with the two Mantras which are used as the basic (*mūla*) Mantras for the worship of the Puruṣottama in wooden form, a twelve-syllabic Mantra (*Oṃ namo bhagavate dāru-rūpiṇe*) to be used by women and Śūdras etc. and the other, an eighteen-syllabic one, prescribed for the devotees belonging to upper castes (*Oṃ namo bhagavate dārurūpiṇe puruṣottamāya*).

The last chapter deals with the unusual religious importance of the cooked Mahāprasāda offered to the Lord.

Goddess Lakṣmī herself is said to cook the food for the Lord in the form of *Suārs* (Sūpakāras=Temple cooks). It is free from all injunctions regarding purity and impurity. It never gets defiled. One can take it in any physical state, whether clean or clean. It remains forever pure even if touched by the lowest of the lowly people and is comparable to the holy water of Ganges, gold or a jewel. It is, so to say, the divine nectar for the mortal beings on earth. Those who partake of it attain the traits and characteristics of Viṣṇu Himself (X.76).

5. *The Authorship of Mahāpuruṣavidyā*

The above description of the contents of *Mahāpuruṣavidyā* would reveal the nature of the work to a considerable extent. The author of the *Mahāpuruṣavidyā* seems to be fully conversant with the main systems and works of Indian Philosophy ; with the *Ṛgveda Saṃhitā*, the Upaniṣads, the *Bhagavadgītā*, the Purāṇas, the Pāñcarātra Saṃhitās and the main works of grammar and literature. He deals very often with the concepts of Brahman and Māyā in the Vedānta, describes the theory of creation according to Sāṃkhya, dwells upon Ṛgvedic concept of *paramaṃ padam* of Viṣṇu (*RV*.I.22.20, 21 ; I.154.5, 6) at length, alludes to the passages of the Upaniṣads, refers to the theory of selfless work and dedication of the fruits of human deeds to God (cf. Gītā, III.3-30), mentions the Purāṇic persons and legends, builds in the theory of the Vyūhas in his system of thought, finds out the etymologies of the words like *dāru* and *nīla* etc. and borrows beautiful similes from the works of classical Sanskrit literature for description of the beauty of the deities.

The king of Orissa, right from the time of Yayāti Keśari II (Ca.885–914 A.C.), have invited learned Brahmins from *Madhyadeśa* (Kannauj and its surroundings) and

settled them in villages especially donated to them, in the former phase, around Jājpur, and later with the emergence of Puri as the religious and Cultural centre of Orissa, in 16 villages around Puri.[12] These Brahmin Village are known as *Śāsana* (Royal order) villages and the Brahmins living here had a definite cultural function to perform. They were the persons who propagated the tradition of Vedic learning and disseminated the classical North Indian Culture into the heartland of Orissa. They were the group who systematically brought about silent socio-religious changes in the Orissan community till then consisting mostly of peasants by composing Dharmaśāstra works especially suited to local needs and adapted to Orissan society.[13] Most of the Sanskrit scholars, poets and writers in Orissa as well as high Priests of the Jagannātha Temple have come up from this Brahmin community. There is a sixteen-pillared hall (*Muktimaṇḍapa*) inside the Jagannātha Temple in which only the Brahmins belonging to these 16 Śāsana villages are allowed to sit. They are often seen discussing among themselves religious matters and passing verdicts on the religious and social problems referred to them by people seeking their expert advice. It is within this community that we have to look for the author of the *Mahāpuruṣavidyā*. These Brahmins are mostly Śāktas in their private religious practices and, I think, that the unusual importance attached

12. See G. C. Tripathi, *The Ritual of Founding a Brahmin Village*, Delhi, 1981, pp. 4-5.

13. George Pfeffer, "Puris Vedic Brahmins : Continuity and change in their traditional Institutions", in *The Cult of Jagannatha and the Regional Tradition of Orissa*, (Ed. by A. Eschmann, H. Kulke and G. C. Tripathi), Delhi, 1978, pp. 422-29. For a detailed socio-anthropological study of these Brahmins *vide* the D. Litt. thesis of Dr. Pfeffer entitled : *Puris Śāsana-Dörfer, Basis einer regionalen Elite*, Heidelberg University, 1976.

to the goddess Virajā in our text could also be taken to strengthen this surmise.

6. *The Date of Mahāpuruṣavidyā*

And that brings us to the problem of the date of the composition of the work. The frequent references to the Kṣetra of Virajā and the rôle played by this goddess in purifying the self of the devotees, the rôle of removing their quality of *rajas* and making them eligible to have a glimpse of Lord Jagannātha, provides us with an important clue to fix up the *terminus ante quem* of the work. The references to Virajā are found in the following verses : Adhy. III Śl. 86, Tndhy. IV Śl. 14 and Andhy. VIII Śl. 129-142. Lord Jagannātha Himself is depicted here as giving instructions to Brahmā that while taking the pious souls for a darśana of the Deities at *Śrīkṣetra* he should first make them take bath in the river Vaitaraṇī at the Kṣetra of Virajā (Jājpur) and let them first have a darśana of the goddess Virajā so that [casting aside their *rajas*] they become charged with the quality of pure *sattva*—

tatas tān virajām devīm darśayasva caturmukha/
dṛṣṭvā te virajām tasyām snātvā nadyām vidhānataḥ/
śuddhasattvamayāḥ sarve bhaviṣyanti na saṃśayaḥ//
III.86

Later in Adhy. VIII. goddess Virajā has been depicted as the one who is in-charge of examining the spiritual development of the souls coming to have a darśana of Lord Jagannātha. Those who are pious and meritorious but not yet spiritually advanced enough to have an access to the *parama pada* and to have a darśana of the *sva-rūpa* of Viṣṇu, are redirected by the Mother Goddess to the various heavens where they enjoy divine pleasures (VIII.130). They ascend to heaven in the vimānas (celestial cars), remain in

heaven for a certain period and are thereupon re-born in various *yonis* upon this earth. Those, however, who have staunch devotion and deep love for the Lord are born in the proximity of the Kṣetra. Goddess Virajā lets them be born within a radius of ten Yojanas (130 k.m.) from the temple of Puruṣottama. When their previous merits and saṃskāras come to the forefront, there arises in their hearts a keen desire to have a darśana of the Lord. They again come to Jājpur, take a bath in the Vaitaraṇī river and have a darśana of the goddess Virajā. Thereupon they become *virajaska,* their person is wholely transformed into sattva and as such they proceed further on their way to the *parama pada* of Viṣṇu (VIII.127-139).

It may be seen from the above that the Kṣetra of Virajā is inextricably woven into the pattern of liberation preached by the author of the work. If it is dropped out, the whole system shakes and crumbles.

The city of Jajpur in which the Kṣetra of Virajā is situated was razed to ground and the temple completely destroyed in 1568 A.C. by the furious iconoclastic forces of Kala Pahad, the notorious general of Suleiman Karrani of Bengal, totally crippling the cult of the goddess there.[14]

No other city and no other Kṣetra underwent such a barbaric and such a thorough destruction as that of Virajā. There are epigraphic references to prove that the Kṣetra of Virajā existed in Jajpur in the later Gupta period. Jajpur was the capital of Orissa during the reign of Bhaumakaras (7th to 9th century A.C.) and even after the capital of Orissa was shifted to Cuttack by the Gaṅgas in the 12th century, the name of Jājpur as the capital of Orissa had so

---

14. See H. K. Mahatab, *History of Orissa,* Vol. I, Cuttack, 1959.

deeply imprinted itself in the minds of people in North India that the Moslem Chronicles of the emperors at Delhi continued to describe the Rulers of Orissa as the "Kings of Jajnagar" upto as late as 17th century.

It is obvious that the *Mahāpuruṣavidyā* could not have been composed after the destruction and defilation of the Kṣetra of Virajā. It simply would not have fit into the spirit of the time. We must therefore conclude that the composition of the *Mahāpuruṣavidyā* was finished latest by 1565 A.C. or so.

Let us see how far back we can go. Fortunately for us there is another important internal evidence which provides us with a clue as regards the *terminus post quem* of the work. King Gajapati Puruṣottamadeva (1465-1496 A.C.) of Solar dynasty was one of the greatest devotees of Lord Jagannātha of all times, perhaps because as the scholars think, as a son of a Usurper (Kapilendra Deva, who wrested Kingdom of Orissa from the Gangas and founded the dynasty of Sūryavaṃśa) he had to depend much on the support of Jagannātha and the priesthood of the temple for legitimation of his political power.[15] But there is no denying to the fact that he did a lot to improve the administration of the temple, to reform the Cult, and to streamline the ritual of Pūjā. It was he who got written the first manual of Pūjā, the *Gopālārcanavidhi,* for the guidance of the priests. He is also credited to have composed (i. e. got composed) a work containing quotations from older authoritative works bearing upon the glory of Puruṣottama

15. H. Kulke, "Jagannātha as the State Deity under the Gajapatis of Orissa" in *The Cult of Jagannātha and the Regional Tradition of Orissa,* pp. 204-08 and G. N. Dash. "The Evolution of Priestly Power : The Sūryavaṃśa Period", *ibidem,* 209-19.

Kṣetra and Lord Jagannātha. The name of this treatise is *Mukticintāmaṇi*[16] and it contains a number of verses from the Purāṇas and Tantras eulogising the Kṣetra.

The compilor has taken great pains to collect quotation even from less known texts. What strikes one, however, in our context, is the fact that there is not even a single quotation from the *Mahāpuruṣavidyā* whereas it is obvious that this work is exactly the one which could have provided scores of quotations for inclusion in the *Mukticintāmaṇi*. This fact is so striking that I an inclined to attach due significance to it and would like to conclude that the absence of quotations from the Mahāpuruṣavidyā is due to the plain fact that work had not yet come into existence till then, i. e. around 1500 A.C.

The *Mahāpuruṣavidyā* thus seems to have been composed, in all probability, between 1500 and 1560 A.C. But let us see whether it is possible for us to reduce this span and fix the date within still shorter limits.

The frequent mention of the temple of Jagannātha as the 'highest abode' (*paramaṃ padaṃ*) of Viṣṇu helps us in this regard. In the year 1510 A.C. Caitanya Mahāprabhu, who had been initiated into Viṣṇuism by Keśava Bhāratī in January the same year at Navadvīpa, came to Puri. As is well known, he went about singing, dancing and praising the name of the Lord through the streets of Puri. He often fell into trance experiencing religious raptures while singing and chanting the name of the Lord. This was entirely a new type of religious experience and an entirely novel expression of devotional feelings.

---

16. Edited by Pt. Sadashiva Mishra and published from Calcutta in 1896.

Soon he attracted a number of followers some of whom were great scholars and writers. Five of such distinguished authors are known as *Pañcasakhā* (the five associates, scil. of Caitanya). All of these have made significant contribution to the religious and philosophical literature of Oriya.

Now, as I have discussed in detail elsewhere,[17] these Pañcasakhā held the view that the Blue Mountain is the eternal abode of Lord Viṣṇu. Balarāmadāsa in his *Vedāntasāraguptagītā* says that "this Nilagiri is the eternal abode of Kṛṣṇa. It is inseparable and indistinguishable from Him. The places like Mathura, Dwaraka and Ayodhya have, in essence, emerged out of this eternal abode":

e nīlagiri nitya sama/ teṇu śrīkṛṣṇa nitya dhāma//
e nīlagiri nitya dui/ abhinna abheda aṭai//
gopa mathurā dvārāvati/ śrīkṛṣṇa ajodhyāra pati//
emāne nityasthaḷū jāta/ abhinna na kara ho pārtha//

Upvaluation of the Blue Mountain was perhaps a need of the time. Caitanya had visited Vṛndāvana in 1512-1513 A.C. and was deeply shocked to find the spot in an utterly neglected state. It was more or less a piece of desert-land with hardly any trees and no temples. One can well imagin the grief and affliction of a deep devotee of Kṛṣṇa who comes to Vṛndāvana of early 16th century with his concept of the place created by the beautiful descriptions of the *Bhāgavata Purāṇa* and his imagination nurtured by the verses of *Gītagovinda* !

Though later he sent some of his chief desciples (Rūpa-Gosvāmī and Sanātana-Gosvāmī) to re-discover and identify

---

17. G. C. Tripathi, "Jagannātha: The Ageless Deity of the Hindus", in *The Cult of Jagannātha and the regional Tradition of Orissa*, pp. 477-490.

the various spots connected with the *līlās* of Kṛṣṇa, the desire to find a substitute for Vṛndāvana gained ground among Caitanya and his followers. This need develops, on the one hand into the concept of a 'celestial' Vṛndāvana, the earthly Vṛndāvana is transferred to heaven; and on the other, the place of the activities of Caitanya, the Śrīkṣetra which is incidentally also the biggest and the most important religious complex dedicated to Kṛṣṇa in North India, gradually takes place of Vṛndāvana and ultimately replaces it as the eternal abode of Kṛṣṇa, facilitated apparently also through the fact that Caitanya himself slowly comes to be accepted as an incarnation of Kṛṣṇa. In addition to the above, the concept that Jagannātha is an *Avatārin* (Incarnator) and not a particular *vibhava* (aspect) or avatāra of Viṣṇu is also found in the writings of the poets belonging to 16th century. Kārttikadāsa, e. g. writes in his *Rukmiṇibibhā*, II.28 that it was Jagannātha who assumed the form of the son of Devakī (*Jagannātha hoilāka debakīra bāla*).[18]

I think that the development of the concept of Blue Mountain as the eternal abode of Kṛṣṇa/Jagannātha would have taken place approximately during the period between 1515 to 1525 A.C. This is also the period which may be designated as the golden period of Oriya literature. No other period witnessed the composition of so many works on varied philosophical and religious themes. We shall, therefore, not be much off the mark, if we were to postulate that the period of composition of *Mahāpuruṣavidyā* falls between 1525 A.C. to 1550 A.C.

The *Mahāpuruṣavidyā* occupies a very honourable place among the *Sthala Māhātmyas*. It is the best and the

18. Cf. G. C. Tripathi, *ibidem*, p. 484.

foremost of all *māhātmyas* written on Jagannātha-Kṣetra. An analysis of the religious and philosophical contents of the *Mahāpuruṣavidyā* shall be highly rewarding and shall help us in understanding the various streams of philosophical thought that have gone into making of the Jagannātha Cult.

यः स्वात्मानममेयमक्षरमजं सूक्ष्मं मदाद्यैः सदा
दुर्ज्ञेयं कृपया चकार सुलभं चर्माक्षिणां चिन्मयम् ।
यं दारुं भवदारणाच्च मुनयो भक्ताश्च संसारिणः
सर्वे हर्षयुता वदन्ति तमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥

VIII. 74

दिव्यालङ्कारयुक्तं भवभयनिकरोन्मूलनोपायमुख्यं
ज्ञानानन्दैकराशिं निजजनकरुणावारिधिं वारिजाक्षम् ।
दृष्ट्वा जीवाः स्वदेहं सकलमिदमहंकारयुक्तं त्वनित्यं
विस्मृत्यानन्दसिन्धौ निपतितहृदया निश्चलाः सम्भवन्ति ॥

VIII. 150

PLAYING CARDS AND SANSKRIT TRADITION*

PROF. SIDDHARTH Y. WAKANKAR

Baroda

In ancient India, the whole of human life was regulated by *dharma*. Even the various means of recreation such as chess, playing cards etc. were not free of the religious tint. In this paper, the author has thrown light on the purpose, nature and chief characteristics of playing cards and the impact of Indian tradition on it.

Sanskrit is the only culture in the world that has always preached and maintained religious orientation in all spheres and aspects of human life, regulated as it was by social harmony in thought, speech and action. This is the reason why in Ancient India work and worship, play and praise went hand in hand. Religious texts such as the *TITHI-TATTVA* of Raghunandan Bhaṭṭācārya,[1] in fact, did enjoin that the modern game of Chess, known in Sanskrit by the name of *CATURAṄGA*, should be played throughout the night of *Kojāgiri Pūrṇimā*, the full moon night in the Hindu month of *Āśvina*. The Playing Cards, another very popular indoor game, also had religious tinge attached to it.

---

*The paper was read and discussed in the 8th Conference of the Gujarat State College and University Sanskrit Teachers' Association, held at Jetalpur, near Ahmedabad, from 4th to 6th of April, 1982.

1. *Smṛtitattva* of Raghunandana Bhaṭṭācārya, J. Vidyasagar (Ed.), Vol. I, 2nd Edition, Calcutta, 1895, pp. 137-139.

It was thought that while playing also, the Hindu minds should not forget the gods and the heavenly bodies etc. which were beneficial to them. This was the *raison d' etre* for the varieties of Indian Playing Cards known as the *Daśāvatārī Gañjiphā, Navagraha Gañjiphā* etc. These games had won religious sanction and public applause as well. In due course, royal patronage was also extended to these games.

The religion of the Vedas consisted of the worship of the Natural Phenomena, such as the Earth, Heaven, Sun, Moon, Waters etc. The religion exercised so much of influence on the Vedic Indian mind that these phenomena were deified and certain traits were attached to them. They were conceived to possess some forms. Thus, it appears, came into being the iconography, which in later period got influenced by other cultures. The images of the gods were used for concentration and afterwards were pictured on the Playing Cards—the main aim being the remembering and muttering the names of the gods even while playing. Hence, that time spent in playing was not considered as wasted, because, the players all through the game remembered the gods. The Magic Squares and Yantras used by the Tāntrikas were supposed to be the replicas or miniatures of the Universe. There also we have a *Navagraha Yantra*-proving once again the influence of religion on the thinking process of the Ancient Indians.

The speciality of the Indian Playing Cards was that they were circular in shape—again a model of the Universe. A circle, moreover, indicates completeness—an attribute of the gods. The size of the cards varied from 20 mm. to 120 mm. The rectangular shape was a later development

due to European influence. The cards were made of paper, starched cloth or leather for ordinary *Gañjiphā.* The rich persons played with the cards of ivory, tortoise shells or mother of pearls, which were painted by expert artists specially commissioned for these purposes. Sometimes, golden and silver enamels were also used for some *Gañjiphā* sets.

Varieties of Playing Cards :

The Playing Cards are generally known by the name *GAÑJIPHĀ,* considered to be a Persian word. But, it is likely that this word must be a corrupt form of the word *GAÑJAPĀ* or *GAÑJAPPĀ,* which is used in Orissa. In Mysore, the cards are known as the *Chadas,* because, they are to be concealed from other players. The most important and popular names of the *Gañjiphā* games are the *Daśāvatārī Gañjiphā,* which is more popular and known in the State of Maharashtra, *Navagraha Gañjiphā, Rāśi Gañjiphā, Rāmāyaṇa Gañjappā* etc. The *Mogul Gañjiphā* is known as the *Caṅgakāñcana.*

The Daśāvatārī Gañjiphā : It is a game with 120 cards in a pack, divided into 10 suits (corresponding to the 10 *Avatāras* or incarnations of Lord Viṣṇu) of 12 cards each. Only three persons can play this game. The names and the colours of the suits are as follows : *Matsya* and *Kūrma* (both red), *Varāha* (yellow), *Narasiṃha* and *Vāmana* (both green), *Paraśurāma* (tawny), *Rāmacandra* (yellow), *Kṛṣṇa* (tawny), *Buddha* and *Kalki* (both black). These cards are painted on paper and then lacquered. This is a flourishing trade in Savantwadi in Maharashtra. In all these ten suits, the King should be shown as sitting on a throne (*Siṃhāsana*) and the *Pradhāna,* i. e. Vazier, should be shown as riding a horse. In the first five *Avatāras,* the ace is next in strength to the *Pradhāna* and in the other five

Avatāras, the ten is next in strength to the *Pradhāna.* The cards 1 to 10 are marked by the pictures of the emblems of that particular *Avatāra,* such as the fish, tortoise, boars, lions, umbrellas or parasols, axes, monkeys or arrows, cows or clubs, seated Buddhas and horses or swords. The Trumps are as follows: When playing during day-time, Rāma is the king, that is trump; at night, either Balarāma or according to some Kṛṣṇa is the trump; in the evening, the king will be Narasiṃha and on a dusky day, Kūrma will be the king.

Navagraha Gañjiphā: It is a game with 108 cards in a pack, divided into 9 suits (corresponding to the 9 *grahas*) of 12 cards each. This game is also played by three persons. The trumps are as follows: On Sunday, the Sun is the king, i. e. trump; on Monday, the Moon etc. But, on the night of *Pūrṇimā,* Rāhu is the king and during day time on an *amāvāsya* day, Ketu will be the trump. This game doesn't seem to be as much popular as the *Daśāvatārī* G.

Rāśi Gañjiphā: *Rāśis* means the 12 signs of the Zodiac. There are 12 suits (corresponding to the 12 signs of the Zodiac) and each suit has 12 cards. This game is also played by three persons. This game must have been very popular in Maharashtra during the Peshva Rule. Historical evidence proves that a pack of this game was ordered to be prepared and sent to Poona.[2] Dr. R. V. Leyden records on p. 25 of his excellent book—"GAÑJIPHĀ-THE PLAYING CARDS OF INDIA"—published by the Victoria

2. *Peśavāicyā Sāvalīta,* Chapekar, Narayan Givind, Bhārata Itihāsa Saṁśodhana Maṇḍala Puraskṛta Granthamālā, No. 34. Poona, Śaka, 1859, p. 198.

and Albert Museum, London—that there is a unique Gañjiphā set of this type preserved in the Indian Institute Library, which, now, is a part of the Bodleian Library, Oxford. No details of this game are available at present, except the names of the 12 *Rāśis*, their colours, the pictures to be painted on the cards and the *Vāhanas* or vehicles of these *Rāśis*. For example, *Meṣa Rāśi*- red colour, king seated on a goat and the vazier on a ram ; *Vṛṣabha Rāśi*- the king and the vazier both seated on a bull. The colour of the *Rāśi* is white.

Rāmāyaṇa Gañjappā : The pack of this variety consisted of 144 cards, divided into two sets : six suits of 12 cards each forming the side of Rāma and six suits of 12 cards each belonging to the side of Rāvaṇa. Four persons, occupying four major directions play this game : A player drawing the ace, 5 and 9 sits in the north ; a player drawing the cards 2, 6 or 10 sits in the east , one having 3, 7 or Minister that is Vazier sits in the south and a person getting 4, 8 or the King sits in the west. Each player gets 36 cards. The cards belonging to the division of Rāma should be arranged at the right hand corner and those of the side of Rāvaṇa should be on the left hand side. In the Rāma suits, the ace is next in strength to the *Pradhāna* and in the Rāvaṇa suits, ten is next in strength to the *Pradhāna*. The Kings are depicted as seated on Chariots and the fashionably dressed Ministers (*Pradhāna* are mounted on horses or elephants. *The speciality of this game is that there is no trump.*

The Mysore varieties : Kṛṣṇarāja Wodeyār IIIrd, the King of Mysore (1794 to 1868 A.D.) in his book *SRĪTATTVANIDHI*, has described 13 varieties of the *Chadas* (Play-

ing Cards) in the last chapter of his book, termed as the *KAUTUKANIDHI*. It seems that by mathematical permutations and combinations, he invented different games and named them as the *Cāmuṇḍeśvarī—chada* (320 cards); *Jaganmohana-chada* (360 cards); *Navīnadaśāvatāra-chada* (240 cards); *Navagraha-chada* (216 cards) etc. In the Kannada commentary on this portion, he describes the colours of the different suits such as golden, silver, reddish, moss-green etc. One more interesting detail is given in this Kannada commentary. The author specifically states that all these games were (or are to be) played on the pattern of the *Mogul Gañjiphā*, known as the *Chaṅgakāñcana*. This *Mogul Gañjiphā* consisted of 96 cards, divided into 8 suits of 12 cards each as follows: *Kāñcana* and *Barāta*-green colour; *Khumāsa* and *Tāja*-yellow; *Samaśera* and *Gulāma-red*; *Caṅga*-tawny and *Rūpera*-black. Three or four persons could play this game.

Gradually, in keeping with the general tendency of the Indians, many Hindu Gods were introduced and depicted on the Playing Cards, e. g. the *Aṣṭa Dikpālas* or the Eight Guardians of the Quarters or directions: the *Aṣṭamalla*-the eight heroic deeds of Lord Kṛṣṇa; the *Saptarṣis* or the Seven Vedic Seers or the Ursa Major: a *Tāntrika* Gañjiphā in 6 suits depicting the Gods with Their Śaktis on the court cards and a *Tāntrika* mantra on the numerals: an expanded *Daśāvatāra-dikpāla Gañjiphā* consisting of 384 cards divided into 32 suits (24 incarnations of Viṣṇu as listed in the *Bhāgavata Purāṇa* plus 8 Guardians of the regions multiplied by 12 cards each in the suit: a Jain set of the Playing Cards, preserved in the Deutsches Spielkarten Museum in Leinfelden etc. The interested

persons may profitably refer to the above mentioned book of Dr. Leyden published in 1982.

It is quite evident that every game of these varieties required many cards such as 96, 120, 144, 216, 360 etc. like in some of the Mysore varieties of the *Chadas*. Though playing these games successfully presumed alertness of mind and retentive memory on the part of the players, in course of time, these games lost their currency, due possibly to the big number of cards and complicated rules. The most obvious reason for the disappearance of these games from the land of their origin appears to be the change in the taste of the masses, as a result of the wide popularity of the European Playing Cards.**

**I am extremely grateful to Dr. Rudolf Von Leyden of Vienna for the information he willingly supplied to me as well as for the fruitful discussions with him. I also express my deep sense of gratitude to the following gentlemen for supplying information regarding The *Gañjiphā*: Shri N. D. alias Nanasaheb Mujumdar of Baroda (*D. G.*), Shri S. P. Gokhale of Poona (*D. G.* and *N. G.*); Prof. R. Y. Puranik of Nagpur (*D. G.*); Lt. Col. S. S. Bhosale the Rajasaheb of Savantwadi (*D. G.*). I also express my thanks to the following gentlemen from Baroda for their help: Shri Madhav Gandhi and to Prof. Dr. S. Srikantiah for explaining the Kannada Commentary to me.

STUDY OF AVŚ 6.51

NEELIMA N. MONE

Pune

Many hymns of the Vedas seem to be the composite hymns. Different parts of hymns, found in different Saṃhitās, were put together by different compilers as one hymn due to the similarity of their undergoing ideas. Study of one such hymn has been presented here.

Many hymns and verses of the *Atharvaveda* (*AV*) are observed to have been used variously, in several rites. Its ritual text, the *Kauśika-Sūtra* (*Kauś S*), prescribes one and the same hymn or verse for employment in more than one rites. Sometimes, it so happens, that some verses of a hymn are prescribed for one rite and some verses of the same are used in another rite; these are not mutually exclusive. This may be due mostly to the contents of the hymns and/or the verses, and due to the fact that many of these hymns are found in other Saṃhitās also. There they occur, as forming parts of various hymns. Moreover, if we rely upon the traditional *Anukramaṇī* of these Saṃhitās, the verses of one single hymn of the *AV*, seen by one seer (and occurring at various places) are attributed to more than one (i. e. different) seers, because they occur there as parts of different hymns. From the ritual application and the employment of these hymns, it appears that many of these hymns are not logically whole hymns: they are rather composite

hymns. To make this point clear, I take up for discussion the hymn 6.51 in the Śaunaka recension of the *AV* (*AVŚ*). This hymn occurs also in the *Ṛgveda* (*RV*) and some Saṃhitās of the *Yajurveda* (*YV*). These are: the *Taittirīya* (*TS*), the *Vājasaneyī* (*VS*) and the *Maitrāyaṇī* (*MS*). Also, it occurs in the *Taittirīya Brāhmaṇa* (*TB*).

2. The hymn *AVŚ* 6.51 is made up of three verses. In these three verses, different deities are invoked. Soma is described in the first verse, waters in the second and Varuṇa is addressed in the third. The main emphasis of this hymn is on the idea of driving away sin and securing purification.

The verses of this hymn, are found in the Paippalāda recension of the *AV* (*AVP*) and also, as mentioned earlier, in the other Saṃhitās at various places. I shall consider the position of this hymn in each of these Saṃhitās one by one.

The first and the third verse of this hymn occurs in *AVP* as 19.43.4 and 5. This hymn in *AVP* is made up of various isolated groups of verses, two/three verses making a group—of these, one group is made up of these two verses of the *AVŚ* hymn. This group stands in the hymn as an isolated part and not an inevitable portion of the hymn. In fact, the entire *AVP* hymn itself does not occur as a consistent chain of connecting links. It contains 15 verses. First three verses talk of *madhu* 'sweetness' of limbs, but the second and third verses are not clear, (the editor has put many question-marks!). The fourth verse of it is AVŚ 6.51.1 and the fifth is *AVŚ* 6.51.3. A quarter of the verse 6.51.2a occurs here as the 6th verse. The 7th verse of AVP is addressed to Agni as. "O Agni, may Sove-

reign Mitra and King Varuṇa (lit) make, (i. e. bring) your eating (*bhakṣa*) so that I possessing the Sun's lustre, would find (my) food in them, and enjoying a part of (your) cooked food.[1] The 9th verse of this hymn[2] also refers to 'eating'. Both these verses are clear but we cannot make out the relation they have with other parts of this hymn. Verse 8th also hangs loose from the point of view of the meaning. Verse 10th is *AVŚ* 6.47.1 and 13th is *AVŚ* 19.1.1. Verses 11th and 12th are *AVŚ* 6.47.2 and 3 and similarly verses 14th and 15th are *AVŚ* 19.1.3 ab, 2 cd and *AVŚ* 19.1.2 ab, and 3 cd. They refer to sacrifice. Thus, this hymn in *AVP* is made up of various groups of Mantras, referring to different topics. The second verse of *AVŚ* 6.51 is found in *AVP* at 6.3.5. The hymn *AVP* 6.3 describes waters ; most of the verses speak of the sweetening nature of the waters. (The hymn contains 12 verses, but 6 out of them are not clear. They are corrupt, totally or in part, and it is difficult to make out any sense of them. Therefore, I have said 'most of the verses'.) From the remaining 6 verses, we can get a picture of the divine waters. They are invoked to bring sweetness and they are called as sweetening (*sūdayiṣṇavaḥ, sūdanīḥ*). This idea is expressed in verses 4, 6 and 8 ; therefore, it appears that the proper place of the verse *āpo asmān mātaraḥ* etc., i. e. 6.51.2, is here in *AVP*.

---

1. *AVP*. 19.43.7 : *mitraś ca samrāṭ varuṇaś ca rājā*
tau te bhakṣam kṛṇutām prātar agne.
tayor ahaṃ adhi bhakṣaṃ kṛṇomi
sūryavarcā bhaktabhāgo na āviśaḥ.

2. *AVP*. 19.43.9 : *indraḥ prītas turevayam ?*
śakarsya rocanāvataḥ
bhakṣīmahi prajām iṣam
sahasrasya yaśasvinaḥ.

3. In the *RV* also, the verses occur at different places. The second verse is found at *RV*. 10.17.10 and the third at *RV*. 7.89.5. The *Anukramaṇī* of the *RV* records that the stage of the hymn 10.17 is Devaśravas and that of 7.89 is vasiṣṭha. The *Anukramaṇī* of the *AV* notes that the hymn 6.51 is seen by sage Śaṃtāti. This means that the hymn is seen (as if) by three different seers. This looks quite impossible. The case of the ritual employment of these verses and the hymn (made up of these verses) is yet more intriguing. The verse *RV* 10.17.10 is to be sung at the time of *vapāmārjana* and also on the day of the *avabhṛthasnāna*.[3] The hymn *RV* 10.17 can be divided into various parts dealing with different subjects. Therefore, different groups of Mantras or separate Mantras are prescribed in various rites. In this case, verse 10 stands alone. It is perhaps, introduced, or included, in this particular hymn arbitrarily and at a later stage! The verse describes water and expresses a wish of getting purified. This may be the reason why it is related to *snāna* or *mārjana*. Also it expresses a wish of driving away the sin. Therefore, *Kauś S* 41.14 uses it (the whole of the hymn) in a rite for good-fortune (*svastyayana*). The third verse of *AVŚ* 6.51 occurs as the last (i. e. the 5th) verse of *RV* 7.89. That hymn expresses the fear felt by the seer against Varuṇa, and he requested Varuṇa to show mercy on or to protect him (*mṛḷā sukṣatra mṛḷáya*). As the concluding part, in the last verse, a request is made to Varuṇa that 'he may (or should) not do injury, if his laws happen to be disobeyed

---

3. cf. : *Āśvalāyana Śrauta Sūtra ;* 6.13 and 8.12 :
avabhṛthasnāne āpo asmān ity eṣā.
daśame'hani vapāmārjane apy eṣā.

through inadvertance'. Thus the verse fits there as a non-separable and fully congruent part of that hymn, supporting and strengthening the tenor of the earlier verses. Therefore, we can say that it is the proper place of the verse. As regards the ritual employment of this verse (and the hymn), it is not clear where or when this hymn should be sung. The commentator Sāyaṇa merely observes *gato viniyogaḥ*. Even if we think *gata-* to mean 'gone' and by extension, 'stated earlier' or 'as that of the former (hymn)', we cannot get what the employment of *RV*.7.89 is. From the hymn *RV*. 7.86, the employment is not known or recorded. This verse in the *AV*., (as a part of the hymn *AVS*. 6.51) is used by the *Kauś S*. in a healing rite against various diseases (*Kauś S*. 25.10), especially against disorders caused by excessive Soma- drinking (*Kauś S*. 25.21).[4] This is perhaps because the first verse speaks of Soma, purified through the seive of Vāyu. The other two verses speak of driving away of evil, blemishes and securing purity and good-fortune : therefore, the hymn is used in a rite for good-fortune (*Kauś S*. 41.14).

4. This hymn (*AVŚ*. 6.51) occurs at different places in different Saṃhitās of the *YV*. but never as a complete hymn. In the *MS*. we find the three verses at different places. The first verse occurs at *MS*. 2.3.8 and again at 3.11.7, the second as 1.2.1 and the third as 4.12.6. In *TS*, only the third verse is found, in the midst of other verses, at 3.4.11.6. The same is the case of the first

4. cf. : *Vaitāna Sūtra*, 30.7 :

It uses this hymn in Sautrāmaṇī sacrifice at the time of preparing *surā* for the sacrificer who is ill due to excessive Somadrinking.

verse, occurring in *TB,* at 2.6.1. In the *VS.*, the first verse is found twice (10.31 d and 19.3 a) and the second verse is *VS.* 4.2. Here, in the Saṃhitās of the *YV.*, the verses are employed in purely sacrificial (i. e. *śrauta*) ritual.[5] These verses, as we have seen, clearly speak of driving away sin or evil and express the wish for purification. In other words, they express the idea of *Śānti*, but no ritual of the *YV.*—aims at it (as we find in case of the *AV.* and to some extent, in the *RV* also).

5. Thus we find that the three verses, brought together in the *AV.*, do not form a consistent and congruent hymn. Its various employments in the tradition of the *AV.* also point out the same fact. Therefore, it appears that the hymn *AVŚ.* 6.51 is a composite hymn made up of some verses conveying apparently one and the same (what may be rightly called) Ātharvaṇic notion. The verses are brought together with a specific purpose, viz. they intend the avertion of evil (*riprá* or *énas*) and therefore, the verses speaking of this intention are brought together. Following this intention of the verses, the ritual texts prescribe their employment. The hymn is used by the *Kauś S.* for the removal of disease. This disease is the *riprá* which the waters are told to wash away (in the second verse of the hymn). It is the *énas*, for which Varuṇa punishes. That

---

5. These verses are used :

(i) as *yājyā*—and *puronuvākyā*—verses in *devāsuvām iṣṭi* in Rājasūya sacrifice ;

(ii) in the Soma-sacrifice, at the time of entering in the hall :

(iii) in the second and third pressing of Soma :

(iv) in Kāmya-sacrifices.

énas is the deception towards the divine tribes and disobedience to the Laws of Varuṇa. Therefore, the third verse of this hymn is brought in.

6. As regards the seer (s) of this particular hymn, we have seen that, according to the tradition of the *RV.*, this hymn is seen, in parts, by two different seers and in the *AV.* tradition, Śaṃtāti is the seer of this hymn. The question is : how is it possible for one to accept that three seers have seen one and the same hymn ? Again, if we assume that the *Sarvānukramaṇī* of *Kātyāyana* is reliable and authentic, then we have doubts about the *Anukramaṇī* of the *AV.* *Kātyāyana* says that "the one, who 'utters the sentence', i. e. the hymn, is the *ṛṣi* of that hymn"[6]—cf. the generally accepted saying, '*ṛṣir darśanāt*'. This may be held as good in the case of the verses in the *RV.*, but it appears that, for many of the hymns of the *AV.*, this justification is not sufficient and convincing. We have seen that the hymn in discussion appears to be a composite hymn, a collection of various 'stray' verses, pertaining to the same notion. Therefore, in the case of the sages of the *AV.*- hymn, we may say that they are not the seers of the hymns, but rather their compilers : they compiled together, the Mantras, according to the tenor of the meaning they express and according to the Ātharvaṇic use of the Mantras as well. This principle of 'employment or use' is, in later days, followed in the tradition which records various rites, wherein those Mantras and hymns are to be recited (or/and found suitable for their use).

6. *Kātyāyana's Sarvānukramaṇī of the RV.*, 2.4— *yasya vākyam sa ṛṣiḥ.*

THE DATE OF ṚGVEDA AND ARYAN MIGRATION
(An Assessment of the up-to-date Research—Linguistic and Archaeological)

DR. SATYA SWARUP MISRA

Varanasi

The evidences found in Boghazköi documents clearly indicate the influence of Indo-Aryan culture on them which puts back the date of the *Ṛgveda* to at least 2000 B.C. and that of the starting point of Indo-Aryan people still more earlier. It is high time that the so far ignored theories of Jacobi and Tilak should be reconsidered in the light of recent linguistic and archaeological data.

The *Ṛgveda* presents the earliest written record of OIA but its date is unfortunately unsettled. The present paper does not claim to settle the issue but it may slightly smoothen the most complicated position created by the multi-dimensional researches in various branches of human sciences.

Before considering the recent position of linguistic and archaeological evidences, let us at the outset review briefly the former attempts. Firstly, Max Müller, by rough back calculation of allowing 200 years for each Vedic stage (which had its last phase completed before Buddha) proposed 1200 B.C. to be the date of *RV*. This has a great impact on western scholars and even now people inspite of its baselessness, honour it and accept it almost as the final decision about the date of *RV*. The long lasting influence of Max Müller may be seen in a recent statement of date by T. Burrow who places *RV*. in the 10th century B.C. by rough guess work (*Sanskrit Language*, p. 3). Macdonell

gives a concession of a century and goes upto 1300 B.C. as the date of *RV*. and 1500 B.C. to be the uppermost limit of the entrance of Aryans from the north-west (vide: *History of Sanskrit Literature*, p. 12).

On the other hand there are dates proposed on astronomical grounds by Jakobi as 4000 B.C. and by Tilak as 6000 B.C. These dates are almost fully ignored by western scholars who seem to disagree with the interpretation of Vedic passages by these scholars. But no serious attempt has been made to thoroughly verify these astronomical considerations. Even now there are several scholars who prefer the astronomical chronology (vide: B. Upadhyaya, *Vaidic Sāhitya aur Sanskṛti*, p. 86, and K. C. Varma, *Annals B.O. R.I.*, Vol. LXI, (Pune, 1980). It is high time that all possibilities should be scrutinized and refutation, if any, should be positive, substantial and factual, but not vague.

IE linguists normally accept 1500 B.C. to be the date of *RV*. (vide *Brugmann*: CGIGL, Tr. by Wright, Vol. I, p. 4). Taking this (or Max Müller's date) for granted, Hittite scholars like Sturtevant proposed an earlier date for Ht. and accordingly consider Ht. to be an elder sister or an aunt of Skt. The present author proposes the date of *RV*. as 2000 B.C. in a recent work (*FL*: p. 95) Cf. (*NL*: p. 126-134, *LR*: p. 41-44, *FL*: p. 24-37).

IA borrowings in the Mitanni document are quite conclusive about fixing the date of the *RV*. as above (2000 B.C.). Borrowed elements in the later language are definitely later than the same elements in the former language from which the later language has borrowed. The following words are already well-known as borrowed from OIA, viz. the names of the Ṛgvedic gods: Indra, Mitra, Varuṇa

and Nāsatya, the words in horse training *aikawartanna, terawartanna, panzawartanna, sattawartanna, nawartanna,* the following words are also proved to be IA loans, viz. *wasannasaya* (=Skt. *vasanasya*), *aratiyanni* (=Skt. *rathya*+Hurrian *ni*), *asuwaninni* (=Skt. aśva-nī+Hurrian ni); *babrunnu* (=Skt. *babhru*+), *barittannu* (=Skt. *bharita*+), *pinkarannu* (=Skt. *piñjara*+), *urukmannu* (=Skt. *rukma*+), *zirrannu* (=Skt. *jīra*+) similarly *makanni, maninni, maryannu, matunni*. These words have been successfully established as of IA origin. (vide Friedrich, J. *Hethitisches wörterbuch*, Heidelberg, 1952. and supplements I & II). Scholars, first of all, took these forms to be of IIr origin but subsequently further research has conclusively proved them to be of IA origin. The word aika 'one' is definitely of IA origin since other languages show other forms in IE for 'One'. Even Iranian shows *aiva* (cp. OP *aiva,* Av *aeva*), Gk. *heis* (<**hens* <IE *seins*), Lat. *ūnus*, Goth. *ains* etc. (<IE *oinos*) vide *FL*: p. 96 for details). Thus *eka* is exclusively IA and not of IIr origin. Indra, although found in *Avesta,* is an evil spirit there. The god *Indra* is exclusively IA. Thus now normally scholars do not doubt the Indo-Aryanness of these forms but still some scholars take these as IIr. forms. To quote an instance, V. A. Livshitz, in a discussion in the Indo-Soviet Seminar in Dushanbe (Oct. '77) pointed out that the forms taken to be IA are actually IIr. He said that a form comparable to Skt. *eka* is attested in Pahalavi and therefore the word may not be exclusively IA. On the spot, the present author refuted this with the remark that the word in Pahalavi may be a loan word from IA since by that time borrowing from IA to Iranian was quite normal. By that time translation of *Pañcatantra* was already available in Pahalavi (for a summarised version of the discussion without refer-

ence to forms, vide: *Proceedings of the International Symposium on Ethnic Problems of the History of Central Asia, Early period*, Moscow, 1981, p. 152).

Further evidence of IA influence on Mitanni is shown by B. Brentjes in his paper "The Mittanians and the Peacock" (vide: *EPHCA*, 1981, p. 145-148). Now there is no doubt that the documents in Boghazköi show IA loan and not IIr loan inspite of the futile attempts of some scholars like Livshitz, who want to reestablish their Indo-Iranianness.

Now the question arises whether the IA reached Boghazköi from India or the forms were borrowed in the Boghazköi documents while IA tribes were on their way to India. Some scholars would believe the second hypothesis that the forms were borrowed in the Boghazköi documents from IA while the migrations were on its way to India (vide R. Ghrishman: "Iran and the Migrations of Indo-Aryans and Iranians", *EPHCA*, p. 140-144). Ghrishman is widely followed by many scholars. But the present author is not at all convinced that IA started outside India: there is no positive evidence. The Boghazköi documents supply us clearly the borrowed elements of IA, whereas *RV*. or the later Vedic literature supply us indigenous elements of IA. Therefore, from linguistic point of view, unless sufficient evidence proves it otherwise, one has to accept that IA cultural contact with Boghazköi was introduced by the Indo-Aryans from India. As far as the hypothetical reconstructed stages like IIr, IE etc. are concerned one may attribute any original homeland—since they are subject to controversy but for attested languages one should move with great caution and collect sufficient evidence to attribute a foreign homeland.

Of course, one problem arises when we accept India to be the original homeland of the IA who had contacts with the Boghazköi people. The problem is when did they move to that place from India ? The answer is sometime before the date obtained from the archaeological evidence from Boghazköi. This naturally compels us to revise the date of *RV*. Since the date of *RV*. is not yet finally fixed, and as yet there is no archaeological evidence from India to fix it otherwise, it should be fixed to an earlier date than the Boghazköi material. Thus it brings *RV*. to about 2000 B.C. F. R. Allichin accepts the date of *RV*. as 1750 or 1800 B.C. (vide "Archaeological & Language-Historical Evidence for the Movement of IA speaking peoples into South Asia" *EPHCA*, p. 336-349).

The peacock cult also is traceable in the Boghazköi documents, which is also traced towards 2000 B.C. by B. Brentjes (vide "the Mittanians and the Peacock", *EPHCA*, p. 147). The peacock is specially Indian and this further proves that IA people migrated from India and had cultural contacts in Boghazköi. Thus the date of *RV*. accordingly may be placed in 2000 B.C. as the lowest limit.

Some scholars have proposed an earlier date as the starting-point of IA. R. Ghrishman in his paper "Iran and the Migrations of Indo-Aryans and Iranians" (*EPHCA*) suggested that the division of Indo-Aryans and Iranians occurred in the 4th millennium B.C. (p. 144). Thus he accepts that the starting point of IA was 4000 B.C. But he further suggests that "their original habitations were most likely situated in South Volga" (vide *Ibid.*, p. 144). His basis is mainly the archaeological evidence of equine bones, which is the principal domestic animal with the Indo-Aryans. It is generally held that the horse came to India

with the Aryans. But recent archaeological evidence shows that the horse was already known to Dravidians much before the so-called Aryan invasion (vide K .R. Alur: *Horse & Aryans*, in press with the Proceedings of the Indo-Soviet Seminar, February, 1982). Thus the reverse possibility of horse being taken outside India by the Indo-Aryans, is equally possible. Horse is very frequent in Vedic literature. In the early Vedic times in the Aśvamedha or Horse-sacrifice, it was the custom that the horse will roam for one year anywhere it likes. It is possible that some Aryans could go following the horse even to highly distant places and might have stayed on in some of the places, in case, the route was lost or time lapsed or due to some other reason. Anyway, simply archaeological evidences of Indo-Aryans found outside the established IA area (i. e. India) should not be used to establish that area as the original homeland of IA. The evidence should preferably be taken as showing cultural contacts only. These excavations help us only in the chronological estimation. Therefore, 4000 B.C. as the starting point of IA as proposed by Ghrishman may be accepted without accepting his exceptional suggestions of the original homeland somewhere in South-Eastern Europe.

Similarly linguistic evidence also demands an earlier date (earlier than 2000 B.C.) as the starting point of the IA stage of IE. IIr people had constant continued contact with Finno-Ugric people for 3500 years. IIr was changing gradually, accordingly the linguistic contact had a changed stamp. Thus Finno-Ugric, only through the borrowed elements helps us to draw a thorough picture of the various stages of development of IIr., alongwith the subsequent stages of IA and Iranian. Several scholars have worked in

this line, such as, the Finnish scholar Aulis J. Joki (*Uralier und Indogermanen, Helsinki,* 1973). This book presents 222 entries. The extensive material gives us sufficient scope to distinguish various stages of development of Indo-Iranian, Indo-Aryan and Iranian. V. I. Abayev in his paper 'Prehistory of the Indo-Aryans in the Light of Aryo-Uralic Linguistic Contacts' (*EPHCA,* p. 84-89) gives us a summary of the material presented by Joki with a nice re-arrangement. J. Harmatta in his paper 'Proto-Iranians and Proto-Indians in Central Asia in the 2nd Millennium B.C. Linguistic Evidence' (*EPHCA,* p. 75-83) has classified the period of borrowing into eleven stages and has accordingly shown eleven stages of the development of IIr (including IA and Ir) and its impact on the phonological form of the borrowed elements. His first period commences with the 5th millennium B.C. and eleventh period commences in 1600 B.C. Certain minute details of his treatment are however not acceptable but on the whole, his treatment is commendable and the date 5000 B.C. for IIr matches nicely with the 4000 B.C. for the IA proposed by Ghrishman on archaeological evidence.

Often IIr forms and IA forms cannot be distinguished as Abayev (*Ibid.*) has rightly remarked. In some forms however IIr and IA considerably differ and the borrowings in such cases can be safely stamped as either IIr or IA. Here again the same problem arises whether the contact was by IA from India. Now for the contacts in the earliest periods, Harmatta following Ghrishman's theory of migration accepts the contacts of IIr people with Finno-Ugric when they were outside India or Iran. For this part of his thesis Harmatta has no independent linguistic evi-

dence and it is also not possible to cite any linguistic evidence for an original home of the speakers of any language outside the area where the language exists. Thus, here also the date only is acceptable which is based on a rough estimate of time gap of developments, but has a sound consideration.

Therefore the date of IA can safely be taken to 4000 B.C. on the basis of the recent archaeological and linguistic evidences. The location of IA in 4000 B.C. however remains controversial. But the present author reiterates on the former proposition in this paper, that unless one has a strong evidence to prove otherwise, the place where the language is current and the place which provides oldest literary records, is to be considered as the original linguistic area for the language.

There is evidence of linguistic contacts of IA and Ir (or IIr) with Chinese and Korean in quite early days (for illustrations vide Harmatta : *Ibid.*, p. 81). These contacts with impact on the Chinese and Korean languages point out to an early movement of IA or Ir (IIr) people from India or Iran. This has nothing to do with the thesis that the IIr. moving from the so-called original homeland in South-Europe, had impact in different parts where evidence is available for language contact. Rather it should be now freely held that since from the IIr stage we have evidence of movement of IIr and subsequently of IA (and Ir) from their language areas, i.e., India (and Iran) to the outside world.

The Pamiri language shows evidence of Iranian impact. This has been discussed in detail by D. Karamshoyev in his paper. 'The Importance of Pamiri Language Data for the Study of the Ancient Iranians' Ethnic Origin' (*EPHCA*.

p. 230-237). Karamshoyev further proposes that this evidence sheds light on the theory that Pamir was the original homeland of IIr at least, if not of IE which was once proposed by scholars in the 19th century. But here also the conclusion is questionable. The evidence merely shows cultural contact of Iranian or IIr or even IA.

Thus we reach to a conclusion that IA stage of IE started in 4000 B.C. The *RV.* was definitely written before 2000 B.C. Therefore the date of *RV.* may even be taken to 4000 B.C. But there should be no controversy to accept 2000 B.C. as the lowest limit of the date of *RV.* The astronomical data should be reexamined and the dates 4000 B.C. by Jacobi or 6000 B.C. by Tilak may now match with the recent dates proposed by linguists and archaeologists.

The Painted Grey Ware culture has been proved to be of Aryan origin. The excavations at Hastināpura places the culture between 1100 and 800 B.C. and it presupposes a beginning in 1500 B.C. The sites are associated with *Mahābhārata* by Prof. B. B. Lal and has been widely accepted by several other archaeologists (vide R. C. Gaur : "The Painted Grey Ware and the Aryan Problem, *EPHCA*, p. 326-333). Vedic culture and *Mahābhārata* culture need some time gap. There is a lot of linguistic change as well. Therefore, this also may help us to take the date of *RV.* to a period earlier than 2000 B.C.

A definitely improved situation will be available to the scholars after the Harappan script is acceptably deciphered. Without any sure evidence, it is a fashion with many scholars to stamp it as pre-vedic and to consider that

the Vedic Aryans were responsible for the destruction of the Harappan civilization. Scholars should patiently wait to know the fact, and take a better decision.

Select Abbreviations

EPHCA	:	Ethnic Problems of the History of Central Asia in the Early Period (Moscow 1981, cf. p. 78).
FL	:	Fresh Light on IE Classification & Chronology
Ht	:	Hittite
IA	:	Indo-Aryan
IE	:	Indo-European
IIr	:	Indo-Iranian
LR	:	Laryngeal Theory, A Critical Evaluation
NL	:	New Lights on IE Comparative Grammar
OIA	:	Old Indo-Aryan

REFERENCES

V. I. Abayev, Prehistory of the Indo-Iranians in the Light of Aryo-Uralic Linguistic Contacts, EPHCA.

F. R. Allchin, Archaeological and language-Historical evidence for the movement of Indo-Aryan speaking peoples into South Asia, EPHCA.

K. R. Alur, *Horse & Aryans* (In press with the proceedings of the Indo-Soviet Seminar held in Allahabad February, 1982).

M. S. Asimov & others, Ethnic Problems of the History of Central Asia in the Early Period (2nd Millennium B.C.) (=EPHCA).

B. Brentjes, The Mittanians and the Peacock, EPHCA.

K. Brugmann, *Comparative Grammar of the Indo-Germanic Languages*, Vol. I, Varanasi, 1972.

T. Burrow, *The Sanskrit Language*, Varanasi, 1949.

R. C. Gaur, The Painted Grey Ware and the Aryan Porblem, EPHCA.

K. Ghrishman, Iran and the Migrations of Indo-Aryans and Iranians, EPHCA.

J. Harmatta, Proto-Iranians and Proto-Indians in Central Asia in the 2nd Millenium B.C. Linguistic Evidence, EPHCA.

D. Karamshoyev, The Importance of Pamiri Language Date for the study of the Ancient Iranians Ethnic Origin, EPHCA.

A. A. Macdonell, *History of Sanskrit Literature*, New Delhi, 1958.

S. S. Misra, *Fresh Light on Indo-European Classification and Chronology*, Varanasi, 1980.

S. S. Misra, *New Lights on Indo-European Comparative Grammar*, Varanasi, 1975.

S. S. Misra, Bearing of the Indo-European Comparative on the Aryan Problem. EPHCA.

S. S. Misra, *Laryngeal Theory : A Critical Evaluation*, Varanasi, 1977.

B. Upadhyaya, *Vaidika Sāhitya*, Varanasi, 1955.

K. C. Varma, *Annals of the B. O. R. Institute*, Vol. LXI, Pune, 1980.

TWO DOGMAS OF BUDDHISM

A. L. Herman

Wisconsin

The author in this paper, tries to critically analyse the philosophic claims of Buddhism and shows the falseness of its two dogmas of *anityaduḥkha* and *nirvāṇa*. Logically both are self contradictory. If *anitya-duḥkha* is true then *nirvāṇa* cannot be true and if *nirvāṇa* is true then the other cannot be true. The author holds that the concept of *anitya* with positive *nirvāṇa* is logically consistent.

Introduction

The Buddhist tradition, in contact with Western philosophy for several centuries now has produced, thus far, negligible philosophic change in that latter discipline. Western philosophers of the 19th and 20th centuries who made contact[1] with Buddhism have also generally failed to make significant philosophic alterations in that discipline.

The present paper is predicated on the assumption that wherever serious philosphic work has been done then contact with that philosophic work ought to be seriously made. And Buddhist philosophy, as many responsible Buddhologists

---

1. Nolan Pliny Jacobson in *Buddhism: The Religion of Analysis* (Southern Illinois University Press, 1974/1966, p. 15-16) comments on contact and confrontation between Buddhism and the West and the provincialism and narrowness of the Westerner as "the greatest obstacle to mutual understanding".

have shown, constitutes serious philosophic work. It is my contention that the greatest intellectual service that one can perform for one's Buddhist colleagues is to critically analyze, through reason and common sense, the philosophic claims of Buddhism. The following paper is one such attempt at that kind of philosophic contact.

Two Dogmas of Buddhism

Buddhism, whether Southern Theravāda or Northern Mahāyāna, has been conditioned for the most part by two dogmas : One is the dogma of anitya-duḥkha, viz., that the impermanence (anitya) of existence is, or inevitably leads to, pain or sorrow (duḥkha) ; and the other is the dogma of nirvāṇa, viz., that impermanence and sorrow, anitya and duḥkha, can both be ended. Both dogmas, I shall argue, are ill-founded because, first, each is false and, second, they are logically inconsistent in the sense that if one dogma is true then the other dogma cannot be true. The effect of abandoning either or both of these dogmas would call for a radical reconstruction of Buddhism, for it goes without arguing that both dogmas lie at the very foundation of Buddhism.

In what follows I shall, first, state the dogma of anitya-duḥkha and then argue for its being false ; second, state the dogma of nirvāṇa and then argue for its being false. By "false" in both instances I simply intend "generating problems of such a magnitude that abandonment of the dogma becomes necessary" ; third, I shall conclude by attempting to demonstrate that the two dogmas are logically inconsistent in the sense that if anitya-duḥkha is true then nirvāṇa cannot be true and if nirvāṇa is true then anitya-duḥkha cannot be true.

1. *The Dogma of Anitya-Duḥkha*

In the *Aṅguttara-Nikāya* three apparently independent characteristics (trilakṣaṇa, Pali *Ti-lakkhaṇa*) of existence are cited. Buddha says:

> Whether Buddhas arise, O priests, or whether Buddhas do not arise, it remains a fact and the fixed and necessary constitution of being, that all its constituents are transitory...that all its constituents are misery...that all its elements are lacking in Self.[2]

In a brief space this canonical text of about the first century B.C. has stated three of the most central concepts of Buddhism, viz., anitya (Pali *anicca*), impermanence; duḥkha (Pali *dukkha*), suffering or anxiety; and anātman (Pali *anatta*) non-self or non-substance. This early text has defined the problem of human existence in its characterization of all existence: Human existence is subject to inexorable change, unending misery and the total absence of an unchanging and eternal self or substance that might halt the flow of events and time and misery.

But these three so-called "independent" characteristics are, in reality, not independent at all. Rather the latter two, duḥkha and anātman, are, in reality, logically entailed by the first, anitya, and they are in fact, causally dependent on it; in other words, if all existence is characterized by inexorable flux, flow and change then it follows that there must be both suffering as well as non-Self or non-being for

---

2. *Aṅguttara-Nikāya* III.134 in *Buddhism in Translations* by Henry Clark Warren (New York: Atheneum, 1963/1896), p. xiv. For "Self" Warren uses "Ego".

it is only through the total stoppage or halting of the change that non-misery and Self or being could result : The dogma of anitya-duḥkha follows from the fact of anitya.[3]

What Buddha discovered was that in life "there is not a moment, not an inkling, not a second when a river does not flow",[4] and that "what is impermanent, that is not worth delighting in, not worth being impressed by, not worth

---

3. Two modern Western authors illustrate the connection between change and misery thus—

> "Man's youth is a wonderful thing......he never comes to know it as it is, until it has gone from him forever ......All passes ; nothing lasts : the moment that we put our hand upon it it melts away like smoke, is gone forever,......we see then what we are and what our lives must come to." (Thomas Wolfe, *Of Time and the River, A Legend of Man's Hunger in His Youth* (Garden City, New York : The Sun Dial Press, 1944), p. 454).

Alvin Toffler, defines change as "the process by which the future invades our lives", (*Future Shock,* New York : Bantam Books, 1971, p. 1). Future shock, in other words, is duḥkha.

> "......Alterations in life style that require a great deal of adjustment and coping, correlate with illness—whether or not these changes are under the individual's own direct control, whether or not he sees them as desirable. Furthermore, the higher the degrees of life change the higher the risk that subsequent illness will be severe." [*Ibid.*]

The physiological relationship between change (anitya) and illness (duḥkha) has been known for some time in both the East and West. The experiments that Toffler cites give dramatic reconfirmation to that previous knowledge : When everythig changes then sorrow is sure to follow.

4. *Aṅguttara Nikāya* IV in Edward Conze, *Buddhist Thought in India* (Ann Arbor Paperbacks, The University of Michigan Press, 1967), p. 34.

clinging to".[5] Anitya is, consequently, not only a central concept in Buddhism but it can be spoken of as *the* central concept of Buddhism.[6] For it is the discovery of the fact of anitya and the problems that it engenders that ultimately leads to the search for the way out of those problems.

The Buddhist attempt to escape the Western version of future shock[7] followed two routes: The first way of ameliorating the effects of anitya led to a search for nitya, the Unchanging, the Absolute, by way of nirvāṇa: Let's call this "the way of nirvāṇa". The second way of ameliorating the effects of anitya led to a search for peace and tranquility through Ātman: Let's call this "the way of

---

5. *Majjhima Nikāya* II.263, *Ibid.*

6. Cf. Th. Stcherbatsky and his discussion of the doctrines of instantaneous being (Kṣaṇika-vāda from "Kṣaṇika", "existing for only one moment"), a corollary to the concept of anitya. Stcherbatsky notes the singular importance of Kṣaṇika as a basic concept of Buddhism and the implications of Kṣaṇika-vāda for other philosophic concepts, implications which could apply with equal force to anitya; in the process he quotes the 8th century Mādhyamika philosopher, Kamalaśīla:

> "This their character of being instantaneous, of being split in discrete moments pervades everything. By proving this our fundamental thesis alone, we could have repudiated at one single stroke the God (of the theists), the eternal matter (of the Sānkhyas) and all the wealth of (metaphysical) entities imagined by our opponents."

And Stcherbatsky comments:

> Such is the leading idea of Buddhism—there is no other ultimate reality than separate, instantaneous bits of existence......Ultimate reality is instantaneous. (*Buddhist Logic,* Two Volumes (New York: Dover Publications, 1962/1930), Volume I, pp. 79-80).

7. See *supra* footnote 3.

Ātman". The way of nirvāṇa and the way of Ātman are both ways of meeting the effects of change or anitya and the future shock or duḥkha to which anitya led. The way of nirvāṇa is historically prior in Buddhism to the way of Ātman and it may, consequently, be more closely associated with Southern or Theravāda Buddhism, while the way of Ātman may be more easily identified with later Buddhism, especially Northern or Mahāyāna Buddhism. Very briefly, let's examine these two ways before we turn to a critique of anitya, itself.

The way of nirvāṇa is easily identified with one of the central themes of the *Saṃyutta Nikāya* when it announces, "The ceasing of becoming is nibbāna". In this *Nikāya* one of the chief disciples of the Buddha, Sariputta, answers the question, "What is nibbāna ?" by stating that it is "The extinction of desire, the extinction of hatred, the extinction of illusion".[8] In other words, only when all becoming has been stopped will there be nirvāṇa. In the *Udāna* (Sayings) of the Pali *Khuddakanikāya* Buddha reiterates :

> O bhikkhus, there is the unborn, ungrown, and unconditioned. Were there not the unborn, ungrown, and unconditioned, there would be no escape for the born, grown, and conditioned. Since there is the unborn, ungrown, and unconditioned so there is escape for the born, grown, and conditioned.[9]

In other words, without nirvāṇa as nitya there would be no escape from anitya ; unless absolute, changeless Being

---

8. *Samyutta Nikāya IV* in Walpola Rahula, *What the Buddha Taught* (New York : Grove Press, Inc., 1974), p. 37.

9. *Ibid.*

existed there would be no escape from anitya and duḥkha. Thus the way of nirvāṇa leads, one must suppose, to an unchanging Absolute and an Absolute in which all traces of personality and plurality are extinguished. The way of nirvāṇa, as a solution to the duḥkha brought about by anitya, is, finally, remarkably like what has been called "the metaphysical way" of Hinduism, a way which entails absorption into the absolute, Holy Power of the universe, i. e. into para or nirguṇa Brahman.[10]

The way of Ātman, on the other hand, leads to the stoppage of duḥkha through the mystical discovery of a subjective and ultimately real and unchanging Self or Ātman. Early Buddhism travelling the way of nirvāṇa to liberation had tried to rid the system of all traces of Ātman or Self but without complete success: They removed the concept but not the need for a passionate and personal Self, surviving day to day and into the next earthly or heavenly life. Early Theravāda Buddhism had recognized the imperativeness to render all vestiges of a real Self nugatory and one must acknowledge and applaud this valiant but vain attempt.

Edward Conze has commented on the historical endeavour by later Buddhists to grapple with and ultimately reject the earlier anātman doctrine at the same time that they tried to find an alternative to that plainly unacceptable philosophic tenet:

> In spite of their professions to the contrary, the Buddhists were constantly drawn to the belief in

---

10. Cf. A. L. Herman, *An Introduction to Indian Thought* (Englewood Cliffs, N. J.: Prentice-Hall, Inc., 1976), pp. 276-277.

> a 'true self', which would act as a permanent constituent (dhātu) behind the ever changing 'continuity'.[11]

This temptation to establish such a 'true self' is clearly illustrated in the history of Buddhism. The Sautrāntikas, for example, postulated an unchanging "seed of goodness" along with an āśraya or permanent substratum ; the Mahāsaṅghikas argued for mūla or basic consciousness ; the Sarvāstivādins propounded prāpti, a force, that keeps a saṃtāna, or pattern of dharmas constituting a self, in existence ; and the ālaya-vijñāna, "store-house consciousness", of a minority of Yogācārins is the monstrous climax of this desperate search for an acceptable "self".

The way of Ātman as a solution to the duḥkha brought about by anitya is, finally, remarkably like what has been called "the religious way" of Hinduism wherein one's Self, following Its liberation from duḥkha, survives perpetually as a real but wholly separate entity distinct from other similar Selves.[12]

The way of nirvāṇa and the way of Ātman approach the dogma of anitya-duḥkha from quite opposite directions. The way of nirvāṇa attempts to transcend anitya in its search for nitya and nirvāṇa. It seeks escape from the future shock that anitya promises to bring, and in doing so it admits that nothing can be done about anitya save to go beyond it. The way of Ātman, on the other hand, does not attempt to escape anitya so much as it seeks accommodation to it. It admits and accepts anitya as a universal metaphysical principle (as does the way of nirvāṇa) and

---

11. Edward Conze, *Op. Cit.*, p. 133.
12. A. L. Herman, *Op. Cit.*, pp. 278-279.

then it attempts to live within that acceptance. The devotee can accept or make room for change and change becomes part of reality. The way of Ātman optimistically holds that adaptation to anitya is possible and advisable: "Saṁsāra is nirvāṇa and nirvāṇa is saṁsāra." Whereas the way of nirvāṇa pessimistically holds that successful adaptation to anitya is simply not possible: "Saṁsāra is not nirvāṇa and nirvāṇa is not saṁsāra."

Conclusion

In conclusion let me say that what I have attempted to show in my remarks about anitya is that it is the central concept of Buddhism, lying as it does at the very foundation of Buddhism. Anitya is the cause of the problem, duḥkha, that sets the Buddhist off in search of a solution, nirvāṇa. From anitya flows the concept of anātman and with it the atheism of early Buddhism.

I turn finally to the analysis of anitya wherein I will attempt to show that the dogma of anitya-duḥkha is false and consequently ill-founded.

The Critique of Anitya

My argument is based largely on the accommodation to anitya made by the way of Ātman, above, and that argument is this: Not all change is sorrow or duḥkha-producing and, in fact, some change is happiness or nirvāṇa-producing: hence it's false to assume that everything which is transient is duḥkha and should be avoided. In other words, if some impermanent state or activity could be shown to be instrumentally happy because it leads to happiness and the avoidance of all duḥkha then it would be false and contrary to common sense to argue, as the Buddhists do, that "what is impermanent that is not worth delighting in, not worth being impressed by, not worth clinging to."

The full argument looks like this :

1. If any impermanent state or activity produces happiness (while it's being done or as it leads to happiness) then it is not sorrowful or ill. (This is a statement justified by common sense, i. e. by introspection and pragmatics)

2. The way of nirvāṇa and the way of Ātman are impermanent states or activities that produce happiness.[13]

3. Therefore. the way of nirvāṇa and the way of Ātman are impermanent states or activities that are not sorrowful or ill. (This follows logically from 1 and 2)

---

13. The Buddhists are extremely careful on this matter, pointing out that nirvāṇa is unconditioned and cannot, therefore, be the effect of any cause. In other words, unless the Buddhists can protect nirvāṇa in some way, e. g., by calling it unconditioned, one could pop into and out of nirvāṇa just as one pops into and out of bed. Walpola Rahula comments on this protective device as follows :

> "It is incorrect to think that Nirvāṇa is the natural result of the extinction of craving. Nirvāṇa is not the result of anything. If it would be a result, then it would be an effect produced by a cause. It would be *saṃkhata* 'produced' and 'conditioned'. Nirvāṇa is neither cause nor effect. It is beyond cause and effect."

Rahula continues by drawing an analogy with truth :

> "Truth is not a result nor an effect. It is not produced like a mystic, spiritual, mental state, such as *dhyāna* or *samādhi*. TRUTH IS. NIRVĀṆA IS. The only thing you can do is to see it, to realize it. There is a path leading to the realization of Nirvāṇa. But Nirvāṇa is not the result of this path." (*Op. Cit.*, p. 40)

4. Therefore, there are some impermanent states or activities that are not sorrowful or ill. (This follows logically from 3)

5. Therefore, it is false to state that everything that is impermanent is ill. (A restatement of 4)

6. Therefore, it is false to state that anitya is always duḥkha. (A restatement of 5)

In other words, if philosophic activity, as defined by the ways of nirvāṇa and Ātman, involves and leads to happiness then the dogma of anitya-duḥkha is false, i. e. the dogma of anitya-duḥkha is ill-founded which is what we set out to prove (see *supra* p. 3).

The first premise of the previous argument needs some explanation. It simply intends that certain activities are not subject to the usual or normal conditions that obtain in the dogma of anitya-duḥkha. It points out in Platonic fashion, for example, the joy that comes from the intellectual activity in solving practical problems ; and if one were to be consistently Platonic in this regard one could argue that man is truly happiest and at his best when he is exercising his intellect for practical ends. Finding intellectual solutions to practical problems is not confined to the Greeks, however, and one has merely to point out, as many commentators have, that the Buddha's own four noble truths read precisely like a physician's prescription or solution to a medical disease or problem : There is a problem (duḥkha); there is a cause (tṛṣṇā or avidyā) ; there is a solution (nirodha or nirvāṇa) ; there is a way to the solution (the eightfold path). Similarly, it can be noted that the Buddhist philosopher, in general, is dealing constantly with a problem (suffering) ; its cause (desire, ignorance) : its solution (happiness, nirvāṇa) ; and the ways to that solution (desire-

lessness and knowledge along with the ways of nirvāṇa and Ātman).

The activity of thought, whether seen as epistemic, discursive, prajñā or jñāna, is always an activity in which duḥkha is absent, for some temporarily, for others permanently. And the point can be proved by introspective examination while engaged in philosophic problem solving: Philosophy, in other words, can be seen as a way to happiness and nirvāṇa.[14] But the instrumental happiness involved in the very activity of philosophizing is a temporary by-product of thought and should not be confused with the ultimate happiness, nirvāṇa, achieved when the philosophic activity or mystical activity has been successfully concluded. Further, the instrumental and ultimate happiness produced in the philosophic activity of, for example, the way of nirvāṇa and the way of Ātman, are characterized by an absence of duḥkha, a fact which can again be discovered by simple introspection when one is on one or the other of the two paths. Further, it should be clear, given the pragmatic proclivities of the Buddhists themselves, that any activity which successfully leads to the end being sought is right and any statement descriptive of that activity would thereby be true. The first premise of the argument is justified, therefore, on the basis of both introspection and pragmatics, i. e. by common sense. Finally, the activity of thought, itself, is a process, characterized by anitya, that need not be duḥkha or produce duḥkha or lead to duḥkha. Therefore, it is false to state that anitya is or inevitably leads to duḥkha. In other words, the dogma of anitya-duḥkha is ill-founded.

---

14. Bu-Ston, *The Jewelry of Scripture*, Translated from the Tibetan by E. Obermiller (Heidelberg: Institut für Buddhismus-Kunde, 1931), pp. 9–10.

II. *The Dogma of Nirvāṇa*

If the dogma of anitya-duḥkha defines the cause (anitya) and the problem (duḥkha) of existence in general and of human existence in particular, then anātman, the third characteristic of existence mentioned in the *Aṅguttara-Nikāya* (see *supra* p. 4), points in a sense to the solution of the problem. But the recognition of anātman and the intuitive realization that there is no Self or Substance or permanent Being which one can successfully desire, cling to or grasp in order to solve the problem is tantamount to letting go and achieving the liberation known as nirvāṇa.[15] "Nirvāṇa" means "blown out" and the analogy most frequently employed by the Buddhists to explain it is that of the blowing out of the flame of a candle. The flame is the flame of desire (tṛṣṇā, Pali *tanha*) which, once extinguished, can never be started again (in this body) or passed on to other candles (other bodies): To be "nirvāṇa-ed" is to be liberated from desire and it is to solve the problem of duḥkha.

In the *Mahāvagga* Buddha preaches his famous "fire sermon" on liberation (nirvāṇa) that begins, "Everything, brethren, is on fire...with the fire of passion, of hate, of illusion, it is on fire, with birth, old age, death, grief, lamentation, suffering, sorrow, and despair." The sermon ends as Buddha recommends indifference or aversion to whatever is on fire :

> And being indifferent he becomes free from passion, by absence of passion he is liberated, and when he is liberated, the knowledge 'I am liberated'

---

in Buddhism", *Philosophy East and West* 29, no. 1, January 1979, pp. 91-94.

15. Cf. A. L. Herman, "A Solution to the Paradox of Desire

> arises. Rebirth is distroyed, a religious life is lived, duty is done, and he knows there is nothing more for him in this state.[16]

There is no mention of peace and tranquility in this Pali text, a point to which we shall recur in our criticism of nirvāṇa, below. Nirvāṇa, to the author of this text, is essentially a negative state or condition bringing, as it does, an end to suffering and rebirth.

A later text, the *Milindapañha,* also discusses nirvāṇa and its implications. A certain Bactrian Greek King, Menander (Pali *Milinda*) is questioning a Buddhist monk. Nāgasena, about the Buddhist religion. Among the questions that he asks about nirvāṇa are these: "Is it cessation?" ("Yes"), "Do all win nirvāṇa?" ("No"), "Is it a happy state?" ("Yes"), "How can one know about it without having attained it?" ("By analogy and through metaphor"). Thereupon through analogy and metaphor Nāgasena speaks of the qualities of nirvāṇa:

> As the lotus is unstained by water, so is Nirvāṇa unstained by all defilements—As cool water... Nirvāṇa is cool and allays the fever of all the passions...[and it] removes the craving for sensuous enjoyments, the craving for further becomings, the craving for the cessation of becoming. As medicine protects...so Nirvāṇa [protects] from the torments of the poisonous passions [and] puts an end ...to all sufferings. [Like space] neither is it born, grows old, dies passes away, or is reborn...Like

---

16. *Mahāvagga* I.21 in E. J. Thomas, *Buddhist Scriptures* (London: John Murray, 1931), pp. 54-56.

> the wishing jewel, Nirvāṇa grants all one can desire, brings joy, and sheds light . . .[17]

For the author of this text, nirvāṇa is essentially a positive state or condition. And the Bactrian King, a possible convert to Buddhism, responds at this point, "Well said, Nāgasena! So it is, and as such I accept it."

Conclusion

Between these two texts about nirvāṇa, the *Mahāvagga* and the *Milindapañha* a good deal of philosophic time and controversy has passed. Each tends to see nirvāṇa in a different light and each has come to represent the two quite different attitudes towards nirvāṇa as adopted by first, the Theravāda school of Southern Buddhism and, second, the Mahāyāna school of Northern Buddhism.[18] In order to show that the second dogma of Buddhism is false I want to turn to a critique of nirvāṇa as that concept is understood by these two schools. I want to argue that no matter which of the two interpretations is accepted, the Theravāda negative view of nirvāṇa or the Mahāyāna positive view of nirvāṇa, insuperable problems result on either interpretation;

---

17. *Milindapañha* in *Buddhist Scriptures* translated by Edward Conze (Baltimore, Md.: Penguin Books, Inc., 1959), p. 157.

18. The squabble over the interpretations of nirvāṇa is discussed in Guy Welbon's, *The Buddhist Nirvāṇa and Its Western Interpreters* (University of Chicago Press, 1968).

> "The response to the question of nirvāṇa's meaning is at the same time an answer more or less complete to all questions about Buddhism." (p. viii)

I would only remark that if Welbon is correct then nirvāṇa can legitimately be seen as both a positive as well as a negative concept and that it is an important standard by which to judge the interpreters' own attitudes towards Buddhism in general.

and since there are no other interpretations possible, we have a dilemma: Call this dilemma "the dilemma of nirvāṇa."

The Critique of Nirvāṇa

The dilemma of nirvāṇa holds that if nirvāṇa is seen negatively as the total absence of passion and desire and feeling then this is tantamount to being dead, and who wants to pursue a goal that leads to death? Nirvāṇa is suicide on this first interpretation. On the other hand, if nirvāṇa is seen positively as the presence of peace and tranquility wherein all that I desire is fulfilled then desire is not ended or blown out and the whole intent of nirvāṇa is contradicted: Nirvāṇa is inconsistent on this second interpretation. But, the dilemma of nirvāṇa continues, nirvāṇa must be seen either negatively or positively; there is no third alternative.[19] There are alternatives of course and the Buddhists, particularly the Mādhyamikas, are notorious at seeing alternative wherever a dialectic of positions occurs. Thus one could, through some sort of Nagarjunian *aufgehoben,* resort to talk about śūnya at this point and

---

19. Walpola Rahula takes to the attack beginning:

"Because Nirvāṇa is thus expressed in negative terms, there are many who have got a wrong notion that it is negative, and expresses self-annihilation. Nirvāṇa is definitely no annihilation of self, because there is no self to annihilate. If at all, it is the annihilation of the illusion, of the false idea of self."

Rahula goes on to say:

"It is incorrect to say that Nirvāṇa is negative or positive. The idea of 'negative' and 'positive' are relative, and are within the realm of duality. These terms cannot be applied to Nirvāṇa. Absolute Truth which is beyond duality and relativity." (*Op. Cit.*, pp. 37-38)

retreat to silence or metaphors and symbols. But the plain man, our common sense critic here, must feel that such retreats are essentially anti-intellectual and in the worst interests of Buddhism and philosophy. If there is a dilemma here, the thing to do is to recognize it and hunt for a genuine solution rather than to retreat to spurious solutions. anti-intellectual mysticism and obscurantism. The dilemma of nirvāṇa concludes that either nirvāṇa is suicide (it's like being dead) or nirvāṇa is inconsistent (it's like being alive). The full argument looks like this :

1. If nirvāṇa entails the absence of human passion, desire and feeling then achieving nirvāṇa is like being dead (This seems to be what the *Mahāvagga* was saying above)

2. If nirvāṇa entails the presence of human passion, desire and feeling then achieving nirvāṇa is no different from this life (This seems to be what the *Milindapañha* was saying above)

3. Either nirvāṇa entails the absence of human passion, desire and feeling or nirvāṇa entails the presence of human passion, desire and feeling. (This is an assumption that nirvāṇa is either a negative or positive condition. But see footnote 19)

4. Therefore, either nirvāṇa is like being dead or nirvāṇa is no different from this life. (This follows logically from 1, 2 and 3) (In either case the dogma of nirvāṇa generates problems of such a magnitide that it ought to be abandoned, i. e. the dogma of nirvāṇa is false (see *supra* p. 3))

There are ways out of the dilemma, of course, and we mentioned the dialectical move that the Mādhyamikas

might have chosen. The Jain logic of Syādvāda[20] expands further the choices beyond the simple Aristotelian "either ...or..." mentioned above and might also provide a solution to the dilemma of nirvāṇa. The Hindus, too, have grappled with the dilemma by rejecting the first premise, a premise that threatens to lead to absorption in Brahman and ultimate suicide. Thus in the *Chāndogya Upaniṣad,* the God Indra comes to Lord Prajāpati for instruction on the true nature of Ātman and how to reach that nature in oneself. Prajāpati teaches that the Self is to be found through three stages of descent : The first stage is waking consciousness, the second stage is dreaming consciousness and the third stage is the negative stage of dreamless sleep. Indra rejects each of the three as inadequate definitions or stages of reality, and in a panic criticizes the third : If dreamless sleep is to be identified with what his true Self is like then he would be "like one who has gone to annihilation. I see nothing enjoyable in this."[21] Nothing enjoyable, indeed, where there is no Self to enjoy. The goal of this instruction would seem to end in nothingness, i. e. it is like suicide, like being dead. But Prajāpati then instructs Indra further and carries Hinduism out of what we might now liken to philosophic suicide. The Self in the end is shown to be

---

20. The Jain logic of Syādvāda (the "somehow view") comes down to stating that reality is many sided and any single statement, such as the "either......or......" view provided by the two-valued logics, about reality is bound to be misleading and narrow. Svādvāda is, consequently, a doctrine of relativism and attempts to demonstrate the complexity of reality.

(Cf. *A Source Book in Indian Philosophy* edited by Sarvepalli Radhakrishnan and Charles A. Moore (Princeton University Press, 1957). pp. 260-262).

21. *Chāndogya Upaniṣad* VIII.11.1.

capable of experiencing enjoyment, i. e. happiness or ānanda.[22] Therefore, since the essence of Self is enjoyment, the final state of mokṣa will be a state that manifests that essence: Mokṣa is enjoyment.

But this Upaniṣadic attempt to solve the dilemma of nirvāṇa simply won't work. For in rejecting the first premise of the dilemma they have thrown themselves into the second premise. And with that move the new troubles already mentioned have begun. The Buddhist with his commitment to the dogma of anātman is in a still unhappier position for he cannot even claim that the essence of Self is anything at all for, officially, there is no Self.

Therefore, if the dilemma of nirvāṇa is sound, i. e. its premises are true and the argument is valid, then the dogma of nirvāṇa is false, i. e. it generates problems of such a magnitude that abandonment of the doctrine becomes necessary. These problems, seeing the end of man as suicide or seeing the end of man as no different from this life, i. e. as the satisfaction of desire for the sake of enjoyment, appear to be insuperable. Hence, the dogma of nirvāṇa that asserts that anitya and duḥkha, impermanence and suffering, can be satisfactorily ended is false, for there is no satisfaction in suicide nor is there an ending in satisfying desires. In other words, the dogma of nirvāṇa is ill-founded.

Conclusion

The general conclusion that we might now draw from our discussion of thedogmas of anitya-duḥkha and nirvāṇa is that both dogmas appear to violate the very basic standards of common sense and logic. The dogma of anitya-duḥkha that asserted that change and suffering are always

---

22. *Chāndogya Upaniṣad* VIII.12.5.

connected, either logically or causally, is patently false. We found at least two instances of change, viz., the philosophic activity of the way of nirvāṇa and the philosophic activity of the way of Ātman, both of which lead to nirvāṇa, that demonstrated the falsity of the claim of the dogma of anitya-duḥkha. The dogma of nirvāṇa that asserted that anitya and duḥkha could be satisfactorily ended is also patently false. We found that the dilemma of nirvāṇa pointed to two unsatisfactory conclusions neither of which would be acceptable to common sense : For either nirvāṇa is suicide or it leads to an existence which is really no different from being alive, i. e. no different from this life. Each of these unsatisfactory conclusions demonstrated the falsity of the dogma of nirvāṇa.

Our conclusion to these two sections then is that the dogma of anitya-duḥkha and the dogma of nirvāṇa are both false, that they violate the philosophic and religious expectations of the plain man, whether Buddhist or not ; and that both dogmas are consequently, ill-founded.

It remains now to show that the dogmas of anitya-duḥkha and nirvāṇa are mutually inconsistent and then our task will be complete.

III. *The Dogmas of Anitya-duḥkha and Nirvāṇa*

The dogmas of anitya-duḥkha and nirvāṇa are ill-founded, as I shall try to demonstrate, because if one of the dogmas is true then the other dogma cannot be true. In other words, the two dogmas of Buddhism are mutually inconsistent. The proof of this contention lies in showing that the concepts of anitya and nirvāṇa are logically incompatible. However, I'm going to modify this claim slightly, for from our discussion of nirvāṇa in Part II of this paper we have seen that "nirvāṇa" is ambigoous : There is a

negative nirvāṇa and there is a positive nirvāṇa. We will argue now that the attempt to conjoin the concept of anitya with the concept of negative nirvāṇa, alone, leads to a logical inconsistency; but the attempt to conjoin anitya with positive nirvāṇa does not lead to a logical inconsistency. Let me explain these conclusions very briefly.

First, in a universe where anitya accurately describes the way the universe is, there could be no permanent and unchanging state or condition. But negative nirvāṇa, i. e. the nirvāṇa of the Theravāda Buddhist., the nirvāṇa of the *Mahāvagga,* viz., the mokṣa of Prajāpati's third stage of Ātman, is, we are led to believe, just such a static and unchanging state or condition. Therefore, the attempt to conjoin anitya with negative nirvāṇa must fail because the resulting conjunction is plainly inconsistent.

Second, in a universe where anitya accurately describes the way the universe is, there could be a positive nirvāṇa of the sort described by Nāgasena to King Milinda, viz., the mokṣa of Prajāpati's fourth stage of Reality. Such a nirvāṇa would envision the magic "wishing jewel" at the heart of the heavenly experience where touching the jewel and wishing would bring whatever the liberated person would desire. The nature of this liberation and the problem with anātman that it engendered is bound to crop up again, but our only problem now is to determine whether or not such positive nirvāṇa is consistent with a world defined by anitya. Again, there seems to be no inconsistency: The heavenly world of positive nirvāṇa is a world governed as much by change, it would seem, as is this world.

Conclusion

Our conclusion then is that the dogma of negative nirvāṇa and the dogma of anitya-duḥkha form a logically incon-

sistent set. But the dogma of positive nirvāṇa and the dogma of anitya-duḥkha do not form such an inconsistent set.

* * * *

What I have tried to show in this paper on the two dogmas of Buddhism is that both dogmas are ill-founded because, first, each dogma is false and second, because the two dogmas are inconsistent in the sense that if anitya-duḥkha is true then negative nirvāṇa must be false and vice versa. I have tried to show that the two dogmas fail to meet the philosophic standard of common sense, and that the inconsistency of anitya-duḥkha and nirvāṇa rests upon their failure to meet the philosophical standard of logical non-contradiction. The effect of retaining these ill-founded dogmas in the face of these philosophical problems would be (has been) to move Buddhism away from empirical truth and common sense and closer to either a questionable pragmatism, where truth is measured by sheer usefulness, or towards irrationalism and mysticism where truth is abandoned altogether.[23]

---

23. Cf. Willard Van Orman Quine in his, "Two Dogmas of Empiricism". It might be pointed out that the two alternative routes mentioned here, viz., "a questionable pragmatism" and an "irrationalism and mysticism", were precisely the routes taken by Southern or Theravāda Buddhism, on the one hand, and Northern or Mahāyāna, on the other. See K. N. Jayatilleke, *Early Buddhist Theory of Knowledge* (London: George Allen and Unwin Ltd., 1963) pp. 351-358 for a discussion of the pragmatic nature of Buddhist truth in the older Theravāda tradition; and see David J. Kalupahana, *Buddhist Philosophy: A Historical Analysis* (Honolulu: The University of Hawaii Press, 1976), pp. 163-166 for some conclusions about the hunt for the mystical Absolute in the later Mahāyāna tradition.

INSTITUTIONS OF MONEY-LENDING

HARI SAHAI SINGH

Allahabad

Inspite of the condemnation of the *Dharmasūtras* for money-lending on interest, it's practice developed in ancient India from individual's enterprise to suitable proto-banking institutions. The state, temple, village assemblies and guilds acted as effective institutions of money-lending and depository activity and helped not only the individuals in their financial crisis but created huge funds for war, public welfare and industry.

Importance of Money-lending

Ancient Indians were conversant with the activity of borrowing and lending since the vedic times. In the *Ṛgveda*[1] reference has been made to *ṛṇa* in connection with 'dice' but no clear information about interest[2] on the same is available. In the age of the Brāhmaṇas lending crystallized as an established practice allowed for the Vaiśyas.[3] The *Śatapatha Brāhmaṇa*[4] refers to an assemblage of *Kusī-*

---

1. *Ṛgveda,* 2.74.4., 10.34.10 ; *Atharvaveda,* 6.119.1.

2. *Ṛgveda,* 8.47.17 ; *Atharvaveda,* 6.43.3.

3. Jogiraj Basu, *India of the Age of The Brāhmaṇas,* Calcutta, 1969, p. 74, "That money-lending had become a side business of the Vaiśyas of the Vedic period and they had started to transact business of money-lending to the needy borrowers of different profession." Brij Kishore Bhargava, *Indigenous Banking in Ancient and Medieval India* Bombay, 1934. p. 6.

4. *Śatapatha Brāhmaṇa,* 13.4.3.11—'*Kusīdina upasame.ū bhavanti*'.

dins (lenders) as a place. The Dharmasūtras lay down specific rules for the lending of money and other articles and indicate the valid rate of interest to be charged on them. They[5] as well as many other texts[6] following them condemn usury. Although the law-givers were thus openly against lending of money and other goods on interest, they realised the economic importance of credit[7] nevertheless and laid down definite rules to safeguard the interest of lenders as well as that of the borrowers. In the pre-Mauryan period the practice of borrowing and lending attained a wider scope by entering the various economic activities like agriculture, commerce and industries as reflected in various texts.[8] *Manu*[9] has directed the king to make the Vaiśyas of his realm to take to the profession of Kusida (lending on credit) as much as possible. This policy of stimulating the activity of money lending in the *Manu* suggests its increasing importance so much so that it later on becomes a regu-

---

5. *Vasiṣṭha Dharma Sūtra*, 11.40-42.
Baudhāyana Dharma Sūtra, 1.5.10.24.

6. *Pāṇini*, 4.4.30., *Bṛhaspatismṛti*, 11.12., *Mahābhārata*, 12.36.28., 13.117.20., *Manu*, 4.220., *Medhātithi on Manu*, 8.152, *Yājñavalkya Smṛti*, 1.161, *Viṣṇu Smṛti*, 40.1.

7. "The basic justification of interest was found by ancient thinkers in India in the essential of productivity of capital or money loan used for production." B. S. Mudgal, *Political Economy in Ancient India*, Kanpur, 1960, p. 153. See also, *Jātaka*, 4.412, *Arthaśāstra*, 4.3, 9.4. (Loan for both productive and unproductive purposes).

8. *Dīghanikāya*, II.69, *Anguttaranikāya*, 1.177, *Majjhima Nikāya*, 39, vide, U. N. Ghoshal, *A History of Indian Public Life*, Vol. II, Bombay 1966, p. 91-92 n. A. N. Bose, *Social and Rural Economy of Northern India* (2nd ed.) Calcutta 1967, p. 102.

9. *Manu*, 8.410.

lar subject of study under the general economic science of *vārtā*.[10] In the ninth century A.D. Medhātithi, the great Commentator of *Manusmṛti* waives restriction on taking of interest on loan for Brāhmaṇas.[11] The *Garuḍa Purāṇa*[12] (12th century A.D.) also sanctions the profession of lending on interest as valid for the Brāhmaṇas and Kṣatriyas in times of distress.

The foregoing short servey of the money lending in ancient India very clearly shows that the Śāstras viewed it mostly as a private enterprise undertaken personally by individuals. It is this attitude of the Śāstras which colours the approach of modern researchers to money lending, who also regard it as largely an individual's concern. But far from being a casual phenomenon, money-lending in ancient India has been an essential element of economy which developed suitable institutions of its own besides utilising existing institution mend for other purposes.

Role of Institution in money-lending

Money-lending began as an individual's enterprise but with the development of it's scope, when individual's efforts fell short of answering all the requirements in this connection institutions developed. Money-lending is not needed only for relieving the economic stress of individuals but also for creating huge funds required for fighting a war, to set up an industry, to undertake welfare public works and for a massing large capitals for trade. Money is not only the

---

10. *Bhāgavata Purāṇa*, 10.24.21. *Śukranītisāra*, 1.311.

11. Medhātithi on Manu. 8.140.

12. *Vācaspatyam*, Pt. III (Chaukhamba Samskrit Series), p. 2159.

media of exchange but also a store of value and is needed to start any fresh economic enterprise. Lending by individuals alone cannot creat adequate fluidity without which all economic activities are curtained. It is because of the institutions that permanent deposits for enjoying the benefit of interest perpetually become possible. It is through institutions again that huge amounts in the form of permanent deposits can be accumulated for investment in various economic undertakings. Taking deposits at a lower rate of interest and lending them on higher rate for investment in a yet more productive enterprises gave birth to banking institutions.[13] Besides such institutions some other institutions also took to banking and semi-banking function. Besides giving an stimulous to trade, commerce and public welfare money-lending as developed through these proto-banking institutions also contributed effectively to the rise of agricultural productions. Institutional lending also much have acted as a check on the changing of oppressive rate of interest by individual lenders[14] as the laws of *upanidhi* and *nikṣepa* in the *Arthaśāstra*[15] and *Dharmaśāstras*[16] very clearly indicate as well as individual money-lenders also must have acted as safe resorts for the surplus accumulated wealth by individuals.

---

13. J. S. G. Wilson, 'Banking', *International Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol. II, p. 513.

14. A. S. Altekar, *Rāṣṭrakūṭas and their times*, Poona, 1934 p. 375.

Altekar has showed that the interest charged by an institution on a loan was 20% of the capital whereas private persons charged 25% of the same as their interest.

A. S. Altekar, *Rāṣṭrakūṭas and their times*, Poona, 1934, p. 375.

15. *Arthaśāstra* (Hindi tr.), V. Garola, (2nd ed.), Varanasi, 1977, 3.12.

16. *Manu Smṛti*, 8.179, 189, *Yājñavalkya Smṛti*, 2.66.

INSTITUTION OF MONEY-LENDING

State

The state in ancient India also acted as an institution of lending. The state advanced loan to the tax-payer cultivators in the form of grain, cattle and money.[17] The repayment of the debt owed to the state and of a Brahmin lender was regarded as the first liability of the borrower who had to repay a number of debts.[18] The Mauryan State appears to have been a kind of banker dealing in grain. While describing the duties of the Superintendent of the store house,[19] *Kauṭilya* refers to the collection of interest on grain debts and the loan of grain. It was probably with the intention of helping its subject with seeds or subsistence, but incidently making profit by the transaction of just as modern grain banks. In the *Mahābhārata*[20] the grant of loan to the tillers by the king on easier terms has been referred to. Servants, utilising government funds for advancing loan to the third parties in their own interest, were severely punished.[21]

In the time of financial crisis like war etc. the state also might raise an emergency fund from the wealth of the people for their protection. Thus according to '*Śānti*

---

17. *Arthaśāstra* (English tr.). R. P. Kangle, Bombay, 1972, 2.1.

18. *Ibid.*, 3.11.

19. *Ibid.*, II.15 vide, M. H. Gopal, *Mauryan Public Finance*, London, 1935, p. 131-32.

20. *Mahābhārata*, (Sabhā Parva), 5.68, cf. A. N. Bose, *op. cit.*, p. 82, vide. Brij Kishore Bhargava, *op. cit.*, pp. 6-7.

21. *Arthaśāstra*, *op. cit.*, 2.8.

Parva[22] the king also took loans. *Śukra*[23] advised the "king to receive the wealth of rich in times of danger and when the danger passes away to return the amount together with interest." Further, *Śukra* mentioned loans as a source of public revenue and prescribed that an account of public debt should be kept.[24] Though *Śukra* is a late writer and some scholars[25] have condemned his work as a nineteenth century forgery, in this particular rule he appears to have followed an earlier tradition. Thus according to *Kauṭilya*,[26] profit of the state can be classified into two heads: (1) receivable (ādeya) and (ii) repayable (pratyādeya). Profit which could easily be obtained without any necessity of returning it to others is called 'ādeya'. That which is returnable is *pratyādeya*. M. H. Gopal[27] correctly suggests that the term "income" was a better substitute of the term profit. So the term *'ādeya'* should mean the ordinary income of the state and the term *'pratyādeya'* should mean the repayable income of the state or loan.

The foregoing survey of relevant references to the borrowing and lending activities of the state shows that state in ancient India was a major factor in the transactions of money-lending. It frequently drew loans on interest

---

22. *Śānti Parva*, 87.29-30.

23. *Śukranīti* (English tr.), Benoy Kumar Sarkar, (2nd ed.), New Delhi, 1975, 4, 2, 21-22.

24. *Śukranīti*, 4, 2, 102, cited by M. H. Gopal, *op. cit.*, p. 136.

25. The *Śukranīti, a nineteenth century text*, Lallanji Gopal, Varanasi, 1978.

26. *Arthaśāstra* (English tr.), Shama Sastry, Mysore, 1924, 9, 4.

27. M. H. Gopal, *op. cit.*, p. 136 n.

from the wealthy persons and utilised it in activities of public welfare, military build-up, and the defence of the people, as a story about a Chalukya king[28] shows, big bankers sometimes contributed huge amount of money to public undertakings even without the king's willingness to have it. State also honoured such bankers and money-lenders as they helped the state in times of emergency and in public enterprises by awarding them titles and honours according to their contribution. The lending activity of the state was pursued in the spirit of helping the poor and needy besides enabling the merchants and bankers who had contracted a ruinous loss in their trade to restart their enterprise with initial capitals borrowed from the state.

Temple and Village assembly

In northern India no evidence of the working of village assemblies in ancient or early mediaeval times has survived. But a large number of early mediaeval south India inscriptions preserve the data of the activities of village assemblies which included borrowing and lending of money, gold and silver on interest. As these village assemblies usually borrowed money or gold or silver from temples the role of either of the two institutions cannot be properly understood unless they are viewed in each other's context.

The village assemblies are shown as borrowing money on interest usually for famine relief or public welfare. Instances are not lacking in which public land has been mortgaged to pay off the interest accruing on these loans. Thus two inscriptions of the reign of Parāntaka I belonging

---

28. A. K. Majumdar, *Chalukyas of Gujarat*. Bombay, 1956, p. 284.

to 936[29] and 937[30] A.D. and another of 986 A.D.[31] mention interest being charged by temples from the village assemblies to which they had obviously extended a loan of gold. In a south Indian inscription of about 1054 A.D.[32] it is recorded that once a village assembly came in the grip of famine and no aid was forthcoming from the king. To tide over the situation the village assembly secured a loan of 1011 Kalañju of gold and 464 pālam of silver in the form of jewellery and vessels from the local temple and mortgaged $8\frac{3}{4}$ veli of the common lands, from the produce of which the interest on the loan was to be paid. Similarly two more inscriptions[33] of the reign of Kullottunga Cola III tell us how to provide relief from famine the assembly of Tirukkacchur borrowed 15 *kāśu* of gold from a generous individual and how a piece of land belonging to the whole village was given to him to pay off the interest. We are further told of an identical situation of the scarcity of grain,[34] to meet which a loan amounting to 60 kāśu on interest was borrowed by the assembly. Village assemblies borrowed from temples also for such purposes as purchasing house sites,[35] repairing breaches of a tank,[36] and other welfare activities.

---

29. *South Indian Inscriptions,* (SII) III. pt. 3. 236.

30. *Ibid.,* 237.

31. *Ibid.,* 274.

32. *Madras Epigraphy Annual Report,* 1899-1900. p. 20. vide. R. K. Mookerji, *Local Government in Ancient India.* (Reprint) Delhi, 258, p. 289-90.

33. *Madras Epigraphy Annual Reports,* 1909-10. p. 95. inscriptions Nos. 274 and 279.

34. *Ibid.,* Nos. 397 of 1913.

35. *Inscriptions of the Pudukkottai State,* (1105 A.D.) 228 of 1923, 499.

36. 1382-3 A.D., 241 and 251 of 1906.

Besides, such services to village assembly, the temple also used to lend money to the cultivators in times of need,[37] to the distressed father[38] anxious to perform the marriage of his daughter and for meeting other urgent requirements of the individual.[39] Appodorai[40] restrained himself from venturing the suggestion that South Indian temples might have acted also as depositories for people's wealth for want of adequate evidence. It is also not definitely known if such deposits bore interest payable by the temple. But if some Cāhamāna inscriptions[41] recording the existence of some temples which accepted endowments and paid interest on them have any indication, such a possibility cannot be altogether ruled out unless this practice be deemed as exclusively a north Indian phenomenon.

The village assembly received gifts of money from individuals and government, which it has to utilise for the purposes indicated by the donors. Thus according to an inscription[42] Rajendra Deva (A.D. 1052) paid some gold to an assembly for the construction of stone temple. The assembly did not complete the construction beyond five *aṅgas* of temple in which it spent only half of the money as a famine broke out. Nor could it return the money. The temple authorities complained against village assembly and which was eventually let off only being obliged to supp-

---

37. *Epigraphia Carnatica* (E.C.) V, Belur, 83.

38. *Ibid.*, VI, Mudgere, 62, see also 163 and 277 of 1910, 394 of 1922 etc.

39. *Epigraphia Indica*, XV, p. 146-147.

40. A. Appadorai, *Economic Condition in Southern India*, Vol. I, Madras, 1936, p. 289.

41. D. Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, Delhi, 1959, p. 301.

42. *SII*, No. 353 of 1909.

ly the image of the god which was wanting in the temple. Prabhu Mārasingha had deposited with the *Mahājanas* (village assembly) of the Ayuvaḍaka 2300 *gadyāṇas* for the repair of the temple of siddheśvara and for the feeding of Brāhmaṇas in 1062-63 A.D.[43] It is not clear from the above examples whether on sums deposited with the assemblies by king or individuals any interest was payable by it. But the following example shows that atleast on some deposits, which were not grants and donations for specific purposes, interest was paid by the village assemblies. Thus in Balambid (Dharwar District), Devayanna Bhutagaunda deposited money with the thousand *Mahājanas* of Periyakereyūr. In A.D. 1088, out of the interest on his deposit[44] he made a gift of land taken on lease. We also come across cases in which the rate of interest payable by the assembly on sums deposited with it was stipulated. An inscription from Yewur states : "Six *gadyāṇas* have been deposited with the *Mahājanas* of Śivapura by Muddladevi at the interest of 25 percent ; from the interest of this the *mahājanas* shall maintain a fire-offering."[45] To prevent any possibility of default by the *Mahājanas* in the payment of interest, within the terms of the contract it was made clear that they should pay the interest regularly. Another example from an epigraph tells us, "For the instruction of youths........... there is a sum of 120 *gadyāṇas* (entrusted) to the whole body of four hundred *Mahājanas* for which they have to pay interest regularly at the rate of one *pāṇa* per gold piece

---

43. *SII,* XI (I), No. 99.

44. *Inscriptions from Bombay Karnatak Region*, 76 of 1951-52.

45. *Epigraphia Indica,* XII, p. 273.

annually. Thus, the four hundred are to deduct the 12 *gadyāṇas* of annual interest on this gold and continuously pay it to the teachers."[46]

It is thus amply clear that both temples and village assemblies functioned also as effective institutions of money-lending though their mode of functioning in South India was in a way complementary; the temple both took deposits and lent money whereas village assemblies only borrowed on interest mostly from temples and paid interest on deposits entrusted to them.[47] No clear evidence is forthcoming for lending by the village assemblies, probably because it was itself executing the productive and welfare operations into which the deposits and loans raised were to be invested. As can be seen from the above examples their aim behind this activity was public welfare rather than making money for profit.

Guild

Guilds were organizations of people engaged in industry and trade. They acted as agencies of production and distribution beside being the schools of practical art and craft and other economic enterprises. They were autonomous bodies with a traditional constitution of their own[48] and each member of them was governed by the collective

---

46. *Ibid.*, XIII, No. 4 of A.D. 1112, vide, G. S. Dikshit, *Local self Government in Mediaeval Karnataka*, Dharwar, 1964, p. 81.

47. Inspite of the mentioned references about receiving of deposits by the village assemblies there are various other evidences in the south India in which such works had been done by them. R. K. Mookerji, *op. cit.*, p. 101-111.

48. *Yājñavalkya Smṛti*, I.361, *Viṣṇu Smṛti*, III.2, *Nārada*, X.2., R. C. Majumdar, *Corporate life in Ancient India* (Hindi tr. K. D. Vajpayee) Saugar, 1966, p. 51-57.

authority of members of the guild in accordance with their own customs prevalent from times immemorial. Though other guilds also resorted to take deposits mostly on perpetual interest, there were some guilds which devoted themselves exclusively to the trade of depositing and lending money on interest. The existence of such guilds acting as a banking institution is first noticed in the *Arthaśāstra*[49] of Kauṭilya. This shows that there were certain guilds which received deposits obviously on interest and invested them in the works on public relief, commodity and artistic production through artisan guilds only to attract more and more deposits from these artisan guilds themselves. The secret instruction of swindling the money-lending institutions[50] and individuals by the King for replenishing the treasury in states of emergency, by making his agents to feign as big merchants posing themselves as returned from their overseas journey laden with merchandise, and inviting loans on a very high rate of interest[51] against their goods, suggests that money-lending guilds invested not only with the artisan guilds but also with the guilds of traders. Bills of credit (*ādeya*)[52] which must have been precursors of the *huṇḍikā* of early mediaeval times[53] are also referred to in

---

49. *Arthaśāstra*, IV.1.

50. *Ibid.*, V. 2, R. C. Majumdar, *op. cit.*, p. 26-27, he points out here the Machiavellian policy of exploiting the guilds.

51. *Arthaśāstra*, 3.11, *Yājñavalkya Smṛti*, 2.38 and *Mitākṣarā* on it.

52. *Arthaśāstra*, III.12, also see B. Bhargawa, *Indigenous Banking in Ancient and Early Medieval India*, Bombay, 1934, p. 132.

53. *Lekhapaddhati*, (ed.) Dalal, Baroda, 1925, 10-11, B. N. S. Yadava, *Society and Culture in Northern India*, Allahabad 1973, p. 284.

the *Arthaśāstra.* Inscriptions carry this picture of money-lending activities of guilds still further.

The Nasik cave inscription[54] records how Uṣavadāta, son-in-law of king Nahapāna has donated this cave to the *saṅgha* besides creating a perpetual endowment of three thousand—3000—*kāhāpaṇas* for providing cloth, money and money for outside life (*kuśaṇa*) from the interest of this sum to the members of the *saṅgha* of any sect, any origin, dwelling in this cave. It is further to be noted that these *kāhāpaṇas* have been invested in guilds dwelling at govardhan, 2000 in a weavers guild on an interest of one *paḍike* (monthly) for the hundred and 1000 in another weavers guild on an interest of three quarters of a *paḍika* (monthly) for the hundred. A similar endowment was created by the lay devotee Viṣṇu-datta the Sakāni, "...for the well-being and happiness of all beings in order to provide medicine for the sick of the *saṅgha* of monks of whatever sect and origin dwelling in this monastery on mt. Trīraśmi...with the guilds dwelling at Govardhan viz. in the hands of the guild of kularikas (Potters?), one thousand—1000—*kārṣāpaṇas* of the guild of *odayantrikas* (workers with hydratic machines or water pumps), two thousand of the guild of..., five hundred—500—of the guild of *tilapiṣakas* (oil pressers)..." and all this proclaimed and duly registered in the record office of the town hall.[55] A Mathura inscription[56] of the time of Huviṣka informs us about the institution of another permanent endowment in which were deposited with a rāka (?) guild 550 purāṇas and the same sum was deposited with a guild of flour makers out

---

54. *Nasik cave inscription,* 12.5.

55. *Ibid.,* 15.7, cited by A. N. Bose, *op. cit.,* p. 115-16.

56. *Epigraphia Indica,* XXI.10.

of the monthly interest of which 100 Brāhmaṇas were to be served daily and destitute and hungry were to be fed according to a prescribed schedule.

In the inscriptions of the Gupta period too we come across several instances of the creation of permanent endowments with *Śreṇis*. Thus the Indore copper plate[57] tells us that a Brāhmaṇa Deva Viṣṇu of Indrapura deposited an amount with the Tailika *śreṇi* of that place for providing two plage of oil for lamp to a temple. The *Gaḍhavā* inscription[58] of the time of Chandragupta II records a deposit of 20 dīnār in two instalments with some *śreṇi* to endow two alms-houses. Similarly another Gaḍhavā inscription of the time of Kumāragupta I[59] informs us about the creation of an endowment for two more alms-houses with the deposit of 13 and 12 dīnārs respectively. These activities of the guilds are also to be found in the ninth century record from Siyadoni.[60] It is needless to pile up details of these records. suffice it to say that banking activities of guilds continued in Northern India throughout the ancient period. The archaeological evidence of a large number of seals and sealings recovered from Basarh, and analysed by K. K. Thapalyal also bears witness to the important role of money-lending guilds in the economy of ancient India. In our opinion, writes Thapalyal, "The room where these sealings were found was a record or refuse room of the guild itself. The name

---

57. Fleet, *Corpus Inscriptionum Indicarum*, III, p. 68.

58. *Ibid.*, p. 38.

59. *Ibid.*, p. 40.

60. B. D. Chattopadhyay, *Indian Historical Review*, "Trade and Urban Centres in Early Mediaeval North India", Vol. I, No. 2, pp. 203-219.

of individuals, most of them *Kulikas* occurring on these sealings, may, in most cases, be taken as persons who were the members of the guild and who, at times, borrowed money from it in order to invest it for manufacture of goods or similar activities". These are also some indications of these guilds to enter into transaction with government officers and other institutions.[61]

South Indian inscriptions, especially of the time of the Rāṣṭrakūṭas[62] and the Colas[63] are full of references to guilds. Creation of permanent endowments for a number of benefactions is a marked feature of most of them.

One additional information about that functioning of the money-lending and depositing activity of guilds is brought to light by an inscription[64] "which records the investment of the income of a field at Vedalika for planting karañja trees and another field for planting banyan trees with the guild at Konachika by one Aduthuma." This shows that guilds, devoted to banking activities, not only accepted cash deposits but they also accepted landed pro-

---

61. K. K. Thapalyal, "Nigama and Sreni: An appraisal *JNSI* XXX, 1968, p. 133-151.

62. Mulgund inscription (c. 800 A.D.) *Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society*, Vol. 10, p. 192, Kanheri inscription of the time of Amoghavarsha I, *Indian Antiquary*, XIII, p. 133. See also, A. S. Altekar, *op. cit.*, p. 367-371.

63. *Tanjore inscription*, Hultzsch, SII, Vol. II, part III, p. 251, Tanjore inscription of Rajendra Coladeva, *Ibid.*, Vol. II, part I, No. 18.

64. Bühler-Burgess, *Archaeological Survey of Western India*, Vol. IV, No. 24, p. 96.

perty,[65] managed it and assigned an interest out of its income.

In spite of all this, the money-lending guilds fell short of a full-fledged banking institutions in the modern sense in the respect that they did not operate saving deposits from which the creditor may run his day to day expenses while yet reaping interest on the balance. They also did not evolve cheque system of payment, though *ādeya* or *huṇḍikā* system is no doubt a step half-way. They were yet an institution far from the reach of common man and could provide fluidity of money and wealth only on a limited scale. proportionate to the needs of the economy of the time.

Conclusion

The foregoing account of the institutions of money-lending shows that though state, temples and village assemblies were not exclusively institutions of money-lending they functioned in such a capacity as well. Their role in the economy of the time was essential and mostly welfare-oriented. Guilds which were independently run as private organizations of business and industry also resorted to money-lending. But with the crystallisation of money-lending as a specialised trade, guilds exclusively devoted to money-lending also appeared. Such guilds were the nearest approach to banking organization but they could not develop far enough to full-fledged banks in the modern sense of the term. Their history is traceable to the time of the *Arthaśāstra* in the fourth century.

---

65. According to R. K. Mookerji these corporations used to lend not merely gold and silver, but also liquids, condiments, and grain. R. K. Mookerji, *op. cit.*, p. 88.

POSITION OF POTTERS IN THE SOCIO-REGIONAL STRATIFICATION OF EARLY MEDIEVAL INDIA

A. P. OJHA

Allahabad

A Survey of the social status of the potters shows that their position did not remain the same in any region or period. In the Vedic period, the potters enjoyed a respectable position which gradually degraded much with the advent of early medieval period. They were reckoned among the good *saṅkaras* related to *śūdra* varṇa.

Though pottery going back to Neolithic times presupposes the existence of potters in that epoch, the social dimensions of the group engaged in the production of earthenwares are not available before the availability of literary data in the Vedic age. References to potters under the name of *Kulāla*[1] occur in the entire range of the Vedic literature. Judging from them, it can be safely maintained that the artisans of this trade enjoyed a respectable position in the early as well as the later Vedic Society. Salutation has been offered to them.[2] Their presence in the context of Vedic sacrifices[3] undoubtedly makes their position a pri-

---

1. A. A. Macdonell, A. B. Keith. *Vedic Index of Names and subjects,* Delhi, 1967 (third reprint). Vol. I, p. 171.

2. *namaḥ kulālebhyaḥ......, Taittirīya Saṃhitā* IV.5.4.2.

3. They were listed among the victims of *puruṣamedha* sacrifice. See *Vājasaneyi Saṃhitā* XXX.5-22; *Taittirīya Brāhmaṇa* III.4.2.17; *Śatapatha Brāhmaṇa* XIII.6 vide. Jogiraj Basu, *India of the Age of Brāhmaṇas,* Calcutta. 1969. p. 72.

vileged one. This state of affairs is quite understandable in view of the fact that the Vedic society was emerging from the tribal state and the position of specialists in the wake of the process of division of labour leading to initial social differentiation is always respectable. With the growth in the degree of differentiation and the increasing complexity of socio-economic nexus, potters were naturally side-tracked to the back-waters of rural life and their trade too consequently earned a lower repute for itself. Reflection of this trend is amply visible in the works of Buddhist and other literature spread over a long period of time. Till the advent of early medieval period, therefore, potters had already come to occupy a lower position[4] in society as compared to their former status which they enjoyed in the Vedic times. But still their position in the ancient period was not so low as in the early medieval period. The most important reasons of why they could withstand the process of degradation in their trade was probably their organization into guilds[5] and economic prosperity.

The sources of early medieval times both literary and epigraphic, bring into prominence some new words used for the potters. Among these new terms mention may be made of *cakkiya, kumbhālika, vetakovan* and *kummari*. The word *cakkiya*[6] occurs in *Kuvalayamālākahā* of Udyotana Sūri

---

4. They were called *hīna-jāti* in the *Mahāvastu Avadāna* I.321.11. *Vinaya Piṭaka* calls the potters' craft as *hīna-sippa* (low craft) IV, p. 7; see also *Suttavibhaṅga Pācittiya* II.2.1.

5. *Corpus Inscriptionum Indicarum*, IV, pt. 1, p. 3; Jātakas also furnish a good deal of information about potters' guilds.

6. *Kuvalayamālākahā*, 140.3 quoted in A. P. Jamkhedkar, *Kuvalayamālā : A Cultural Sṭudy*, Nagpur, 1974, p. 42.

(c. 779 A.D.), a Jain kathā work which reflects the social and cultural history of ancient Rajaputana. It reminds us of the Sanskrit word *cākrika* applied for potters (sometimes for oilmiller also) in the commentaries of Bhaṭṭotpala[7] on the *Bṛhatsaṃhitā* (c. 10th A.D.) and of *Aparārka*[8] on the *Yājñavalkya-smṛti* (c. 12th A.D.) who has quoted Śaṅkha (prose) and Sumantu. The *Vaijayantīkośa* of Yādavaprakāśa (c. 11th A.D.) also gives this term.[9] Bhaṭṭotpala was a native of Kashmir whereas Aparārka was a Śilāhāra king of south India. Yādavaprakāśa flourished in Tamil Nadu in the 11th century.[10] It may, therefore be concluded that the word *cakkiya* or *cākrika* was prevalent both in the north as well as south. *Kumbhālika*,[11] *vetakovana*[12] and *kummari*[13] as well were other new terms used for the potters known from various south Indian inscriptions. Thus, it is obvious that these three words were in vogue only in south India. The old terms *kulāla, kumbhakāra* and *cākrika* were not restricted to any region or part of the early medieval India but were in prevalence all over the country as usual because they have been used in many sources relating to the various regions. The illustrative list is as under :—

---

7. On *Bṛhatsaṃhitā* (BS) X.9, 12.

8. Aparārka on *Yāj.*, pp. 1175-76 vide P. V. Kane, *History of Dharmaśāstra*, Poona, 1974 (II edn.). Vol. II, pt. 1, p. 80.

9. *Vaijayantī*, II.9.27.

10. *Vaijayantīkośa*, ed. H. G. Shastri, Varanasi 1971, p. 17.

11. *Epigraphia Indica* (EI). XX, No. 2, p. 90. See T. V. Mahalingam, *South Indian Polity*, Madras 1954, p. 394.

12. *South Indian Temple Inscriptions*, Glossary, p. XCI and *Tamil lexicon*, p. 3831 vide Burton Stein, in *Peasant State and Society in Medieval South India*, Delhi, 1980, p. 121.

13. *South Indian Inscriptions* (*SII*), IV Nos. 677, 1288.

Region of the source	*Source*	*Term/Terms used for potters*
Kashmir	Bhaṭṭotpala on *Bṛhatsaṃitā*[14] (c. 10th A.D.)	Cākrika Kumbhakāra
Kashmir	*Rājataraṅgiṇī* of Kalhaṇa[15] (c. 12th A.D.)	Kulāla . Kumbhakāra
Rajasthan	Kaman Stone Inscription[16] (c. 8th-9th A.D.)	Kumbhakāra
Gujarat	*Jambū-dvīpa-prajñapti*[17]	Kumbhakāra
Gujarat	*Triṣaṣṭiśalākāpuruṣa-Carita*[18] of Hemacandra (c. 12th A.D.)	
Gujarat	*Prabandhacintāmaṇi*[19] of Hamacandra (c. 12th A.D.)	Kulāla Kumbhakāra
Western India	*Kathākośa-prakaraṇa* of[20] Jineśvara Sūri (V. S. 1108)	Kumbhakāra
Madhya Pradesh	*Bṛhatsaṁhitā* of Varāhamihira[21] (c. 6th A.D.)	Cākrika, Cakracara, Ghaṭakāra, Ghaṭakṛta.

14. On *BS*, X.9, 12 ; XVI.28.

15. *Rājataraṅgiṇī* (*Rāj*) III.106, 107. See also *Kalhaṇa's Rājataraṅgiṇī*, tr. by M. A. Stein, Delhi 1979, (Reprint), Vol. I p. 82.

16. *EI*, XXIV, p. 335.

17. B. N. S. Yadava, *Society and Culture in Northern India* (*SCNI*), Allahabad 1973, p. 42f.

18. *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣa-carita* (*TSPC*), Vol. II, p. 118, vide *SCNI*, p. 42f.

19. *Prabandhacintāmani*, 77, 111 vide A. K. Majumdar, *Chaulukyas of Gujarat*, Bombay, 1956, p. 262.

20. *Kathākośa-prakaraṇa*, Introduction, pp. 116-17 ; p. 115 (text) vide *SCNI*, p. 54.

21. *BS*, X.9, 12 ; XV.1 ; XVI.28.

Uttar Pradesh	Siyadoni Inscription[22] (Lalitpur) (c. 10th A.D.)	Kumbhakāra
Uttar Pradesh	Kamauli Copper Plate (Varanasi)[23]	Kumbhakāra
Assam	A Copper Plate[24]	Kumbhakāra
Bengal	*Bṛhannāradīya Purāṇa*[25] (c. 9th A.D.)	Kumbhakāra
Bengal	*Bṛhaddharma Purāṇa*[26] (c. 13th A.D.)	Kumbhakāra
Bengal	*Brahmavaivarta Purāṇa*[27] not later than (c. 13th A.D.)	Kumbhakāra
Orissa	Kendupatana Plates of[28] Narasiṃha II (c. 1294 A.D.)	Kumbhakāra
Orissa	Nāgarī Plates of Anaṅgabhīma[29] III (c. 1231 A.D.)	Kumbhakāra
Andhra Pradesh	Dibbida (Vizagapatanam)[30] Plates of Arjun (c. 1269 A.D.)	Kulāla
Tamil Nadu	*Vaijayantīkośa* of Yādava prakāśa[31] (c. 11th A.D.)	Kulāla Kumbhakāra Cākrika

22. *EI*, I, p. 174, 1.9.
23. *Gauḍalekhamālā*, p. 135.
24. *Kāmarūpaśāsanāvalī*, p. 41.
25. *Bṛhannāradīya Purāṇa* (*BNP*), 30.2.
26. *Bṛhaddharma Purāṇa* (*BDP*), III.13.
27. *Brahmavaivarta Purāṇa* (*BVP*), Chapter X-20, 90, 97.
28. *EI*, XXVIII, p. 195.
29. *Ibid.*, p. 256.
30. *Ibid.*, V, pp. 110-12. v. 22.
31. *Vaijayantī*, II.9.27.

The importance of the potters in this period lies in the fact that they were one of the five chief village artisans (pañca-kāruakānām)[32] viz. the carpenter, the ironsmith, the potter, the barber and the washerman who used to live in almost all the villages and received handfuls (bācakāni) from peasants. This tradition was not a new one. The institution of *pañcakārukī* (five artisans) can be traced back at least upto the time of Patañjali.[33] It is significant to note that the artisan guilds (*prakṛtis* or *śreṇis*) had on the whole lost their character of occupational groups in the early medieval period and were being fossilized into castes.[34] Potters were related to the śūdra varṇa and thus were at the lowest stratum in the caste hierarchy of early medieval India beyond any doubt. The question which crops up in our mind here is : what was their position within the śūdra-varṇa? According to Uśanas[35] and Vaikhānasa[36] (c. 600–900 A.D.) the potters were born of clandestine union between a brāhmaṇa male and vaiśya female. The *Parāśara Saṃhitā*[37] and the *Parāśara Paddhati*[38] state that they were

32. *Lekhapaddhati*, ed. C. D. Dalal, Baroda (Central Library) 1925, p. 19. Sūtradhāralohakārakumbhakāraprabhṛtipañcakāruakānāma....; also *SCNI*, p. 267.

33. *Mahābhāṣya*, I.1.48 ; P. D. Agnihotri, *Patañjali Kālīna Bhārata*, Patna 1963, p. 324. ..tatra cāvarataḥ pañcakārukī bhavati.

34. B. N. S. Yadava, *The problem of the Emergence of Feudal Relations in Early India* (*EFR*), Presidential Address, Section I, Indian History Congress XLI Session, Bombay, 1980; p. 50; R. S. Sharma, "Problem of Transition from Ancient to Medieval in Indian History", *Indian Historical Review* (*IHR*), Vol. 1, No. 1, p. 6.

35. *Uśanas*, verse 32.

36. *Vaikhānasa* X.12 cited by Kane, *op. cit.*, p. 78.

37. *Parāśara Saṃhitā* cited in *Śabdakalpadruma*, Varanasi, 1967, Vol. II, p. 154.

38. *Parāśara Paddhati* cited in *ibid.*

the offspring of a carmakāra female and a gardener male as well as an oilmiller female and a *paṭṭikāra* (silk-weaver) male respectively. Thus they are shown as being born of the promiscuous unions. But the mention of their regular parentage in the *Parāśara Saṃhitā* and *Parāśara Paddhati* rules out clandestine unions as their only source. In the *Bṛhaddharma Purāṇa*[39] the potters are regarded as *uttama saṅkaras*. One born of a union of a Brāhmaṇa male and a Vaiśya female is no doubt an *uttama saṅkara* inasmuch as he is born of an *anuloma* union. It appears, therefore, that the clandestine part of the statement of Uśanas and Vaikhānasa was not universally and in all localities acceptable to the tradition. The value of this evidence is not more than its being an indication of their degradation in a certain region or locality. The Commentary of *Aparārka*[40] (on Yājñavalkya) quoting the *Brahma Purāṇa* forbids one to take the food from the hands of a potter. Sumantu[41] quoted in *Parāśara Mādhavīyam* too makes the food from a potter (cākrika) unfit for a brāhmaṇa. Among the list of *bhojyānna śūdras—dāsa, nāpita, gopāla, kulamitra* and *ardhasīrī* (share-cropper)—furnished by the *Smṛtis* like *Parāśara*,[42] *Bṛhadyama*[43] and *Vedavyāsa*[44] (c. 600—900 A.D.) mention has not been made of potters. This is not a new phenomenon as it can be traced back to the time of Manu

---

39. *BDP* III.13, see also *SCNI*, p. 47.

40. *Aparārka on Yājñavalkya*, pp. 1177-79 quoted in M. K. Pal, *Crafts and Craftsmen in Traditional India*, New Delhi, 1978, p. 114.

41. Vide Kane, *op. cit.*, p. 76.

42. *Parāśarasmṛti*, XI.22.

43. *Bṛhadyama Smṛti*. III.10.

44. *Vedavyāsa Smṛti*, III.55.

and Yājñavalkya.[45] Side by side with the list of the groups of *bhojyānna* category there are also available in these *smṛtis* a parallel list of the groups of *abhojyānna* category. This rules out the assumption that those who were not included in the *bhojyānna* category belong necessarily to *abhojyānna* variety. It appears that there was a neutral zone between these two as well, and the potters occupied the neutral zone[46] between the *bhojyānna* and *abhojyānna* categories. Their place is, however, secured in the *bhojyānna*

---

45. *Manu Smṛti*, IV.253; *Yājñavalkya Smṛti*, I.166.

46. The artisans included in the *abhojyānna* category are carpenter, weaver, blacksmith, goldsmith, bambooworker, washerman and *kāru* (Manu, IV.210, 214-215, 219). It may be pointed out that though the general meaning of *kāru* is artisan the use of *kāru* in the Vedic texts (*Ṛgveda* and *Atharvaveda*) has been in the sense of minstrels i. e., one who sings the praise of others (M. M. Williams, *A Sanskrit English Dictionary*, Delhi 1976 (Reprint), p. 275). As Manu in this context enumerates individual artisan groups as *abhojyānna*, condemnation of the whole class of artisans would have defeated the purpose of discrimination. There can be no doubt, therefore, that Manu deemed by *kāru* here a particular type of artisan and not their whole class. Yājñavalkya counts among the artisans of *abhojyānna* category bambooworker, goldsmith, blacksmith, weaver, washerman and oilpresser only (Yāj. I.161, 163-165). It may be noted that the enumeration of *bhojyānna* category of artisans by Yājñavalkya (I.166) includes the same type of artisans which figured in the *bhojyānna* category of Manu viz., *ārdhika, kulamitra, dāsa, nāpita* and *gopāla* (IV.253). Other artisans as for example stonecutter, architect, mason etc. occupy the neutral zone who are neither *bhojyānna* nor *abhojyānna*. A comparative study of the list of *abhojyānna* artisans in Manu and Yājñavalkya would also show that while Manu places carpenter in the *abhojyānna* category Yājñavalkya omits his name in his enumeration of *abhojyānna* category. If it is not a mistake Yājñavalkya appears to have assigned him the neutral category. Thus, the possibility of potters occupying this neutral zone cannot be denied.

category by the commentary of Vijñāneśvara,[47] which may be taken to be a newly emerging trend of south India in the 12th century. But Aparārka[48] belonging to the same period and to the same region counts potters in the class of *abhojyānna* śūdras in his commentary on the same text on which Vijñāneśvara also commented. It appears that in the 12th century in South, the position of potters with regard to *bhojyānna* or *abhojyānna* category had become controversial among the interpreters of the law.

A regional survey in the social status of potters is still a desideratum. We propose to attempt the same in the early metieval times. The *Bṛhannāradīya Purāṇa*[49] (c. 9th A.D.) places the potters higher than Carmakāra, Cāṇḍāla, Vyādha and Rajaka but lower than Lohakāra, Suvarṇakāra and Tantravāya (weaver) in the social hierarchy. In the *Bṛhaddharma Purāṇa*[50] (c. 13th A.D.) which divides the mixed caste into *uttama*, *madhyama* and *adhama* saṅkaras, they were reckoned among the *uttama saṅkaras* and permission has been granted to śrotriya brāhmaṇas to function as priests for them. The *Brahmavaivarta Purāṇa*[51] (not later than c. 13th A.D.) enumerates the potters in the list of nine good-śūdra artisans (*navaite śilpakāriṇaḥ, satśūdrāḥ*). All these three Purāṇas composed in Bengal reflect the social norms of that region. It is also proposed that the potters formed a major socio-economic class in Comilla region in south-east pre-Muslim Bengal.[52] The

47. *Mitākṣarā*, I.166.
48. Supra, fn. 40.
49. *BNP*, 30.2, *SCNI*, p. 46.
50. Supra, fn. 30.
51. *BVP*, Chap. X, Verses 8, 9, 20.
52. M. R. Tarafdar, "Trade and Society in Early Medieval Bengal", IIR, Vol. IV, No. 2, p. 278f.

recent archaeological discovery of the pottery pieces of considerable quality at the Mainamati Lalmai hills, makes it highly probable, says Professor Tarafdar, that the earthenwares were being exported from South-east Bengal to South China, Pegu and South-East Asia.[53] This probable export trade of sophisticated pottery appears to have been the main reason of their being counted among the sat-śūdras, as it must have contributed to their comparatively sound economic position and thereby to their higher status among the śūdras.

The *Jambū-dvīpa-prajñapti*[54] a Jain work composed in the Gujarat region in the early medieval period categorises the caste guild of potters into *nāruā* and *kāruā* varṇas which mean touchables and untouchables respectively and includes them among the touchables i. e., *nāruā varṇa*. The *Kathā-kośa-prakaraṇa*[55] of Jineśvara Sūri (V. S. 1108) another Jain work reflecting the conditions of western India, declares the members of the potters' guilds as *ahamā* (degraded) one degree higher than *ahamāhamā* (highly degraded) consisting of Cāṇḍālas and others. According to the *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣa-carita*[56] of Hemacandra who flourished in the Gujarat in the 12th century, the occupation of potters was of little blame. The *Vīsaladeva Rāso*[57] composed in Rajasthan in the early medieval period, refers to the daily use of

---

53. *Ibid.*

54. Vide *SCNI*, p. 42.

55. *Ibid.*, p. 54.

56. *Ibid.*, p. 42f.

57. *Vīsaladeva Rāso*, I, 48 & II, 24 quoted in R. B. Singh, *History of the Cahamanas*, Varanasi, 1964, p. 400.

earthenwares supplied by the potters. Available remains[58] of ornamented pottery from sambhar leave no room for doubt about the specialized technique and the industry of this town. The Kaman stone inscription[59] (c. 8th-9th A.D.) informs us about the existence of a potters' guild living at Kāmyaka with whom endowments were deposited. The economic prosperity of these potters is also proved by the fact that everyone of them were paying a permanent cess at the rate of one *paṇa* per wheel per month. We may be permitted to recapitulate that the potters enjoyed a good social position in the Gujarat and Rajasthan and were at the upper stratum within the śūdra-varṇa. There is no trace of abomination and untouchability attaching to their person or craft. Their organization into guild at Kāmyaka indicates that merchant-cum-artisan guild was flourishing near the city though there was a general decline of artisan guilds in this period.

A story in the *Rājataraṅgiṇī*[60] of Kalhaṇa (c. 12th A.D.) which throws light on the social life of Kashmir, tells us that the queen of Kashmir king Toramāṇa gave birth to prince Pravarasena II somewhere in a potter's hut (*kulāla-nilaye kvacit*). The story further reveals that the potter's wife accepted the prince as her child, as the she-crow to the young-cuckoo (*kākeva pikaśāvakaḥ*), and brought him up properly. This story tends to show that they were still far from being untouchables and enjoyed an honourable social position in this region also. That the potter's craft was in

---

58. *Archaeological Remains and Excavations at Sambhar*, p. 54, vide R. B. Singh, *Ibid*.

59. *EI*, XXIV, p. 335.

60. Supra, fn. 15.

flourishing condition in Kashmir in the early medieval times is proved by a good number of earthenvessels excavated at Avantipur.[61] Kṣemendra's (c. 11th A.D.) *Narmamālā*[62] speaks of clay earrings used by the women of poor classes. This is further corroborated by the fact that earthenwares were among the principal items of trade within the country.[63] These pieces of evidence tend to show that the potters of Kashmir may have enjoyed a good status socially and economically.

The rest of northern India also provides a good evidence of potters. The *Harṣacarita* of *Bāṇabhaṭṭa*[64] who flourished in Kanauj in the 7th century A.D., places the potters among the skilled artisans called to work on the eve of Rājyaśrī's marriage. It also shows that friendship[65] between a Brāhmaṇa like Bāṇa and a potter was still not a thing to be looked down upon. The archaeological evidence of a marked degree of improvement in the technological aspect of pottery[66] in this period has also come to light from the excavation of Ahicchatra situated in the Bareilly district of U. P. We have definite evidence of pot-

---

61. S. C. Ray, *Early History and Culture of Kashmir*, Delhi 1970, (IInd revised edn.), p. 126.

62. *Narmamālā*, I.75 cited by Ray, *Ibid*.

63. S. C. Ray, *op. cit.*, p. 128.

64. V. S. Agrawal, *Harṣacarita : Eka Sānskṛtika Adhyayana*, Patna 1964, (IInd edn.), p. 72.

65. *Harṣacarita*, I, pp. 41-42.

66. B. P. Mazumdar, "Industries and Trade in Early Medieval North India" a paper submitted to the seminar on Socio-economic formation in the Early Middle Ages of Indian History, organised by the Deptt. of Ancient History, Culture & Archaeology A.U., Dec. 1-3, 1980, p. 4.

ters' guilds at Siyadoni[67] (near Lalitpur, U. P.) with whom permanent endowments were deposited. But it should be borne in mind that these guilds of potters must have been merchant-cum-artisan guilds flourishing round the temple complex at Siyadoni. Thus, by virtue of their economic prosperity and organization they must have enjoyed the same position in these areas of northern India as they did in Gujarat, Rajasthan and Kashmir.

In Deccan the potters are shown to have formed a separate community named as *Kummari Kula.*[68] References have been found to *Pedda Kummari* (head potter) and *Kummari Malla* in the temple records.[69] Some inscriptions from Andhra[70] and Orissa[71] include the potters among those artisans who have been given away with the landgrants to the donees.[72] This phenomenon was in prevalence in

---

67. *EI,* I, p. 174, 1.9. B. D. Chattopadhyaya, "Trade and Urban Centres in Early Medieval North India", *IHR,* Vol. I, No. 2, p. 219.

68. A. Vadehi Krishnamoorthy, *Social and Economic conditions in Eastern Deccan* (A.D. 1000–1250), Secundarabad 1970, p. 48.

69. *SII,* IV, Nos. 677, 1288.

70. *EI,* V, pp. 110-12, also L. Gopal, *Economic Life of Northern India,* Delhi, 1964, p. 22.

71. Supra, fn. 28 & 29.

72. R. N. Nandi opines that potters donated to the temples in Deccan in this period were "like European serfs, who were attached to the manors of their lords" idem, *Religious Institutions and Cults in the Deccan* (C.A.D. 600–1000), Delhi, 1973, p. 28.

northern India also.[73] A. P. Sah[74] in the background of Orissa's trade relations with Magadha, Madhyadeśa and other neighbouring states of Palas, Senas, Kalcuries, Colas and Eastern Calukyas opines that the townships of Purāṇa-grāma and Jayanagaragrāma inhabited by a number of artisans, including potters, clearly indicate that the earthenwares were also the articles of internal trade. The potters have also been mentioned in a votive inscription of Liṅgarāja temple at Bhuvaneśvara.[75] The social position of potters in Deccan, therefore, appears to have been characterised by two opposite trends, (1) that of their localisation and bondage resulting from their attachment to landgrants and temple and (2) that of their better social and economic position within the śūdra varṇa indicated by the fact that earthenwares were being included among the articles of internal trade. But it is noticeable that long distance trade of earthenwares must not have been in vogue in all the regions.

Belonging to the *idaṅgai* i. e. left hand caste[76] the artisans formed the middle stratum among the social classes in

---

73. There was a widespread practice of transferring the artisans with other humble folk in the Candella Kingdom (Bundelkhand) : sa-kāru-karṣaka-vaṇing... ; *EI*, XX, No. 14, 1.10; R. S. Sharma, *Indian Feudalism*, Delhi 1965, p. 233. For this practice in other regions of northern India see B. N. S. Yadava, *EFR*, p. 13.

74. A. P. Sah, *Life in Medieval Orissa* (C.A.D. 600–1200), Varanasi 1976, p. 107.

75. *The Orissa Historical Research Journal*, II, No. 3-4, p. 53 vide Sah, *ibid.*, p. 103.

76. Burton Stein, "Right and Left Hand Castes", idem, *op. cit.*, p. 196.

the Tamil Nadu.[77] The *Vaijayantīkośa*[78] of Yādavaprakāśa composed in this region in the 11th century speaks of potters in the *śūdrādhyāya.* But at one place Yādavaprakāśa has assigned the function of potters to Ayogavas.[79] Since Ayogavas themselves. were (a group of) *antyajas*, as shown by *Mitākṣarā*,[80] and the potters' work came to be assigned to them by the *Vaijayantī*, it leads us to conclude that the potters were being regionally relagated to the position of outcastes and untouchables (*antyajas*).[81] Thus their enumeration as *antyajas* in this area is striking. The historical explanation of this development may be sought into the trend of increasing subjection of artisans in the Cola period,[82] emergence of big temple states and landed aristocracy to which artisans including the potters were often attached.[83] But in the 11th and 12th centuries we find a few examples of merchant-cum-artisan guilds of potters in some regions of

---

77. Y. Subbarayalu, "Tamil Nadu (C. 750–1350 A.D.) Ke Ārthika Evam Sāmājika Itihāsa Main Ūr Kā Sthāna" in *Prāchīna Bhārata* ed. H. D. Sankalia and others, Delhi. 1978. p. 172.

78. *Vaijayantīkośa*, Chapter 9.

79. Vide *SCNI*, p. 39.

80. *Mitākṣarā* on *Yāj*. III.260 and 265.

81. The weavers were also being relegated to the status of *antyajas* in some regions in this period. See A. P. Ojha, Weavers in Ancient Indian Society & Economy". *The Journal of the Ishwari Prasad Institute of History*, Allahabad. Vol. II. Part II. Jan.-Dec. 1980, pp. 87-98.

82. Y. Gopala Reddy, "Socio-economic Tensions in the Cola Period", *Journal of the Oriental Institute*, Baroda, Vol XXIX, Pt. 1-2, p. 76; B. N. S. Yadava, *EFR*, p. 51.

83. *Ibid.*, B. Stein. *op. cit.*, p. 158; D. N. Jha. "Temples as Landed Magnates in Early Medieval South India (C.A.D. 700–1300)" in R. S. Sharma ed. *Indian Society: Historical Probings*, New Delhi, 1974, pp. 203-16.

south India.[84] Professor T. V. Mahalingam shows that some such guilds of weavers and potters were enjoying social privileges duly sanctioned by the king.[85] The reason of this importance and prosperity of potters' guild is amply explained if we notice the significant piece of evidence furnished by Nadavi. While discussing Indo-Arab relations in the light of the observations of Muisar Bin Muhalhil who visited south India in A. H. 331 (A.D. 943) he writes that porcelains, *'gazāyara'*, were being exported to Arab countries from south India. He further tells us that it was locally prepared and was not imported to from China, however, it was known as Chinese ware in the country to which it was exported.[86] It was probably to its significant place as an article of overseas trade that the potters of south India owed their extraordinary importance.

The foregoing discussion of the social status of potters in the period of our study shows that their social position was not uniform throughout the country or throughout the period.[87] While they enjoyed a better status in Comilla region now in Bengaladesh they were condemned to un-

---

84. B. N. S. Yadava, *EFR,* p. 51 fn.; T. V. Mahalingam, *South Indian Polity,* p. 395 f.

85. *Ibid.*

86. Sayyad Sulaiman Nadavi, *Arab Aur Bhārata Ke Sambandha* (trns. in Hindi, Babu Ram Chandra Varma), Allahabad, 1930, p. 56.

87. If we analyse all the sources we find some improvement in the social status of potters during the second phase (11th & 12th centuries) of early medieval India due to the increasement of economic conditions. For the enhancement in the social status of artisans associated with the *idaṅgai* in south India particularly in Andhra, Karnataka and Tamil Nadu, see B. Stein. *op. cit.*, pp. 199f.

touchability in south India. The emergence of Urban centres like Kāmyaka and Siyadoni may have partly connected with the economic prosperity while in the rural areas their economic prosperity declined to such an extent that they were often donated with the piece of land or village being granted and were thereby put to the service of the donee. Specific mention of potters among such donations in Orissa and Andhra demarcates these regions from those areas in which landgrants make mere mention of *aṣṭādaśa-prakṛtayaḥ*. Chronologically their condemnation to untouchability even in the south is a late development. The 12th century controversy, between Vijñāneśvara and Aparārka, both commentators of Yājñavalkya from south India about potters being put into the *bhojyānna* or *abhojyānna* categories, is interesting.

SOME INTERESTING SCULPTURES IN THE MUSEUM OF GOA

DEO PRAKASH SHARMA

Allahabad

I. *GAJALAKṢMĪ*

In this paper, light has been thrown on the sculptures of *Gajalakṣmī, Nāgadevatā* and *Mārtaṇḍa Bhairava* preserved in the museum of Goa. The *Gajalakṣmī* figures are very popular in Goa and have Buddhistic influence. The antiquity of the *Nāgadevatā* figures, with a combination of human being and snake goes back to Indus valley civilization. The *Mārtaṇḍa Bhairava* having a mixed form of *sūrya* and *Bhairava* (Śiva) represents the art of the Hoyasala period between 13th to 14th century A.D.

Stone slab showing Gajalakṣmī, goddess of wealth and prosperity is shown seated on a low Indian tepoy holding lotus buds in each of her hands. On each side of the goddess there is an elephant pouring water from a pitcher held in his trunk. The goddess wears earrings, necklace, and an ornamental Kirīṭa on her head. There is a prabhāmaṇḍala behind her head. A female attendant is seen on her right side. There are two persons on the back of the elephant. Two soldiers holding sword and a shield are standing near the leg of elephant. Above the mukuṭa of Devī there is a kīrtimukha. A similar sculpture containing the figure of Gajalakṣmī was found at Bondalā (Goa).[1]

The goddess wears a garland of flowers which is hanging from shoulder to the crossed legs of main deity. Another

---

1. V. T. Gune, *Ancient Shrines of Goa: A pictorial survey* (Panaji 1965), plate I.

garland is shown on the chest of devī. Floral designs are carved in straight line in two corners of the panels. She wears a bodice and it adorned with various ornaments. On either side of the tepoy there is the pair of horse riders.

In the lowermost panel there are dancing men and women. In the middle of these two groups of dancers there are two male figures wearing long gowns. The first male dancer has a Jar on his shoulder. The lower panel of the dance party shown in this sculpture is of special interest. Similar dancers are also seen in the Gajalakṣmī figure of Bondalā.[2] The dress worn by the dancer and actors shows Egyptian and Persian influence. The bun type hair style of these figures is of worth notice. According to Gune, "Goa folk dance like *mandava* might have been originated from the worship of Goddess Gajalakṣmī, which is still prominent in Goa region."[3]

This sculpture was acquired by Goa museum from locality Nervashe Shivde, in Sanguem sub-division of Goa. Material of sculpture is chlorite-biolite schist rock and its measurement is 113×88×12 cm. Originally the above sculpture was in two pieces and later on it was fused together. This sculpture can be placed from 9th to 10th c. A.D. Gajalakṣmī figures of mediaeval period were also noticed at Bondala, Keri, Vele, Savaiverem and Carambolim in Goa.[4]

From 200 B.C. onwards, the representation of Gajalakṣmī has been common in Indian plastic art. According to Mr. Foucher, "The nativity of Buddha is represented by

---

2. *Ibid.*, plate I.
3. *Ibid.*, p. 9.
4. Braganca Pereira A. B. de, *Relatorio D. A. Commisao permante Argmelogia* (Portuguese language, Goa, 1936), pp. 8-17.

the figure of Māyā-Devī, seated or standing on a lotus with or without elephant pouring water on her.[5] According to author, Buddhism had spread in Goa at the time of Aśoka (third c. B.C.). Aśoka had patronised Buddhism in India, and his rock edict is recently discovered by Mr. S. Setar at locality Nittur district Billary in Karnataka which is adjoining province of Goa.[6] Author is of opinion that parts of polished stone pillars which were later on destroyed and few converted into Śivaliṅga reported by late R. V. Heras in Goa may be parts of Aśokan pillar.[7] Ruins of Buddhist Hīnayāna sect of early historic period were reported in Goa at Rivana, Lamgaon, Harvalem, Loutulim and Reddi. Father R. Haras had discovered Buddhist image of third c. A.D. from locality Calavale in Goa.[8] Headless Buddha in Bhūmisparśa mudrā of 5th-6th c. are also reported from village Rivana in Goa.[9] Metal Image of Buddha of 3rd Century A.D. was acquired in year 1977 by State Museum of Goa from the house of Mumai Kamath family of Panaji Goa.[10] Kings of Boja dynasty who ruled in Goa from 3rd to 6th Century A.D. patronised Buddhism in Goa. Hiregunti copper plate inscription of Boja King of 5th c. A.D. gives reference of Buddhist-Vihāra in Goa.[11]

---

5. A. Foucher, *The beginning of Buddhist art* (London, 1918), p. 70.

6. *Times of India*—English daily, Bombay and New Delhi, dated 16 October, 1977.

7. *J. B. H. S.*, Vol. IV 2-4 (Bombay).

8. Rev. S. J. H. Heras, "A Newly discovered image of Buddha near Colavale", *J. B. H. S.*, Vol. III, No. 1, 2.

9. V. T. Gune, "Ancient site at Rivana", *New's Letter*, Vol. I of Directorate of historical Archives, Archaeology, Govt. of Goa Damans Diu (Panaji 1978), p. 52.

10. This information was supplied by Dr. P. P. Shirodkar, Director of State Museum of Goa.

Gajalakṣmī figure came in Goa due to Buddhist influence. Our ancient goddess Lakṣmī was converted into Gajalakṣmī figure of Buddhist sect. This goddess is now being worshipped in every village of Goa. It is a very popular goddess in Goa (Plate I).

II. *NĀGADEVATĀ*

Nāga-devatā (therio-anthropomorphic type) is kept on rectangular pedestal showing a combination of human being and animal element. The upper part is having an appearance of an human being provided with canopies of snake-hood over the head. The lower part below the waist is that of snake coils. This hybrid therioanthropomorphic type of nāga is common and is reported from several sites in India. Pedestal on which Nāga sculpture is kept has rectangular hole in the middle. This pedestal is the *arghā* of śiva liṅga. Material of pedestal is clorite schist stone which also differs from Nāgadevatā material which is made of basalt rock. Pedestal part does belong to Nāgadevatā. This sculpture was acquired by Museum authority from locality Talaulim in Ponda sub-division of Goa. Figure of Nāgadevatā is in two pieces near the belly, blackish in colour and is highly weathered. It's measurement is 76×43×11cm. 'Kamara-Banda' is shown all around the belly. Padma (full lotus) is depicted below the Kamara banda. It is interesting to note that in anthropomorphic figure of Nāgadevatā there should be padmapīṭha or a seat of lotus. Here in place of padma-seat only lotus is shown. Nāgadevatā has two hands, left hand is completely broken and right hand is intact. One book is shown in hand. There is also a book in the hand of Nāgadevatā in figure of nāga found at Sonk (Mathura).

---

11. *Epigraphia Indica*, Vol. XXVIII, pp. 70-76.

Plate 1



Gaja Lakṣmī from Goa.
(9th–10th C. A.D.)

Plate II



Nāgadevatā from Goa.
(4th to 6th C. A.D.)

Book in the hand of Nāgadevatā as shown in this figure is also seen in few sculptures of Balarāma. On this basis this sculpture may be said of Balarāma. This figure has one face with mutilated eye, nose and mouth. Curly hairs of typical Gupta style hanging upto the shoulders is shown in this figure. Nāgadevatā is wearing bracelet, necklace and mukuṭa. Three horizontal lines are shown on the both corners of mukuṭa. Snake-hoods are shown on the back of the head. All three hoods of snake are there, but one is partly intact and the remaining two are broken. "Curly hair hanging up to the shoulders, less decoration, lips full of grace and soft subtle contour on face "which are generally found in the sculpture of Gupta period art are also found in this sculpture."[12] This sculpture can be placed upto Gupta period (4th c. A.D. to 6th c. A.D.). Contemporary to Gupta dynasty of north India, Bōja dynasty was ruling most probably from Chandrapura, modern Chandor in Goa.[13] Devarajah a king of Bōja dynasty had patronized Nāga worship in Goa.[14] It is mentioned in shiroda copper plate found in Goa, that there was one Prabhu Naga Bhogi-Kamatya in the court of King Devarajah and Bhikṣhu gave gift for salvation of the King.[15]

Antiquity of Anthropomorphic type of Nāga figure goes back upto Indus valley civilization (2300 B. C. to 1700 B.C.). Anthropomorphic figure of Nāga is depicted on faience sealing reported from Indus Valley sites.

---

12. Shiva Ramamurti, *Indian Sculpture* (New Delhi 1961), p. 20.

13. G. A. Pereira, *An Outline of Pre-portuguese History of Goa* (Vascodegama Goa, 1973), p. 14.

14. *Epigraphia Indica*, Vol. XXIV, p. 143.

15. *Ibid.*

After a gap of about 1500 years we are again getting this figure on the railing of Bharhut stūpa (2nd c. B.C.). Terracotta of Snake type mother goddess (Mamsa) of 2nd c. B.C. is also reported from Koshambi.[16] Nāga figures of beginning of Christian era were also noticed at localities of Goa and other adjoining districts of Karnataka state. Therioanthropomorphic figure of Nāgarāja of Pallava period, displayed in national museum, is very similar with the present one. Another therioanthropomorphic type figure of Nāgadevatā kept in Madras museum is also similar with our Nāgadevatā.[17] (See Plate II).

III. *MĀRTAṆḌABHAIRAVA*

Mārtaṇḍa Bhairava, mixed form of Sūrya (Mārtaṇḍa) and Bhairava (Śiva), is shown in standing pose in this figure. God is shown standing on charriot driven by seven horses and mouths of seven horses are shown at the pedestal. Two wheels of chariot are shown on each corner of the pedestal. Two-armed mārtaṇḍa Bhairava has sword in his right hand and Kaṭāra (knife) in his left hand. Beard and mustaches are shown on his face. He is wearing earrings and decorated mukuṭa. Flowral designs are carved on both sides on the top corner of the sculptures. Mārtaṇḍa is wearing two necklaces and two mālās in the neck which are decorated by flowral design, hanging upto the belly of the main deity. Another mālā is hanging from the shoulder upto the knee of main deity. Decorated belt (Kamara Banda) is shown on the belly of main deity. Weapons like kaṭāra, dagger etc., are

---

16. S. C. Kala, *Terracotta from Kaushambi* (Allahabad, 1971)

17. G. N. Rao, *Elements of Hindu iconography*, Vol. II, Part see plates.
II (Varanasi, 1971), plate LVIII, p. 5!

Plate III



Mārtaṇḍa Bhairava from Goa.
(13th to 14th C. A.D.)

After a gap of about 1500 years we are again getting this figure on the railing of Bharhut stūpa (2nd c. B.C.). Terracotta of Snake type mother goddess (Mamsa) of 2nd c. B.C. is also reported from Koshambi.[16] Nāga figures of beginning of Christian era were also noticed at localities of Goa and other adjoining districts of Karnataka state. Therioanthropomorphic figure of Nāgarāja of Pallava period, displayed in national museum, is very similar with the present one. Another therioanthropomorphic type figure of Nāgadevatā kept in Madras museum is also similar with our Nāgadevatā.[17] (See Plate II).

III. *MĀRTAṆḌABHAIRAVA*

Mārtaṇḍa Bhairava, mixed form of Sūrya (Mārtaṇḍa) and Bhairava (Śiva), is shown in standing pose in this figure. God is shown standing on charriot driven by seven horses and mouths of seven horses are shown at the pedestal. Two wheels of chariot are shown on each corner of the pedestal. Two-armed mārtaṇḍa Bhairava has sword in his right hand and Kaṭāra (knife) in his left hand. Beard and mustaches are shown on his face. He is wearing earrings and decorated mukuṭa. Flowral designs are carved on both sides on the top corner of the sculptures. Mārtaṇḍa is wearing two necklaces and two mālās in the neck which are decorated by flowral design, hanging upto the belly of the main deity. Another mālā is hanging from the shoulder upto the knee of main deity. Decorated belt (Kamara Banda) is shown on the belly of main deity. Weapons like kaṭāra, dagger etc., are

---

16. S. C. Kala, *Terracotta from Kaushambi* (Allahabad, 1971) see plates.

17. G. N. Rao, *Elements of Hindu iconography*, Vol. II, Part II (Varanasi, 1971), plate LVIII, p. 5!

Plate III



Mārtaṇḍa Bhairava from Goa.
(13th to 14th C. A.D.)

also shown in the belt of the Mārtaṇḍa. Two small mālās are shown near the feet of Mārtaṇḍa. Deity is wearing nūpura and sandal in his feet.

Four attendants are shown on corners of sculpture. On the right side of lower corner the male figure with dressed horse is depicted. Male figure with horse is of Revant (son of Mārtaṇḍa). Revant with all his attendants is shown in dynamic pose. It looks from this sculpture that they are moving forward. On the left corner two male attendants are shown having umbrella and sword in their hands. This sculpture is in two pieces and was acquired in the Museum in year 1976 from village Parusgaon, Ponda sub-division of Goa. Material of this sculpture is chlorite-Biolite schist rock and its measurement is 82×45×13.5 cm. Sculpture is in fresh condition. This sculpture represents the typical Hoyasala composition found in the Karnataka and Goa region. Lavish decoration in the above sculpture is the characteristic feature of the art of Hoyasala-period. On the stylistic basis this image may be dated in Hoyasala period between 13th to 14th century A.D. (See Plate III).

PŪRVA MĪMĀṂSĀ AND THE DOCTRINE OF KARMA

Y. KRISHAN

New Delhi

The *apūrva* of *Pūrvamīmāṃsā* is a unique positive, unseen force which after being matured at an unknown period, causes the performer of the Vedic *Yajñas* to get the desired result. Thus *apūrva* is superior to god to whom a sacrifice is offered. Śabara introduced and skilfully used the term *apūrva* as a concept which proved itself as a saviour of Vedic *karmakāṇḍa* within the framework of the concept of *karma*.

Other names of Pūrva Mīmāṃsā are Karma Mīmāṃsā or Yajña Vidyā. The term *karma* in the school of Mīmāṃsā is used in a technical sense, *Yajña Karma*, doctrine concerning the importance of the performance of the *Vedic yajñas* or sacrifices. It deals with the correct interpretation and performance of the *Vedic yajñas* as contained in the *mantras of* the *Saṃhitā* and the *Brāhmaṇas*. This distinguishes it from Uttara Mīmāṃsā which deals with the philosophy of the *Vedas* as is contained in the *upaniṣads*.

The Pūrva Mīmāṃsā exhibits certain paradoxical features. First and foremost, it swears by the absolute authority of the *Vedas* as the ultimate source of spiritual knowledge. The Mīmāṃsakas consider the *Veda* as self sufficient[1] and *apauruṣeya*,[2] not the work of a human being,

---

1. Ganganatha Jha : *Pūrva-Mīmāṃsā in its Sources*, Varanasi, 1964 (ed.). p. 39.

2. Jha : *ibid.*, p. 111 : *Śābara Bhāṣya* (ed.) G. Jha : Baroda, Vol. I, 1963, 1.8.29.

self-revealed and therefore authoritative, infallible and eternal.[3] It is not the work of an author[4] and therefore it is free from error. It, therefore, follows that the observance of the injunctions for performance of sacrifices and of the prohibitions prescribed in the *Vedas* is mandatory for following the *dharma*, which produce happiness and avoid commission of sin leading to suffering.

The goal of Mīmāṃsakas is attainment of happiness. They emphasise the ideal of *puruṣārtha*,[5] that is, what subserves the purposes of man, or on the accomplishment of which man's happiness comes about.

Puruṣārtha[6] includes all the principal sacrifices like the *Darśapūrṇamāsa* as these lead to results desired by the agent and also acquisition of wealth inasmuch as it brings happiness in itself by providing sustenance to the body without which sacrifices cannot be performed.

Since the *Veda* is self-sufficient, eternal and infallible, the Mīmāṃsakas do not accept the concept of a Creator or God. The atheistic or non-theistic attitude of Pūrva Mīmāṃsakas is quite contrary to the concept of a Creator or the creative principle as embodied in the tenth *maṇḍala* of the *Ṛgveda*: *Viśvakarman* (*Rv*.x.81-82), *Puruṣa* (*Rv*.x.90), *Hiraṇyagarbha* (*Rv*.x.121) ; and in the *Brāhmaṇas* : Prajāpati (*Taittirīya Brāhmaṇa* 11,3.8.1-3, *Śatapatha Brāhmaṇa* VI.1.2.11, VII.5.2.6, X.1.3.1, *Aitareya Brāhmaṇa* 11, 33) ; *Puruṣa* (*Śatapatha Brāhmaṇa* XIV.4.2.1ff, Brahmā

3. Jha : *ibid.*, p. 44 and 156 : *Śābara Bhāṣya* 1.6.18.

4. Jha : *ibid.*, p. 157-158.

5. Jha : *ibid.*, p. 258-262 : *Śābara Bhāṣya* 4.1.2.

6. Jha : *ibid.*, p. 260-261 ; *Śābara Bhāṣya* 4.1.2B, pp. 711-713.

(*Gopatha Brāhmaṇa* I.1.1-2). As Macdonell[7] put it : creation is "the manifestation or evolution from some original material".

Again, according to the *Puruṣa sūkta* of the *Ṛgveda* x.90, the *ṛk* and *sāma* hymns, the *mantras* of the *Yajurveda*, were born from the *Puruṣa*. According to *Gopatha Brāhmaṇa* I.1.6 and the *Aitareya Brāhmaṇa* V.32, the *Ṛgveda* originated from Agni, the *Yajurveda* from Vāyu and the *Sāma Veda* from *Āditya*. In other words, according to the *Saṃhitās* and *Brāhmaṇas*, the *mantras* of the *Saṃhitās* were not self created and eternal as maintained by the Mīmāṃsakas.

Again, the cosmology of the Pūrva Mīmāṃsā is materially different from that of the *Vedas*. The *Rv.* believes in the existence of a *svarga* (heaven), which is reached by *devayāna*, path of the gods, and *yamaloka* reached by *pitṛyāna*, the path of the fathers. *Svarga* and *Yamaloka* are separate regions, besides *pṛthvī* or earth—*bhūloka*. *Śabara*,[8] however, emphatically maintains that *svarga* is neither a pleasure giving substance nor a region free from heat, cold, hunger, thirst, sorrow and unhappiness. He maintains that the word *Svarga*[9] denotes happiness.

---

7. A. A. Macdonell : *A History of Sanskrit Literature*, Delhi Indian Edition 1971, p. 112.

8. *Śābara Bhāṣya* (ed.) by G. Jha, Baroda, Vol. II, 1934, pp. 965-67.

9. Vidyāraṇya in his *Vivaraṇa Prameya Saṃgraha*, Chapter XLV commenting on the injunction "He who is desirous of the heavenly world should offer the Jyotiṣṭoma sacrifice" says "They tell us, on the strength of valid means of knowledge, that heaven and hell are to be found nowhere but here on earth : Heaven is whatever delights the mind, hell whatever is of a contrary nature—and according to this view—the results of Jyotiṣṭoma may be realis-

It should be noted that Śabara is fully aware that in common usage, in stories and especially in the *Veda*, *svarga* is treated as a region in the cosmos. He rejects the *Vedic* meaning of *svarga* as a region on the ground that the *Vedic* passages describing *svarga* are not of a mandatory character.

The theology of Pūrva Mīmāṃsā is also substantially different from that of the *Vedas*. The Mīmāṃsakas[10] hold that the deity to whom a sacrifice is offered is a subordinate factor : the objective of the sacrifice (*apūrva*) is the principal factor. In fact it asserts that the fruit of the sacrifice arises from the act of sacrifice and not from the deity. Further the deity is a hypothetical entity posited for the sake of the sacrifice : the deity is neither pleased nor displeased, nor can it award rewards and punishments. But in the *Ṛv.* prayers are offered to Varuṇa, Indra, Agni, Āditya, etc. for warding off evil and for obtaining material prosperity. Thus the gods in the Pūrva Mīmāṃsā play a subordinate, and symbolic role as compared to the active, positive role of granting boons to the devotees and chastising the wrong doers in the *Vedas*.

These radical departures in the doctrines of the Pūrva Mīmāṃsā from that of the *Veda*, in which it proclaims its profound abiding and blind faith, can only be explained as flowing from the acceptance of the doctrine of *Karma* and *Punarjanma* (rebirth).

The doctrines of *Karma* and rebirth postulated in the *upaniṣads* and in Buddhism and Jainism explain the pheno-

---

ed on earth ;. . . ." Text translated by Thibaut and G. Jha in *Indian Thought*, Vol. II, Allahabad, 1910, pp. 180-181.

10. G. Jha : *Pūrva Mīmāṃsā in its Sources* : *ibid.*, pp. 296-317.

mena of human inequality, suffering and happiness. They render the concepts of a Creator or God and of *svarga* (heaven) and *naraka* (hell) as unnecessary and illogical. As Kumārila Bhaṭṭa[11] observes in verse 72 of Sec. 11 of *Saṃbandhākṣepaparihāra* of the *Ślokavārttika—Īśvarecchā Yadīṣyeta Saiva syāllokakāraṇam Īśvarecchā Vaśitve hi niṣphalā Karmakalpanā* "If the whole wordly process were dependent upon the will of the Creator, then indeed the will or whim of the Supreme Lord controls the World and the concept of *Karma* becomes imaginary." Again, in verse 75 of the *Ślokavārttika* he reiterates "If all that the theist is keen about is the theory that there must be some cause, some agency, that controls the world, process, then we are all agreed that the necessary controlling agency is provided by the *karma* of living beings". Again in *Ślokavārttika* 84, Kumārila attributes evolution to *karma*: "The impurities in the shape of suffering and pain have been regarded as the effect of *dharma-adharma*; and these would not be there in the case of the Supreme self, who is self-sufficient, and pure; so that He would not be the source of any evolution that can proceed only from Ignorance and Illusion."

Again Śabara accepts the doctrine of rebirth of which the essential constituents are belief in a soul (*ātman*) and transmigration. Even though the *Jaimini sūtras* are silent about the existence or non-existence of a soul, Śabara in his *Bhāṣya*[12] 1.1.5 establishes the existence of an everlasting

---

11. Cited by G. Jha: *ibid.*, p. 43; Durgadhar Jha (ed. & tr.) *Mīmāṃsā Ślokavārttika*, Darbhanga, 1979.

12. G. Jha, *ibid.*, pp. 26-31. Also Jha: *Pūrva Mīmāṃsā in its Sources*, pp. 26-28.

self or person. In fact Śaṅkara[13] in his comments seems to suggest that the concept of a soul was essentially alien to Jaimini and Śabara had to admit it.

Śabara also accepts the belief in rebirth. The *pūrvapakṣa* of his *Bhāṣya*[14] 4.3.27 narrates the dialogue between Kaikaya and Dālbhya "Kaikaya, being desirous of performing a sacrifice, said to Dālbhya—"Please help me to perform this sacrifice which is calculated to bring me a kingdom";—Dālbhya replied—"Do not, my boy, think that the sacrifice brings kingdom in this life, in fact, sacrifices are performed for results to come in one's next life." It is added "Here it is clearly shown that the results of sacrifices appear in another life." While the following *sūtra* 28 asserts that "the accomplishment of the obtaining of results (of sacrifices) must take place during this life", the *Bhāṣya* is not so positive. It merely says that it cannot be said that "the said result (of sacrifice) does not come about during this life". Again, the *pūrvapakṣa* argument that the results of sacrifices appear in another life is not met at all. In other words, Śabara virtually concedes the *pūrvapakṣa* argument that the

---

13. Śaṅkara in his *Śārīrakabhāṣya* on *sūtra* 3.3.53 "....it is true that it has been so established (the existence of the soul as Enjoyer of the results of acts) by the author of *Bhāṣya* (Śabara) but nothing has been said on this point by the author of the *sūtra*; while in the *Vedānta sūtras* under explanation (3.3.53 *et seq*), the author of the *sūtra* itself has dealt with it directly and it is clear that what *Śābara svāmī* has declared in Adhyāya I of his *bhāṣya*, he has derived from the present *Vedānta sūtra* itself....." Śaṅkara adds that for the same reason Upavarṣa, found it necessary to prove the existence of the soul under the *Śārīraka* (*Vedānta*) *sūtra*. G. Jha, *ibid.*, p. 5.

14. G. Jha (tr.), Vol. II, p. 817.

results of sacrifices appear in another life thereby admitting *punarjanma* or rebirth.

Belief in *karma* and rebirth among the Mīmāṃsakas is confirmed by the later scholars of Pūrva Mīmāṃsā. From *Prakaraṇapañcikā* (p. 156) we learn that Prabhākara, *inter alia*, believed that "It is on account of Merit and Demerit accruing to the soul that it is born in the physical body; consequently when all Merit and Demerit have disappeared, there remains nothing that could lead the soul to be born again in a body...." Again it is the influence of *dharma* (merit) and *adharma* (de-merit) that makes a soul embodied in a thing. Similarly Kumārila Bhaṭṭa in his *Tantravārttika* (p. 518-522) states that the connection of one soul with one body at a time is determined by the past *karma* of the soul which is always equipped with a body that is capable of bringing about the experiences resulting from that past *karma* of the Personality. In his *Ślokavārttika* (*Sambandhākṣepaparihāraḥ* 109) Kumārila says: *Karmajanyopabhogārtham śarīram*: the body is born of *Karmas* for the purpose of experiencing them.

The acceptance of the doctrine of *karma*, in due course, led to the introduction of the doctrine of *mokṣa* or liberation in Pūrva Mīmāṃsā. This concept is originally absent from the *sūtras* of Jaimini and the *Bhāṣya* of Śabara. In fact, it appears that the concept of *mokṣa* was alien to Jaimini and Śabara whose concept of *dharma* is that act which is conducive to the highest good indicated by the *Veda*: *Svargakāmo yajet*: *Śābara Bhāṣya* 1.1.2 and 2.1.1; their ideal is *puruṣārtha*: *sūtra* 4.1.1 viz. attainment of pleasure through performance of *yajñas*.[15] According to Prabhā-

15. See *Śābara Bhāṣya* 4.1.1, Jha (tr.), pp. 170-71.

kara[16] and Kumārila,[17] *mokṣa* can be attained only when all merit and de-merit have been exhausted through experience and there remains no *kārmika* residue which can lead to rebirth.

Pūrva Mīmāṃsā is distinguished by the doctrine of *apūrva*. *Apūrva* is unseen force or potency which brings the fruits of action to the *kartā* or agent : the performance of sacrifices creates a positive potency or force, by virtue of which heaven is attained and this latter force is called *apūrva*.[18] It is in the nature of a transcendental effect which manifests itself, not immediately but after the elapse of time, in another life and arising from the performance of the prescribed *yajñas*.

The word *apūrva* means unprecedented, new, unparalleled, incomparable, extraordinary, unique, also 'not first' preceded by.[19]

It is in its usual meaning, that is, extraordinary, new, unique, without precedence, unknown before, that the word *apūrva* is generally used in the *Jaimini sūtras*,[20] only in the

---

16. G. Jha, *ibid.*, p. 31.

17. G. Jha, *ibid.*, pp. 32-33. In verse 109 of *Sambandhākṣepaparihāraḥ* of *Ślokavārttika*, Kumārila says *Karmajanyopabhogārtham Śarīram na pravartate.*

18. G. Jha (tr.), *Śābara Bhāṣya*, p. 180.

19. Bādarāyaṇa in *Vedānta sūtra* 3.3.19 uses the word *apūrvam* as something similar to the *pūrva* or former ; in *Vedānta sūtra* 3.4.21 it means 'something new'. S. C. Vasu (tr.), *Vedānta sūtra*, Delhi 1979 reprint.

20. See *Jaimini sūtras* (i) 1.4.2 ; (ii) 3.4.3 ; (iii) 3.8.31 ; (iv) 5.1.29 ; (v) 5.3.12 ; (vi) 6.5.5 ; (vii) 6.8.1 ; (viii) 7.1.16 ; (ix) 8.1.5 ; (x) 10.1.43 ; (xi) 10.5.12 ; (xii) 10.7.33 ; (xiii) 12.2.34.

sūtras[21] 9.1.14 and 10.3.4 that it has been interpreted as 'transcendental result' or invisible 'effect'. But the word in *sūtra* 10.3.4 has also been interpreted as archetype or original.

Secondly Śabara is not consistent in the use of the term *apūrva*.

In *Bhāṣya* 2.25 he identifies *Codanā* as *apūrva* : *Codaneti apūrva brūmaḥ* : the word *Codanā* (in the *sūtra*) we explain as *apūrva*. He reiterates immediately thereafter: *apūrva punarasti* : it (*Codanā*) is *apūrva*. This identification between *Codanā* and *apūrva* is at variance with the use of the word *apūrva* at other places in the text.

(i) In the Introductory remarks to Chapter II of his *bhāṣya*, Śabara identifies *codanā* with *kriyā* (action) (verb) : *codanā ca kriyāyā abhidhāyakam vākyam* : injunction is the sentence that is indicative of action.

(ii) Again Śabara says that *apūrva* is produced by the word indicating *dharma*, duty : *pratipadam dharmaḥ.... yadā ekasmādapūrvam* : each word denotes the *dharma* and produces *apūrva*.

(iii) Again, according to Śabara's *bhāṣya* on 2.1.1. the word *Karma śabda*, which indicates the fruit, brings about *apūrva* : *Yasya ca śabdasyārthena phalam sādhyate 'tenāpūrvam kṛtvā. Nānyatheti. Tato apūrvam gamyate. Ato yastasya vācakaḥ śabdastato apūrvam pratīyata iti. Tena bhāvaśabdā apūrvasya codakā iti brūmaḥ. Na tu kaścit sabdaḥ sākṣāt apūrvasya vācako asti....Tasmād bhāvārthāḥ karmaśabdā apūrvam codayantīti.*

---

21. Jha (tr.) *Śābara Bhāṣya* and Sandal (tr.) *Jaimini sūtras.*

"That word from whose meaning we obtain the fruit, with that word (*karmaśabda*, verb), he should obtain *apūrva*. For this reason *apūrva* is known from the words which are indicative (of *karma, yajñakarma*). Those *bhāva śabdas* are indicative of *apūrva*. There is no word as such which is directly indicative of *apūrva*.... *Karmaśabdas* having *bhāvārthas*, i. e. embodying intention, indicate *apūrva*."

(iv) In the *bhāṣya* on 2.1.1 the word *apūrva* is used only with derivates of *codanā* : *apūrvasya codakā, apūrvam codayanti*. This indicates that the words *apūrva* and *codanā* are different.

In fact by attributing special meaning to the word *codanā* and *apūrva*, Śabara violates his own rule in *sūtras* 1.1.5, 23, 24, 29 that the relation of the word with its meaning is inherent and eternal.

(v) Śabara in his *bhāṣya* on 2.1.1, already quoted above, admits that no word as such, directly indicates *apūrva*.

Thirdly it deserves to be noted that the *Prakaraṇapañcikā* (p. 185 *et seq*) : (a) states that there is no *vedic* text pointing to *apūrva* or *niyoga*, (b) establishes the doctrine of *apūrva* in a very round about way.[22]

---

22. "The second aphorism of *Adhyāya* I has shown that what the injunctive sentence denotes is *Kārya*, something to be brought about. (2) In the beginning of *Adhyāya* VI, it has been shown that, of this *kārya* denoted by the sentence, the *Niyojya*–i. e. the person prompted to its bringing about–is one who is desirous of acquiring for himself some desirable result in the shape of Heaven and the like,–this being related to *Kārya*. (3) In the *Bādaryādhikaraṇa* (III.1.3) it has been proved that it is the *kārya* that is the

Fourthly, Śabara seeks to establish the doctrine of *apūrva* by identifying *codanā* in 2.1.5. *Codanā punārarambha,* as *apūrva. Prima facie,* it is an artificial interpretation. In fact the *sūtra* can appropriately be interpreted as : *Codanā* (*vedic* injunction) is the source of *dhārmika* or religious action. (Since *Codanā* is indicative of or prescribes the *dharma* or duty vide *sūtra* 1.1.2).

Again the term *codanā* and its derivates and compounds occurring in other *sūtras* carry the usual meaning : injunction, command, direction, something ordained, commandatory text.

By giving the word *apūrva* the meaning, an unseen force or potency which brings the fruits of action to the *kartā* or agent, Śabara made *apūrva* a species of *karma.* In the case of *karma* also the time of fruition and the nature of fruit or consequences of acts cannot be foreseen and determined ; in fact, all *karmas* are in the nature of a potency or force which mature in a manner and at a time which is unknown ; it is also not possible to identify or link the specific good and evil ; men suffer to their specific previous deeds. It is thus difficult to distinguish between *karma* and *apūrva* except

---

direct cause of the production of that desirable result which is desired by (and as such, qualifies) the prompted person. (4) In the *Devatādhikaraṇa* (IX.I.9) the *Bhāṣya* has shown that this *kārya* cannot be the act (of sacrificing, for instance) ; as this act cannot possibly be the direct cause of the final result ; nor could it be held to lead to the result through the favour of the deity to whom the sacrifice is offered ; nor can it be regarded as leading to the result through a certain potency in the agent ; and it is well-known that either the act itself, or any potency abiding in itself, does not last long enough to bring about the result. (5) In the *Apūrvādhikaraṇa* (II.1.5), we have the final conclusions led up to by all the above *adhikaraṇas.*" G. Jha : (tr.) *Śābara Bhāṣya ;* Baroda, 1933, pp. 177-78.

that the latter are *yajña karma* only, that is, the transcendental effect is likely to be realised in future from the performance of prescribed rites. Further *yajña karmas* are indifferent to the moral quality of the acts; for instance, some sacrifices like Rājasūya involves participation in gambling, Aśvamedha involves killing of animals and drinking of liquor.

It is relevant to take note of Śaṅkara's understanding of the term *apūrva* in his *bhāṣya*[23] on the *Vedānta sūtra* 3.2.40. Śaṅkara avers that a deed "gives birth to some unseen result and this is called *apūrva*": he defines it as "an imperceptible after effect of the deed or an imperceptible antecedent state of the result". Again, according to Śaṅkara, *apūrva* springs from deed "whether meritorious or non-meritorious". But in the *Śābara-bhāṣya apūrva* is restricted to *yajñakarma*.

Rāmānuja in para 82 of his *Śrībhāṣya*[24] states that *karma* which is destroyed immediately is different from *karma* called *apūrva* which is a sure means of attaining heaven. In other words, *apūrva* is an aspect of *karma*. *Rāmānuja*[25] has also observed that there is no authority in the *śāstras*, the *Vedas* and the *Smṛtis* (*nityanaimittakaśāstram*) that *apūrva* is the means to achieve heaven.

Vijñāneśvara in his commentary *Mītākṣarā*[26] on *Yājña-*

---

23. G. Thibaut (tr.) *Vedānta sūtras* with *Śaṅkarabhāṣya S.B.E.*, Vol. XLII, pp. 108-09.

24. R. D. Karmarkar (ed. & tr.) *Śrībhāṣya of Rāmānuja*, Poona, 1959, Vol. I; Thibaut (tr.) *Vedānta sūtra* with *Śrībhāṣya S.B.E.*, Vol. XLVIII, p. 153.

25. Thibaut: *ibid.*, p. 155 and Karmarkar, *ibid.*, para 83.

26. S. N. Naraharyya (ed. & tr.) *Yājñavalkya Smṛti. The Sacred Laws of the Āryas*, Vol. III, Allahabad 1913, p. 344; 172.

valkya Smṛti III ccxvi uses the term *apūrva* as the future effect of *karma*.

Thus for all practical purposes the difference between *karma* and *apūrva* is that between tweedledum and tweedledee.

It would thus appear that the term *apūrva* was arbitrarily introduced and artificially interpreted as a concept by Śabara. He was aware that the word *karma* also carried the same significance but he was driven to commit this *tour de force*, because for him, the word *karma* is *yajña karma* par excellence and not a moral act bearing fruit in due course. The doctrine of *Karma* had assailed the position of *Vedic* gods, attacked the utility of *Vedic* sacrificial practices and questioned the validity of *Vedic* cosmology. The Pūrva Mīmāṃsā, within the framework of this doctrine, sought to salvage the *Vedic* sacrificial cult (*Karmakāṇḍa*) by projecting the concept of *apūrva*, unseen extraordinary potency generated through the performance of *Yajña Karmas* and which mature after an elapse of time.

A NOTE ON THE CORRUPT READINGS OF THE SAÑJĪVANĪ ON THE KUMĀRASAṂBHAVA

Srinarayana Misra

Varanasi

A few amendments regarding the corrupt readings of the 'Sañjīvanī' of Mallinātha on *Kumārasaṃbhava* of Kālidāsa, have been presented here.

Little is required to be said regarding the importance of the *Kumārasaṃbhava* of Kālidāsa and the Sañjīvanī Commentary by Mallinātha. The Comm. has been edited many times by learned Scholars but a lot of nonsensical readings still persist in it. None of the editors has been so careful as to get it published in the properly revised form. Among its editors, most corrupt is the one published by the Gujarati Press of Bombay. Late Prof. M. R. Kale had certainly improved upon the text of the Comm. but not up to the mark. His efforts to cut short some of the quotations and to leave other ones untouched are additionally deplorable. This paper is, therefore, a humble effort for suggesting a few amendments with a view to getting the text of the Commentary properly revised.

1. The Comm. on 1.37 reads :—

शोभत इति शोभि । आवश्यके णिनिः । ततस्त्वप्रत्ययः or ततस्त्यप्रत्ययः ।

Here the sentence ततस्त्वप्रत्ययः or ततस्त्यप्रत्ययः is totally misfit. So it should either be removed or the printed lines be read in the following changed order :—

शोभत इति शोभि । ततस्त्वावश्यके णिनिः प्रत्ययः ।

2. The printed reading of the Comm. on 3.34 is as follows :—

केचिदकालाद्देहाध्यात्मादित्वाद् भवार्थे ठगित्याहुः ।

This has to be read as :—

केचिदकालादेवाध्यात्मादित्वाद् भवार्थे ठञित्याहुः ।

For the proper form of the suffix here see the following Vārttika on *Aṣṭādhyāyī* 4.3.60 :—

'अध्यात्मादिभ्यष्ठञिष्यते ।'

3. The Comm. on 3.68 quotes *Aṣṭādhyāyī* 5.3.67. This is printed in the Gujarati Press edition as :—

"ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरौ"

Kale's edition quotes only the first half as :—

"ईषदसमाप्तौ—"

The correct form of the Pāṇinian rule is :—

"ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः"

So the printed reading of the Comm. be amended accordingly.

4. While justifying the dative singular case-ending after the word रति used in the forth quarter of the Verse 4.7 the Comm. reads :—

रतये.....। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी ।

This reminds us of the Vārttika— "क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्" on *Aṣṭādhyāyī* 2.3.13. But when the root दा is expressly used here there is no sense in quoting the Vārttika neglecting the original Pāṇinian rule "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्", *Aṣṭādhyāyī* 1.4.32.

I have differences with the Commentator even in a few other cases of his grammatical observations. But as the

scope of paper is limited this remark is passed just by the way.

5. The second half of the Verse 4.17 is printed as follows :—

सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥

Here the Commentator first argues that the use of क्त्वाल्यप् in the gerund संस्मृत्य is not grammatically correct. because both the acts, *to remember* and *to be* (अस्ति), do not have the same and identical subject which is a must for the application of the Pāṇinian rule " "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले", *Aṣṭādhyāyī* 3.4.21. But he observes next that it may be justified according to some who take into consideration *"the act of being pacified'* inherent in the meaning of the verbal noun शान्ति as the subsequent act of the same subject. The Commentator advances the same argument in his Ghaṇṭāpātha on the *Kirātārjunīya* 3.21 in the following words—

अत्र जनिक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वाभावेऽपि पक्षपातक्रियापेक्षया तत्सम्भवा न्निरीक्ष्येति ल्यब्निर्देशः समर्थनीयः । 'प्रधानोपसर्जनभावस्त्वप्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः ।

But the printed reading अत्र समानकर्तृकत्वं दुर्घटम्, समानक्रिया पेक्षयाऽ (पेक्षाऽ) स्तीति केचित्

miserably fails to communicate the idea. So it is to be amended in the following form :—

अत्रसमानकर्तृकत्वं दुर्घटम्, शमनक्रियापेक्षया वास्ती ति केचित् ।

6. In the Commentary on 4.24 a Vārttika on *Aṣṭādhyāyī* 3.2.38 is quoted and the quotation mark is put in such a way that even the word खच्प्रकरणे appears to be the constituent part of the Vārttika which is actually not. Hence the quotation mark be properly corrected. Cf. the Comm. on 8.41.

7. The Comm. on 4.30 reads :—

"' सोढुमशक्यदुःखप्रकर्षेण''''

This should be corrected as :—

····सोढुमशक्येन दुःखप्रकर्षेण···

8. The second half of the Verse 4.33 is printed as follows :—

प्र मदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

Here विचेतनैः is certainly one of the correct variants. But a perusal of the Comm. undoubtedly proves that the Commentator opts for the variant अविचेतनैः . Otherwise there is no justification for quoting some examples to show the negative particle नञ as having *'a little'* as one of its meanings. Since the printed reading fails to satisfy the need, it is to be corrected in the following changed order :—

····इति एतदविचेतनैः अल्पचेतनैः·········'असवणा यवागूः'·····इतिवदल्पत्वाभि-
प्रायेणाविचेतनैरिति निर्देशः ।

9. In the Comm. on 5.52 an extract from the Kṣīra-svāmin's Comm. on the *Amarakośa* 2.7.42 is quoted as—

'वर्णः प्रशस्तिः', But the present edition of his Comm. dose contain it.

10. In the Comm. on 5.60 a quotation from the *Vaija-yantīkośa* is printed as :—

'प्ररोहस्त्वङ्कुरोङ्कुरः' इति वैजयन्ती, (Gujarati Press edition).

This is wrongly printed, because there is no sense in repeating the same word अंङ्कुर. Kale's edition cuts it short and reads 'प्ररोहस्त्वङ्कुरः इति···· only. But it is to be noted that the printed text of the Kośa has altogether a different reading as follows :—

····अङ्कुरोङ्कूरमस्त्रियौ । प्ररोहश्चाथ····॥ 3-3-10.

11. The Comm. on 6.9 quotes from the *Sābarabhāṣya* in support of the correctness of even ablative case-ending in

association with the word अनन्तर. The quotation is printed in the following form :—

अयमदःशब्दो यथाशब्दावृत्तादनन्तरस्येति ···

This is not the correct form of the quotation. The original statement runs like this :—

अयमतः शब्दो वृत्तादनन्तरस्य·····॥ 1.1.1.

Thus, the Comm. be amended as :—

यथा–'अयमतः शब्दो वृत्ताद·····'

Similarly, it quotes under the name of Ācāryas the following half Verse :—

'अथातो धर्मजिज्ञासा वेदाध्यायादनन्तरम्' ।

This is, in fact, from the *Ślokavārttika* 1.87 which reads as :—

प्रवृत्ता धर्मजिज्ञासा वेदाध्यायादनन्तरा ॥

So the Comm. be amended accordingly.

12. In the Comm. on 4.46 the Kṣīrasvāmin's Commentary on the *Amarakośa* 2.3.3 is quoted in the following form :—

अत एव क्षीरस्वामिना—'·····गन्धेन मादयतीति गन्धमादन' इति व्याख्याय 'प्रयोगे·····'

This quotation in its correct form is as follows :—

··· गन्धेन मादयतीति गन्धमादनम् । प्रयोगे च·····

13. In the Comm. on 6.47 the printed reading स्वर्गादतिरमणीयमिति····· be amended as :—

स्वर्गादपि रमणीयतरमिति·····।

14. In the Comm. on 6.70 the derivation of the word परमेष्ठिन् is shown as— परमे कित्प्रत्ययः or परमे प्रत्ययः Mallinātha actually quotes the Uṇādisūtra 4.10 which is "परमे कित्" So the printed reading be corrected as :—

"परमे कित्" इतीनिप्रत्ययः ।

15. A quotation from the Kṣīrasvāmin's Commentary on the *Amarakośa* 2.6.112 is printed in the Comm. on 7.11 as—

'युगम् प्रायशो यल्लक्ष्यं तदेव....।'

The printed text of the concerned Commentary reads like this—

युगमविवक्षितम् । यल्लक्ष्यम्.... ।

Even this reading does not appear perfect. But it is equally unjust to hold even the printed reading of the Sañjīvanī as perfect. It is possible to suppose that Mallinātha had before him the word प्रायशः in place of the printed reading of the Kṣīrasvāmin's Commentary as अविवक्षितम्. but the word तदेव of the Sañjīvanī can in no way be treated as correct. It is, therefore, presumed that the original reading in both, the Kṣīrasvāmin's Commentary and the Sañjīvanī might be as—

युगम् अविवक्षितम् or प्रायिकम । यल्लक्ष्यं तन्नैवम्—

16. The sentence पचादिषु पाठाद् द्विकर्मकत्वम् printed in the Comm. on 7.14 be better changed into दुहादिषु पाठाद्....

17. In the Comm. on 7.18 the word अनिवच्यिाम् be corrected as अनिर्वण्यमि् because its technical use in the sense of मिथ्या may mislead the reader.

18. In the Comm. on 7.41 the argument advanced against the view of Dakṣiṇāvartanātha is wrongly printed as—

किञ्चास्य शास्त्रोक्त....

This has to be amended as—

किञ्चास्य शास्त्रस्योक्त....

18. The reading printed in the Comm. on 7.68 as—

....इत्यनेन द्रव्यप्रकर्षे तस्य विधानादिति be corrected as—

....इत्यनेनाऽद्रव्यप्रकर्षे तस्य विधानादिति ।

19. The following line of the Comm. on 8.5 as—

स हि भयपरिप्लुते चेतसि दृष्टतरोप्युपदेशः संसारमाधत्त....

is printed blunderingly, because it does not make any sense. It must, therefore, be amended as—

न हि भयपरिप्लुते चेतसि दृढतरो व्युपदेशः संस्कारमाधत्त...

20. The following two compound words occurring in the Comm. on 8.15 as—

प्रेमपदाभिलब्याङ्कुरावस्था and अनुरागपदाभिलब्यां or अनुरागपदाभिलापं be amended respectively as—

प्रेमपदाभिलप्याङ्कुरावस्था and अनुरागपदाभिलापं

21. The first quarter of the Verse No. 8.38 is printed as—

आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगै.

Here आविशद्भिः is, of course, a meaningful variant. But Mallinātha opts for another variant आवसद्भिः. It is borne out by the quotation 'उपान्वध्याङ्वसः'(*Aṣṭādhyāyī* 1.4.48) which can in no way apply if आविशद्भिः be taken as the original reading acceptable to Mallinātha. So the original Verse and the Comm. be amended accordingly.

22. The Comm. on the same Verse reads अल्पार्थे कप्रत्ययः which according to the *Aṣṭādhyāyī* 5.3.85 be corrected as—

अल्पार्थे कन्प्रत्ययः ।

Apart from the above-mentioned blunders, the Comm. has so many printing-mistakes which the readers may themselves get corrected. The lacuna will, however, be taken up in a separate paper.

RANK AND REFLECTIVITY

A SPECULATIVE ENQUIRY INTO THE ETHNO-ONTOLOGY OF RANK

DOUGLAS E. GOODFRIEND

Chicago

In the following stimulating article the author analyses the special nature of the Indian concept of rank and hierarchy and holds the view that in this concept a lower ranking object or individual may, at the same time, be regarded as equal to or even identical with the higher ranking objects. This remarkable flexibility in the ranks and a movable hierarchy are special phenomena of Indian thought reflected in their religion and social structure.

In various idioms in the *śruti* and *smṛti* of the Hindu great tradition a curious logic is to be found. It is a logic so alien to Western thought modalities as to be almost incomprehensible. It is constantly misinterpreted, ignored as nonsensical, or rationalized away. It is a logical pattern in which some thing or category ranks higher than and yet constitutes everything below it. The lower levels are considered to have their own unique ontological and phenomenological status and are considered to be equal to or partly identical with the higher levels even as they stand in a ranked relationship to the higher levels. This pattern of thought is to be found in situations as diverse as the rank and nature of levels of creation and levels of divinities to Manu's scale of crimes and punishments. It is a logical modality of thought which appears to be so pervasive in the literature that to reveal and analyse its structure might go a long way in helping us to understand South Asian cul-

tural systems at many levels. This paper will be an exploratory attempt to document this logic in various sources and to begin to analyse its logical structure.

Fathers, Sons, and Creation

There is a passage in the *Manu-smṛti* which states :

> "The husband, after conception by his wife, becomes an embryo and is born again of her ; for that is the wifehood of a wife (jāyā), that he is born (jāyate) again by her."
>
> "As the male is to whom a wife cleaves, even so is the son whom she brings forth ; let him, therefore, carefully guard his wife, in order to keep his offspring pure."
>
> (*Manu-smṛti* IX, 8-9)

The gloss "becomes" might also be translated "turns into", "is transformed into", or "changes its state to" an embryo.[1] Similar statements may be found in many of the smṛti texts.[2] Two passages particularly support the Manu statement :

> "Now the Veda declares also one's offspring to be immortality (in this verse) : 'In thy offspring thou art born again, that mortal, is thy immortality'."
>
> (*Āpastamba* II, 9, 24.1)

---

1. I am grateful to Ronald Inden for going over several passages in Sanskrit that I was having trouble translating. Also thanks are due McKim Marriott for useful comments.

2. Cf. also *Āpastamba* II, 9, 24 and *Gṛhya-sūtra of Hiraṇyakeśin* I, 6, 20.2. (Vol. II of SBE for *Āpastamba*, and Vol. XXX for the *Hiraṇyakeśin*). In *Yājñavalkya-smṛti* III.297 (quoted in Kane, *History of Dharmaśāstra*, Vol. IV, p. 105), it is suggested that if a wife has sexual intercourse with a lower caste man, it causes abortion and kills the husband !!

In the *Baudhāyana* Dharmaśāstra one of the crimes causing loss of the caste is:

> "Begetting a son on a female of the Śūdra caste, And becoming thereby her son."
>
> (*Baudhāyana* II, 1. 2.7-8)

The suggested relationship between the father and his offspring (usually assumed to be a son) appears to be one of identity, yet there are innumerable other passages in smṛti which make clear the independent status of the offspring[3] and the ranked relationship between father and child on the axis of authority-subordination. Nevertheless, the ontological status/existence of the father seems dual-part of his being as reflected in his son. The son himself is not a total being until he himself has a son, nor a daughter her full self until she is married. The culturological sense of being seems to have a level in which it exists in more than one corporeal body. What we call 'being' exists between (at least) two people, as well as within them (in the ātman sense of being). Even individual existence would seem to be a multi-levelled affair wherein the Western conception of the individual is but one aspect.

It may be argued that the father-offspring notion is merely meant to be a metaphor. Yet metaphors may serve as an access to indigenous logics. We cannot know or presume apriori that the correspondences suggested in the texts are meant to be illustrative in the same manner as we use metaphor in this culture. An underlying logical relationship of an alien order may animate the indigenous statements. The father-offspring relation seems to be central

---

3. *Āpastamba* II, 9, 24.9-11, for example.

in the cultural logic and is often used to describe other relations.[4] Since this relation seems to be a cultural focus, we cannot presume apriori what such a suggested identity between father and offspring connotes. We can search for statements of a similar logical pattern and hope to uncover their meaning.

In the *Manu-smṛti* itself there are several similar statements. In describing the creation of the world Manu writes :

> "But from minute body (-framing) particles of these seven very powerful Puruṣas springs this (world), the perishable from the imperishable."
>
> "Among them each succeeding (element) acquires the quality of the preceding one, and whatever place (in the sequence) each of them occupies, even so many qualities it is declared to possess.[5]"
>
> (*Manu-smṛti* I, 19–20)

---

4. Cf. *Vasiṣṭha* II, 1-5 ; XVII, 1-15 ; XXIX, 2, for example.

5. This translation is somewhat suspect but I believe that the basic idea is still there. While discussing the text, I might mention that discrepancies and even contradictions in the text could of course be explained by the alleged diverse origins of the compilations. Nevertheless, the text presents itself as a whole system and certainly was so to its compiler. Therefore, it is legitimate to look for the logic within the text itself without recourse to pseudo-historical rationalization of contradictions. Texts are frequently quite clear and explicit about conflicting statements when they appear as such to the writer or compiler. When this is not made explicit it could be that what appears to us as contradictory was not in fact to the author and may suggest a way of thinking to which we are unaccustomed. This paper is predicated on the supposition that it is certainly worth a try at understanding unusual statements rather than dismissing them.

Manu goes on later in the creation section to describe how mind "by modifying itself" produces ether, which "by modifying itself" produces wind and so on to create the basic components of existence (*Manu-smṛti* I, 75-78). "Modifying itself" is a gloss for the Sanskrit verb with the root *vikṛ*, which may also be translated 'to be transformed' or 'to change into'. Thus the order of creation is described in terms of elements transforming themselves to produce differentially valued and ontologically distinct creations. Whether each of the basic components springs from *manas*, or, as the earlier passage suggests, they 'evolve' the one out of the other, the passages still seem to suggest that a higher level entity or quality creates and constitutes lower entities or qualities as their total reality. Yet these lower levels are ontologically distinct and differentially valued. If this were a simple case of like absorbing like it would not merit great attention. But we have here diverse levels of reality and diverse elements in a hierarchy of creation in which they are equal to, or even identical with the highest levels of the hierarchy. Hierarchy would seem to induce equality between differentially-ranked categories.

The creation of the world seems to parallel the creation of offspring in a fundamental way: the genitor category appears in and constitutes the generated category, and thus the latter, although in some ways differentially valued, is mostly or even fundamentally the same as the former.

Collapsible Divinity

This same logic may be seen in both the folk and textual levels of the indigenous understanding of divinity. In her monograph on *Shakti*, Susan Wadley describes the hierarchy of deities according to folk conceptions in Karimpur

in which there is a kind of control hierarchy complete with intermediaries and power-transfers :

> One manner by which ordered relationships are created among various deities is through mythologically supported "intermediaries", that is, deities who are considered to be related to but lesser than a superior and often more remote divine being. In this sense, all embodied deities are intermediaries for Brahman....As intermediaries between bhagvan or devi, etc., and man are elaborated, the roles that a given lower intermediary can fulfill become limited. (unless of course, some individual considers that deity to be an isthadevatā). (1975 : 134)

> (a) "genealogy" is created for powerful beings of all sorts based on the kinds of powers with which they are blessed by belief. This genealogy relates them to the appropriate higher-level deity who has wider control of these powers....The manners in which their powers are delegated and the corresponding "genealogical" links vary because of their defined characteristics —that is, Shiva often has offspring whereas Vishnu has avatars. Nevertheless, a series of hierarchical relationships are used to justify the lesser's powers: these include father-son (or daughter), guru-chela ("disciple"), avatar, etc."[6]
>
> (1975 : 136)

---

6. One might call this the mokṣa-factor, a sort of escape hatch quality to the system wherein a structure always allows or even requires a category embedded within it that transcends itself. Anyone or anything can become the highest category given certain circumstances. They can catapult out of the hierarchical order

The hierarchy of deities, related by these cultural mechanisms, is said to be an upward-expanding, inclusive ranked order (1975 : 142). The lesser deities are often said to be 'part of' or 'aspects of' the higher deity (s). Yet, they are often also conceived of as 'more potent' in their specified power than the higher deity (1975 : 138). They are then both lesser and higher, both separate and the same.

The offspring symbolism is again prominent with an attendant collapsibility of hierarchical categories. In this particular case, rank collapsibility, which I shall refer to as the principle of rank reflectivity, is apparent in two manifestations : (1) the *iṣṭa devatā* status possible for any deity, and (2) the whole and/or partial identity between higher and lesser categories of deities as between them and their intermediaries and *avatāras*. The notion of hierarchy becomes rather problematical at this point, as does the Western social scientific opposition of hierarchy to equality.[7] It would seem that both organizing principles are active but as yet the nature of their articulation and the contextual coordinates which bring to prominence the one or the other are unclear.

Crimes and Punishments

Perhaps one of the more interesting places in which this strange logic of equalities within hierarchies appears is

---

and into its highest position or beyond. It is a structural position wherein structure goes beyond itself. In some cases this makes the highest position both within and beyond it, defining the system, and necessary for the system to work.

7. Kali Bahl has suggested to me that this logic is to be found in the very structure and usage of Hindi. He also stated that the notion of hierarchy has a very different meaning to an Indian.

in Manu's discussion of sins and their penances.[8] He first sets out four categories of mortal sins (*mahāpātaka*) and then proceeds to list certain other offences which are said to be "equal to" each of the paradigmatic models for each category (XI, 55-59). "Equal to" is a gloss here for *sama*; which may also be translated "are equivalent to", or "the same as". Following these 4 sub-categories of *mahāpātakas* Manu proceeds to lay out in hierarchical order five other major categories of offences of diminishing significance, viz. *upapātaka*, *jātibhraṃśa*, *saṃkarikaraṇa*, *apātra*, and *malāvaha*. Each of these categories contains a list of various and sundry offences (XI, 60-71). The interesting thing is that when Manu comes to discuss the penances for each of the major categories of equal offences, the punishments vary both within a single category and across the major categories. The penance for stealing gold, a subcategory of mahāpātaka, is the same as that for killing a Brāhmaṇa, also a sub-category of mahāpātaka, but one with its own equivalent sins and its own set of punishments (cf. XI, 55, 56, 58, and 102). Stealing gold is not said to be an equivalent sub-category of mahāpātaka to killing a Brāhmaṇa in the listing of equivalent subcategories of sins, but its penance is said to be the same. Likewise, the same penance as is prescribed for killing a Brāhmaṇa is also prescribed (1) for giving false witness, a *mahāpātaka* sin said to be equivalent to the surā-drinking subcategory of mahāpātaka, and not equivalent to the Brāhmaṇa-killing sub-category; (2) for stealing a deposit or killing a friend, also said to be equivalents to the surā-drinking subcategory; and (3) for abus-

8. I am grateful to Ralph Nicholas for pointing out the existence of this logic in this context. The analysis is my own.

ing one's teacher, which in contradistinction to the above. is an offence said to be equal to killing a Brāhmaṇa in that subcategory of *mahāpātaka* (cf. XI. 55.58, 89). These discrepancies may be explained by the fact that all of these sins are of the general mahāpātaka category. Shifts in penances between sub-categories is not nearly as hard to understand as other examples which reveal that such discrepancies also cross the major category lines. These shifts suggest that the intra-category variability is but a micro-example of a logic governing the whole structure of offences and penances. When we turn to category-crossing, there are many good examples. Killing a wife, which may be considered the same as killing women (a upapātaka) is said to require the penance for killing a Brāhmaṇa (cf. XI.67, 89). A *varṇa* axis of differentiation may be implicit here, but as such differentiations are explicit in other passages this need not be presumed. The drinking of liquor by Brāhmaṇas, a mahāpātaka, is punishable for loss of caste by a penance for a *upapātaka* (cf. XI. 55, 95, 98, 91-93, and 147). Commentators attempt to reconcile the passages by various ploys. The translator brings in an axis of intentionality-unintentionality as an implicit differentiating factor. However, this axis is explicit in many of the surrounding passages; there is not reason to suppose that it was forgotten or presumed in this case. There would seem to be some other factor operative here which was obvious to Manu but not to his commentators, translators, or interpreters. P. V. Kane states that the digests suggest that these discrepancies and variabilities represent options (Kane, IV, p. 30) but he himself confesses that "it is often difficult to reconcile all the dicto" (IV, p. 87). Kane himself points to the sins equivalent to adultery with the Guru's wife and their disparate penances but this disparity was not apparent in the

text of Manu itself, excluding the commentaries. If we include them then the disparity is again obvious.

In sum, the equivalence of offences to penances is in some cases equal and in some cases it is not. Different penances for different but equal offences within one major category or a single subcategory may not require explanation. After all, the punishments may also be considered equal and the punishments may be made to fit the crimes. But the same penance for different categories or subcategories of offences seems illogical. It appears that in some cases a collapsibility of the rank ordering of categories of offences occurs such as to make unequal crimes equal in punishment while the hierarchical order of the crimes retains their ranked value. The contextual coordinates which provide this collapsible aspect are not clear from the textual passages. Like Wadley's hierarchy of dieties, different and often lesser categories seem to partake of qualities of higher categories and yet remain in a ranked relationship to them. As well, higher categories participate in of lesser ones: fathers become sons, mahāpātakas become upapātakas. This collapsibility is perhaps better called "reflectivity" because even as rank collapses, it remains. I refer to this process as the principle of rank reflectivity. It denotes this curious relationship between categories in a hierarchical order wherein in certain contexts, the characteristics, ontological and/or phenomenological status of higher categories may be reflected in the lesser categories of the culturally-constituted hierarchy (and vice-versa) such that a relation of equality or even identity obtains between the units considered to be hierarchical otherwise. The culturological contextual coordinates which make operational this reflective aspect of hierarchies are unclear although the

various mechanisms are obvious: avatāras, generator-generated, *iṣṭa-devatās,* kinship terminology, and so on all often contribute to releasing equalitarian aspects of hierarchies. This unusual logic is not simply found expressed in topical discussions within ancient texts. Ethnographies often reveal the tensions and transformations of equalities and hierarchies between people as expressed in their behaviour and thought.[9] This essay, however, will only focus on the operation of this logic in texts. But the logic is also found in the *logical structure* of the texts *themselves* and in the very nature of those texts as expressed in the self-referential and self-legitimating statements found in them.

The Veda as a Ranked 'Entity'[10]

Words, their power, meaning, and relationship to reality have been a focus of discussion for virtually every system of philosophy to develop in India. Daniel Ingalls once pointed out that grammar was to Indian philosophy what mathematics is to Western philosophy. The philosophy of language was most central to the Grammarian tradition in India, in which Bhartṛhari was one of earliest grammarians to speculate on the metaphysical nature of words. In fact, however, the claim for the divine origin of language is to be found within the *Veda* itself. In looking at Bhartṛhari's understanding of the metaphysical foundation of language, which is intimately connected with his

---

9. See David F. Pocock's *Kanbi and Patidar* (Oxford: Clarendon Press, 1972), pages 153-6 for a perfect example in ethnographic evidence and analysis of the attempt to come to terms with what the problematic sets up as an opposition between equality and hierarchy.

10. Some of this analysis was done earlier in 1974-75.

interpetation of the ontological status of the *Veda,* I wish to point out how the ontology of *śruti* itself participates in reflective logic.

Bhartṛhari begins his *Vākyapadīya* with the following statement :

> "The Brahman who is without beginning or end, whose very essence is the Word, who is the cause of the manifested phonemes, who appears as the objects, from whom the creation of the world proceeds...."
>
> (Iyer, trans. : 1)

The vṛtti on the passage, also believed to have been written by Bhartṛhari, comments :

> "That supreme light appears first as the three Vedas.... This Brahman creates everything as having the nature of the word ; it is the source of the illumination power of the word. This universe emerges out of the word aspect of Brahman and merges, into it."
>
> (Iyer, trans. : 2-3)

In this very kārikā Bhartṛhari presents his interpretation of the fundamental metaphysical basis of language, the Vedas, and the world. He establishes that Brahman and śabda (word, sound) are of the same nature in his use of the word 'śabdatattva' to describe Brahman. 'Śabdatattva' may be translated as 'of the essential or true nature of sound', 'of the element of sound', or 'being the true nature of sound'.

Bhartṛhari is drawing on a tradition already present in the *Veda.* The divinity of Vāk, the Word, is presented several places in the *Veda.* V. S. Agrawala, in his study

of the Asya-Vāmīya Sūkta section of the *Veda,* translates one particularly striking example :

> "Speech has been measured out in four steps. The Brāhmaṇas endowed with mental powers know them. Three of them hidden in the cave do not move. The fourth part of Speech men speak."
>
> (1963 : 171)

> *"catvāri vāk parimitā padāni/*
> *tāni vidurbrāhmaṇā ye manīṣiṇaḥ//*
> *guhā trīṇi nihitā neṅgayanti/*
> *turīyam vāco manuṣyā vadanti//"*
>
> (*Ṛg Veda* 1.164.45)

Agrawala also refers extensively to other śruti references to *Vāk.*[11] He comments :

> In the *Ṛg Veda* the doctrine of Four-fold Vāk is clearly stated in 8.100, 10-11 where the higher Vāk is said to be the Queen of all Gods (*rāṣṭrī devānām,* same as Vaiśvadevī) and her principle feature is that although conceived as Speech she is beyond understanding by the human mind through the symbology of Word and Meaning (*Vāg vadanty avicetanāni, RV* 8.100.10). This transcendent Vāk was the Mother of the Gods like Aditi is the Mother of Dakṣa, but for the sake of manifestation all the Devas joined to create, manifest Vāk, the Goddess existing in all creatures (*devīṃ*

11. For other references to Vāk, see *Ṛg Veda* 10.114.8 ; X.125.5 ; X.71.3 ; I.84 ; VIII.100.10-11 ; VIII.75.6. ; *Aitareya Brāhmaṇa* 2.38 ; 4.21.1 ; 10.1 ; *Śatapatha Brāhmaṇa* V.1.5.6 ; XIII.4.1.15 ; III.5.1.34 ; X.5.1.5 ; IV.5.8.4 ; *Taittirīya-Brāhmaṇa* III.39.1 ; II.6.4 ; VI.4.7 ; II.2.4.2 ; II.8.8.4. and especially *Ṛg Veda* I.164.45.

vācam ajanayanta devās tām viśvarūpāḥ paśavo vadanti, 8.100.10).

(1963 : 174)

It is in this tradition that Bhartṛhari seems to continue his investigation into the metaphysical nature of words and Veda. Thus far we may postulate that (1) Śabda and Vāk are essentially the same concept, both terms being used by Bhartṛhari and seen as essential to the nature of Brahman, and (2) Vāk as manifest is only part of her totality.

Vāk and Veda, Veda and Brahman. As Jan Gonda pointed out, for Bhartṛhari :

> (I)t is through name and thought that 'creation in time' takes place. Naming and thinking being virtually an identical process this manifestation is identical with the revelation of the Veda, which is considered the body of the eternal name and thought in eternal relation to the universals.
>
> (1963 : 339)

The manifestation of the *Veda* is thus the manifestation of the world. Gonda must base his statement on Bhartṛhari's statement that ·

> "All the different sciences which impart knowledge and bring culture to man proceed from the major and minor limbs of that Veda, the creator and organiser of the worlds."
>
> (Iyer, trans. : 15) (*Vākyapadīya,* I.10)

We must recall at this point that in the opening lines of his *Vākyapadīya* Bhartṛhari assigned this very same creative function to the word aspect of Brahman. I wish to

suggest that in fact Vāk and *Veda* are of the same essence—they both represent the creative power of Brahman. According to Prabhatchandra Chakravarti in his *Linguistic Speculations of the Hindus*, Manu claimed that the Vedas are the embodiment of Vāk (1933 : 21). This is probably a reference to Manu I, 21 and XII, 94, 97-99. If we accept that Vāk and the *Veda* are of the same essence, even the same, then it is but a short step to see that that essence is the essence of Brahman. There can be no doubt that for Bhartṛhari Vāk, or Śabda is the Veda and the Veda is Brahman :

> "A means of attainment and a symbol of that One is the Veda, which though one, has been handed down as though in many recensions by the sages."
>
> (Iyer, trans. : 7, *Vākyapadīya* I.5)

> "By the word symbol (*anukāra*) the idea contained in the following saying (purākalpa) is meant : 'The Ṛṣis, the seers of the mantras, those who have realised the truth (dharma) see that subtle, inaudible Word and, wishing to communicate it to those who have not realised the truth, teach the symbol of it which is like a dream....The object called Veda, as seen by the Ṛṣis in their vision, is One. As the One cannot be communicated through the many, the Ṛṣis first transferred it to the Word to which diversity is attributed because of the diversity of the manifesting agents (i. e. the dhvanis). The Word, then, without giving up its unity, assumes different forms such as Saṃhitā, Pada, Krama etc."
>
> (Iyer, trans. : 7-8, *vṛtti*, *Vākyapadīya* I.5)

The translator, Subramania Iyer notes :

> ...the Veda is not only the means of attaining Brahman, but is also the anukara, the Image of it. Really speaking, the Veda is the Brahman itself.
>
> (1969 : 95)

Gonda also feels that the *Veda* is the "Self-revelation of śabda Brahman" (1963 : 339). Vāk, and the *Veda,* as the creative aspect of Brahman, are śakti and as such do not manifest themselves in pure state. They require a medium or form and that medium is different from and yet the same as the pure śakti. At this point in the analysis it should thus far be established that (1) Vāk, *Veda,* and Brahman are one, and (2) the earthly manifestation of this tri-aspectual divinity, although only part of the totality of the divinity, is ultimately one and the same with it.

It should be clear at this point that the *Veda* in its 'pure' state, manifest only to the Ṛṣis, is completely non-representational. The question then becomes : what is the difference between the *Veda* which the Ṛṣis 'see' and the *Vedas* which any scholar who can read Sanskrit is able to read. The answer to this question is found via two routes :

(1) Bhartṛhari distinguishes between the words people speak and the Words of the *Veda* :

> "...the word is of two kinds : it is eternal or it is a product. The product is that which is found in worldly usage and it bears the reflection of the Self which is essentially the word. The eternal one is the source of all usage, it has all sequence suppressed, it resides within everybody, the source of all transformations, the substratum of all actions, the basis of pleasure and

> pain, unimpeded anywhere in regard to the production of effects...."
>
> (Iyer, trans. : 117-118, *Vākyapadīya* I.130)

(2) Bhartṛhari uses the words *'svapnavṛttam iva'* in describing the *Veda*. Iyer comments :

> "Just as one's experience in a dream is a kind of reflection of our experience in the wakeful state, in the same way, the Vedas are a kind of reflection of what the Ṛṣis saw in their vision."
>
> (1965 : 9n)

The notion of reflection thus appears in two different contexts in Bhartṛhari's exposition on the *Veda* and Vāk. This notion of reflection is the key to understanding how Bhartṛhari understands the *Veda*. It may well be a general cultural understanding in Hindu society. Anthony Wilden, addressing a rather different topic, states about reflection :

> ...the notion of reflection has the curious result of implicitly denying that there is any relationship between what reflects and what is reflected....The reflection of the object is neither the object nor a statement about the object.
>
> (1972 : 93-94)

In applying this insight to Bhartṛhari's interpetation of the *Veda*, it would appear that the *Veda is* just such a reflective relationship between levels of itself. The nature of the relationship between the non-representational (noumenal) *Veda* and its reflection (phenomenal *Vedas*) is nonrelational. Although there is a differential evaluation between the *Veda* which the Ṛṣis 'see' and the *Veda* that is known to mere mortals, those levels ultimately collapse in

the reflective relationship, the totality of which is the *Veda*. Nevertheless, a distinction remains between a noumenal *Veda* and a known *Veda*. Again, a hierarchy of sorts which is pervaded with a sense of equality and identity between its levels. As fathers are reproduced in sons and yet remain in ranked distinction, so too the noumenal *Veda* appears in words, worlds, and its phenomenal form, and yet remains above and beyond. As great deities live in the heavens and yet appear on earth as avatāras and intermediaries, so too the *Veda* resides in Brahma but appears in the hands of the local Brahman (and even creates his world, his body, and his language).

I have dwelt on this replication of reflective logic within a cultural understanding of *śruti* as self-defined and as defined by an eminent grammarian in order to point to another instance of it in rather a different context and at another level of analysis : that of the ontology of texts themselves. The previous analysis in textual materials was at the level of intra-textual expression of this logic. We want to suggest now that this notion of rank reflectivity is a very ancient and pervasive logical modality of Hindu thought.

The Principle of Rank Redundancy

There is an aspect of the notion of rank reflectivity which one might call the complementary principle of rank redundancy. This culturological principle involves the notion that when two things are of the same character or quality, their articulation is such that it is a non-transaction transaction. This is not simple incorporation, merger, fusion, or coalesence because the two things aren't said to combine. Because they are of the same character to begin

with, the transaction is neutral, a neutral transposition of categories or qualities. The juxtaposition of passages from two different texts, the *Manu-smṛti* and the medieval medical text, the *Mādhavanidāna,* should enlighten this discussion.

In discussing purification Manu writes:

> "A Brāhmaṇa is purified by water that reaches his heart, a Kṣatriya by water reaching his throat, a Vaiśya by water taken into his mouth, (and) a Śūdra by water touched with the extremity (of his lips)."
>
> (*Manu-smṛti* II, 62)[12]

The same degrees of intensity in purification are found among the ashramas. After a discussion of the method of purification after defecation and such, Manu writes:

> "Such is the purification ordained for householders; (it shall be) double for students, treble for hermits, but quadruple for ascetics."
>
> (*Manu-smṛti* V, 137)

The order between householders and students is cause for some confusion, but the general implication seems to be that it is harder to purify ascetics than those in lesser ranked āśramas. The general principle seems to be that the more purified the varṇa or āśrama is considered to be inherently, the more purificatory action or consideration is required to create and maintain that state in persons.

The negative corollary to these formulations is that the less purified a varṇa or āśrama that one is the less consideration it takes to return one to or to maintain

---

12. This is the same as *Vasiṣṭha Dharmaśāstra* III, 31-34, *Sacred Books of the East*, Vol. XIV, page 21.

one's purified state. A rank order of levels of inherent purity seems to be operative here in which purity is not a context-free category. Śūdra purity does not equal Brahman purity. The differential ranking of purity inheres in the varṇas and āśramas. Neither purity nor pollution is an abstract conception or entity.

What is really rather interesting in this is that the Śūdra is so impure to begin with that just a touch of water purifies him, while the Brāhmaṇa is so pure to begin with that he requires much more. It seems curious that the purest varṇa should require the most ablutions. One could just as easily imagine that a Brāhmaṇa would be so pure that only a little ablution would make him pure again. Pollution could be seen just as a small smudge on a pure white Brahmanical being. But higher purity as an innate quality seems to involve greater susceptibility to its opposite.[13] (And it may be matched to a lesser susceptibility or ability to increasing one's purity—i. e. it may be easier for a śūdra to gain merit than a Brāhmaṇa). In contrast, the inherently polluted śūdra is less susceptible to pollution because he already is polluted. Thus the opposition's distance between purity and pollution is less for him than for a Brāhmaṇa. The only point to make here is that persons

---

13. There seem to be no degrees of purity or pollution. One is either pure or polluted in one's person. Of course, there are relative degrees of purity and pollution in the varṇas, but a single person cannot be partially or sectionally polluted as far as I can determine from the texts

What is also curious is that in some circumstances a Brāhmaṇa requires *less* time to become pure. cf. *Manu-smṛti* V, 83.

in a particular state or quality are highly susceptible to conditions of the opposite quality and may not be very susceptible or as susceptible to conditions which are characterized by being constituted of the same quality as themselves.

Turning now to the medieval medical text the *Mādhavanidāna*, we find the same pattern. In a discussion of curing people with different constitutions it is stated:

> "Morbific entities are of two kinds according to (their distinction into those which agree with) the constitution and (those which) deviate (from it): it is troublesome to cure a wind disease in a person whose constitution is dominated by wind, but its cure is easy in persons with a constitution dominated by phlegm or bile. As Caraka says in (his description of) the characteristics of easy curability: 'In case the (constituent) subject to corruption will not possess qualities comparable (to those of the morbific entity) and in case the morbific entity (dominating the disease) will not be (the same as the predominant one in) the constitution'." (Meulenbeld, trans. : 38)
> (*Madhukośa* commentary on *Mādhavanidāna* 1, 5a-c)

Thus if the ground of the disease is of the same quality as the constitution of the person then the disease is difficult to appease. The reason why this should be so is not explicitly stated but an examination of the means to cure disease does give us a clue. Throughout the *Mādhavanidāna* and its commentaries it is suggested that the remedial agents for any disease should be of the opposite quality of the morbific entity or entities which cause the disease (cf. Meulenbeld, trans. : 42-43, 52-53, 55, 61, 139-140, 143). This is of course also found in the *Caraka Saṃhitā* (cf.

Sūtra Sthāna I, 59-63, XII. 5-6) where one passage summarizes it succinctly:

> "The intelligent physicians allay the disorders born of heat by cold measures; and for those disorders that are born of cold, hot measures constitute the right treatment."
>
> (*Vimāna Sthāna* III.41)

Meulenbeld's elaborate notes give thorough references to both the *Caraka* and *Suśruta Saṃhitā*'s extensive discussions of curing with foods of opposite qualities (cf. Meulenbeld : 80-83).

From these passages we gather that people with a disease induced by particular morbific entities are hard to cure with remedial agents of the same quality or element as the morbific entity, and further, that if the constitution of the person is dominated by the same qualitative element as the quality of the morbific entity causing the disease, then the cure is very difficult, and the normal cures would be ineffective.

There is in fact an inverse relationship being posited here. If one thing is of one particular qualitative character then its connection with that quality in another form may only increase the quality in the former or it may be totally ineffectual, that is nothing may happen at all. The opposite quality is required for interaction to occur. This inversion appears to be the result of poor effectivity of like elements due to their neutral transposition when articulated. Equality or identity would seem to be considered redundant. Like the pure Brāhmaṇa, highly susceptible to pollution, the wind person, for example, with bile-induced disease is highly susceptible to treatment involving items

of qualitative character opposed to bile. But if the wind-constituted person has a disease characterized by the same quality, i. e. wind, he is less-susceptible to *any* treatment. Again, the point is that persons in a particular state of quality are highly susceptible to conditions or agents of the opposite quality and they may not be very susceptible or as susceptible to conditions which are characterized by being constituted of the same quality as themselves.

There are many other examples of this logic within the text of the *Mādhavanidāna*. For example, the morbific entities which induce disease are said to have their natural seasons vis-a-vis each disease. Except for fever, due to a "special faculty of the illness", whenever morbific entities are "excited in accordance with the season" and are said to thus be in a "natural state", they are curable only "with difficulty on account of the fact that they are based on a natural condition" (cf. *Mādhavanidāna* 2, 55 with Madhukośa's commentary; Meulenbeld: 135-136). Elsewhere in discussing the treatment of "immature" disease, the *Mādhavanidāna* notes that if the disease is immature, a maturing agent is necessary to develop the disease before an "appeasing" agent which is contrary to the ground of the disease can be given (cf. *Mādhavanidāna* 2, 61-65 with Madhukośa's commentary; Meulenbeld: 140-144). In both examples the same logic of neutral transposition of like elements and effectivity of opposite elements is apparent. This neutral transposition of like elements, which we have called redundancy seems to be an aspect of reflective logic. Because two elements are of the same quality, they are in an avatāra-like reflective relationship. They blend without significance, as if they had never been separate. Their articulation is like placing identical photo-negatives in a

row and shining a light through them. The picture displayed on the wall at the end is single although the images which projected it are multiple. Similarly with a series of avatāras of divinity, a series of levels of the *Veda,* an articulation of redundant qualities : all reveal that reflective character in which separate, often hierarchically-arranged things collapse or transpose themselves into one another. In a cultural universe in which the avatāra and father-son concepts seem to be central organizing frames for the construction of reality, in all domains and not simply the 'religious', it does not seem unreasonable to suppose that these concepts could organize material as diverse as the symptomatology and etiology of diseases, the ontology of 'scripture', the Manu laws of crime and punishment, and other domains.

Concluding Remarks

The principle of rank reflectivity may not be reduced, as some have done, to a logic of encompassing-encompassed. That logic might be diagrammed as the following possibilities :

But the relationship between two categories in rank reflectivity involves a lesser category that is wholly constituted by the greater and higher category, yet has a separate existence and, most significantly, may be considered as equal to or identical with the higher category under certain as yet undetermined circumstances.[14] There is then a fundamental equality posited within hierarchies through rank collapsibility or reflectivity. This equality or identity between differentially-ranked levels of hierarchy has been documented in the ontological status of the *Veda,* deities of a folk hierarchy, the relations of fathers and offspring, and

The Production of Illness
An Ethno-developmental Chart

Fig. #1 Page 195

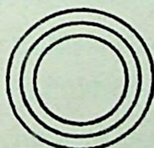
(Adventitious ground of production) — ORIGIN — (endogeneous ground of production of illness)

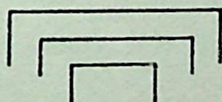
(near or distant)
(Predominant or subordinate)

Corruptible Constituent Elements ⟷ Morbific Entity : its alteration, excitement, corruption, or deviation (predominant or adjunctory) (agrees with constitution or deviates from constitution) (connected with mature or immature matter) ⟷ Prodomes : Ground of apprenension of illness, undeveloped signs. 1 generic . generated by coalescence of morbific entity & corruptible constituent element. But entity not yet known 2 specific . still undeveloped sign, but entity and locality known. Specific illness still not determined

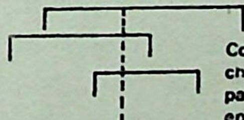
Symptoms : Well-developed manifestations, 'own form of disease', prodomes disappear

From : The Madhavanidana, chapter one



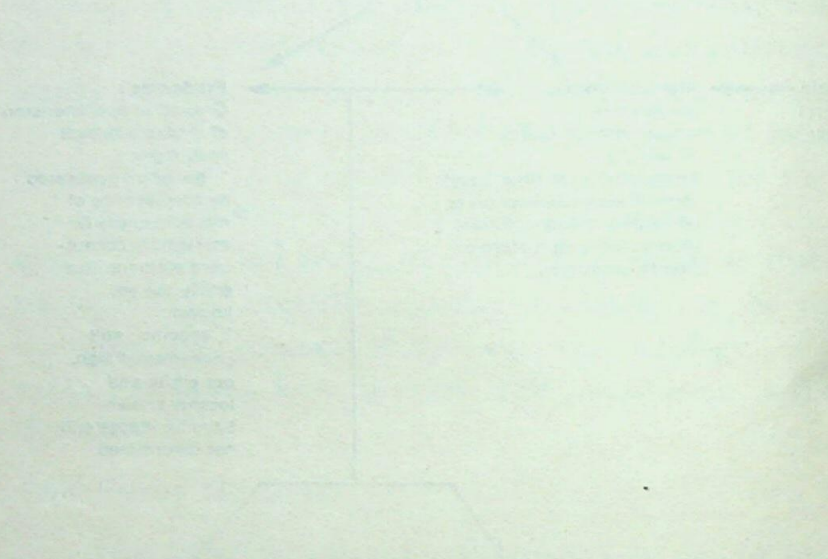


Total encompassments



Continuity of character by partial encompassment

Fig.,2 page 196



the relation of crime to punishment in *Manu-smṛti*. An aspect of this reflective logic seems to be redundancy between like elements in both ranked and unranked situations.

The kind of rank hierarchy that we see occurring is one of inclusion (A=B) but the strange latent character of this inclusion is that equivalence (A=B) is often posited as well. It is not a simple partial equivalence or intersection of shared qualities between ranked categories, it is identity yet difference, both on *one* axis of evaluation.

Unlike the Western opposition of equality to hierarchy, which participates in characteristic Western binary-opposition thought modalities, somehow, and we don't yet understand how, in these South Asian texts hierarchy and equality are thought to mutually induce, enforce, and require one another. That is to say, the principle of rank induces and is induced by a principle of equality. The closest thing in the English language would be the logic of the double bind.

Bibliography

Agrawala, V. S., *The Thousand Syllabled Speech: I. Vision in Long Darkness,* (Varanasi: V. S. Agrawala, 1963).

Bühler, George (translator), *The Laws of Manu,* (New York: Dover Publications, 1969).

Bühler, George (translator), *The Sacred Laws of the Aryas: Vasishtha and Baudhāyana.* (Oxford: Sacred Books of the East, Vol. XIV, Clarendon Press, 1882).

Bühler, George (translator), *The Sacred Laws of the Aryas: Apastamba and Gautama.* (Oxford : Sacred Books of the East, Vol. II, Clarendon Press, 1879).

Caraka, *Caraka Saṃhitā,* ed. Shree Gulabkunverba Ayurvedic Society, (Jamnagar : Shree Gulabkunverba Ayurvedic Society, 1949).

Chakravarti, Prabhatchandra, *The Philosophy of Sanskrit Grammar.* (Calcutta : University of Calcutta. 1930).

Chakravarti, Prabhatchandra, *The Linguistic Speculations of the Hindus.* (Calcutta : University of Calcutta, 1933).

Gonda, Jan, *The Vision of the Vedic Poets.* (The Hague : Mouton and Co., 1963).

Egnor, Margaret Trawick, *Principles of Continuity in Three Indian Sciences.* (Chicago : Master's Thesis, Dept. of Anthropology, University of Chicago, March, 1974).

Iyer, Subramania, *The Vākyapadīya of Bhartṛhari with the Vṛtti.* (Poona : Deccan College, 1965).

Iyer, Subramania, *Bhartṛhari : A Study of the Vākyapadīya in the Ancient Commentaries.* (Poona : Deccan College, 1969).

Jhā, Mahāmahopādhyāya Gaṅgānātha (editor), *Manu-Smṛti with the 'Manubhāṣya' of Medhātithi* (in Sanskrit). (Allahabad : The Indian Press, Ltd., 1932).

Jolly, Julius, *The Minor Law-Books : Nārada and Bṛhaspati.* (Oxford : Sacred Books of the East, Vol. XXXIII, Clarendon Press, 1889).

Jolly, Julius, *The Institutes of Viṣṇu.* (Oxford : Sacred Books of the East, Vol. VII, Clarendon Press, 1880).

Kane, Pandurang Vaman, *History of the Dharmaśastra,* Vol. IV, (Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute, 1953),

Meulenbeld, G. J. (translator), *The Mādhavanidāna and its chief commentary: Chapters 1–10.* (Leiden: E. J. Brill, 1974).

Oldenberg. Hermann (translator), *The Gṛhya-Sūtras.* (Oxford: Sacred Books of the East, Vols. XXIX and XXX, Clarendon Press, 1886 and 1892).

Pillai, K. Raghavan, *Studies in the Vākyapadīya,* Vol. I. (Delhi: Motilal Banarsidass, 1971).

Sastri, Gaurinath, *The Philosophy of Word and Meaning.* (Calcutta: Sanskrit College, 1959).

Suśruta, *Suśruta Saṃhitā,* ed. and trans. K. K. L. Bhishagratna, (Calcutta: Wilkins Press, 1907).

Wadley, Susan Snow, *Shakti: Power in the conceptual Structure of Karimpur Religion.* (Chicago: University of Chicago Studies in Anthropology, Series in Social, Cultural, and Linguistic Anthropology, No. 2, 1975).

Wilden, Anthony, *System and Structure: Essays in Communication and Exchange.* (London: Tavistock, 1972).

ART AND SOCIAL LIFE

(from earliest period to Kuṣāṇa times)

DR. SANDHYA MUKERJEE

Allahabad

The art is the fine expression of the synthesis of man's life and thought which in symbolic forms and motifs is often supposed to serve magically the purpose of gaining maximum fruitfulness in earth, vegetation, animal and man. The female figurines, as the symbol of procreative power have been the most popular feature throughout the early civilizations of the world. In India, the terracotta and stone female figurines, along with plant motifs mother and child motifs, and mother goddess in various aspects, play a vital role in ancient traditions of folk art.

Art of any people, says a noted social analyst of art, is determined by their psychology and that psychology is the outcome of their condition.[1] The statement is highly significant, as preferences shown by people for vegetal, animal, composite or human forms, indicate attitude or aptitude of persons at various stages of their mental and material progress. Thus synthesis of diverse elements like ideas of magic, totemistic customs, animistic equations of different natural spheres, ethnic and cultural factors,—all find visual expression in art in symbolic forms and motifs. Hence the "backward glacing animal becomes the characteristic theme of hunter's art".[2] Transition from hunting to agri-

---

1. Vide G. V. Plekhanov. *Art and Social Life*, p. 59.
2. Fry. Nicholas, *Treasures of World Art*, p. 13.

cultural economy is followed by a corresponding transition in the thematic contents of art. Plant motifs which are completely absent in early hunter's art now become significant in decorative repertoire.

In early stages of civilization when man is in complete accord with his environment, his art, forms, and motifs often play the role of symbolic magic for promoting factors of production. With the intuitive urge to gain maximum fertility from soil the primitive farmer ingratiates himself completely as a part of nature. Woman becomes a symbol of nature's procreative powers and fundamental images of such fertility symbols, with emphatic display of female attributes, are produced. These images are treated as magical means to procure beneficial rewards in productions. Belief in the potencies of such images make them highly popular among early farmers in a widely distributed area, from India across Persia to the Meditarranean and in the region around Crete, Cyprus, Egypt and other places. Both typical and expressionistic effigies of primitive fertility goddess continue to occupy a dominant place in early art expressions of ancient world for a considerable length of time.

In India, the mainstay of life being agriculture, fertility motifs and themes have taken deep roots in the plastic tradition of the country in varied lively forms. Terracotta female figurines, modelled expressionistically with exaggerated hips and symbolic features which are found in profusion in several ancient sites, thus play a vital role in early Indian folk traditions in art. These along with the representation of plant issuing woman, carved on an oblong Harappan sealing,[3] point to the popular appeal of the ferti-

3. J. Marshall, *Mohenjo-Daro and Indus Civilization*, Vol. I, pl. XII.12.

lity theme at a very early stage. Plant motifs are sometimes combined with effigies of tree-spirits of indeterminate sex.[4] Occasionally a pair of worshippers, carrying rooted plants or saplings, elucidate the theme further. Besides, recurrence of mother and child motif suggests the wide spread popularity of mother image of primordial female, who in her capacity as source of life and creation promotes fruitfulness in earth, corn, animal and man. Both in terracotta and stone the fundamental form that survives in Ancient Indian art, for several centuries, is the form of Mother Goddess in her myriad aspects as vegetation goddess,—*Śrī Lakṣmī*, *Gaja-Lakṣmī*, *Vasudhārā* etc. In *Gaja-Lakṣmī* aspect particularly, which appears as a favourite theme[5] in early Buddhist art of Bhārhut, Sāñchī, Bodhgayā and other places, she is depicted as a broad-hipped patroness of fertility[6] standing in padmavana (lotus-wood) and is being bathed by elephants.[7] Sometimes elephant motifs are represented on the crown of the goddess (G. R. Sharma, History to Pre-history—p. 49). Zimmer,[8] draws our atten-

---

4. B. Allachin. and R., *The Birsh of Indian Civilization*, p. 312, pl. 14, No. 5.

5. Foucher recognizes it as a nativity scene of Buddha, *The Monuments of Sāñchī*, J. Marshall and A. Foucher (with texts of the inscriptions edited, translated and annotated by N. G. Mazumdar), Vol. I, p. 183-5.

6. Henrich Zimmer, *Myths and Symbols in Indian Art and Civilization*, p. 92. (ed. by Joseph Campbell).

7. The motif appears as a visual replica of the description found in Śrī Sūkta (*Ṛg Veda Saṃhitā*, Vaidika Samsodhana Maṇḍala, Vol. IV, Khilāni Adhyāyaḥ 2, Khila 6, verse 26, Poona 1946).

8. Henrich Zimmer, *Myths and Symbols in Indian Art and Civilization*, p. 108 (ed. by Joseph Campbell).

tion to a yearly festival, described in *Hastyāyurveda,* devoted to rainfall, fertility of crops, fecundity of cattle and men in which white elephant, so constantly associated with the goddess of lotus, plays an important role. Obviously the entire imagery is a symbolical theme, aiming at the revitalization of forces of nature, vegetation, soil etc. which is subsequently absorbed as a popular motif in art.

Emergence of a busy sub-urban life, based on surplus of agricultural production and thriving on growing crafts, and industries, brings a gradual change in the social attitude. Pāli texts give us a detailed description of varied crafts and trades. *Jātakas* name as many as eighteen crafts and four of these crafts are specifically mentioned as well-organized into guilds.[9] Twenty-eight crafts are mentioned in the *Dīgha-Nikāya* and *Suttavibhaṅga Pācittiya,*[10] while distinguishing low crafts from that of low castes enumerates them separately. Localisation of industries has also been an essential feature of the new economic set-up and craft villages of wood-wrights,[11] iron-smiths[12] and potters[13] are mentioned. Corroborative accounts regarding flourishing state of crafts, industries and trade are also found in the works of Pāṇini and Kauṭilya. Pāṇini refers to *grāmaśilpins*[14] and *rājaśilpins*[15] or ordinary village artisans and

---

9. *Jāt*.I, 267, 314 ; III, 281 ; IV, 411 ; VI, 22.
10. *Sutt. Vibh. Pāci,* II.2, 1.
11. *Jāt*.II, 18, 405 ; IV, 159, 207.
12. *Ibid.,* III, 281.
13. *Ibid.,* III, 376 (408).
14. Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī,* VI, 2, 62.
15. *Ibid.,* VI, 2, 63.

Plate 1



Lakṣmī (Gaja) Standing in Padmavana
C. 2nd Cent. B.C.
Kauśāmbī
Courtesy—Anct. Hist. Deptt. A.U.

Plate 2



Picnic Party in Bullock Cart
Terracotta Plaque from Kauśāmbī
Courtesy—Allahabad Museum.

skilled professionals enjoying royal patronage.

Kauṭilya gives us a vivid picture of the prosperous condition prevailing during his time. *Śreṣṭhin* or rich merchant already figures as an important socialite in the Pre-Mauryan life. Kauṭilya's specialized discussions on pearls,[16] precious stones,[17] jewels and superfine qualities of silk and cotton fabrics[18] coming from different parts of the country, not only point to rising affluence but also indicate the cultivated tastes of urban gentry. Rise of the Mauryan bureaucracy, under the centralised authority of the emperor, further enhances the urban conditions. Against this urban background, with ever-increasing demands for luxury goods and art, the rigid social stratification between *hīna-jātiyo* and *hīna sippāni* (low castes and low crafts) gradually melts. Royal patronage extended to the artists and artisans by the Mauryan emperors brings a further elasticity in social stratification and consequently gives a natural stimulus to art activity in the country.

Though the zeal for religious imperialism of Aśoka restricts the free play of indigenous themes in Mauryan art, the same find full expression in 'early-classical phase' of Indian art. Prolific production of terracottas during Maurya and Śuṅga periods also suggest a boost in art activity. Rich variety of terracottas which come from Maurya and Śuṅga periods bear evidence to the rise of an affluent urban class who could spend lavishly on luxury and art. The supply is made through well-organized guilds of spe-

---

16. *Kauṭ. Artha.*, 2, 11, 1-5.

17. *Ibid.*, 2, 11, 28-42.

18. *Ibid.*, 2, 11, 106-115.

cialized professionals. Mauryan terracotta belles[19] particularly, with sensitive modelling, shapely attenuated forms and suave expressions, point to the maturity of aesthetic sensibility and cultivated taste. Thematic range of moulded terracotta plaques of Śuṅga period shows further increase in the demand for such art objects. Large-scale production of terracottas with wide thematic variety ranging from social, secular to ritual themes are found in abundance from different sites. Divergent subjects from gay merry-making scenes, joyride and picnic-parties in bullock carts[20] or romantic portrayal of the love episode of Udayana and Vāsavadattā,[21] are found along with traditional fertility and ritual themes. Ritual themes like the representations of vegetation goddesses, Mother goddesses, in her varied aspects like *Gaja-Lakṣmī*, *Vasudhārā*, *Śrī-Lakṣmī*, besides, *Nāginīs*, *Yakṣiṇīs* find favourable expression in Śuṅga terracotta art. A moulded plaque, representing a winged goddess, standing on a lotus pedestal and flanked on either side by lotus stalks, flowers and buds also shows an interesting

---

19. (a) Torso of a female figurine, terracotta, Golakhpur, Patna (Patna Museum), vide pl. XVII, fig. 73—"A survey of Indian Sculpture", S. K. Saraswati.

(b) A standing female figure from Patna (Patna Museum), vide pl. 41, fig. 10 Marg. (Terracotta number), Vol. XXII, Dec. 1969.

(c) A standing female figure from Bulandi Bagh (Patna Museum), vide pl. 41, fig. 11, Marg. (Terracotta Number), Vol. XXIII, Dec. 1969.

20. Terracotta plaque from Kośāmbī depicting picnic party in bullock cart (Allahabad Museum), vide Sandhya Mukerjee—'Some aspects of Social Life in Ancient India...', pl. X.

21. Vāsavadattā-Udayana "Terracotta plaque from Kośāmbī of 2nd cent. B.C. Allahabad Museum K/5008.

development of the old ritual theme. Coomaraswamy describes it as the representation of goddess *Siri*[22] and dates it to Maurya or slightly earlier period. But *Sarasvatī*[23] assigns it to Śuṅga period, as it is entirely moulded.

This sudden spurt in terracotta industry, with rich thematic contents, indicates not only growing popular fancy for art objects but also indicates steady patronage of art by varied strata of society. Merchant's guilds along with the elites of new social set-up, happened to be the usual patrons of art. Terracotta plaques of Śuṅga period with perforation at the top clearly show that they were used as decorative wall-hangings. Besides, we also hear of regular trading and enshipment of terracotta objects.[24] Collective interests and active participations of different grades of people including kings and queens, nuns and monks, traders, bankers, artists and artisans are noticeable in the domain of sculptural art in a still greater degree. Gradual broadening of the social outlook of the country with the relaxation of the rigid demarcation between various socio-economic groups, brings a free and uninhibited atmosphere in the art expression of the country. In the 'early classical phase' of Indian art of Bhārhut, Sāñchī, Bodhgayā etc. thus, a profound synthesis of varied motifs and themes drawn from different walks of life like sacred and secular, urban, rural and sylvan, is noticeable. These along with the themes of indigenous

---

22. A. K. Coomaraswamy, *History of Indian and Indonesian Art*, pl. V, fig. 16.

23. S. K. Saraswati, *A survey of Indian Sculpture*, p. 115.

24. *Nayadhammakahā* (a Jain Text), 17, p. 203 : tr. into Gujarati, vide D. Desai "Terracotta and Urban Culture of Ancient India" (circa-600 B.C.-A.D. 600) a paper presented to the *Art and Society Symposium of Indian History Congress, 37 Session Calicut, Dec. 1976, ft. note 9.

folk inspirations, tribal and local interests, give a pulsating vitality to the art activity of the period. Ray[25] has said, artists and craftsmen seem to have combined in them the knowledge and experience of the social ideology of the upper classes and of urban life on the one hand and that of the lower classes and their folk and aboriginal life on the other.

In the post-Mauryan art a number of interesting motifs, themes and imageries appear that can be traced back to folk and indigenous inspirations ingenuously adapted to contemporaneous life and conditions. Ancient popular belief in the magic communion between the life of vegetation and the life of woman, thus, finds aesthetic expression in the gliding grace of 'woman and tree' motif. As Coomaraswamy has said, no motif is more fundamentally characteristic of Indian art from first to last than is that of woman and tree.[26] In the lively forms of *Yakṣīs, Vṛkṣakās* of Bhārhut, Sāñchī, Bodhgayā and Mathurā, blending harmoniously with flowering trees, an adroit treatment of the old fecundity theme with the traditional gesture of kicking the tree, can be seen. Ray says—"in the consciously languorous attitudes, sinuous bhaṅgas and luxurious ornamentation of *Yakṣiṇīs* of Bhārhut and Bodhgayā, one can easily see social ideology of the upper and middle class patrons and donors".[27]

Appearance of *Śālabhañjikā* fantasy in early Indian art is almost visual correspondence of ancient Indian Literary traditions. Pāli texts furnish us with graphic descriptions of *Śālabhañjikā* festival in which people used to participate on masse. Celebrations of the festival varied from place to

---

25. N. R. Ray, *Maurya and Post-Maurya Art*, p. 73-74.
26. A. K. Coomaraswamy, *Yakṣas*, p. 33.
27. N. R. Ray, *Maurya and Post-Maurya Art*, p. 74.

place. We hear of *Prācām Krīḍā*[28] (sports of Eastern India) and *deśya Krīḍā* (local sports). *Uddālaka-puṣpa-bhañjikā* or garden sport appears to have become a favourite pastime of urbanites. *Mātaṅga Jātaka*[29] thus, narrates the story of *Diṭṭhamaṅgalikā*, the daughter of a rich merchant of Vārāṇasī, who used to go with her female companions to celebrate the festival of *udyāna-krīḍā*. In towns with essentially non-agricultural population, removed from direct relationship with nature, as D. Desai has pointed out, the celebration of seasonal and fertility festivals like *Śālabhañjikā*, *Aśokabhañjikā* etc. was treated as *Krīḍā* (sport).[30] Rise of rich and flourishing cities brings a characteristic change in the social millieu of the country. Status of the man about the town or Nāgaraka enhances considerably with the rising affluence of urbanites. Even Pāṇini refers to Nāgaraka (*nagarāt kutsanprāvīṇyayoḥ*).[31] The word literally means town-born or town-bred but by the usage of the language, as has been pointed out by S. C. Vasu, it always denotes a person having vices and virtues of town.[32]

With brisk business and trade with outside world, towards the beginning of Christian era, taste for luxury and art receives further boom. Trade was active both by sea and caravan routes. Isidore of Charax in his work '*Parthian*

---

28. Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī*, VI.2.74.

29. *Jāt*.IV.376.

30. Vide D. Desai—*Terracotta and Urban Culture of Ancient India* (circa-600 B.C.-A.D. 600) paper presented to the Art and Society Symposium of Indian History Congress, 37 Session, Calicut, Dec. 1976.

31. *Aṣṭādhyāyī*, IV.2.128.

32. *Aṣṭādhyāyī* of Pāṇini, Vol. I, p. 746 (Ed. and translated into Eng. by S. C. Vasu)—BK IV, Ch. II, 128.

Stations' (beginning of the Christian era), gave an itinerary of the caravan route from Antioch in the west to the valley of Helmund river on India's border.[33] According to Pliny,[34] sea-routes brought Indians even to the German coast. There was heavy demand in Rome for Indian luxuries. The trade reached its peak after the accession of Augustus to power. Peripuls and Strabo have also testified to the active part played by Indian merchants in maritime trade with Rome and other countries. We learn from Arrian[35] that pearls unknown before Alaxander. came from India and Persian Gulf and were highly appreciated by Roman women. It is, therefore, not surprising that Pliny would complain of heavy drainage of Roman money on Indian merchandise and luxury.[36] Trade was also active with Western Asia and Africa. Thus money-economy penetrated deeply into the life of common people of towns and suburbs during this period—a development, as R. S. Sharma has said, which fits with the growth of arts and crafts.[37]

Easy flow of money in the hands of neo-rich urbanities made them active patrons and leisured connoisseurs of arts and beauty. From Vātsyāyana we learn about *goṣṭhīs* or social gatherings where Nāgarakas displayed their accomplishments in arts and literature. These *goṣṭhīs* were usually held in the houses of courtesans who were well-versed

---

33. *Parthian Stations* by Isidore of Charax, ed. with Tr. comm. and map by Schoff.

34. Pliny, II, 170, vide *Hellenistic Civilization*, p. 243 ft. note, ed. by W. Tarn and G. T. Griffith.

35. *Arrian Indika*, 8.11 see also Pliny, XXXI.7 ; XXXII.2.

36. Pliny, IV.25.

37. Refer R. S. Sharma, *Light on Early Indian Society and Economy*, p. 78.

in the sixty-four *kalās* (arts).[38] Society as depicted by Vātsyāyana finds sculptural corroboration in the Kushāṇa art of Mathurā. Elegant forms of Voluptuous beauties of Mathurā school of art, engaged in various *Krīḍā-vihāras* and partaking freely in joie de-vivre, provide a visual documentation of the life style of the time. Besides, Mathurā being situated on the trade route connecting Puṣkalāvatī and Takṣaśilā with Pāṭaliputra and Bharukaccha or Broach—the great sea-port, became a flourishing centre of eclectic ideas. Thus the art of Mathurā shows a creative harmony in combining varied motifs and themes of diverse origin. In Sāñchī *Śālabhañjikā,* we already meet with a mood of gay-abandon and in the hands of Mathurā artists the motif receives further secularization and romanticization. Conscious cultivation and active participation in art by urban socialites can also be gathered from short donative slabs of Amarāvatī stūpa and records of donors coming from Pāṭaliputra, Rajagiri, Ghaṁtaśāla, Vijayapura (Bezwada), Tamila (Damila) and other places. Donative records of merchants, jewellers, ivory carvers, sculptors, caravan traders, bankers, *gahapatis,* masons, *upāsakas,* etc., point to the growing interests in art among people in general. These records are also indicative of rising affluence. And, as has been observed by R. S. Sharma, most of the artisans known from inscriptions were confined to Mathurā region, and to the Western Deccan where their prosperity was stimulated by the growing trade with Rome.[39]

Expansion of town life, however, could not curb primordial interests in motifs and themes of the soil, as architects and sculptors, who came mostly from rural and tribal

---

38. Vātsyāyana's. *Kāmasūtra,* p. 51 (Sūtras 34 and 35).
39. R. S. Sharma, *Śūdras in Ancient India,* p. 179.

backgrounds, had natural incentive for such themes. Kings and queens of several local dynasties, whose names figure in the donors' lists of monuments, were also of tribal origin. Thus rural and tribal attachments together with uninhibited atmosphere in which artists and craftsmen now worked and moved gave stimulus to motifs and themes of popular interests. Social status of artists and craftsmen had also considerably improved during this period as "the increase in the number of guilds may have weakened the direct control of the state over artisans".[40] All these circumstances gave a joyous freedom to art expression in the country. Robertson Smith observes "primitive religious beliefs are practically indestructible except by the destruction of race in which they are ingrained".[41] Thus quaint theme such as 'lotus rhizome and Yakṣa' is represented with the same zeal as sophisticated portrayal of an urban beauty drying her hair in leisured grace with drops of water squeezed out of her hair being swallowed eagerly by a swan.[42]

Beliefs in *Yakṣas, Nāgadevatās* and *Vṛkṣadevatās* etc. are rooted in primeval life and thought in India. *Yakṣas* personalize forces of soil, mineral treasures, precious metals and jewels of earth.[43] Ideas of growth of plant and vegetal life are also associated with the cult of *Yakṣa.* Impact of these ideas find sculptural projection in several ornamental forms in the panels of Bhārhut, Sāñchī, Bodhgayā, Amarāvatī Mathurā and other places. Meandering lotus plant

---

40. *Ibid.,* p. 180.

41. Robertson Smith, *Lectures on the Religion of the Semites,* p. 355, London, 1914 ed.

42. Railing pillar Mathurā (2nd Cent. A.D.). See V. S. Agrawala, *Indian Art,* fig. 134, p. 227.

43. H. Zimmer, *Myths and Symbols in Indian Art and Civilization,* p. 59 (Ed. by Joseph Campbell).

Plate 3



Kalpalatā, Bhārhut,
C. 2nd Cent. B.C.
Courtesy—Indian Museum, Calcutta.

Plate 4



Winged Deer, Ahichhatra,
C. 2nd Cent. B.C.
Courtesy—Bhārat Kalā Bhavan, B.H.U.

bearing flowers and buds, etc., is represented as issuing out of the navel of a Yakṣa in one of the railing medallions at Bhārhut.[44] Similar representation in varied fancied forms abound in early Indian art. Pot-bellied *Kumbhāṇḍas*, spouting lotus creeper of life and fortune elaborate the theme further. Thus left pillar of the south gateway of Sāñchī shows a creeper with undulating stalk, held by a *Kumbhāṇḍa* at the base,[45] fruits, flowers, garlands, necklaces, pairs of male and female (*mithunas*), animals and birds, jewels, ornaments etc. are seen amidst its foliage.

Central idea of such imageries is associated, with the concept of wishing tree, fulfilling all desires, which as Sivaramamurti had observed, 'was a major motif in literature and art. It was believed that pots of gold and bags of precious gems lay at its roots'.[46] The motif is portrayed in diverse magnificent forms as *Kalpalatā, Kalpavalli, Kalpavṛkṣa* etc. The idea though it finds recurrent mention in Indian literary traditions, appears as a luxuriant art motif in the coping of Bhārhut rails for the first time. Here a sinuous rhythm of wish fulfilling creeper (*Kalpavalli*) with jewels, flowers, fruits, pretty maids and costly garments hanging from its tendrils add to the luxuriance and beauty of the decorative scheme. Similar representations of *Kalpavalli* and *Kalpalatā* come from Nachna, Besnagar and various other places. Mythic propensity and flight of fancy

---

44. A. K. Coomaraswamy, "Yaksas" pl. 34 fg. 2. Reprint 1971 Munshiram Manoharlal.

45. J. Marshall and A. Foucher, "The Monuments of Sanchi", Vol. I, p. 144, Vol. II, pl. 19 a and b, London, not dated.

46. C. Sivaramamurti, "The Art of India", p. 44, New York, 1977.

noticeable in such themes are quite at par with mature aesthetic renderings of scenes of *Krīḍā-vihāra* of Mathurā rails.

Besides luscicus portrayal of wish fulfilling creepers, naive configurations of tree and man also occupy significant positions in early Indian art. Such configurations are rooted in the beliefs in imps and spirits that reside in tree trunks, shrubs and shady corners and are capable of taking both monstrous and pleasing or benign forms. Impact of these ideas on popular mind became all the more penetrating as vast jungle tracts with brooding fear and lurking mystery lay in the path of urban expansion. Ancient highways of trade and commerce as well as pilgrim routes passed through them. These jungle tracts are mentioned in Buddhist texts as well as votive labels on the railing of the Sāñchī Stūpa No. I.[47] Resonances of sylvan life stirred folk imagination with myth and mystery and these nascent ideas are expressed in both art and literature with tolling simplicity. In the *Jātakas,* trees are portrayed as abodes of benign spirits who attend to the needs and comforts of way-farers.[48] *Lalita Vistara* gives a graphic description and we find the words *patreṣu ardhakāyām abhinirmāya.*[49] The same idea finds plastic corroboration in the Bhārhut coping in the shape of *'rukkha devatā'*. Here two hands of the *'rukkha-devatā* emerging from among the boughs are depic-

---

47. Refer N. R. Ray, "Maurya and Sunga Art", p. 65, University of Calcutta, 1945.

48. Jat., 398.

49. Vide A. K. Coomaraswamy, "Yaksas", p. 33, ft. note 1. Reprint 1971 Munshi Ram Manohar Lal.

Plate 5



Winged Lion, Kauśāmbī,

C. 2nd Cent. B.C.

Courtesy—Anct. Hist. Deptt. A.U.

Plate 8



Terracotta Belle Playing with a Parrot

C. 1st Cent. B.C.

Courtesy—Allahabad Museum.

ted as offering food and drink to passersby.[50] Similar representation comes from a railing pillar at Bodhgayā.[51]

Such fantastic shapes as *Kinnaras* or half human and half animal configurations or hybrid animal forms like *magara-maccha, hasti-maccha, jalaturaga* and number of other monstrous forms as winged water-lion, water-bull, etc., can be traced to primeval beliefs and ideas. Thus underlying ideas of magic, totemism, animals together with predilection for fertility and fecundation rites etc. find projection in them. Heinze Mode has said that idea of monsters arises at a relatively late stage of cultural development. He has further stated that in stone age representations of the natural form is clearly recognizable, but contemporary man, when he saw them associated them with powers unrecognizable to us, which in their natural shapes were nevertheless supernatural, incomprehensible and, therefore, all the more terrifying.[52] Heinze Mode has divided fabulous animals in five categories[53] out of which three categories—(I) animal-man, (II) man-animal, (III) monsters made up of parts taken from different animals as well as winged animals and hybrid marine creatures, are represented profusely in the decorative repertoire of early Indian art. The hybrid forms also appear vāhanas of *Yakṣas, Yakṣīs* and later on that of a number of Brāhmanical

---

50. Bharhut coping–Indian Museum Cal. vide A. K. Coomaraswamy, "Yaksas" pl. 25, ft. 1, Reprint, 1971.

51. Bodhgaya Railing Pillar, vide A. K. Coomaraswamy, "Yaksas" pl. 25, fg. 3, Reprint in 1971.

52. Heinze Mode–"Fabulous Beasts and Demons" pl. 13-14, London 1973.

53. *Ibid.*, p. 18.

gods and goddesses. Many of these forms have been attributed to foreign origin.[54] But whether foreign or indigenous, appearance of such mythical forms and shapes are indicative of ideological and social intermingling which ultimately expresses itself in persistent motifs and forms.

Roots of Ancient Indian art thus lie deep into the crevices of Indian life and thought. The instinctive life with its vague notions of awe, wonder, religio-mythical and magical ideas and the demands of busy urban life, with changes in social pattern, have left penetrating impact on early Ancient Indian art.

54. A. K. Coomaraswamy, "History of Indian and Indonesian Art", p. 11, New York, 1965.

PHILOSOPHY AND SOCIAL CHANGE*

AN AUROBINDITE APPROACH

REWATI RAMAN PANDEY

Varanasi

Man is not only a physical being but a higher self. Awakening of the soul in man, the practical recognition of *tattvamasi* is necessary for establishing a world-order and enjoying the powers and bliss of *Saccidānanda*.

Philosophy has been playing a major role in all dynamic periods of civilisations. When tradition loses its hold, when scepticism prevails, it is philosophy which comes to our aid and it gives a right direction. All thought is a dialogue with circumstance. It is never absolute and final. Intellect does not work in vacuum and abstraction. It is the best human aid which he employs for the betterment of his entire race.

Philosophy changes with the changes of historical perspective. To-day, we must integrate new discoveries with our philosophical conceptions. Humanity is passing through a period of dangerous crisis. The devaluation of values has become a normal affair. It is groping in the darkness. It is not getting its right direction. Not only this, it is almost dazed and non-plussed by the scientific and technological advancements. Only philosophy can save it. It has to come to its aid. It must declare, "*Uttiṣṭhata jāgrata...*' (Arise, awake.....).

---

*This paper was read in the second symposium of the 57th All India Philosophical Congress held at Chandigarh from 30th Nov. to 3rd Dec. 1982.

Robert A. Nisbet in his book, *Social Change and History*, while examining the two concepts, especially the concept of Social Change throughout the whole range of Western thought from ancient times to the present, holds that the idea of social development emerged in the 19th century as a by-product of the theory of biological evolution. He argues, "All that we see are the mingled facts of persistence and change. We see migrations and wars, dynasties toppled, governments overthrown, economic systems made affluent or poor, revolutions in power, privilege and wealth . . . . ., but we do not see 'death', 'decadence', 'degeneration', or 'sickness'. We do not see 'genesis', 'growth', 'unfolding', or 'development' ; not in cultures and societies. All of these words have immediate and unchangeable relevance to the organic world, to the life cycle of plants and organism. There they are literal and empirical in meaning. But applied to social and cultural phenomena, these words are not literal. They are metaphoric."[1] My own comment is that it is true to a large extent. But we do see the 'growth' or 'development', 'decadence' or 'degeneration', even 'death' of certain cultures and societies. Let us examine the case of Germany and Japan after the 2nd World-War. I feel, all these concepts can appropriately be applied to them one by one. Don't we see the 'growth' and 'development' of super powers, U.S.A and U.S.S.R.? Don't we see the 'decadence' and 'degeneration' of British empire? Are not many countries with a long culture tradition now in the state of sickness?

The distinction made by Nisbet between history and development is nice. 'The emphasis in the historiographic

1. Robert, A. Nisbet, *Social Change and History*, p. 4, Oxford University Press, 1969.

perspective is upon exactness of time and place and relationship. In the nineteenth century, Leopold von Ranke gave memorable definition to this type of persuit of the past when he said—'the task of the historian is to tell it *"wie es eigentlish gewesen ist"* : how it actually has happened.'[2] In the second great perspective, the developmental or evolutionary, the emphasis is not upon the past conceived as a genealogy of happenings and persons, but upon more or less timeless sequences of emergent changes. If event is the key to the historiographic perspective, change is the key-concept in the developmental perspective.'[3]

Nisbet in this book shows that the metaphor of organic growth and the analogy of the life-cycle are embedded in the pronouncements of sages, historians and social scientists, from Heracleitus and Aristotle to Marx, Spenglar, Toynbee, Berdyaev, and Sorokin. He demonstrates the historical relation of the classical Greek ideas of growth, the Christian epic, with the fusion of Hebrew and Greek ideas and the modern ideas of progress, development and sociological functionalism and finally demonstrates that the metaphor remains closely involved in contemporary social theory.

Shri Aurobindo's *'Human Cycle'* gives a graphic picture of social evolution. He bases his elucidation on Lamprecht who himself has based on European or particularly German History. He maintains that human societies progress through certain distinct psychological stages which he terms respectively *symbolic, typal, conventional, individualistic* and *subjective.*

---

2. *Ibid.*, p. 31.
3. *Ibid.*, p. 31.

Shri Aurobindo feels that these concepts are quite suggestive and if examined, they may throw some light on the secret of our historic evolution and this is the line on which his investigation is based.

Shri Aurobindo maintains that any human society whether it is comparatively cultured or savage, economically advanced or backward at its early stages, we do find strongly symbolic mentality. This social stage is always religious, actively imaginative in its feelings. Through symbols it seeks to express it's different modes of life. Symbolism occupies the key-place in the early stages of social evolution. Man feels its presence behind every phenomenon. All the moments and phases of his life are full of this symbolism.

At the beginning of Indian society, the far off Vedic age we find every thing symbolic. The ritual of sacrifice in its every detail is mystically symbolic. Not only the actual religious worship is symbolic, but also the social institutions of the time were penetrated through and through with the symbolic spirit. The "Marriage hymn" (X.85) of the *Ṛgveda* illustrates this symbolism.

The Indian ideal of relation between man and woman has always been governed by the symbolism of relation between *Puruṣa* and *Prakṛti*. Aurobindo accepts that the Vedāntic subjugation of female by male through its symbolism was so predominant that Śākta symbolism though just opposite of the Vedānta could not restore and elevate the female principle.

Then the symbolism of *caturvarṇa* is very significant, as this institution of the orders of society was the result of an economic evolution. This symbol appears in the "Pu-

ruṣa-Sūkta" of the *Ṛgveda* where the four orders are described as having sprung from the body of creative Deity, from his head, arms, thighs and feet. To us this is merely poetical image and its sense is that *Brahmins* were the men of knowledge, the *Kṣatriyas* the men of power, the *Vaiśyas* the producers and support of society, the *Śūdras* its servants. As if that were all, as if the men of those days would have so profound a reverence for mere poetical figures...... We read always our own mentality into that of those ancient fore fathers and it is, therefore, that we can find in them nothing but imaginative barbarians. To us poetry is a revel of intellect and fancy, imagination a playing and caterer for our amusement, our entertainer, the nautch-girl of the mind. But to the men of old the poet was a seer, a revealer of hidden truths, imagination no dancing courtesan but a priestess in God's house commissioned not to spin fictions but to image difficult and hidden truths.[4]

The second stage, the typal, is predominantly psychological and ethical ; all else even the spiritual and religious is subordinate to the psychological idea and to the ethical ideal which expresses it. Religion and Dharma occupy the central position at this stage.

This stage creates certain social values which remain in operation even when this stage is passed. The chief contribution it leaves behind, it leaves even when this stage is over, is the idea of social honour and prestige of the Brahmin which resides in purity, in piety, disinterested and exclusive persuit of learning and knowledge ; the prestige of Kṣatriya lies in courage, chivalry, strength and nobility

---

4. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, pp. 6-7, First Ed., 1949.

of character : the honour of the Vaiśya lies in sound production, order, liberality and philonthropy, the honour of the Śūdra resides in obedience, subordination, faithful service, a disinterested attachment. They become a convention, though the most noble of conventions. In the end, they remain more as a tradition in the thought and on the lips than a reality of the life.

This stage, the typal passes into the conventional stage. This stage is born when the outer becomes more important than the inner, the body or clothes become more important than the person himself. Thus in the evolution of *Varṇavyavasthā,* birth, economic function, religious ritual and sacrament, family custom—each began to exaggerate enormously its proportions and importance in the scheme. At first, birth did not enjoy first place in the social order, but when the type fixed itself, its maintenance by education and tradition became necessary and education and tradition fixed themselves in a hereditary groove. Under this scheme, the son of a Brahmin was always to be looked upon conventionally as a Brahmin ; birth and profession were together the double bond of the hereditary convention. When once it was established, the maintenance of the ethical type receded to the secondary or tertiary importance. Aurobindo remarks, 'the tendency of the conventional age of society is to fix, to arrange, firmly, to formalise, to erect a system of rigid grades and hierarchies, to stereotype religion, to bind education and training to a traditional and unchangeable form, to subject thought to infalliable authorities, to cast a stamp of finality on what seems to it the finished life of man'.[5]

---

5. *Ibid.*, p. 11.

The conventional of society has its golden period when the spirit and thought that inspired its forms, are confined but yet living, not yet altogether dead. The golden age, naturally appears very beautiful and attractive from a distance to the posterity, by its precise order, symmetry, fine social architecture, the admirable subordination of its parts to a general and noble plan. Thus the orthodox idealist looks back to a perfectly regulated society devoutly obedient to the wise yoke of the *Śāstra,* and this is his golden age. Then a moment comes when the gulf between the convention and the truth becomes intolerable and the men of intellect arise, the great 'swallowers' of formulas, who robustly reject the type and convention by the aid of their shrewed and sharp reasoning. It is then that the individualistic age, the age of Protestantism has begun. It is the Age of Reason, the Age of Revolt, Progress, Freedom. Aurobindo remarks, 'A partial and external freedom, still betrayed by the conventional age that preceded it into the idea that the Truth can be determined by machinery, but still a necessary passage to the subjective period of humanity through which man has to circle backward the recovery of his deeper self and a new upward line or a new revolving cycle of civilisation'.[6]

When conventions and traditions become corrupt, as a revolt against these conventions and traditions an individualistic age is born. When the old general standards and values become corrupt and bankrupt, and can no longer provide any inner help; it is, the individual, who has to become a discoverer, a pioneer, and to search out by his individual reason, institution, idealism, desire, claim upon

---

6. *Ibid.*, p. 13.

life or whatever other light he finds in himself, the true law of the world and of his own being.

The individualistic age has taken birth in Europe and has exercised its full sway. The East has entered into the age of individualism, not out of its original impulse, but only by contact and influence. Aurobindo remarks, 'If its rationalistic civilisation has swept so triumphantly over the world, it is because it found no deeper and more powerful truth to confront it ; for all the rest of mankind was still in the inactivity of the last dark hours of the conventional age.'[7]

The dawn of individualism is always a denial, a questioning. In religion, in politics, in social order the individual finds an equally stereotyped reign of convention, fixed disabilities, fixed privileges, the self-regarding arrogance of the high, the blind prostration of the low. He has to rise in revolt on every claim of the authority. He questions and challenges every authority. The individualism in the West was rooted in its *Renascence*. The *Renascence* gave back to Europe on one hand the free curiosity of the Greek mind, its eager search for first principles and rational laws, on the other the Roman's large practicality and his sense for the ordering of life in harmony with a robust utility and the just principles of things. But both these tendencies were persued with a passion, a commitment and determination. But without certain standards and guiding principles the champion of individualism may go astray. It is imperative for him, according to Aurobindo, the search for two supreme desiderata. He holds, 'It must find a general

---

7. *Ibid.*, p. 15.

standard of Truth to which the individual judgment of all will be inwardly compelled to subscribe without physical constraint or imposition of irrational authority. And it must reach too some principle of social order which shall be equally founded on a universally recognisable truth of things ; an order is needed that will put a rein on desire and interest by providing atleast some intellectual and moral test which these two powerful and dangerous forces must satisfy before they can feel justified in asserting their claims on life.'[8] The discoveries of Physical sciences provided them. Here were the laws, principles which could be verified and which satisfied and guided the free individual judgment. Here in these was the fulfilment of individualistic age of human society.

But the knowledge of the physical world is not the whole of knowledge. Man is not only a physical and vital being but it is much more mental being. Here Aurobindo again remarks, 'Therefore, to find the truth of things and the laws of his being in relation to that truth, he must go deeper and fathom the subjective secret of himself and things as well as their objective forms and surroundings.'[9]

When man realises that his intellectual reason betrays itself as an insufficient light and a fumbling seeker, he realises the need of a deeper knowledge which could provide him new powers and means to rediscover his authentic self. At this stage he becomes self-conscious. In this process the rationalistic ideal begins to subject itself to the ideal of intuitional knowledge and a deeper self-awareness. Sri

---

8. *Ibid.*, p. 20.
9. *Ibid.*, p. 31.

Aurobindo remarks, 'All these tendencies, though in a crude, initial and ill-developed form, are manifest now in the world and are growing from day to day with a significant rapidity.'[10]

The great objective art and literature of the past does not command the mind of new age. An ever-deepening subjectivism is becoming predominant in music, art and literature. Sri Aurobindo remarks, 'If the subjective age of humanity is to produce its best fruits that the nations should become conscious not only of their own but each other's souls and learn to respect to help and to profit, not only economically and intellectually but subjectively and spiritually by each other.[11] The first teaching of true subjectivism is that we are a higher self, than our ego or our members; secondly, that we are in our life and being not only ourselves but all others.

Symbols, types, conventions and ideas are not sufficient. 'A spiritual symbol is only a meaningless ticket, unless the thing symbolised is realised in spirit...A spiritual idea is a power, but only when it is both inwardly and outwardly creative'.[12]

Then again, Sri Aurobindo remarks, 'These three things are in fact the nature of the soul; for freedom, quality, unity are the eternal attributes of the Spirit. It is the practical recognition of this truth, it is awakening of the soul in man and the attempt to get him to live from his soul and not from his ego which is the inner meaning of

---

10. *Ibid.*, p. 32.
11. *Ibid.*, p. 45.
12. *Ibid.*, p. 326.

religion, and it is that to which the religion of humanity also must arrive before it can fulfil itself in the life of the race.'[13]

Prof. Maitra remarks, 'No development of our being is possible without an awakening of our inner being. The movement of evolution, therefore, is threefold—one upwards, an ascent, one downwards, an integration, and one inwards, towards the soul.[14]

After supramental transformation, each and every particle of the universe is radiant with the light of the Supreme, *'tasya bhāsā sarvamidam vibhāti'*.. In this context Prof. Misra's remark is quite pertinent, 'Now nature or becoming will no more appear as something undivine and will no more suffer from darkness, ignorance and inconscience. On the other hand it will shine with the light and consciousness of the Divine and will permanently enjoy in its movement and further evolution in knowledge, the powers and bliss of *saccidānanda*.'[15]

Even Laski is to a great extent in agreement with Sri Aurobindo. Prof. Devaraja remarks, 'When nations and communities make spiritual culture, as distinguished from wealth and power, the main object of their collective persuits, then they would not find it difficult to surrender part of their sovereignities to an International Body, which ac-

---

13. Sri Aurobindo, *The Ideal of Human Unity*, p. 315, New York, 1950.

14. S. K. Maitra, *The Philosophy of Sri Aurobindo*, p. 108, B. H. U., 1945.

15. R. S. Misra, *The Integral Advaitism of Sri Aurobindo*, p. 320, B. H. U.

cording to Prof. Laski, is a condition indispensable for the establishment of an effective world-order.'[16]

Thus the Human Cycle is really complete when the realisation of identity between '*Tat*' and '*Tvam*' is realised —'*Tattvamasi*'.

16. N. K. Devaraja, *The Philosophy of Culture*, p. 247, Kitab Mahal, 1963.

RĀMĀYAṆA IN TERRACOTTAS: A STUDY

Jayantika Kala
Allahabad

The technique of moulding terracottas was very much popular in ancient India. The terracotta figurines, belonging to Śuṅga and Gupta period, depicting Rāmāyaṇa scenes, are a proof in themselves of the artistic talents, aesthetic sense and religious sentiments of their makers.

Terracotta figurines in large numbers have been found during excavations of submerged layers as well as, on the surface of mounds, at various places in India.

The art of terracotta was known in ancient times. References to the same have been made in ancient literature. According to the *Mahābhārata*, niṣāda Ekalavya made a clay figure of Droṇācārya and practised archery in front of it. The *Harivaṃśa*, too, refers to clay figures of Madhu and Kaiṭabha. Clay figures are also mentioned in the *Brahma-*, *Kālikā-*, *Linga-* and *Nārada*-Purāṇas.

The earliest epic scene discussed in this paper. belongs to the Śuṅga period (187-75 B.C.), which ushers in a new era in the History of Indian Plastic Art. For reasons unknown, modelling was not popular in some areas under the Śuṅgas. But the technique of mould was very popular. In place of stone, clay was accepted as a convenient medium for producing terracotta figurines.

No epic subject is seen in the terracotta art of India between the Śuṅga and the Kuśāṇa period. However, there is a Śuṅga plaque in the Allahabad Museum, which

depicts a woman being carried away by a demon. Possibly it is the scene of abduction of Sītā by Rāvaṇa (Fig. I).

More definite subjects, however, appear during the Gupta period.

A number of Gupta terracotta panels, which once adorned the outer wall of a Śiva temple at Ahichchatra, have been found in the excavations at this site.[1] These depict scenes like the dual between Jayadratha and Yudhiṣṭhira, as well as the scene where Śiva-gaṇas are enjoying laḍḍūs and are disturbing the sacrifice of Dakṣa.[2]

As many as eight panels of stucco, depicting *Rāmāyaṇa* scenes have been found on a wall of an old temple still submerged under the high mound at Aphsad, in Gaya district of Bihar.[3] It is interesting to note that the panels had been carved in a sequence telling the Rāma story from Rāma's crossing the Gaṅgā at Śṛṅgaverapura (near Allahabad) to Bharata meeting him at Citrakūṭa. This is for the first time that we have a running sequence of *Rāmāyaṇa* scenes. The plasticity of human figures, the undulating arms, and the round, soft faces are clearly in the late Gupta style.

A temple built about 8th c. A.D. at Paharpur, now in Bangla Desh, had a number of terracotta panels fixed around it's base. The temple has now lost it's existence, but a number of panels depicting *Rāmāyaṇa* subjects, have

---

1. *Ancient India,* No. 4, pl. LXI, LXII, LXIII, LXV.

2. V. S. Agarwala, 'Terracotta figurines of Ahichchhatra, District Bareilly, U. P., *Ancient India,* No. 4, p. 168.

3. B. P. Sinha, "Representation of Rāmāyaṇa scenes in an old temple wall at Aphsad", *J. B. R. S.,* Vol. LIV, Parts I-IV, p. 217.

Plate I



Plaque from Kauśāmbī
2nd Century B.C.

Plate 2



Bharat going to Chitrakūṭa.

been found in the debris of the mound in the temple compound (Fig. III).

A number of highly ornate brick temples were built between 17th c. A.D. and 19th c. A.D. at different places in modern Bangla Desh. The legend of Kṛṣṇa and the *Rāmāyaṇa,* dominate the panels. The workmanship is very fine, but the figures are somewhat rigid.

As mentioned earlier, epic scenes occur in the terracotta art of the Gupta period. The tradition of terracotta. therefore, reaches up to 19th c. A.D.

Epic scenes herein, have been discussed as the legend goes.

Rāmāyaṇa subjects were unknown in the pre-Christian era. Cunningham tried to point out some *Rāmāyaṇa* scenes at Bharhut, but his identification could not be accepted. *Rāmāyaṇa* subjects appear for the first time in Indian sculpture in 4th c. A.D. and they continue up till 19th c. A.D.[4]

At Aphsad, as stated earlier, are eight stucco rectangular panels depicting *Rāmāyaṇa* scenes. The first panel telling the Rāma story, shows the crossing of the Gaṅgā at Śṛṅgaverapura, by Rāma, Lakṣmaṇa and Sītā with the boatman.[5] The boatman holds an oar in his hands. The boat is well depicted. Rāma standing next to the boatman, has his bow and quiver of arrows. Next to him stands Sītā beside whom stands Lakṣmaṇa. Both the brothers are attired as ascetics. In the *Rāmāyaṇa* it is stated that Sītā was helped on the boat first and thereafter Rāma and Lakṣmaṇa followed.

---

4. S. C. Kala, "Terracottas in the Allahabad Museum", p. 58. 1980.

5. *Op. cit.*, p. 217, pl. XVIII, Fig. 2.

The second panel depicts Rāma, Sītā and Lakṣmaṇa squatting on their knees under shaded trees, before sage Bhāradvāja, an ascetic, at Prayāga.[6] Bhāradvāja, after hearing the story from Rāma, offered them food. It is said that he offered a vṛṣabha (bull) and dishes of food and drink. A bull (damaged) is seen on the left corner below the feet of the ṛṣi.

The third panel depicts the crossing of the Yamunā on the raft made of wood-logs tied together with grass ropes and with dry bamboo across, as advised by Bhāradvāja. The presence of the tortoise in the water is significant. On the raft, only Sītā is seated! Rāma's and Lakṣmaṇa's bows and arrows are placed on the raft. As stated in the *Rāmāyaṇa,*[7] Rāma and Lakṣmaṇa must have jumped on it later.

The fourth panel depicts the scene of a forest where Sītā sits on the lap of Rāma while Lakṣmaṇa sits opposite in Vīrāsana. They are all taking rest under a shady tree. A goat's head and a deer's body are lying near the feet of Lakṣmaṇa testifying to the fact that they were hunted for food.

The fifth panel depicts Rāma, Sītā and Lakṣmaṇa squatting on their knees before an ascetic who is supposedly Vālmīki at Citrakūṭa.[8]

The next, i. e. the sixth panel shows Rāma and Sītā seated under a shady tree. Lakṣmaṇa with a bow and

---

6. *Ibid.*, p. 217, pl. XVIII, Fig. 3.
   Cf. Rāmāyaṇa, II, 54.12.18.

7. *Op. cit.*, p. 217, pl. XIX, Fig. 4.
   Cf. Rāmāyaṇa, II, 53.4-5, 13-17.

8. *Op. cit.*, p. 217, pl. XX, Fig. 6.
   Cf. Rāmāyaṇa, I; 56.16.

arrows is perched on a branch of the said tree. He looks expectantly for the explanation of the loud sounds being raised by the procession accompanying Bharata with his army. Sītā is pointing towards Lakṣmaṇa who is apparently in an angry mood. This is a beautiful representation of the scene described in the *Rāmāyaṇa* wherein Rāma tells Lakṣmaṇa to ascend the tree and find out the cause of the disturbance.[9]

The procession of horses and caprisoned elephants, led by Bharata, coming to Citrakūṭa, from Ayodhyā, finds expression in the seventh panel at Aphsad (Fig. II).

On the last, i. e. the eighth panel, Bharata is seen falling on his knees before Rāma, who embraces him. Bharata had gone to request Rāma to return to Ayodhyā, because King Daśaratha had died and according to the custom, only the eldest son, i. e. Rāma, could be annointed as king. The figures of Sītā and Lakṣmaṇa are badly damaged. They are supposedly watching this scene of the reunion of the eldest and the youngest brother. The scene tallies exactly with the description of their meeting, in the *Rāmāyaṇa*.[10]

Some of the above panels have traces of painting in red, as also the remains of a few letters which, unfortunately, cannot be deciphered. Probably they served the purpose of captions for each panel.

There is a terracotta plaque from Kauśāmbī, in Allahabad district, belonging to the Śuṅga period, which may

---

9. *Op. cit.*, p. 217, pl. XXI, Fig. 8.
Cf. Rāmāyaṇa, II, 96, 12-13.

10. *Op. cit.*, p. 217, pl. XXII, Fig. 9.
Cf. Rāmāyaṇa, II, 99, 37-39.

be considered as an earlier example of a *Rāmāyaṇa* scene if the identification of the same is proved. This plaque is currently housed in the Allahabad Museum (A. M. No. 5108)[11] On this Śuṅga period terracotta plaque, a short legged dwarf demon with a wrinkled face, holds a woman in his arms. He puts on a dhoti and a wreath around his headgear. A small bell hangs from the bracelet of his left hand. He seems to be moving towards his left. The female figure is comparatively smaller than the demon. She wears a sārī. The strands of her girdle and necklace are broken and beads from the same are strewn on the ground. Both her bare hands are lifted above indicating her horror and attempt to free herself from the clutches of the demon.

R. Sen Gupta opines that the plaque shows the abduction of Sītā by Rāvaṇa.[12] The only point which supports this view is the presence of ornaments on the ground. Sītā, when being abducted, threw her ornaments on the ground so as to enable Rāma to find the route by which she was taken away.

Sivaramamurti, agreeing with the view of Sen Gupta, remarks, "From the textual description of Rāvaṇa, carrying away Sītā, as given by Vālmīki, Rāvaṇa's dimensions, his fearful form, the large footprints of the demon that were noticed later by Rāma and his search parties, and the terror stricken attitude of Rāvaṇa, as he carried away Sītā, which frightened the gentle *vanadevatās* that shuddered and ran away from him, is all beautifully answered in this, and it is not unlikely and it probably is, the abduction of Sītā."

---

11. S. C. Kala, *op. cit.*, p. 57, Fig. 145, No. 297.

12. R. Sen Gupta, "Scenes from the Rāmāyaṇa on two terracottas of the pre-Christian date", *J. A. H. R. S.*, Vol. XXXII, Parts 1+4 (1971-72), p. 1, (pl. 2A).

He further quotes a scene of Prambanam, in Jāvā, where Rāvaṇa first appears as an ascetic and subsequently becomes fearful with ten heads. Here, fortunately, it is the dimensions of his fearful form, as in the *Rāmāyaṇa*, that are given prominence, and rightly too.[13]

Kala, on the other hand, states that the demon on the Kauśāmbi plaque, has a wrinkled face, a feature which is also visible on a stone Yakṣa figure from Pitalkhora. The bell atached to the bracelet of the Kauśāmbī demon, might indicate his connexion with the Yakṣa cult.[14]

According to the *Rāmāyaṇa*, when Sītā was being carried away by Rāvaṇa, she threw some of her ornaments on the ground so that the route of her abduction could be easily traced by the search parties of Rāma. On this ground only, scholars are led to accept the scene on the plaque as that of the abduction of Sītā.

A striking scene of this abduction is carved on a stone slab of the Kailāśanātha temple at Ellorā. Here Sītā is shown seated on a chariot held by Rāvaṇa. Below is shown Jaṭāyu, who tried to rescue her.

A Śuṅga period round terracotta plaque from Bhīṭā, near Allahabad, presently housed in the Indian Museum, Calcutta, depicts an interesting scene. On it is depicted an āśrama scene. On the left is a hut, a tree having long leaves and another with blooming flowers. In front of the hut is seen a female approaching a man. . Nearby is a lotus-pond. A chariot drawn by four horses with a charioteer and a groom is shown in front of the hut. In the fore-

---

13. C. Sivaramamurti, 'Foreword', "Terracottas in the Allahabad Museum", p. ix.

14. *Op. cit*., p. 58.

ground is a pair of deer and a fan-tailed peacock and beyond the railing stand two persons. The female figure in the plaque may be Sītā who holds something in her advanced hands, to be given to the mendicant who may be Rāvaṇa, standing in front of her.

A male standing figure, probably Lakṣmaṇa, is pictured on a brick-panel from Paharpur.[15] He holds a bow and arrow and stands by the side of a tree. On his right shoulder can be seen the quiver of arrows. His head is tilted towards his right. The lower part of the panel, containing the feet of the figure is, unfortunately, broken.

A fragmentary terracotta plaque, hailing from eastern U. P., and datable to 5th c. A.D., is in the collection of the National Museum, New Delhi.[16] It shows Rāvaṇa in the guise of a mendicant, approaching Sītā. Her figure is, unfortunately, missing. The beareded and moustached Rāvaṇa has a donkey's head placed on his turban. The panel is badly mutilated.

A terracotta plaque from Barehat in Bhind District of M. P., currently displayed in the National Museum, New Delhi, (N. M. No. 1675) shows a woman seated cross-legged, under a shaded tree which is on her left side. She places her left hand on her left thigh. The right hand is lifted and supports her right cheek. Her head is tilted slightly to the right. The woman probably represents Sītā in a pensive mood in the Aśoka grove in Laṅkā (Fig. IV).

---

15. K. N. Dikshit, "Excavations at Paharpur, Bengal", *M. A. S. I.*, No. 55 (1938), Chapter IV, 'Terracotta Plaques', pl. XLVIII, p. 59.

16. C. Sivaramamurti, *Birds and Animals in Indian Sculpture*, Fig. 86.

Plate 3



Figure of Lakṣmaṇa from Paharpur.

Plate 4



Sītā in the Aśoka grove in Laṅkā.

A big terracotta plaque from Chausā, in Bihar, datable to 5th c. A.D. shows Rāma and Lakṣmaṇa with monkey friends.[17] (Patna Museum No. 6528). The faces of the monkeys are quite expressive. Rāma holds a bow in his left hand. The right hand is, unfortunately, lost. This is a rare terracotta which shows so many figures grouped together.

The dual between Vāli and Sugrīva has also been depicted on terracottas.

A terracotta panel from Sāhet-mahét (ancient Śrāvastī) in U. P., datable to 5th c. A.D. depicts this theme.[18]

Twenty miles south-west of Śāntiniketan, stands the Kendulī temple associated with Jayadeva[19] and also another one dedicated to Lakṣmī-Janārdana.[20] Both the temples, which are now in Bangla Desh, have several temple-panels depicting *Rāmāyaṇa* subjects. The three main panels over the entrance of the Jayadeva-Kendulī temple depict graphic *Rāmāyaṇa* scenes.

Over the entrance of the Lakṣmī-Janārdana temple there are three panels depicting scenes from the *Rāmāyaṇa*.[21] The central panel contains a scene of the fight between Rāma and Rāvaṇa. The right side panel shows the scene of Hanumāna setting fire to Laṅkā, Rāvaṇa holding court

---

17. P. L. Gupta, 'Chausā', *Patna Museum Catalogue,* pl. XLVIII, No. 3.

18. J. Ph. Vogel, 'Excavations at Sāhét-Mahet', *A. S. I. Annual Report,* (1907)-08), p. 96.

19. H. Chandra, "Birbhum Terracottas", pl. 26.

20. *Ibid.,* pls. 36-39 ; 43-45.

21. *Ibid.,* pls. 36-39 ; 43-45.

and captive Sītā in the Aśoka grove. The left side panel depicts, at the top, a fire ceremony at the fire altar; the next shows Rāma and Sītā sitting on the throne, attended by Lakṣmaṇa and Hanumāna, on the occasion of the coronation ceremony of the Kośala king.

A terracotta panel on the entrance of the Śiva temple at Ādityapura, in Birbhum District of Bangla Desh, datable to 19th c. A.D. shows Rāma and Sītā, seated under a royal canopy. Lakṣmaṇa, Śatrughna and Hanumāna are standing in obeisance.[22]

The same scene has been repeated in the Dewanji temple at Hetampur in Bangla Desh. On the southern side of the facade are seen Rāma and Sītā on the throne.[23]

From the above description, it is clear that the art of terracotta was popular with the artists of India. They not only expressed their artistic talents, but, via their media, they gave vent to their religious sentiments, too. Their faith in religion, their respect for the same, is all expressed in the beauty of their descriptions. One cannot fail to admire the aesthetic feeling with which figures have been cast or modelled.

---

22. *Ibid.*, pl. I.
23. *Ibid.*, pl. II.

CONCEPTION AND CREATION OF DOHADA AS AN AMOROUS CUM DECORATIVE MOTIF

TAHSILDAR SINGH

Lucknow

From the very beginning, the depiction of *Dohada* of various plants and their fulfilments by bautiful ladies, has been a very popular theme of Indian poets as well as sculptors. The plants at their budding period crave for the touch of the foot or mouthfuls of wine from a young lady. In *dohada* motifs, woman as a symbol of fertility, is depicted in prominence, standing beneath the trees, in beautiful poses. These motifs served amorous cum decorative purpose, with a blend of sanctity and auspiciousness in themselves.

Indian sculpture represents India's rich and glamourous cultural heritage. It was, basically, not only for the purpose of pastime to chisel, model and mould the plastic materials, like stone, stucco or timber in form of a sculpture, but was rather a tedious and painstaking work of some greater significance. India's plastic art was always representative of the ideology, philosophy and creative abilities of the contemporaneous society. Literary traditions were, seemingly, main sources for stimulating fantacies and thoughts to be relieved in stone, brick or any other medium. The heroic episodes of *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata,* the mythological narratives of Purāṇas and the amorous activities dealt with in *Kāmasūtra* of Vātsyāyana, were always the prominent themes to be engraved on some more lasting materials than easily perishable and fragile manus-

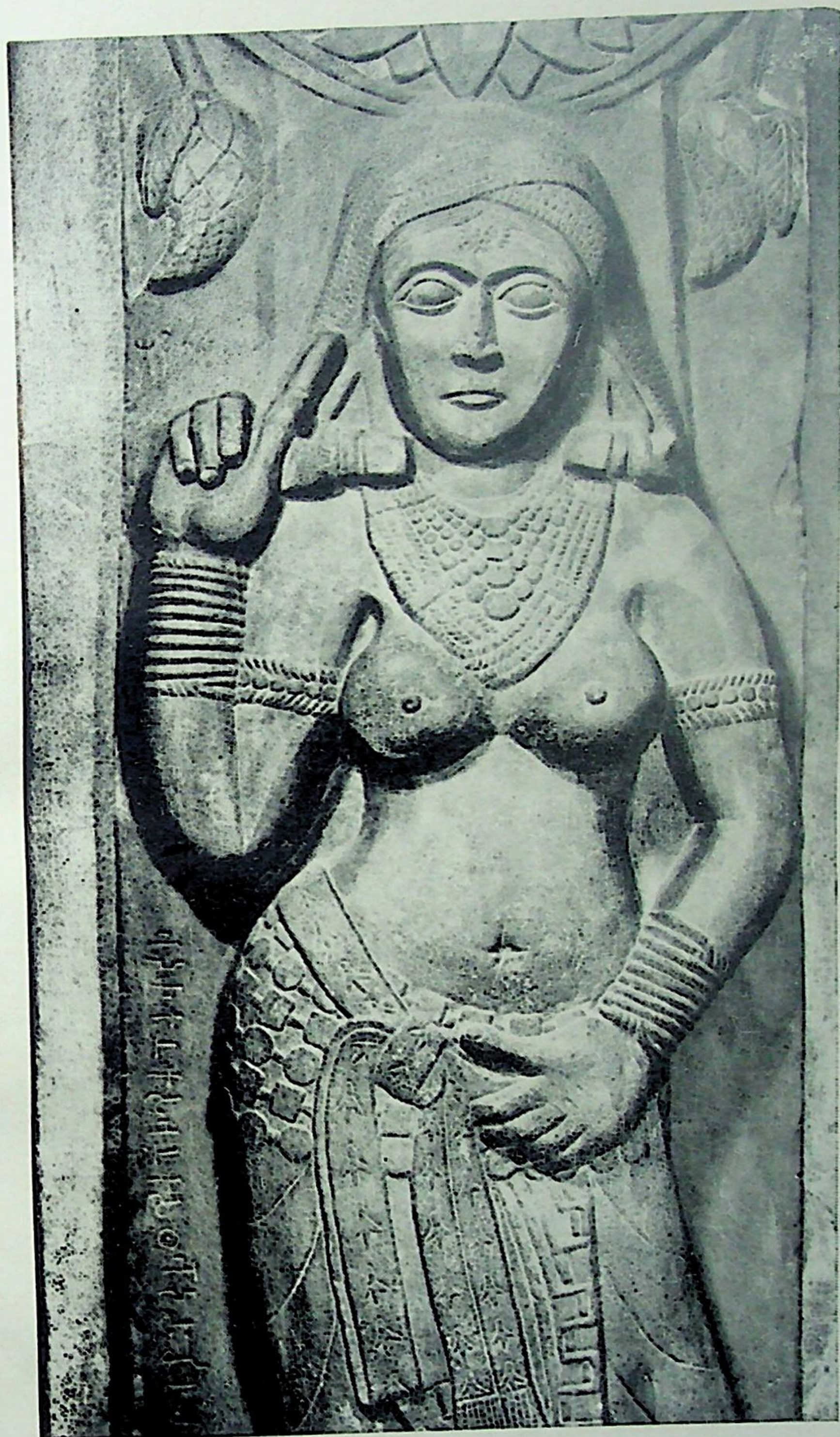
cripts of leaves or papers. Like Rāmalīlā, Kṛṣṇa-līlā and mythological scenes which are very frequently sculpted in north India we can very comfortably trace out one more theme engraved very oftenly. It is the *dohada* of various plants which at their budding time long to be touched by the foot or by mouth of a lovely woman. This amorous cum decorative theme is too, frequently depicted as a member of the decorative repertoire with a lady fulfilling the *dohada* by performing various activities as per requirements of the plants concerned.

Dohada was a popular amorous expression in the ancient literature of India[1] and it was treated with equal interest and charm in the periphery of north Indian plastic art by the chisel and hammer of the sculptors. It was employed as a decorative motif on the pillars, pilasters, walls, railing-posts and *toraṇa*-brackets. Tracing the different aspects of this popular theme depicted in north Indian sculptural art is not an uphill task. The sculptures, right from the early age of Kuṣāṇas up to the medieval ages comprise a pleasant bunch of specimens of the same depicted tastefully in a commendable concordance with the traditional literary description.

There is number of trees with their peculiar and particular *dohada* connected with and to be fulfilled by the

1. *Dohada* has been a popular theme to be described by the poets and authors of Sanskrit literature as a *sṛṅgāra-ceṣṭā* (action suggesting the amorous impatience) of the lovely maiden (*nāyikā*). It may well be seen in the *Rāmāyaṇa uttara*.42/33-35, *Yājñavalkya Saṃhitā* (3.79), *Uttararāmacarita*, (Act I discourse of Rāma and *Ṛṣi* Aṣṭāvakra), *Buddhacarita* (1.6), *Kathāsaritsāgara*, *Pañcatantra*, almost every work of Kālidāsa and *Subhāṣitāvalī* of Vallabhadeva.

Plate 1



Priyaṅgu-dohada, Bharhut, Satna, M. P., Calcutta Indian Museum No. 43.



Bakula-dohada, Mathura, U. P. Lucknow, Provincial Museum No. B 61.

various amorous activities of the lovely damsels. Vallabhadeva enumerates the variant *dohadas* in *Subhāṣitāvalī*[2] as under :—

1. Priyaṅgu-dohada—for the touch,
2. Bakula-dohada—for the mouthful of wine,
3. Aśoka-dohada—for the kick,
4. Tilaka-dohada—for the wink,
5. Kurabaka-dohada—for the embrace,
6. Mandārī-dohada—for the soft voice,
7. Campaka-dohada—for the mild smile,
8. Āmra-dohada—for the gentle breeze from mouth,
9. Nameru-dohada—for the song, and
10. Karṇikāra-dohada—for the dance of the damsel.

One thing may be noted here down at the outset, very precisely, that all these *dohadas* were of the different plants longing for the various amorous actions of the damsel, it was not the *dohada* of the women. So, the nomenclature is done after the plants. The difference in the poses of the damsels standing beneath the trees of variant types can support the idea of plurality in the style, depiction, shape and form of *dohada*. Although the conception was concentrating for the specific and playful *dohadas* of the plants, the woman as a main source of fulfilment and a symbol rather embodiment of fertility was sculpted in prominence. The conception of sacredness and auspiciousness also might have been connected with it causing its depiction on the religious monuments. The railing pillars of Mathura hailing

---

2. *Strīṇāṁsparśāt priyaṅgurvikasati bakulaḥ sīdhugaṇḍūṣasekāt,*
Pādāghātādaśokastilakaḥ kurabakau vīkṣaṇāliṅganābhyām/
Mandārī narmavākyāt paṭumṛduhāsanāccampako vaktravātāt,
Cūto gītānnamerurvikasati ca puro nartanātkarṇikāraḥ//

from Kuṣāṇa period and the walls of Orissan temples dating back to medieval period produce a sufficiently large number of examples of creation of *dohada* as a member of the decorative repertory.

The varieties of trees with the *surasundarīs* or *yakṣīs* sculpted on a number of railing posts excavated from Bharahut, Mathura, Bodhgaya; on *toraṇa*-brackets from Sanchi; the images on the pilasters of temples in the Dakṣiṇakosala (modern Chhattisgarh) in life-size and on the walls of Orissan temples indicate that the Indian artists were quite aware of all these variant notions of *dohada* and they attempted to depict all of them very sincerely and skilfully save some of them which were impossible to be portrayed in stone e. g. *mandārī dohada* for soft voice.

Hitherto, all the *yakṣīs* standing with trees are treated as *śālabhañjikās* i. e. *aśoka-dohada*. It may not be appropriate to identify all the *yakṣīs* conveying the same conception with a common name because the trees are carved in different designs with some specific motive. The yakṣī, on the right end of the architrave of northern gateway Stūpa 1 Sanchi, is standing beside a mango-tree. She is not standing in the specific *tribhaṅgamudrā* so it may seem inapposite to assume it as *śālabhañjikā* or *aśoka-dohada*. Actually, it is *āmra-dohada*. Therefore, it seems amenably correct that there were a number of a varieties of dohada-motif. Though it may be difficult to present the examples for all the motifs derived from the above *śloka*, an attempt is aimed here to produce some specimen embodying the popular literary notion.

1. *Priyaṅgu-Dohada*. The *yakṣī Sudasanā* sculpted on a railing-pillar from Bharhut Stūpa may be treated as



Bakula-dohada, Konark, Puri, Orissa, Sun Temple, *nāṭa-mandira* terrace, view from east.

Plate 4



Lady, lover and monkey under a tree, Bhuvanesvara, Puri, Orissa, Mukteśvara Temple, *gūḍhamaṇḍapa, north wall.*

an example of *priyaṅgu-dohada,* with her erected indication finger for touching the flower-vine pendant above. No surprise if she is depicted in a pose as if she is about to fulfil the longing of the vine by touching it from her indication finger of right hand pointing upside (plate 1).

2. *Bakula-Dohada.* A fragment of rail-post adorned by a lady with a cup of wine (plate 2) under certain tree is found at Mathura.[3] According to the traditional evidence this tree may be regarded as *bakula*-tree longing for the mouthfuls of the wine from a lady. One more example hailing from Orissa is very much interesting to notice. It is sculpted on the east terrace of the *nāṭa mandira* of the famed Sun temple at Koṇārka. A lady with a pot in her left hand is standing with full lustre and grace under a tree. Very successfully suggesting the fulfilment of *bakula-dohada* the sculptor has used this relief as an amorous and decorative subject as well (plate 3).

3. *Aśoka-dohada* is the most prominently executed and popularly known *dohada*-motif. It has been so frequently sculpted and influencively established that all 'tree and lady motifs' are named as *Śālabhañjikā* or *aśoka-dohada* after this. It is a motif carved in the largest number. There is a sculpture on the north wall of *gūḍhamaṇḍapa* of Mukteśvara temple, Bhuvanesvara (plate 4) describing the scene of *vāmapādābhilāṣī* husband being kicked by the lady half-dishevelled by a monkey (another popular amorous theme) and taking support of a tree. Here the aforementioned tree and the lover both are present as the privileged objects easily to be kicked by the lady on account of excess of love and complaint of flirtness respectively.

3. Now housed in Lucknow, Provincial Museum, No. B 61.

"There are two objects that the young damsel can kick with the tip of this foot of hers of the hue of tender shoots and with shining nails; one is the *aśoka*-tree lacking flowers in expectation of blossoms and the other, the bent head of the beloved one who is a fresh culprit (by stealthily courting another lady)."[4] The *janghās* of Khajurāho temples also almost invariably bear this thematic motif.

4. *Tilaka-Dohada.* Another interesting image is on the south wall of the Mukteśvara temple exhibiting a cross-legged standing lady under a tree. The lady is looking upward with slightly raised head. The slant position of the head with the whole composition, may refer to the *tilaka-dohada* in which the lady has to wink upon for the tree (plate 5).

5. *Kurabaka-dohada* is relieved on a railing pillar of Bharhut *stūpa.* It is now housed in Calcutta Indian Museum (plate 6). Two females are depicted embracing two trees of same variety. The position of left hand is different but whole composition exhibits a embracing scene due to the posture created by the right leg and arm. From the south and south-west wall of Gauri temple and north-west wall of Rajarani temple, Bhuvaneswar, some more examples of this motif can be produced. Another suitable example is the lady carved back on the south wall of Raja-rani temple keenly hugging a tree.

6. *Campaka-Dohada.* A railing-pillar from Mathura[5] a pilaster from Koṇārka, two figures on south wall of Raja-rani temple, a figure on east wall of *gūḍhamaṇḍapa* of Sun

---

4. Kālidāsa, *Mālavikāgnimitram* III, 12.
5. Lucknow, Provincial Museum, No. B 91.



Tilaka-dohada: Bhuvanesvara, Puri, Orissa, Mukteśvara Temple, *Vedībandha*, north face.



Kurabaka-dohada : Bharhut, Satna, M. P. railing-pillar.

Plate 7



Campaka-dohada : Mathura, U. P.

Plate 8



Nameru-dohada : Konark, Puri, Orissa, Sun Temple, *nāṭamandira*, terrace, view from east.

temple, Koṇārka, and two fragments of rail-post, Mathura, represent the *campaka-dohada* with the faces of ladies carved in such a style as if they are smiling. And the plant of *campaka* required only a gentle smile (plate 7).

7. *Āmra-Dohada.* It is represented on the northern gateway of the Sanchi Stūpa 1 on a architrave with a clearly carved tree of mango and a female. Though the position of mouth is not so descriptive of the theme under consideration as the faces of the two figures on the south-west wall of Gauri temple, Bhuvaneswara Orissa, it may be treated as a member depicting this amorous and tender theme in the hard stone for the embellishment of the facade of the ancient monument.

8. *Nameru-Dohada.* At Sun temple, Koṇārka on the south wall of *gūḍhamaṇḍapa* there is relieved a lady under a tree with an attendant (mutilated now) and musical instrument with half-opened mouth. One can easily venture to assume that it may be the *nameru-dohada*-motif. The lady is singing for the tree (plate 8). How carefully and skilfully is the sculpturing performed !

9. *Karṇikāra-Dohada.* Last and the most weary as well as hard to fulfil is the desire of *karṇikāra* which demands the dance of the lady for its blossoming. An image on the south wall, upper portion, of Brahmeśvara temple, Bhuvaneswara, though half-obliterate, and another on the *jagatī*, east face of the *nāṭamandira,* Sun temple Koṇārka (plate 9) suggest the performance of dance by ladies trying to pacify the longing of their dear *karṇikāra* so that it may bloom for her.

Thus, we see that the depiction of *dohada* of plants and their fulfilment by various amorous activities of the damsel

had been as popular in the field of plastic art as it was in the ancient scripture. The Indian artisans have been always men of letters so, they were well-acquainted with this amorous theme of literature. They tried to mould this tender and lovable theme in the hard medium of stone by their chisel and hammer and as the specimens approve they got apparently, splendid success in their aim.



Karṇikāra-dohada : Konark, Puri, Orissa, Sun Temple, *guḍhamaṇḍapa Jagatī*, view from south.

Acknowledgement : All these photographs are produced by the courtesy and permission of American Institute of Indian Studies, Ramnagar, Varanasi. The author is very much obliged to the Institute for this kindest cooperation.

PRESERVATION OF OLD INDO-ARYAN DIALECTS IN THE MID-HIMALAYAS

D. D. SHARMA

Chandigarh

Here in this paper, an attempt has been made to throw some light on a dialect, directly discending from the OIA languages, recently discovered by the author of these lines in the predominantly Tibeto-Himalayan speaking area of the Lahaul & Spiti sub-division of Himachal Pradesh. The discovery of this OIA dialect in this snow-bound mid-Himalayan region is something astounding for the orientalists of the world, particularly for those who have been holding the view that Sanskrit was never a spoken language in this country.

The Himalayas have many surprises for the world in its stores. It has preserved not only the fossils of Anthropological and Geological importance but also of the historical and linguistic importance which have, from time to time, thrown new light on various aspects of the human race as a whole, and on the history and culture of different races inhabiting these unaccessible regions in the hoary past in particular. The evidences obtained from the repositories of these regions are so concrete as these are strong enough, in many cases, to revolutionise many old theories held about the history and the culture of the people of the Indian sub-continent as a whole.

Linguistically, there are many islands in the interiors of the great Himalayas which have still preserved the forms and frame-work of many ancient languages which have be-

come now extinct or had become obsolete in the main-land of the Indian sub-continent even in the first millennium of the Christian Era. In these Himalayan linguistic islands we find not only the relics of Old Indo-Aryan Language which otherwise had had ceased to be the language of masses even when Buddhism and Jainism came into existence, but also the relics of Austro Asiatic (Muṇḍā, etc.) and Dravidian Languages which have no trace of their prevalence in the plains of northern India. The author of these lines has discovered during his recent linguistic expenditions to the Himalayan region that there are pockets in Ladakha, Malana, and Lower Kinnaur regions which have still preserved dialectal elements which are directly related to Sanskrit, Greek and Munda Languages of ancient India. Besides, we also find in these regions a number of linguistic elements which can be helpful in reconstructing the original or proto-forms of many extinct Kinnar-Kirāta dialects which were prevalent in these regions in pre-historic days.

The author of this paper would like to throw light on a few salient features of a dialect of mid-Himalayan region which is a direct descendent of OIA and has not passed the normal historical process of the development attested in the case of New Indo-Aryan languages of this sub-continent, i. e. it has not passed through the stages of Pāli, Prākrit and Apabhraṃśa, etc.

The members of this linguistic community, locally known as Chahans or Chinals are confined to one of the four valleys of Lahaul, viz. to the Pattan Valley. Socially, they are treaed as scheduled castes by the other two communities of the valley, viz. the Monogoloid Bodhis and the Aryan Swanglas, for whom they render various kinds of social as well as argicultural services.

Though, they have no memory of their earlier abodes and of the period of their migration to this snow bound Himalayan region, predominantly inhabited by the people of the Mongoloid race and Buddhist religion, yet the linguistic heritage, still preserved by them, is a convincing indicator that their forefathers, having crossed the great divide, the Rohtang Pass, reached there at a time when Sanskrit was still a spoken language on this side of the Pass. But it is an astounding fact that the present descendents of those Aryans have, inspite of their social position and linguistic environment, preserved the salient features of the Old Indo-Aryan (OIA) language. Besides, they have also maintained their Aryan features and have preserved various Aryan traditions in their religious and social customs and rituals.

But, as mentioned above, the most striking feature of the cultural heritage of this community is its language. which definitely is a continuation of that dialect of the Old Indo-Aryan which was in vogue in the North-west parts of India at the time of migration of the speakers of the dialect to this Tibeto-Himalayan speaking area. Innumerable forms of the age old linguistic behaviour are still current and are attestable at all levels of linguistic behaviour of these people even after a period of more than a millennium.

At present, the male members of this community are trilinguals. i. e. while communicating with their 'ghyats' 'land lords' they speak the local form of the Tibeto-Himalayan dialect spoken by them and while communicating with outsiders they use Hindi or Hindustani, but in their private or domestic communication they use their own dialect which is quite akin to the Sanskrit language in its content and frame-work.

In the following paragraphs, a brief outline is being presented to substantiate the statement made above by way of giving a few phonological, morphological and syntactic peculiarities clearly noticeable in this dialect.

Absence of the Influence of MIA Dialects

Moreover, many developed forms, in this dialect betray that it, like Kashmiri, did not pass through various stages of MIA, i. e. these forms have developed directly from their Sanskrit stems, belonging to the dialects of their forefathers. Some of the notable non-Prakrit features of this dialect are :

(1) Unlike MIA most of OIA consonant clusters are maintained in all positions, i. e. have not undergone assimilation, for instance, *initial position* : *trai,* 'three' *drāḍ* 'to beat' ; *truṭ* 'to break' (intrans.) ; *troḍ* 'to break' (trans.) ; *svād* 'taste' ; *griz gṛddhra* 'vulture' ; *brāgh<vyāghra* 'leopard' ; *Prased<prasvada* 'Perspiration' ; *trīs<triṣā* 'thirst' ; *nis+tṛ* 'to flow out' ; *Kartas* 'does' ; *rakta* 'red' ; *amla* 'sour' ; *agre* 'ahead' ; *chetra<Kṣetra* 'field' ; *gachtas* 'goes' ; *bastas* 'dwells' ; *jāmātrā* 'son-in-law' ; etc., *final position* : bisurt *vi+smṛta* 'to forget' ; *nark* 'hell' : *svarg* 'heaven' ; *murkh* 'idiot' ; etc.

(2) Normally, most of medial voiced consonants do not show elision as we find in MIA forms, e. g. : *nagar* 'village', *kadi* 'when', *akhur<aśru* 'tears', etc.

(3) The Prakrit tendency of retroflexion before *r* is also not attested, e. g. *vat<vartman* 'Path'.

(4) Inter-vocalic semi-consonants are also maintained considerably, as in *tava* 'thy', yours ; *bhyās<abhyās* 'habit' ; *dehi* 'give' (Imp.) ; etc.

Preservations

Some of the notable preservations of this dialect are as under :

Prased<*Prasveda* 'perspiration'; mehi<*hahiṣi* 'buffalo'; makkuṛ<*markaṭa* 'monkey'; rakta<*rakta* 'red'; kamar< *Kandhardā* 'shoulder'; haldur<*haridrā* 'turmeric'; raup< *raupya* 'silver'; Jānu<*jānu* 'knee'; amla<*amla* 'sour'; dar< *dāru* 'wood for building'; grij<*gṛdhra* 'vulture'; megha< *megha* 'snow'; gātri<*gātrikā* 'bodice'; Jāmātrā<*jāmātṛ* 'son-in-law'; behirān<*bahiḥ* 'outside'; dure<*dure* 'away'; karat-ru<*Karapatram* 'a saw'; oṣit<*auṣadhi auṣadham* 'medicine'; bukā<*bukkā* 'Kidney'; garkā<*garuka* 'heavy, load'; bun<*budhna* 'downward'; doten<*doṣānte* 'morning'; peu-thā<*prahasta* 'palm'; hyūñd<*hemanta* 'winter'; kañe< *kankati* 'comb'; tarku<*tarkuṭi* 'a spindle'; cāk<*Kīcaks* 'Bamboo'; Kal<*Khalina* 'rein of horse'; gappa<*galpa* 'a talk'; ghai<ghaṭī<*ghaṭika* 'pitcher'; dhoñri<*dhumrika* 'fog'; kutur<*Kukuraputra* 'dog'; badil<*balīvarda* 'ox'; dughā< *dīrgha* 'deep'; dāl<*vidara* 'flood'.

Apart from preserving the phonological frame-work and typical vocabulary items of Old Indo-Aryan, it has wonderfully preserved, to a great extent, its synthetic grammatical structure as well. From among seven cases of nominal and pronominal inflection it has still preserved the synthetic character of OIA in the Nominative, Accusative, Agentive, Dative and Genitive cases. Besides, in nominal declension, though the forms of dual and plural have been amalgamated yet in pronominal declensions the distinction for all the three numbers has been maintained, e. g. *se* 'he', *sendui* 'they two', *sene* 'they'.

Here it may be particularly noted that prevalence of *sa* stem in all the three forms of the nominative case is a pointer to the fact that there was a period in the history of evolution of the Sanskrit language, prior to its codification by Pāṇini in 500 B.C. when this stem had a full flection

for all the forms of the third person pronoun, and there was no amalgamation of the forms of *tad* with the forms of *sa*, i. e. both were inflected independently for all the cases. But much before the emergence of Pāṇini, perhaps owing to their wider use or higher frequency, the forms of *tad* got supremacy and replaced all the forms of *sa* except the Nom. Sg. This phenomenon of development seems to have already taken place when the actual usage in the language were recorded for *Aṣṭādhyāyī*. In this dialect, too, it seems to have lost its independent declension and the Nom. Sg. forms are the remnant of the earlier fuller declension of this stem.

In pronominal roots replacement of *as*<*asmad* (Ist person) and of *sa*<*tad* (3rd person) by *ta* in singular forms of non-nominative cases is another faithfull preservation of the OIA structure by this dialect, e. g. first person Nom. *hāñu* (sg.) ; *adui* (du.) ; *ase* (Pl.) ; Acc. *mūñ* : *andui* : *ena* : Ag.—*mi* : *adui* : *ase* : 3rd person. Nom. *se* (ag.) ; *sendui* (du.) ; *sene* (pl.) Agentive—*tene* : *tendui* : *tene*, etc.

In verbal conjugation, though the distinction of number is, at present, attested in the singular and plural numbers only, yet the distinction of all the three persons is maintained in many cases. For instance, all the forms of the present tense of the verbal root *as-* 'to be' are as follows :

	Singular	*Dual*	*Plural*
3rd person	*astas/as*	*astes/asti*	*astes/asti*
2nd person	*as*	*astesu*	*astesu*
1st person	*bhauñ*	*bhauñ*	bhauñ

Here in the first person the root √*as-* 'to be' is replaced by the root √*bhū-* 'to become', to exist. Similarly, in the

future tense forms also the root √*as-* is replaced by the root √*bhu-* as we find in Sanskrit.

Another notable peculiarity about the verbal conjugation of this dialect is generalization of second person singular suffix- *hi* of the imperative mood in all vowel ending stems, as in *nihi* (ag.), *nehe* (Pl.)<√*ni-* ‘to lead, to carry’; *pihi*<√*pi-* ‘drink’. This is done apparently on the analogy of *dehi* ‘give’<√*de-* ‘to give’.

Linguistic changes

However, under the circumstances, both linguistic and social, in which the speakers of this dialect were placed, the super-structure of the language could not remain undisturbed and consequently a gap has been created between the forms of OIA and Chinali at various levels, i. e. in the absence of literary tradition among the speakers of this dialect, and social position given to them, it was hardly possible for them to preserve the purity of the language for many generations. On the other hand, they not only lost their contact with the speakers of the standard form of the Sanskrit language, but also were constantly exposed to the influence of non-Aryan languages which they had to learn to communicate with their *gyāts* (lords). In such an environment, linguistic mixture and consequent linguistic changes were bound to occur. As a result of this, Chinali, in the long history of its survival, has developed certain linguistic phenomena which have led to structural changes in the original language.

A detailed analysis of these developed forms shows that some of the dimensions of these developments seem to coincide with those of the tendencies attested in MIA dialects, but this fallacy disappears when we further analyse the

phonetic environments under which these changes have occurred, e. g. words like *hyūñd*<*hemanta* 'winter' ; *cindā*< *cintā* 'anxiety' ; *cuñju*<*cancu* 'beak' ; *saṅguṛa*<*saṃkīrṇa* 'narrow' ; *bānḍ*<*vant* 'to distribute' ; indicate the Prakrit tendency of voicing an inter-vocalic unvoiced plosive, but here the phenomenon of voicing can better be attributed to nasality diffusing from the preceding nasal consonant, this being a common phenomenon of this dialect.

Besides this, some of the notable sound changes attested in vocables in this dialect are as follows :

Kriṭha<*Kṛṣṇa* 'black', *ruṭṭhā*<*variṣṭha* 'superior', *makkaṛ*<*markaṭa* 'monkey', *maḍūka*<*manḍūka* 'frog', *āñuṭhi*<*aṅguṣṭhikā* 'a ring', *haldur*<*haridrā* 'turmeric', *chetra*<*Kṣetra* 'field', *bauduñ*<*vāta* 'wind', *bagat*<*bhakta* 'cooked rice', *puṅcha*<*puccha* 'tail', *oṣit*<*auṣadhi* 'medicine', *sāte*<*sārdham* 'with', *hitro*<*hṛdaya* 'heart', *bhauī*<*vadhūṭī* 'bride', *ghīt.*/*gīth*<*gītam* 'song', etc. Such changes, however, in the absence of proper training for correct pronunciation, were bound to occur and successive generations helped widening the gap between the original forms and their developed forms.

The same factors seem to have contributed to the loss of certain grammatical forms as well. For instance, in verbal conjugations forms of the dual and plural, or in certain cases forms of second and first persons have been amalgamated. Similarly, in nominal declension, there is a loss of distinctive suffixes in the dual forms, and the numeral *dui*<*dvi* has taken its place.

Though the dialect has undergone various types of phonological and morphological changes during the course of a long history of its development and isolation from the

main stream of the parent language, yet it still bears an unmistakable stamp of the fact that in the past the mother tongue of these people was Sanskrit and it was a language of masses when their fore-fathers migrated to these mid-Himalayan regions of Lahaul. These speakers of the Sanskrit language, since then, perhaps for many centuries, could not have any contact with the people living on the other sides of the Passes and, as mentioned above, the language, in the absence of proper methods of preservation of its purity of pronunciation deviated from its ideal form and this difference went on increasing with the coming generations. The form of the language that we get to-day is a skeleton of the magnificent infra-structure of the OIA which was prevalent in the North-West India some two thousand years ago.

Its synthetic structure, too, is very close to that of the Sanskrit language. A few typical sentences from this language, along with their Sanskrit equivalents will make the point clear.

1. Chinali : *Śīte bahirāñ mā gacha.*
   Sanskrit : *Śīte bahir mā gachha.*
   'Don't go out in the cold'.

2. *me śukul bathur me dehi* :
   me śuklam vastram me dehi.
   'give my white cloth to me'.

3. *mūñ praseda na āidis* :
   mām prasveda na āyāti.
   'I don't perspire'.

4. *teser roper āñuṭhi truti gei* :
   tasya raupyasya aṅguṣṭhikā trutitam gatavatī.
   'his silver ring is broken'.

5. *trāmer bhāñnḍ dūdh amla bhondas* (√*bhu*+√*as-*) :
tāmrasya bhāṇḍe dugdham amlam bhavati (+*asti*).
'milk turns sour in a copper pot'.

6. *bhiti haldur keni chāti ?* :
bhittau haridrā kena kṣiptā?
'who applied turmeric on the wall'.

7. *se bhārāñ beis* :
saḥ bhāram vahati.
'he carries the load'.

8. *se agre nagari bastas* :
saḥ agra-nagaryām vasati.
'he lives in the next village'.

9. *hāuñ chetrari gachta* (*gasta*) *bhauñ* :
aham kṣetre gantā bhavāmi.
'I have to go to the field'.

CHANGING DENOTATIONS OF THE TERM *VṚṢALA*

A CASE STUDY IN DOWNWARD SOCIAL MOBILITY

Atul Kumar Sinha

Allahabad

In *akṣasūkta* of the *Ṛgveda* (10.34.11), the defeated and the discarded poor gambler is compared to *vṛṣala* (*antodātta*), with a sympathetic touch. Upto the period of the *Śrauta-sūtras,* the *Vṛṣalas* enjoyed a higher social status and were treated even as a substitute of a *Śrotriya* brāhmaṇa. But from the time of the *Gṛhya-sūtras* down to the early centuries of Christian era, the term carried a sense of social disapproval and disrespectability which gradually reulted in its equation with *Śūdra.* The author, in this paper, has tried to examine critically the socio-economic and religious forces, which led to derogation in the meaning of the term *vṛṣala.*

The term *Vṛṣala* has a definite social implication and ought to be understood in that sense. Researches on *Śūdras* no doubt tend to equate *Vṛṣala* with *śūdra* which, as we shall see presently, it came to denote later in its history of semantic developments.

Though it never denoted a full fledged *Varṇa* or caste, certain groups and individuals were always described as *Vṛṣala,* sometimes in the laudatory and sometimes in the derogatory sense. The direction of development in the meaning-pattern appears to be from the former to the latter, presenting a case of downward social mobility.

Usage of the term 'Vṛṣala' in Historical Sequence

The earliest reference to the term *Vṛṣala* is found in the *Akṣasūkta* of the *Ṛgveda*[1] where it is used for a gam-

1. *Ṛgveda,* Vedic Saṃśodhana Mandal, Poona, 1945, 10.34.11.

bler who has lost all his belongings in gambling. The *Śatapatha Brāhmaṇa*[2] prohibits a *Vṛṣala,* man or woman, to touch or to go close to the wife of a *Śrotriya brāhmaṇa* during her period of menstruation. The *Bṛhadāraṇyaka upaniṣad*[3] also refers to the term in the same context. In comparision to the vedic literature the occurrence of the term *Vṛṣala* becomes more frequent in the Sūtra literature. In the *Baudhāyana Śrautasūtra*[4] it is said that a piece of silver should be given to a *Vṛṣala* or to some unknown person with recitation of a mantra. In the *Kauśika sūtra*[5] a *Vṛṣala* is referred to as a substitute of a *Śrotriya brāhmaṇa* in the context of receiving a sacred gift. In the *Lāṭyāyana Śrautasūtra*[6] it is said that a *Vṛṣala* should sit at the western gate of *yajñavedi* before a brāhmaṇa sitting at the eastern gate and should follow him (the brāhmaṇa) in recitation of the *mantra* with his *'apagara'* to the *'abhigara'* of the brāhmaṇa. In the *Āśvalāyana Gṛhyasūtra*[7] a *Vṛṣala* is referred to as the performer of the last rites of a brāhmaṇa. In the *Gṛhyasūtras* of Gobhila[8] and Jaimini[9] a Snātaka is advised not to

---

2. *Śatapatha Brāhmaṇa,* 14.9.4.12.

3. *Bṛhadāraṇyaka-Upaniṣad,* 6.4.13, (ed. and tr.) S. Radhakrishnan, (IVth impression) London, 1974, p. 325.

4. *Baudhāyana Śrautasūtra* (ed.), W. Caland, Calcutta, 1907, 2.16.15.

5. *Kauśika Sūtra of the Atharvaveda,* (ed.) M. Bloomfield, (Reprint), Delhi, 1972 ; 91.19.

6. *Lāṭyāyana Śrautasūtra,* 4.3.1-4.

7. *Āśvalāyana Gṛhyasūtra,* (ed. & tr.) N. N. Sharma, Delhi, 1976, 4.2.19, 21.

8. *Gṛhyasūtra of Gobhila,* (*Sacred Books of the East,* Vol. XXX) 3.5.34.

9. *Gṛhyasūtra of Jaimini,* (ed.) W. Caland, Lahore, 1922, 1.19.25.

travel with a *Vṛṣala*. The *Dharmasūtra of Viṣṇu*[10] also advises a *Snātaka* to avoid a *Vṛṣala,* an irreligious and enemies while going to the lord to obtain wealth and security. Yāska in his *Nirukta*[11] has explained the term *Vṛṣala* as '*Vṛṣasīla*' or '*Vṛṣāśīla*'. *Kauṭilya* in the *Arthaśāstra*[12] lays down that if a person entertains *Vṛṣala* heretics such as *Śākyas* and *Ājīvakas* in a dinner dedicated to the gods or ancestors, a fine of one hundred *Paṇas* will be imposed on him. The *Śāntiparva*[13] of the *Mahābhārata* defines the term *Vṛṣala* into two ways. At one place it says that one who brings '*alaṃ* (to destroy) to the lord *Dharma* is known as *Vṛṣala* by gods, while at another place it makes a distinction between a king and a *Vṛṣala* by saying that one in whom *dharma* is manifested (*Virājate*) is a '*Rājā*' and in whom it is assimilated (*Vilīyate*) is a *Vṛṣala*. Patañjali in his *Mahābhāṣya*[14] has mentioned the term to indicate a clear distinction between a brāhmaṇa and a *Vṛṣala*. In the *Manusmṛti*[15] the term *Vṛṣala* occurs several times in different senses. At one place Manu too describes *Vṛṣala* as one who has brought '*alaṃ*' to the lord *Dharma*.[16] At other

---

10. *Viṣṇu Dharmasūtra,* (ed.) J. Jolly, Varanasi, 1962, 63.4.
11. *Nighaṇṭu and Nirukta,* (ed.) Lakshman Swaroop, Delhi, 1967, 3.16, Bombay, 1965.
12. *Arthaśāstra,* (ed.) R. P. Kangle, Bombay, 1965, 3.20.6.
13. *Śāntiparva,* (B.O.R.I. ed.), Poona, 1974, 90.12-13.
14. *Mahābhāṣya of Patañjali,* (ed.) F. Keilhorn, Bombay, 2.2.8, 11 ; R. N. Sharma, *Brahman Through the Ages,* Delhi, 1977, p. 194.
15. *Manusmṛti,* (ed.) Gopal Sastri Nene, Varanasi, 1970, 3.249 ; 4.108 ; 140 ; 8.16 ; 10.43 ; 11.43.
16. *Ibid.,* 8.16 ; Bhāruci in his commentary on Manu has described *Vṛṣala* as one who is of bad conduct, Bhāruci's commentary on Manu Vol. II, (ed.) J. D. M. Derrette, Wiesbaden (Germany) 1975, p. 961.

places the term is mentioned to denote wicked or irreligious persons.[17] Medhātithi[18] and Kullūka Bhaṭṭa,[19] commenting on Manu, have explained the term both for a *Śūdra* and an irreligious person. In the *Yājñavalkya Smṛti*[20] we find the word '*Vṛṣalātmaja*' which has been explained as the 'Son of a *Vṛṣala* by Vijñāneśvara[21] in his commentary. The Buddhist text *Saṃyutta-Nikāya*,[22] quoting the wordings of a Brāhmaṇa of *Śrāvastī*, applies the word *Vṛṣala* for the Buddha as a term of abuse. In the *Suttanipāta*[23] it is said that not by birth but by his karma a brāhmaṇa is a brāhmaṇa and a *Vṛṣala* is a *Vṛṣala*. In the Jain text *Āyāraṅga Sutta*[24] the term is mentioned in a sense of derogation with the mention of dogs, thieves and robbers. Though a sense of disapproval was already attached with the term *Vṛṣala* from the period of *Gṛhyasūtras* yet it is further developed in the *Mahābhāṣya* and the *Manusmṛti* down to the *Amara-*

---

17. *Ibid.*, 3.164 ; 4.108. At one place Manu says that some foreign tribes such as China, Yavana, Śaka etc. reached to the state of *Vṛṣalatva* on account of *Kriyālopa* and *brāhmaṇādarśana*, 10.43.

18. Medhātithi on Manu, 8.16.

19. *Kullūka on Manu*, (ed.) Gopal Sastri Nene, 3.249 ; 4.108 ; 140 ; 8.16.)

20. *Yājñavalkya Smṛti*, (ed. & tr.) U. C. Pandey, Varanasi, (IInd ed.) 1977, 1.224.

21. *Mitākṣarā of Vijñāneśvara*, (ed.) U. C. Pandey, Varanasi, 1977, 1.224, p. 101.

22. *Saṃyutta Nikāya*, 1.162 ; quoted in *Hindu Civilization* by R. K. Mukerjee, Bombay, 1977 (4th ed.) p. 268.

23. *Sutta Nipāta*, 5.138-142.

24. *Āyāranga Sutta*, (ed.) H. Jacobi, Pali Texts Society, London, 1882, 2.4.1.8 ; Cf. *Dīghanikāya*, (ed. & tr.) T. W. Rhys, Davids, *Sacred Books of the Buddhists*, 1.92-93.

kośa[25] which mentions the term as a synonym of *śūdra*. The same tradition is also followed in the *Vācaspatyam*[26] and *Śabdakalpadruma.*[27] Bhavabhūti in his *Uttararāmacaritam*[28] has applied the term *Vṛṣala* for *Śambūka,* a well known *Śūdra* of the *Rāmāyaṇa*. In the *Smṛtis* of *Nārada, Bṛhaspati, Yama* and *Pārāśara* the term has been used to denote different senses. In the *Pārāśara Smṛti*[29] a brāhmaṇa is called a *Vṛṣala* if he does not perform *Agnihotra* and study the *Vedas*. *Nārada*[30] and *Bṛhaspati*[31] do not allow a brāhmaṇa and a *Vṛṣala* to perform duties of one-another. In the *Yama Smṛti*[32] a brāhmaṇa who is the teacher of a *Vṛṣala* is not considered to be worthy of receiving gifts. In the *Bhāgavata Purāṇa,*[33] *Simuka,* the founder of *Āndhra* dynasty is called a *Vṛṣala*. In the *Vāyu*[34] and *Brahmāṇḍa Purāṇa*[35]

---

25. *Amarakośa* with commentary of Mallinātha, (ed.) A. A. Ramanathan, Madras, 1971, 10.1.

26. *Vācaspatyam,* Pt. VI, (ed.) Taranatha Tarkavacaspati, Varanasi, 1970, p. 4955.

27. *Śabdakalpadruma,* pt. VI, (ed.) Raja Radhakant Deva, (3rd ed.) Varanasi, 1967, p. 489.

28. *Uttararāmcaritam,* (ed.) T. Jha, Allahabad, 1961, Act II, Verse 8.

29. *Pārāśara Smṛti,* (ed. & tr.) Daivajña Vacaspati Sri Vasudeva, Varanasi, 1968, 12.29.30.

30. *Nārada Smṛti,* 4.57.

31. *Bṛhaspati Smṛti,* (ed.) K. V. R. Aiyangar, Baroda, 1941, 7.15.

32. *Yama Smṛti,* Cited in Dānakāṇḍa of *Kṛtyakalpataru* of Bhaṭṭa Laxmīdhara.

33. *Bhāgavata Purāṇa,* 12.1.20; Pargiter, F. E.; *The Purāṇic Texts of the Dynasties of the Kali-Age,* (Reprint) Delhi, 1975, p. 38.

34. *Vāyu Purāṇa,* (ed.) Sriram Acarya, Bareilly, 1969, 1.60.114.

35. *Brahmāṇḍa Purāṇa,* (ed.) J. Sastri, Delhi, 1973, 2.31.89.

Vṛṣala is mentioned alongwith those irreligious peoples who were defeated by kind Pramiti. The *Kūrma Purāṇa* forbids one to offer gifts to the brāhmaṇas devoid of the Vedas and to the *Vṛṣalas*.[36] At another place in the same text a *Vṛṣala* is described as one of the six types of the '*brahmabandhus*'.[37] In the *Mudrārākṣasa* of Viśākhadatta, the term is exclusively used for Candragupta, mostly by Cāṇakya[38] and at one place by Rākṣasa[39] and at another place by *Kañcukī*.[40]

Interpretations of the Crucial Changes of meaning

In the *Ṛgveda, Vṛṣala* characterizes a person who has lost everything in a game of dice.[41] N. N. Bhattacharya has shown that in the Ṛgvedic times, dice was not looked down upon so long as there was communal concept of property.[42] At that time dice was supposed to be a source of justice and has been equated with *ṛta*.[43] It must have been utilised, therefore, for distributing things by lot.[44] Gra-

---

36. *Kūrma Purāṇa,* (ed.) A. S. Gupta, Varanasi, 1972, 2.16-22.

37. *Ibid.,* 2.21.30.

38. *Mudrārākṣasa* of Viśākhadatta, (ed.) M. R. Kale, Act I, Act III, Verse 11, 18, pp. 46, 79 f, 83, 85, 87, 88, etc.

39. *Ibid.,* Act, VI.6.

40. *Ibid.,* Act III, p. 82.

41. Supra, fn. 1.

42. N. N. Bhattacharya, *Ancient Indian Rituals and Their Social Contents,* Delhi, 1975, p. 37.

43. Bhattacharya Writes—"...The establishment of Varuṇa's law is conceived in terms of dicing. The relation between *Akṣa* and *Ṛta* is also anticipated in the *Akṣasūkta* of the *Ṛgveda*...", *Ibid.,* p. 36 f.

44. A. A. Macdonell & A. B. Keith, *Vedic Index,* Vol. I, Delhi, 1967, p. 3.

dually, however, the concurrent concept of individual property got the upper hand over that of communal property.[45] With this change dice was no more a source of random or just distribution.[46] It proved a complete ruin for one and of abrupt prosperity for the other. Nevertheless, the sanctity of dice was still maintained because of traditional notions about it and in *Rājasūya* ceremonies king had to play it as a symbol of justice and fair distribution.[47] The use of the term *Vṛṣala* for the gambler in the passage of the *Ṛgveda* shows many things. It expresses the poor lot of the gambler who has lost everything of his personal property on account of dicing which would never have been his fate if the concept of individual property had not come to stay. Communally the fellow is to be sympathised with,[48] though, individually he has lost his wealth and social status. The position of *Vṛṣala* is comparable to one who has renounced the world and by virtue of his renunciation stands outside the society with nothing personally belonging to him. Besides, there is a disapproval for the act of gambling[49] which causes a loss of wealth, considered as the ultimate end of

---

45. N. N. Bhattacharya, *op. cit.*, p. 37.

46. *Ibid.*, p. 36.

47. *Vājasaneyi Saṃhitā*, X.28 ; *Maitrāyaṇi Saṃhitā*, IV.4.4 ; *Taittirīya Brāhmaṇa*, 1.7.10.5 ; *Kātyāyana Śrauta Sūtra*, XV.7.5. ff ; *Āpastamba Śrautasūtra*, XVIII.18.16.ff ; *Baudhāyana Śrautasūtra*, II.89.

48. According to Kane in the *Ṛgveda*, 'la' is affixed to some words for indicating endearment or sympathy. He gives the example of the word śiśula in this context. (*Ṛgveda*, X.78.6.).

History of Dharmaśāstra, Vol. 1, pt. 1, Poona, 1968, p. 180, P. V. Kane.

49. This disapproval is clearly indicated in whole of the 'Akṣasūkta' of the *Ṛgveda*.

life in that period.[50] *Vṛṣala,* then, in the *Ṛgvedic* passage denotes the sense of an outcast as is shown by Griffith and authors of the *Vedic Index.*[51] In the later Vedic period, the term *Vṛṣala* gradually came to be applied to those *Āryan* ascetics and mendicants who, on account of their high spirituality, have risen above the earth-bound ritualism though not expressly condemning the Vedas and the lore of rituals.[52] By virtue of its association with the group of such eminent non-ritualists of the Vedic-fold the term appears to have acquired a more respectable connotation, though similar groups of ascetics belonging to non-Vedic fold must have perpetuated the trend of disapproval present in the meaning of the term.[53]

In the *Kauśika Sūtra* of *Atharvaveda* it is said that gift to be given to a *Śrotriya brāhmaṇa* may be given to a *Vṛṣala,* in the absence of a *Śrotriya.*[54] No doubt here a *Śrotriya*

---

50. *Ṛgveda,* 1.97.2; M. A. Buch, *Economic Life in Ancient India,* (Reprint) Allạhabad, 1979, p. 9.

51. R. T. H. Griffith, *Hymns of the Ṛgveda,* (Reprint) Delhi, 1976, p. 555; Macdonell & Keith, *op. cit.,* p. 3.

52. Cf. G. C. Pandey, 'The influence of Religion on Indian Social Life', *Studies in Social History,* (ed.) O. P. Bhatnagar, Allahabad, 1964, p. 46; R. C. Jain, *The Most Ancient Aryan Society,* Delhi, 1964, p. 49; 221.

53. Yāska in his *Nirukta* (3.16) confirms the two meanings by explaining the word *Vṛṣala* as *Vṛṣasīla* or *Vṛṣāśīla.*

Yudhisthir Mimamsaka, giving the etymological explanation of the term *Vṛṣala,* writes that the word has two meanings. It stands for a religious man in its *ādyudātta* (आद्युदात्त) form but when *antodātta* अन्तोदात्त), the term denotes an irreligious person.

Yudhisthir Mimamsaka, *Vaidic Svara Mīmāṃsā* (in Hindi) (IInd ed.) Amritsar, 1957, p. 108 f.

54. Supra, fn. 5.

brāhmaṇa has been given a supremacy over a *Vṛṣala* yet it is an indicator of a better social status of *Vṛṣala* in this period in comparison to that in the early Vedic period. This view is further supported by a number of references in the later Vedic texts. In the *Śatapatha Brāhmaṇa* it is said that a *Vṛṣala,* either man or woman, should not touch or go close to the wife of a *Śrotriya brāhmaṇa* during her period of menstruation.[55] The term *Vṛṣala* here is taken as a 'low-caste man or woman' by some scholars[56] but a critical examination of above view shows that it is hardly tenable.[57] That the touch of such a woman pollutes even her family members, not to say of the persons of higher caste, can be shown from a number of references from the *Dharma Sūtras.*[58] The aim of this prohibition, therefore, appears to be to safeguard the purity of the *Vṛṣala* rather than the purity of the menstruating woman. As persons of lower

---

55. Supra, fn. 2.

56. Śaṅkara in his commentary has equated the term *Vṛṣala* referred to in the *Śatapatha Brāhmaṇa* with *Śūdra* which is quoted by Yudhisthir Mimamsaka, (*op. cit.,* p. 108).

Radhakrishnan in his translation of a similar passage of *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* has equated *Vṛṣala* with 'low caste' person, Supra, fn. 3.

57. According to Pārāśara, a woman is a *Cāṇḍālī* on the first day of her menstruation. She is a *brahmaghātinī* on the second day and a *rajakī* (washer woman) on the third day of her courses. (*Pārāśara Smṛti* 7.20). As a *Cāṇḍāla* was considered as the lowest among the several *Śūdra* Subcastes (Kane, *Hist. of Dh.,* Vol. 1, pt. 1. p. 166), and a menstruating woman is compared with *Cāṇḍālī,* there is no question of her being made further impure.

58. *Āpastamba Smṛti,* 7.3; Manu 4.40.41, 5.66; *Pārāśara Smṛti,* X.13.-15: *Kullūka on Manu,* IV.108; 5.66, *Mitākṣarā on Yājñavalkya Smṛti,* III.30, Kane, *op. cit.,* p. 169.

castes were frequently employed in such domestic works as cooking food,[59] discrimination on the level of touching each other would not have been prevalent in the later Vedic society.[60] That *Vṛṣala* has been forbidden to touch a woman only in her courses shows that in normal times he could touch her without any harm. This, therefore, rules out the possibility of an argument that the prohibition in question was aimed at preventing the greater impurity of a *Vṛṣala* to pollute the less impure menstruating brāhmaṇa woman. This interpretation, if correct, certainly asserts a higher ritual purity in the social status of *Vṛṣala* than in the menstruating brāhmaṇa woman. The same conclusion follows from a similar reference to *Vṛṣala* in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.*

Up to the period of *Śrautasūtras, Vṛṣala* appears to have enjoyed a higher social status which is clearly indicated in the *Śrautasūtras* of *Baudhāyana* and *Lāṭyāyana* showing them as taking part in the performance of Vedic sacrifices alongwith brāhmaṇa priests.[61] In the *Baudhāyana*

---

59. Kane quotes *Āpastamba* who has allowed *Śūdras* to work in brāhmaṇas' household provided they were supervised by a member of one of the three higher classes and observed certain hygienic rules about paring of nails, the cutting of hairs. Kane, *op. cit.*, p. 161 f.

Suvira Jaiswal, Presidential Address, *Proceedings of the 38th Session of Indian History Congress,* Bhubaneshwar, 1977.

60. Kane, *op. cit.,* p. 166-167 ; see also Vivekananda Jha, *Early History of Untouchables in India,* (Unpublished thesis) Patna, 1971, quoted by Suvira Jaiswal, in "Some Recent Theories of the Origin of Untouchability : A Historiographical Assessment" *Proceedings of the Indian History Congress,* Vol. 1, 39th Session, Hyderabad, 1978, p. 226.

61. Supra, fn. 4 & 6.

Śrauta Sūtra the social status of *Vṛṣala* appears to have been distinguished from that of a *Cāṇḍāla* and a *Śūdra* whose polluting contact defiles the kindling of wood in a sacrifice.[62] It is interesting to note that among such polluting influences the contact of a menstruating woman is also counted.[63] The fire thus defiled has to be replaced by a new one. While describing the process of this replacement the *Baud. Śr. Sūt.* says that the *adhvaryu* should give away a piece of silver after reciting a mantra to a *Vṛṣala* while depositing the fire again.[64] It is clear that *Vṛṣala* here is definitely other than the *Śūdra,* for there is no question of honouring with the gift of a piece of silver the one whose contact has defiled the kindling of *Agni* earlier. *Vṛṣala* also appears as a receiver of a gift in the *Kauśika Sūtra* as noted above and what is more interesting is the fact of his being mentioned as a substitute of a *Śrotriya brāhmaṇa* as the second best of the receivers of that gift. The *Lāṭyāyana Śrauta Sūtra* informs us of an active role of *Vṛṣala* in a Vedic sacrifice where he replies to a chant of a regular priest as noted above. These instances clearly prove that the position of the *Vṛṣala* in the time of *Śrautasūtras* was by no means lowly. Earlier attempts to equate him with a *Śūdra* or low caste person or an irreligious person were results of attributing a later semantic development of the word to its earlier phase without taking note of its own contexts. Such anachronism often occurs if we proceed to understand the meaning of a term from its later to earlier usage. The dormant tenden-

---

62. *Baudhāyana Śrautasūtra,* 27.8.

63. *Ibid.*

64. Supra, fn. 4; R. N. Sharma, *Culture and Civilization as Revealed in the Śrautasūtra,* Delhi, 1977, p. 48.

cy of disapproval appears to have received a new spell of development in the *Gṛhyasūtras* and the *Dharmasūtras*. Here a tendency to discriminate *Vṛṣalas* from the orthodox people of the Vedic-fold starts which can be seen in the *Gṛhyasūtras of Āśvalāyana*,[65] *Gobhila* and *Jaimini* and the *Dharmasūtra of Viṣṇu* where a *Snātaka* is advised not to travel with *Vṣṛalas*, enemies and irreligious persons.[66] It is argued by Bhandarkar that the *Vṛṣalas* formed a community consisting of the people from all the four *Varṇas* after the patterns of the Aryan community.[67] Perhaps this discrimination was an outcome of some anti-Vedic tendencies prevailing in the rising non-Vedic religions, such as Buddhism and Jainism at that time. Though a sense of disapproval was at the back of this idea of discrimination yet it took sometime to develop into positive derogation. A clear derogation is, for the first time seen in the wordings of a brāhmaṇa of Śrāvastī who abusing the Buddha said, "Stay there O *Muṇḍaka*, O *Samanaka*, O *Vasalaka*" referred to in the *Samyutta Nikāya*. In the *Arthaśāstra*, *Vṛṣala* is used for some non-Vedic heretics such as *Śākyas* and *Ājīvakas*.[68] Shamashastri has interpreted *Vṛṣala* as a *Śūdra* but Prof. R. S. Sharma rightly says that the term is used for non-Vedic

---

65. In the *Āśvalāyana Gṛhyasūtra* a *Vṛṣala* takes active part in the last rites (*antyeṣṭi*) of a brāhmaṇa and is authorised to raise the wife of the deceased person from the pile of the deceased alongwith the other members of her family but he (*Vṛṣala*) is not allowed to recite a Verse which the performer of the rite has been asked to do. *Āśvalāyana Gṛhyasūtra*, 4.2.19, 21.

66. Supra, fn. 8, 9 & 10.

67. Bhandarkar, *Some Aspects of Ancient Indian Culture*, p. 51 & 54, quoted by R. S. Sharma, *Śūdras in Ancient India*, Delhi, 1958, p. 209.

68. Supra, fn. 12.

heretics inviting whom in the Vedic rites was considered to be an offence according to Kauṭilya.[69] Although Vedic orthodoxy was first opposed under the influence of *Jñānamārga* of the *Upaniṣads,*[70] yet it was not taken so seriously since *Upaniṣadic* way of thinking was nothing but a philosophical culmination of Vedic thought and *Upaniṣads* were considered as the last part of the *Vedas.*[71] But when criticism arose from the non-Vedic corners, it took a serious turn which sowed a seed of utmost bitterness between the followers of the Vedic and non-Vedic schools.[72] There are ample references which reveal that the attempts have been made to re-establish Vedic orthodoxy. Compositions of the *Bhagavadgītā, Śāntiparva* of the *Mbh.* and the *Manusmṛti* are the outcome of such attempts which, rejecting the totally negative approach advocated by the *nivṛttimārgīs,* have tried to maintain a balance between the positive and negative approaches through *niṣkāma* or *Asaṅga karma.* In the *Śānti-*

---

69. R. S. Sharma, *op. cit.,* p. 163.

70. *Muṇḍaka Upaniṣad* clearly says that sacrifices are 'frail safts'. *Muṇḍaka Upaniṣad,* 1.2.8; G. C. Pandey in *Studies in Social History,* p. 46.

71. G. C. Pandey, *Mūlya Mīmāṃsā,* p. 5; R. D. Ranade, *A Constructive Survey of Upaniṣadic-Philosophy,* (Hindi tr.). R. N. Tewari, Jaipur, 1971, pp. 2-4; M. Hiriyanna, *Indian Conception of Values,* Mysore, 1975, p. 149.

72. This bitterness resulted into an imposition of untouchability on the followers of these non-vedic religions especially Buddhism. Kane writes, "...persons were treated as untouchables simply through religious hatred and abhorrence because they belonged to a different sect or religion" Kane, *op. cit.,* p. 168.

Buddha and Buddhists have been compared with thieves in the *Rāmāyaṇa, Ayodhyākāṇḍa,* (ed.) S. D. Satvalekar, Svadhyay Mandal, Pardi: edition, Balsad, 1977, 110.34, though this verse is not found in the critical edition of the *Rāmāyaṇa.*

parva and the *Manusmṛti,* the term *Vṛṣala,* therefore, is used for those who did not follow their prescribed duties according to the *Varṇāśrama dharma.* In the starting portion of the *Śāntiparva* we got a bitter criticism for those who, ignoring their social liabilities, were anxious to obtain perfection individually.[73] It may, therefore, be easily said that in the period of *Śāntiparva* those were called *Vṛṣala* who, under the influence of non-Vedic asceticism, were ignoring their society and social liabilities for a personal achievement.[74] In the *Mahābhāṣya* of Patañjali the term *Vṛṣala* denotes a clear sense of derogation.[75] Patañjali provides a comparatively lower social status to a *Vṛṣala* with a brāhmaṇa[76] and marks a distinction between the two on the basis of their complexions and physical features.[77] He also provides similar status to a *Vṛṣalī* and a *dāsī*[78] and, thus, he seems to be conferring the status of a slave on a *Vṛṣala,* but in the *Manusmṛti* a *Vṛṣala* appears to be enjoying a superior position than that of a slave because a *dāsa* is allowed to have the leavings of the food of obsequial rites but to give it to a *Vṛṣala* has been considered a sin which sends the per-

---

73. *Śāntiparva,* 10.20.21, 24-25; 11.16; 12.9; 18.31-33.

74. *Śāntiparva* defines *Vṛṣala* as one who brings *alaṃ* (destroys) to *dharma.* As dharma is manifested into *ācāra, Vṛṣala* stands for one who makes violence to dharma in his *ācāra. Ācāra* according to *Śāntiparva* is nothing but rules of living in accordance with the *Varṇāśrama dharma.*

75. *Pātañjala Mahābhāṣya* on *Pāṇini Grammar,* 2.11, III.1. 107-8. ; R. S. Sharma, *Śūdras,* p. 209.

76. *Ibid.,* II.2.8-11.

77. *Ibid.,* II.22.1; R. N. Sharma, *Brahmins Through the Ages,* Delhi, 1977, p. 183.

78. *Mahābhāṣya,* 2.3.69; 6.2.11, P. D. Agnihotri, *Patañjali Kālīna Bhārata* (in Hindi), Patna, 1963, p. 154.

former of the rite to the *Kālasūtra* hell.[79] The *Amarakośa* for the first time clearly calls a *Vṛṣala* a *śūdra*. It mentions *Vṛṣala* as one of the four names of a *Śūdra*.[80] The *Śabdakalpadruma* and *Vācaspatyam* have also followed the *Amarakośa* and declared a *Vṛṣala* a *Śūdra*. The same tradition has been followed in the *Uttararāmacaritam* where the term has been used for Śambūka. In the *Vāyu* and *Brahmāṇḍa Purāṇa* it is also used for *Śūdra*.[81] In the *Mudrārākṣasa* of Viśākhadatta, the term appears to denote two meanings when it is used by Rākṣasa and kañcukī. For Candragupta it denotes a sense of derogation. But in the speeches of Cāṇakya it indicated a sense of laudation or commendation.[82] In the *Śāntiparva* and *Manusmṛti* the term is referred to in the context of kingly duties and those kings who brought *alaṃ* to *dharma* have been called as *Vṛṣalas*. It appears that authors of these religious texts did not approve the violation of *dharma* for achieving political ends.[83] Though diplomacy (*Kūṭanīti*) was considered as an essential part of politics, it was not generally approved of by the strict followers of the dharma tradition[84] अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृ

---

79. Manu, 3.249.

80. शूद्रश्चावरवर्णश्च वृषलाश्च जघन्यजाः ।

81. *Vāyu Purāṇa*, 78.29; *Brahmāṇḍa Purāṇa*, 3.14.38; S. N. Roy, *Paurāṇic Dharma aur Samāj*, (in Hindi), Allahabad, 1968, p. 178.

82. Viśākhadatta has utilised the term *Vṛṣala* as an example of '*Śleṣa*' ('Pun').

83. *Āpastamba Dharmasūtra*, 19-24-23; *Yāj*. 2.21.

84. Most surprising is the Kauṭilya's disapproval of some Machiavellian measures of politics laid down by Bhāradvāja etc., though he himself has been known for his diplomatic measures. Kane, *History of Dharmaśāstra*, pt. 2, (Hindi tr.) A. K. Chaube, Lucknow, 1973, p. 583; Cf. *Śāntiparva* 138.13, 14, 17-18; 44, 46; 69.

धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् Therefore, kings practising Machivellian politics might have been termed as *Vṛṣalas*.[85] Viśākhadatta appears to use the term in its commendatory sense[86] as he has put it in the mouth of Cāṇakya, who is known for his Machiavellian measures laid down in the *Arthaśāstra*. In view of the above discussion, we can safely conclude that from the time of the *Gṛhyasūtras* down to the early centuries of Christian era the term *Vṛṣala* in its usage carried a sense of mild disapproval for those who did not perform social duties expected of them. It became interchangeable with *Śūdra* in the time of the *Amarakośa* and later on acquired the meaning of *Śūdra* though with some distinction.[87]

Outlines of the Downward Mobility[88] *of Vṛṣala*

The foregoing discussion clearly shows that a person

---

85. On the analogy of the term *Vṛṣala* with Greek *'Basileus'* which means king, Seth has tried to explain the term as the kingly title. K. C. Seth, *Indian Historical Quarterly*, Vol. 13, p. 651.

86. According to Telang, *Journal of Indian History*, 1940, pp. 23-26, *Vṛṣala* denotes a sense of 'His Greatness or Highness' in the *Mudrārākṣasa*; cf. T. R. Sharma, 'A Note on *Vṛṣala*' *Proceedings of the Indian History Congress*, Vol. 1, 39th Session, Hyderabad, 1978, p. 276.

87. Though in the Lexical Literature (and also in some classical texts) *Vṛṣala* became a synonym of *Śūdra*, it was not a common phenomenon in the whole Sanskrit Literature. It still stood even for a brāhmaṇa if he is devoid of his duties as in *Pārāśara* and for irreligious person as is shown by Kullūka who clearly says वृषलोऽधार्मिकः *Pārāśara Smṛti*, 12.29: Kullūka on Manu, 4.108.

88. For a detailed study on Social Mobility see—Romila Thaper, 'Social Mobility in Ancient India with Special Reference to Elite Groups', *Ancient Indian Social History*, Delhi, 1978; S. C.

described as *Vṛṣala* in the times of the *Ṛgveda* is not looked down upon. He has been sympathetically demarcated and reduced to the virtual position of those *munis* who had voluntarily abondoned society for a life of asceticism. But being an involuntary 'recluse' the poor gambler casts greedy looks upon the property and family of others.

The position of *Vṛṣala* in the later Vedic texts shows some improvements towards greater respectability. He can receive gifts meant for a *Śrotriya* in the absence of the *Śrotriya,* can get a silver coin duly gifted with the recitation of a Vedic mantra and, above all, participate in the ritual of a sacrifice. His purity is safe-guarded against the polluting touch of a menstruating brāhmaṇa woman. This improvement in the position of the *Vṛṣalas* may be said due to the resemblance of the poor gambler's position to that of the *munis* or voluntary outcasts of the Vedic or non-Vedic society which gradually led to the application of the word for the whole of that section of people who lived a life of voluntary renunciation with or without holding Vedic ritualism in a high esteem. If so, one can talk of the *Vṛṣalas* of two types (1) those having faith in Vedic ritualism but not practising it and (2) those having no faith in Vedic ritualism and being rather intolerant of it.[89] This

---

Bhattacharya, 'Social Mobility in Ancient and Early Mediaeval India' *D. D. Kosambi Commemoration Volume,* (ed.) L. Gopal, Varanasi.

89. While *Vṛṣala* of the first category symbolised Vedic ritualism in the *Upaniṣads* especially in the *Chāndogya Upaniṣad* (See, Ranade, *op. cit.,* p. 6), *Vṛṣalas* of the second category, being intolerant of it, led a religious revolution which resulted in the origin of Buddhism and Jainism.

explains the distinction in meaning as shown by Yudhisthir Mimamsaka which was brought about by mode of pronounciation of the word as *ādyudātta* and *antodātta*.

The last phase of later Vedic period, (represented by *Gṛhya* and *Dharmasūtras*), including the transition to the subsequent age of the rise of heretic religious systems like Buddhism and Jainism, witnesses a gradual movement in the meaning of the term *Vṛṣala* towards a sort of social stigma attaching to one on account of his being a follower of an unorthodox religious system. Going with a *Vṛṣala* has been prohibited. Distinction has been drawn between *Vṛṣala pravrajitān* and to top them all, Buddha has been condemned by an orthodox brāhmaṇa as *Vṛṣala*. It appears that of the two meanings of *Vṛṣala* in the later Vedic period the first, i. e., *Vṛṣalas* having faith in Vedic ritualism but not practising it themselves got gradually lost and it was taken for granted that the *Vṛṣala* is always a man of anti-Vedic persuation. *Vṛṣala* thus came to denote the recluses and ascetics belonging to the unorthodox fold.

The next stage in the development of the meaning and the social position of *Vṛṣala* is represented by the *Mahābhārata*, the *Manusmṛti* and the *Mahābhāṣya* of Patañjali. The religious disapproval comes gradually to acquire the dimensions of social condemnation,[90] though it is still far off from a later predominant tendency of complete *equalisation* of *Vṛṣala* with *Śūdra*,[91] the lowest of the four Varṇas. *Vṛṣala* appears in these texts as one who does violance to dharma and causes its disappearance, thus bringing him nearer to

90. R. S. Sharma, *Śūdras*, p. 172, 177.

91. *Ibid.*, p. 209,

the position of the impure *dāsas* and *Śūdras*. But a distinction is still drawn between a *dāsa, Śūdra* and *Vṛṣala*.[92]

Vṛṣala becomes a specific synonym of *Śūdra* for the first time in the *Amarakośa* and this trend continues to be the most predominent in all the subsequent texts. But still at times, as in the *Mudrārākṣasa,* we come across a non-derogatory meaning of the term probably because the most popular designer of the manual of Machiavellian politics, Cāṇakya or Kauṭilya is made to apply it fondingly to a king whose mentor he was.

Role of the Socio-religious Forces

The foregoing account of the semantic development of *Vṛṣala* side by side with that of the social status of those denoted by this term shows that at both these levels is noticeable a clear cut trend of downward mobility, downward in the sense of social respectability. Whatever might have been the Socio-economic reasons for this change, it is evident from the predominantly religious contexts of the usage of the term *Vṛṣala* and the journey of the *Vṛṣala* Section of people from one of social approval to that of social derogation, that the Socio-religious forces, especially the religious prejudices of the people, played no less an important part. The study, therefore, clearly underlines the significance of these forces in the process of Social mobility which is often overlooked.

---

92. Supra, fn. 79.

REFERENCES

K. A. N. Shastri, *Age of the Nandas and Mauryas,* (Hindi tr. M. N. Singh), Delhi, 1969, p. 154; R. C. Mazumdar (Ed.), *Age of imperial unity,* p. 55; H. C. Roychoudhary, *Political History of Ancient India,* p. 262 n, 316 n; S. Chattopadhyay, *Bimbisāra to Aśoka,* Calcutta, 1977, p. 77-79; P. V. Kane, *History of Dharmaśāstra,* Vol. 1, Pt. I, Poona, 1908, p. 179; R. K. Mukerjee, *Chandragupta Maurya and his times,* (4th ed.), Delhi, 1966, p. 10f; B. M. Barua, 'Social Status of the Mauryas', *Indian Culture,* Vol. X, No. 1, Calcutta, 1943, p. 31-32; Govind Pai, *Gode Commemoration Volume,* Pt. III, pp. 141-150; H. K. Deb, *Indian Historical Quarterly,* Vol. 8, pp. 466-479, etc.

PRAKṚTILĪNA IN THE SĀṂKHYA-YOGA SYSTEMS AND PRALAYĀKALA IN THE TRIKA SYSTEM OF KAŚMĪRA

DEBA BRATA SEN SHARMA

Kurukshetra

In the present article, a comparative study of the *prakṛtilīna* souls of the Sāṃkhya-Yoga systems with the *pralayākalas* of Trika system of Kaśmīr has been presented.

In the Sūtra 54 of Chapter III of the *Sāṃkhya sūtra,* a reference has been made to *prakṛtilīna* souls, where it has been stated that the spiritual aspirants who succeed in effecting their dissolution after death in the *Prakṛti,* the primordial cause of the Cosmos, fail to achieve the Supreme Goal as they are forced to re-emerge in the next cycle of creation like one who reappears after remaining under water for sometime.[1] Elaborating the significance of the Sūtra, Vijñānabhikṣu (16th century) in his *Pravacanabhāṣya*[2] observes that the sādhakas who merely follow the path of non-attachment (*Vairāgya*) towards any of the *tattvas* (evolutes) of *Prakṛti* beginning with *Mahat* without striving for obtaining discriminative wisdom (*vivekajñāna*) not only fail to achieve the ultimate Goal but also have their body dissolved in the Prakṛti, the creatrix of Cosmos after their death. Such aspirants are technically called *prakṛtilīna* souls. Just as a person after remaining for a while under water re-

---

1. *Op. cit.* न कारणलयात्कृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।

2. *Sāṃkhyapravacanabhāṣya,* (ed.) Ramashankar Bhattachrya, Delhi, IInd Ed., 1977, p. 142.

emerges, in the same way the *prakṛtilīna* souls re-emerge in the beginning of the cycle of creation in the form of Īśvara. Their re-emergence is a logical corollary of their continuance of ajñāna (ignorance) in them in the form of *saṃskāra* (residual impression) in the absence of discriminatory wisdom (*vivekajñāna*).

The *Sāṃkhya Kārikā* also alludes to the *Prakṛtilīna* souls in Kārikā 45. After enumerating the varying results produced by the eightfold mental dispositions (technically called *bhāvas*) existing in the *buddhi* of the individuals, Īśvarakṛṣṇa mentions that the cultivation of more non-attachment without trying to obtain discriminatory wisdom (*vivekajñāna*) through intense personal endeavour results in the dissolution of the body of the individual in the *Prakṛti,* the primordial creatrix.[3] As a consequence of this the individual becomes devoid of body and he lies merged in the *Prakṛti* in a disembodied condition, as it were.

Commenting on this kārikā, Vācaspatimiśra in his commentary, *Tattva kaumudī* mentions three kinds of *bandhas* (bondage) viz., *dākṣaṇika, vaikārika* and *prākṛtika*[4] with one of which the individual soul may be bound. Relying on the quotation from the *Vāyu Purāṇa,* he explains the nature of these three kinds of bondages in this manner. The *dākṣaṇika* bondage affects those individual beings who remain satisfied by performing certain meritorious deeds such as giving charity, building dharmaśālās (charitable

---

3. वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातः विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥

*Sāṃkhya Kārikā,Kā.*45.

4. *Sāṃkhyatattva Kaumudī,* pp. 178-79.

houses for the stay of poor people), constructing tanks etc. and do not make any effort to obtain discriminatory wisdom. Such souls are able to enjoy only the fruits of their meritorious deeds in this life or hereafter and hence are unable to put a stop to their repeated transmigrations. Obviously such persons do not achieve the *Summum Bonum*.

There are others who being keen on achieving liberation, make intense affort to obtain discriminatory wisdom (*Vivekajñāna*). But they fail in their efforts owing to the presence of thick veil of ignorance, clouding their buddhi and consequently identify their self with not self (*anātmavastu*) in the form of one of the evolutes of Prakṛti such as five gross physical elements (*bhūtas*) or sense organs (*indriyas*) or ego (*ahaṃkāra*) or intellect (*buddhi*). As a result of this, when they lose their physical body after death they have to stay in disembodied condition, merged in either of the evolutes of *Prakṛti* enumerated above.[5] This obviously implies that they have remained in bondage in disembodied form for a considerable period of time. The rational for holding such a view is not far to seek. The general principle governing this is that one becomes what one contemplates—if one contemplates on the material elements (*bhūtas*) constituting his physical body as his real self, he remains identified with them for one hundred *manvantaras* after death according to the *Vāyupurāṇa* ; if on the other hand, one contemplates on his sense-organs as his self, he gets himself merged in the sense-organs after death and remains in disembodied condition for ten *manvantaras* but if one contemplates on his ego (*ahaṃkāra*) as his real self,

5. *Ibid.*, p. 179.

he looses his body after death and remains in disembodied state for one thousand *manvantaras.* Similarly if one contemplates on his *buddhi* (intellect) as his real self, he comes disembodied after death and remains in that condition for ten thousand *manvantaras*[6] and so on. In this way such individual beings, having failed to transcend the barriers of ignorance, remain in a state of disembodied existence (*videha*) for a considerable period of time. They are therefore regarded as ensnared by what is called the *vaikārika bandha,* i. e. bondage caused by their dissolution of body in one of the numerous material evolutes of *Prakṛti.*

There are others who having failed to obtain discriminatory wisdom despite their intense personal efforts, contemplate on the *Prakṛti* itself, looking upon it as their self. Such spiritual aspirants not only fail to achieve the supreme Goal in life but also get merged in the *Prakṛti* after losing their body in death. They therefore have to lie embeded in *Prakṛti* in disembodied condition. Such souls are technically called *prakṛtilīnas* (lit. merged in *Prakṛti*) and they are believed to stay in disembodied condition for one hundred years.[7] Their bondage is known as *Prākṛtika bandha.*

This Sāṃkhya theory of three kinds of *bandhas* and twofold disembodied beings viz., the *videha* souls and the *prakṛtilīna* souls which has been explained at length by Vācaspatimiśra is also supported by other commentators[8] of the *Sāṃkhya Kārikā.* There appears to be a fairly ancient tradition on which the Sāṃkhya theory of twofold disembodied beings is based but its origin is now unknown.

---

6. *Ibid.,* pp. 178-79.
7. *Ibid.*
8. Such as Gauḍapāda, etc,

Outwardly, the two kinds of disembodied beings, the *videha* souls and *prakṛtilīna* souls appear to be similar in nature, both being bound by ignorance of some kind or the other, and both being devoid of physical body and, therefore, forced to exist in disembodied condition for a long period, but if we examine closely their nature to discover the points of difference if any in their nature, we do not find them described in any of the texts of the Sāṃkhya system. The *Yoga sūtra* of Patañjali alludes to the two kinds of disembodied beings,[9] and if try to understand the meaning of the *sūtra* in the light of various well known commentaries on the *Yogasūtra* by Vyāsa, Vācaspati, Bhoja and Vijñānabhikṣu, their difference becomes clear. In the following paragraphs we propose to give an appraisal of their nature as explained by these commentators.

Vyāsa in his *bhāṣya* on the *Yoga sūtra* I, 19 has stated that the embodied individuals attain the form of disembodied beings on account of *bhāva* which has been explained variously by different commentators. According to Vācaspati Miśra, the term *bhāva* signifies *avidyā* (ignorance),[10] while Bhoja understands it in the sense of empirical world[11] and Vijñānabhikṣu as birth.[12] After reviewing all these different views by different commentators, Hariharānanda in his *Bhāsvatī* commentary has expressed the opinion that the term bhāva occurring in *sūtra* actually signifies the resi-

---

9. Cf. *Yogasūtra, Vyāsabhāṣya* and *Bhojavṛtti* on Sū. I, 17; I, 19 & III, 26.

10. भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या — *Tattvavaiśāradī*, p. 57.

11. *Bhojavṛtti*, (ed.) Ramashankar Bhattacharya, Delhi in Sū. I, 19.

12. भवो जन्म क़ारणं यस्येति विग्रहः — *Yogavārttika*, p. 58.

dual impression of *mūla ajñāna*[13] which persists even after attainment of *nirbīja samādhi,* owing to the individual tainted *citta.* When the spiritual aspirant obtains complete dissociation from all kinds of objects of experience through non-attachment (*vairāgya*) in the stage of *Samprajñāta samādhi,* he is able to accomplish complete cessation of all kinds of knowledge. As a consequence, all his sense-organs etc. get dissolved, since they cannot exist in the absence of the objects of knowledge. In this manner the sādhaka attains the *nirbīja samādhi* in which even all his sense organs cease to function.[14] When such aspirants are dissociated from physical body after death, they have to stay in a state of disembodied existence. Such aspirants are called *videha* souls who lie disembodied without being liberated in the absence of *vivekajñāna.* It may be observed here that the Haṭhayogins too are able to attain this state of disembodied existence by practising three kinds of *bandhas* viz. *uḍḍāna bandha, Jālandhara bandha* and *mūla bandha* after undergoing certain purificatory rites such as *neti, dhauti* etc. and by stopping the functioning of prāṇavāyu by following prescribed disciplines which includes khecarīmudrā.[15]

According to Yoga system, the *prakṛtilīna* souls too are disembodied beings who attain this state after their death by following the path of non-attachment (*vairāgya*) as a consequence of which their bodies get dissolved in the *mūlaprakṛti* where they lie till the beginning of next cycle of creation. All commentators of *Yogasūtra* like Vyāsa, Vā-

---

13. *Op. cit.,* pp. 52-55.

14. *Ibid.,* p. 53.

15. *Ibid.,* p. 54 ; See footnote by the editor Rama Shankara Bhattacharya.

caspatimiśra, Bhoja and Vijñānabhikṣu, generally agree on the above description of the *prakṛtilīna* souls. But Vijñānabhikṣu points out that there should be some point of distinction between the two kinds of disembodied beings, the *videha* souls and *prakṛtilīna* souls. According to him, the *videha* souls are not completely devoid of body, they are, in fact, endowed with some kind of subtle body which enables them to enjoy some *aiśvarya* (glory) though of limited nature.[16] They are called *videha* simply on account of their dissociation with gross physical body[17] and as such are believed to lie on some plane or the other in the created world (*Brahmāṇḍa*).[18] But the *prakṛtilīna* souls are totally devoid of all kinds or bodies, gross as well subtle, which lie merged in the *mūla prakṛti*. As such they actually are the disembodied souls in the true sense of the term. But even *Prakṛtilīna* souls are said to enjoy pure *bhoga* through their mere *saṅkalpa* (resolve). Such souls have been equated with *Īśvara*[19] who possess the capacity to rule over *videha* souls occupying lower position owing to their having physical bodies dissolved in one of eight kinds of *prakṛtis* (*aṣṭa prakṛti*) such as *mahat, ahaṃkāra* etc. The *prakṛtilīna* souls are said to be merged in *prakṛti* till the beginning of next cycle of creation.

---

16. *Yogavārttika*, p. 47.

17. Cf. विगतदेहाहङ्कारत्वात् विदेहशब्दवाच्या, *Bhojavṛtti*, (ed.) Ramashankara Bhattacharya (Delhi) on Sū.I, 17.

18. विदेहास्तु सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता .... *Pātañjalasūtravṛtti*, p. 20.

19. प्रकृतिलयानाञ्च विदेहभ्योऽयं भेदः — विदेहाः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाल्पमैश्वर्यं मलिनञ्च विषयं भुञ्जते, प्रकृतिलयास्तु बहिर्गमनेन विदेहान् प्रत्यपीशते, स्वसंकल्पमात्रेणैव तत्रैव निर्मलं कारणसत्त्वनिर्मितं विषयञ्च भुञ्जते त ईश्वरकोटय उच्यन्त इति । *Yogavārttika*, p. 47.

Against this back ground, let us now turn our attention to the concept of *Vijñānākala* and *pralayā-kala* as admitted by the ācāryas of Trika system who resemble to some extent to the *videha* and *prakṛtilīna* souls of the Śāṃkhya-yoga systems described above.

Being a purely monistic system of religio-philosophical thought, the Trika system believes in the existence of one Supreme Reality, technically called *Parama Śiva.*[20] He is endowed with Divine Śakti, also known as *Svātantrya śakti* (Divine Freedom)[21] due to which, He is both Transcendent Absolute (*Anuttara*) and at the same time, Immanent Reality (*Viśvātmaka Caitanya*). The Divine Śakti is not something different from Him, it constitutes His inalienable nature.[22] Exercising this Divine Freedom *Parama Śiva* sometimes manifests Himself as the Universe which is nothing but the unfoldment of His immanent nature, His self expansion in the aspect of Śakti.[23]

The Universe which the *Parama Śiva* unfolds in Himself out of His Free and Independent Will,[24] consists of two Stadias of creation viz., the Pure order (*Śuddha Adhva*) which is comprised by five *tattvas* (levels of creation) such as *Śiva, Śakti, Sadāśiva, Īśvara* and *Śuddha vidyā,* and the Impure order (*aśuddha Adhva*) which is constituted by thirty

---

20. ....भगवान् विश्वशरीरः... ....श्रीपरमशिवः........ । *Pratyabhijñā Hṛdayam,* Sū.4 com.

21. भगवती (चिति) स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी....... *Ibid.,* Sū.1 com. स्वतन्त्रशव्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। *Ibid.*

22. *Tantrasāra,* Ah.VIII, p. 73.

23. ....स्वशक्ति स्फार एव । *Tantrāloka,* Ah.I, p. 121.

24. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । *Pratyabhijñā Hṛdayam,* Sū.2.

one *tattvas* beginning with *Māyā* and five *Kañcukas* viz., *Kalā, Vidyā, Rāga, Kāla* and *Niyati, Puruṣa, Prakṛti* and her 23 evolutes.[25] The Pure Order is said to be in the realm of *Mahāmāyā* which is only the Divine *Śakti* in its pure and pristine form, while the Impure order lies in the sphere of *Māyā Śakti* which too is the Divine Śakti in its impure form i. e. material form. Hence it is held that the Pure order is characterised by non-dualism (*abheda*) while the latter has limitation and discreetness (*bheda*) as the distinguishing feature.[26]

It is believed that the thirty six *tattvas* enumerated above constituting the totality of the universe represent as many levels of creations,[27] on which the different kinds of subjects, all self-assumed forms of the Supreme Experiencer, *Parama śiva,* exist. The Trika system broadly classifies these *pramātās* under seven heads namely *Śiva, mantra maheśvara, mantreśvara, mantra vijñānākala, Pralayākala* and *Sakala*[28] which are said to exist on the levels of *Śiva, Sadāśiva, Īśvara, Śuddha vidyā,* below *Mahāmāyā,* Māyā respectively.

Of these seven kinds of *pramātās* (Subjects), *Vijñānākalas* and *Pralayākalas* alone are unembodied and disembodied beings, and as such, they bear resemblence to some extent to the *videha* and *prakṛtilīna* souls described above.

---

25. *Ṣattriṃśattattvasandoha,* (ed.) D. B. Sen Sharma, Kurukshetra, 1977, p. 14-15, *Tantrasāra,* p. 74.

26. *Ibid.*

27. See author's article "Conception of Tattva, A Study" in *Mm. Gopinatha Kaviraja Felicitation Volume,* Lucknow, pp. 198-201.

28. *Tantrasāra,* p. 92.

Let us now examine in brief their nature as described in texts of the Trika system to bring out the similarity or difference, if any, in their nature.

The *Vijñānākalas* are unembodied (*videha*) experiencers who are said to exist below *Mahāmāyā* but above *Māyā*. The reason for their assigning a place below *Mahāmāyā* is that they are said to be covered by *Āṇavamala* which is an off-shoot of the imposition of limitation by the Supreme Lord,[29] *Parama Śiva* on Himself out of His Free will in exercise of His Divine Freedom. Their association with *āṇavamala* signifies that they are limited by their very nature,[30] and therefore, they cannot have any place in the Pure order as *Nigraha Śakti* (Power of self-limitation) does not operate there. Again, their existence above *Māyā* indicated that they cannot be associated with any kind of body. It is, therefore, said that they remain in unembodied condition above *Māyā* but below the *Mahāmāyā*.

The Trika system holds that the *āṇavamala* is of two kinds, one which limits and covers *bodha* aspect of Divine Nature of the *Pramātās,* and the other which cripples and affects their freedom aspect (*svātantrya*).[31] Hence as it envelops the *pramātās* it manifests too kinds of limited subjects (*mita pramātās*) firstly, those who retain consciousness (*bodha*) of their Divine Essence but are bereft of Divine Freedom (*svātantrya*) and secondly, those who are unaware

---

29. *Ibid.,* Ah.VIII, p. 76.

30. Cf. *Īśvarapratyabhijñā Vimarśinī,* III.2.7 com., p. 251 (Bhāskarī, ed.).

31. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
Ibid., III, 2, 4, p. 248 (Bhāskarī).

of their Divine Nature but possess Divine Freedom in truncated form as it were. The former are called *vijñānākalas* and the latter category includes *pralayākalas* and *sakalas*. The *Vijñānākalas,* thus are not oblivious of their Divine Essence hence they do not differ vastly from the Supreme Lord.[32] As such they are regarded to be pure *pramātās* as compared to the *pralayākalas* and *sakalas* who are impure subjects (*pramātās*). Being bereft of body, they have no evolution to the higher levels of creation or involution into lower levels, they have to lie immobile immersed in their Divine Essence till the Cosmic Dissolution.

If we compare the concept of *videha* souls with that of *vijñānākalas,* their mutual difference, despite apparent similarity, becomes obvious. For instance, the spiritual aspirants who have successfully developed a state of complete non-attachment (*vairāgya*) while remaining in the state of *Samprajñāta samādhi,* which results in the dissolution of all their sense-organs and thereafter have attained the state of disembodied existence after death, such aspirants are called *videha* souls. It is thus a state which the spiritual aspirants attain through their personal efforts. But the *vijñānākalas,* on the other hand, are unembodied beings i. e. beings who were at no time associated with any kind of body. They come into being at the time of Cosmic involution by the Supreme Lord[33] whereas the *videha* souls reach that state after intense endeavour in the form of spiritual discipline for a long time, remaining in embodied existence. No spiritual aspirant can attain the state of *vijñānākala* who are unique limited *pramātās* as they remain im-

---

32. *Īsvarapratyabhijñā Vimarśinī,* p. 251 (Bhāskarī, ed.).
33. *Ibid.*

mersed in their nature ever since the Cosmic creation. But both the *vijñānākalas* and *videha* souls resemble in their nature in one respect, namely, both are not liberated souls as both fail to attain the knowledge of their real Self. The *vijñānākalas,* however, remain aware of their divine *Svarūpa* but are bereft of their Divine Powers, the essence of their Divinity. The *videha* souls remain isolated from *Prakṛti* but the sheath of ignorance continues the form of *Saṃskāra* which prevents them from getting a glimpse of their real Self. According to Vijñānabhikṣu, *videha* souls are not completely devoid of body, they possess subtle body through which they enjoy some kinds of *aiśvarya.* But *vijñānākalas,* being unembodied, are not capable of such enjoyment.

The *pralayākalas,* according to the Trika system, are those spiritual monads (*cidaṇus*) who are enveloped by two kinds of *malas* (defilements), the *āṇava* and *māyīya*[34] and, therefore, are said to exist on the level of *Māyā tattva.* As they are said to be not associated with *Kārmamala* which is responsible for *cidaṇus'* association with appropriate kind of body, they remain disembodied. As they are believed to be associated with the first kind of *āṇavamala* described above, they are, therefore, not conscious of their Divine nature, though they have the Divine Freedom intact. The Divine Freedom, however, is covered and crippled by the five *kañcukas* on the level of *Māyā* referred to above which deprive them of such Divine Powers as omniscience, omnipresence, omnipotence etc. They there lie immobile and oblivious of their nature on the level on the *Māyā.* They are considered as limited and impure subjects on account of their being covered by two kinds of *malas* and lying im-

---

34. *Ibid.,* III, 2, 8, p. 252.

mersed in *Māyā*.[35] They are said come into being at the time of cosmic involution and also as a result of spiritual aspirants ascent in gradual steps to the levels beyond *Prakṛti* through their personal endeavour in the form of *Sādhanā*. That is to say, a particular aspirant, if he is not recipient of Divine *Anugraha* from the Supreme Lord, he is not said to be able to eradicate *āṇavamala* which results from the imposition of self-limitation by the Supreme Lord on Himself out of His Free and Independent will. It is, therefore, held that such aspirant may evolve and gradually ascent till the level of *Prakṛti* and become disembodied, but he cannot free himself from being enveloped by *āṇava* and *māyīya malas*. These Sādhakas attain the state of *pralayākala* through evolution or their personal efforts. Such *sādhakas* have to remain in this state, till the cosmic Dissolution after which they again reappear as embodied beings in the next creative cycle.

If we compare *pralayākalas* with *Prakṛtilīna* souls of Sāṃkhya-yoga systems we find that they are similar to great extent, though, in certain respects, they differ from each other. For instance, both *pralayākala* and *prakṛtilīna* souls are disembodied fettered beings (*paśu*) have reached that state through evolution or ascent : the Trika considers that *pralayākalas* also come into being at the time of cosmic involution which the Sāṃkhya-yoga consider to be not possible. Both *pralayākala* and *Prakṛtilīna* souls lie immobile in the *ajñāna* (ignorance) till the beginning of next cycle of creation ; the Trika holds, that *Pralayākalas* lie on the level of *Māyā* while the Sāṃkhya-yoga holds to lie on the level of *Prakṛti* only, as the latter does not admit the existence of

35. *Ibid.*
P. 37

anything beyond *Prakṛti*. The Trika considers *pralayākala* to be covered by two *malas,* namely, *āṇava* and *māyīya,* while the Sāṃkhya yoga considers *prakṛtilīna* souls to be covered only by ignorance about their true nature, which takes the form of *prākṛtika bandha*. The Yoga system regards the *prakṛtilīna* souls as enjoying pure *bhoga* through *sankalpa* and equates them with *Īśvara,* while this is not the case with *pralayākala* who are considered to be fettered limited disembodied subjects, as such incapable of any *bhoga* or enjoyment of any glory (*aiśvarya*).

ABHINAVAGUPTA'S INTERPRETATION OF KĀRIKĀ NO. 38 OF CHAPTER SIX OF NĀṬYA-ŚĀSTRA

R. S. Tiwari

Faizabad

Bharata's view on production of *rasa* in the special context of dramatic representations in *Kārikā* no. 38 is quite clear. *Rasa* holds the supreme position in a *kāvya*. The *Vibhāvas, anubhāvas* and *Vyabhicāris* reside in *rasa* and get evolved and harmonised within the supervisory governance of the proposed *rasa*.

(A)

The Kārikā in question reads thus :—

"यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः ॥"

(*Nāṭya-śāstra,* Chaukhamba Sanskrit Series, 1929)

In order to have an accurate appreciation of Abhinava's interpretation of this famous verse, it will be worthwhile to note that this traditional Kārikā (Anuvanśya śloka) has been cited by Bharata as a finale to his discussion of *Rasa-niṣpatti,* Rasa's production. He raises a debate whether Bhāvas are produced from Rasas, or Rasas are produced from Bhāvas, or both are produced by virtue of their mutual relationship. The text runs thus :

"अत्राह । किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ? अत्र केषाञ्चिन्मतं परस्परसंबंधादेषामभिनिर्वृत्तिरिति । तन्न । कस्मात् ? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिरिति, न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।"

(*Ibid.*, page 71)

Apparently the passage postulates three alternatives : First that the Bhāvas are produced from Rasa ; Second that

Rasas are produced from Bhāvas ; Third that Rasas and Bhāvas are porduced from each other. But, the phrase "Tanna" creates a difficulty. Which of the three propositions does it negate ? Acharya Vishweshvara interprets, in his Hindi translation of the *Abhinava-bhāratī,* of course, according to Abhinava, that the phrase negates the first and the third propositions, namely, the Bhāvas being produced from Rasa and Bhāvas and Rasas being produced by virtue of their mutual relationship. This interpretation does not stand scrutiny. At one time we are told that Bharata's own position supports the second alternative and at another that it supports the third. In this way, no definite or definitive stance is attributed to the Muni, leaving us in a verbal tanglewood. Bharata is seldom ambiguous or equivocal in his celebrated treatise on dramaturgy. The fact of the matter appears to be a possible corruption in the original text with the passage of centuries which is responsible for the confusion in the actual meaning. The partial emendation, suggested by Dr. Manmohan Ghosha in his English translation of the *Nāṭya-śāstra,* although with a certain amount of diffidence because of the current text having acquired a sort of sanctity during the roll of time, seems to us acceptable. The text, incorporating Dr. Ghosha's emendation, should read thus :

"अत्राह । किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ? अत्र केषाञ्चिन्मतं भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिरिति, न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति । तन्न । कस्मात् ? दृश्यते हि परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति ।"

Abhinavagupta does not, however, discover any defect in the current text and has been followed by Bhojarāja in his elaboration of the *"Ahaṃkāra-śṛṅgāra"*. Naturally, therefore, it amounts to "fools rushing in where angles fear to tread", should the suggested correction be accepted which will obviously lead to a refutation of Abhinava's explana-

tion of the above-quoted Kārikā. We are afraid that the towering poetician has introduced a sort of equivocation in his construction on the word "Bhāva". Bharata is wholly explicit in the instant employment of this phrase which clearly denotes the trinity of "Vibhāvas", "Anubhāvas" and "Vyabhicārīs", not the "Sthāyīs". This distinction has been virtually allowed to go by the board by Abhinava. He has once used the term, 'Bhāvas', as suggestive of 'Sthāyī-bhāvas' : "नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावाः सामाजिके,",[1] and then in the sense of the Vibhāvas etc. his explanation of the statement, "परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्, ", occurring in verse no. 36.[2] In his accustomed fashion of strikingness, he has explored a blemish or 'Doṣa', called "Anyonyāśraya" (interdependence), in assuming that Rasas and Bhāvas are produced from each other, and then has explained away the same by arguing that the stated production of Bhāvas from Rasas in conjunction with the production of Rasas from Bhāvas does not actually mean 'Production', but that it only means that the Vibhāvas etc. acquire their special nomenclature in the act of dramatic representation, purposed to evoke the fullest relish of the Rasas :

"एवं भावैः रस्यमानता, रसैश्च भावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम्"[३]

We feel that Bharata's verse (No. 36) could be explained without discovering the blemish and then supplying the reconciliation as has been done by Abhinava. The Kārikā simply means that a Rasa will not be evoked unless it is bolstered by the paraphernalia of the Vibhāvas etc. and that the apparatus of the Vibhāvas etc. will lose its force unless it

1. *'Hindī Abhinava-bhāratī'* (1960), p. 508.
2. *Ibid.,* pp. 511-12.
3. *Ibid.,* p. 514.

evokes the Rasa. This is the simple import of the statement, "परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्,"

Thus there was absolutely no need for Abhinava to exercise his usually meddling intellect in annotating the simple verse. The following Kārikā no. 37 re-iterates Bharata's stance overtly beyond any shadow of dubiousness, namely, that Rasas and Bhāvas are both crystallised by each other :

"एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्"

(B)

Against the backdrop of the above discussion, we shall find it profitable to investigate the purport of the present Kārikā no. 38. The reading, adopted by Abhinava, includes *"Tebhyo"* instead of *"Teṣu"* in the second line, and even in that circumstance, our interpretation does not suffer any setback.

It should be borne in mind in this context that the discussion of the "Rasa-niṣpatti" in the sixth chapter is prefaced with the remark that no dramatic meaning materialises without Rasa : "न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते". It is not, therefore, mere coincidence that Bharata has concluded his discussion with the comment that the Rasas are the root and the Vibhāvas etc., rather the entire dramatic manoeuvring, acquire their significance only when they are organised and harmonised within the frame-work of the Rasa : "तेषु भावा व्यवस्थिताः"

What we purpose to pinpoint is the fact that Bharata is discussing the Rasa production in the special context of dramatic representations which has governed his entire trend to acknowledge or to accentuate the importance of the proper and judicious management of the "Rasa-prapañca" and

to drive home the point that the mechanism will be meaningless if it failed to minister to the arousal of the intended Relish.

Let us now enter upon an examination of the interpretation of the Kārikā (No. 38) as given by Abhinavagupta with his accustomed pedantry :—

"बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः।..........कविगतसाधारणीभूत-संविन्मूलश्च काव्यपुरःस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित् परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्धया विभावादि-प्रतीतिरिति। तदेवं मूल-बीजस्थानीयं कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिक-तुल्य एव। तत एवोक्तं शृङ्गारी चेत् कविः इत्यादि आनन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादि-स्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिक-रसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्॥"

(हिन्दी अभिनवभारती, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५१५)

"As the seed remains the original cause of the tree, so Rasa stands as the original cause of the Kāvya. The actions of the *Naṭa* (actor), as conditioned by the poetic portrayals, are informed by the Generalised Consciousness ("Sādhāraṇī-bhūta saṃvit") of the poet. The selfsame consciousness is the basic Rasa. Captivated by this generalised consciousness of the poet, the spectator comes to perceive the Vibhāvas etc. by a special mental process. In this way, the poet's Rasa occupies the place of the original seed. The poet resembles the Sāmājika (the beholder). That is why Ānandavardhana has observed that, should the poet be inspired with Śṛṅgāra, the entire world becomes instinct with Rasa. So, Kāvya occupies the place of the tree. The histrionic acts of the *Naṭa* occupy the place of flowers etc. And. the enjoyment of the Rasa by the Sāmājika occupies the place of the fruit. The universe becomes integrated with Rasa as a result thereof."

We would seek the indulgence of our learned readers if we venture to locate the flaws in this magnificent exegesis of the top-ranking teacher of Indian Poetics. The foremost thing, striking us here, is Abhinava's pedantic solicitude to elaborate the Simile, employed by the original master. The "Prastutārtha" or the instant meaning here is the over-all supremacy of the Rasa inside the frame-work of which the Vibhāvas etc. acquire their shape and complexion. The metaphor of the tree has been pressed into service by Bharata for the elucidation of this "Prastutārtha". The Muni mentions only a threesome of items or elements : First the *Bīja,* Second the *Vṛkṣa* and Third the *Puṣpam phalam.* Bharata does not evidently distinguish between "Puṣpam" and "Phalam", flower and fruit, and takes them together, as a whole. The seed produces the tree and the tree produces the flowers and fruits together. Corresponding with these three elements, come the proposed Rasa in the first place ; the created Kāvya in the second place ; and the Abhinaya or the histrionic representations in the third place. That is to say, according to our interpretation, the 'Abhinayas' suggest both flowers and fruits together, and the separation between them is uncalled-for, sheerly gratuitous. But, if at all one is minded to distinguish them, then assuming that the 'Abhinayas' are the flowers, the fruit will, of necessity, be the Rasa, produced on the stage where the Abhinaya is taking place. There is perfect unanimity now among the scholars that Rasa, in Bharata's conception, is an objective entity, generated on the stage in virtue of the histrionic representations of the actors, which is enjoyed by the spectators even as a good-humoured eater enjoys the cooked viands,[4] and not a subjective experience. But, Abhinava,

4. *'Nâṭya-Śâstra'* (Chaukhamba), p. 71 (1929).

in consonance with his famous doctrine of Expressionism, "Abhivyakti-vāda", has elected to bring in the "Sāmājika-rasāsvāda" which falls in tune with his subjective doctrine which suggests that Rasa is manifested in the heart of the 'Sahṛdaya' as a result of the development of the 'Sthāyīs' which reside inherently in his psyche in the shape of "Vāsanās" or "Archetypes" in the words of Jung. Abhinava has openly equated "Kavi-gata rasa" with the "Sāmājika-gata rasa" in his use of the phrase "Sāmājika-rasāsvāda". Let us be explicit.

We hold, in the first place, that the original simile, as employed by Bharata, is complete in itself--there being no need to elaborate it. His meaning is evident. The Rasa, proposed by the poet to be evoked in his composition, moulds the shape and complexion of the poem even as the seed determines the growth of the tree and the Abhinayas, embodying the Anubhāvas and the Vyabhicārīs, are determined by the complexion or the governing tenor of the poem or play even as flowers and fruits are determined by the type or species of the tree. In the second place, we hold that if at all the fruit is to be interpreted in terms of the Rasa enjoyment, then this Rasa will be recognised as generated on the stage for the objective enjoyment of the beholders. The flowers and the fruits grow together in one place, not that the flowers grow at one place and the fruits at another. Accordingly, if Abhinava's thesis of a divorce between the seats or beds of the Abhinayas (corresponding with the flowers) and the 'Sāmājika-rasāsvāda' (corresponding with the fruit) is accepted, the principle of "Sāmānyādhikaraṇya" becomes frustrated. The phrase, *Teṣu bhāvā vyavasthitāḥ*, unequivocally brings out the intended import namely that the Vibhāvas etc. get evolved and harmonised within the supervisory governance of the proposed Rasa.

That means that Bharata has re-iterated here his initial proposition that no dramatic or poetic meaning materialises without the Rasa which determines the development of the play or the poem. Since Rasa is necessary for a poetic composition, it is conceived by the poet even before he enters upon the process of composition, and then the employment of the "Rasa-prapañca" is all oriented towards the evocation or arousal of the same. This is the clear import of the Kārikā in question. It was pointed out to the present writer by a certain enthusiast that the Kārikā is merely "Anuvanśya", traditionally handed down to Bharata, and not his own. The implication was that the verse does not embody Bharata's theory. Let us observe here that the Muni has cited the traditional verses only in support of his stance, and not to controvert it.

(C)

A more fundamental objection arises in respect of *Kavi-gata rasa.* Can the poet be regarded as the enjoyer or repository ("Āśraya") of Rasa, Rasa not in the loose sense of the term, but in its technical, "Śāstrīya" implications? The "Sādhāraṇī-Bhūta saṃvit" or Generalised Consciousness is the real Rasa according to Abhinava. Here he has recorded a sharp departure from Bharata. If Bharata speaks of "कवेरन्तर्गतं भावं "[5] etc., he does not, in any way, suggest that Rasa is born in the poet's heart. He rather suggests that the emotions find a sanctuary in the poet's soul even as they are inherently found in the breasts of all human beings. As for Rasa, it connotes consummation of the relishability ("Āsvāda-prakarṣa") of the Sthāyīs. Now, does

5. *Ibid.*, p. 79.

the poet actually relish the emotions to the point of their assuming the Rasa complexion while he is a "poet", that is, while he is engaged in the act of creation? The Sāmājika relishes the Sthāyī when it is represented on the stage in all its bearings. By equating the poet with the Sāmājika, Abhinava has suggested that the poet relishes the emotions like the "Sahṛdaya". We emphatically deny it, despite the existence of a volume of contrary opinion, especially among the ranks of the present generation of Sanskrit practitioners of the poetic art. The "Sādhāraṇī-bhūta saṃvit", too, cannot be called Rasa unless it is tasted and relished. During the moments of creation, this consciousness, no matter generalised, cannot acquire relishability on its own. According to Abhinava himself, a Sthāyī acquires the status of the Rasa when it becomes *Rasyamāna* or *Carvyamāṇa,* gaining immunity from all manner of obstructions. *Bhogāveśa* is also said to characterise the Rasa experience. Now, we hold that the poet does not experience *Bhogāveśa,* that is, passionate enjoyment, during his fulfilment of the role of a creator. And, should the case for the poet's passionate enjoyment of the emotions which constitutes Rasa be pressed, we are afraid the advocate is unwittingly exposing the poet to the charge of being *Śithilasamādhi,* that is, of the moorings of his contemplation or concentration getting loosened and disrupted. When Wordsworth, the reputed pioneer of the Romantic Revolt in English Poetry, spoke of the "emotions recollected in tranquillity" in the context of poetic creation, he only stressed the secret of artistic creativity. The original emotions generally, though not always, need to be contemplated and stabilised and harmonised in moments of tranquillity before they can be satisfactorily translated into poetry. Accordingly, the element of *Bhogāveśa* can-

not be said to characterise the poetic creativity, the actual mental events or goings-on during the process of composition even when the tranquillised state of the psyche may be identified with the "Sādhāraṇī-bhūta saṃvit".

(D)

Abhinava has enunciated the concept of *Kavi-gata Rasa* also in the 'Locana' commentary of the *Dhvanyāloka* a little more industriously. This occurs in the context of the elucidation of the following well-known verse :—

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥"

The simple meaning of the second line is that the grief, engendered by the separation (by death) of the partner of the Krauñca pair attained the glory of a Śloka (verse) of the 'Ādi kavi', the Original Poet. Ānandavardhana has himself clarified the meaning in his *Vṛtti* thus :

"चादिकवेर्वाल्मीकेः नियत-सहचरी-विरह-कातर-क्रौञ्चाक्रन्द-जनितः शोकः एव श्लोकतया परिणतः ।"

That is to say, Vālmīki's grief itself, generated by the piercing screems of the male Krauñca at the separation of the female partner, was transmuted into Śloka. Ānanda renders the intended purport clear. The sage heard the heart-rending shrieks of the male bird at the cruel killing by the fowler of the love-coupled Krauñcī ; he got overwhelmed with grief and his grief found expression in the form of *Mā niṣāda* etc. Then Ānanda remarks that '*Śoka*' or Grief is the *Sthāyī* of the *Karuṇa* (Pathetic) Rasa. This simple

meaning has been again confounded by Abhinavagupta in his customary pedantic fashion :—

"क्रौञ्चस्य द्वन्द्व-वियोगेन सहचरी-हननोद्भूतेन साहचर्य-ध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचित-रतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूत-विभाव तदुत्थाक्रन्दाद्यनुभाव-चर्वणया हृदयसंवाद-तन्मयीभवन-क्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोक-व्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रस-परिपूर्ण-कुम्भोच्चलन-वच्चित्तवृत्ति-निष्यन्द-स्वभाव-वाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्ति-व्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेश-वशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादि-नियन्त्रित-श्लोकरूपतां प्राप्तः ।"

(ध्वन्यालोक, लोचन-सहित, चौखम्बा, १९६५, पृष्ठ ८६-८७)

Abhinava's elucidation can be understood thus : "The Krauñca's grief is 'Laukika' or worldly. That is the 'Ālambana'. By relishing the 'Anubhāva' of the bird's shrieks, the grief, generated in the heart of Vālmīki, became 'Alaukika' or supra-worldly. Then, through the psychic process of 'Hṛdaya-saṃvāda' and 'Tanmayī-bhāva', the grief liquefied the sage's heart and became relishable or 'Samāsvādya'. Thereafter, the same relished or 'Carvyamāṇa' grief, 'Alaukika' in nature, was transformed into 'Karuṇa' Rasa. And from that evocation of the Rasa, the metrical couplet in question burst forth."

That is to say, the Krauñca's original grief, which was 'Laukika' in nature, became 'Alaukika' in consequence of being 'Samāsvādya' or relishable by the sage in his state of 'Tanmayībhāva' or self-absorption and, thereafter, attained the complexion of the 'Karuṇa' Rasa which, in turn, gave rise to the verse in question. In this wise, Poetry was begotten of the "Kavi-gata" Rasa—this is Abhinava's thesis. He has taken ample pains to propound that the grief, overtaking the 'Muni' (Vālmīki), is not his own grief inasmuch as in that case, he, too, would have become deeply grieved

which would have obstructed the experience of the Rasa by him and poetry would not have emerged. He then predicates : "न च स दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेंति । एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मक-करुणरस-समुच्चलन-स्वभावात् स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपर-शाब्द-वैलक्षण्य-कारकः" ।

That is, according to him, in virtue of its 'Svabhāva' or character of flowing forth from the Karuṇa Rasa, which has grief for its Sthāyī, worthy of being relished, the utterance became the soul of poetry, distinguished from other verbal perceptions. Abhinava's meaning is manifest : "Poetry cannot be created during the state of 'Laukika' experience which becomes 'Alaukika' when it is worthy of being relished. This relishable experience is Rasa and from this Rasa poetry takes its rise."

Apparently, there is substance in Abhinava's elucidation. We can promptly accept that part of the hypothesis which states that the original experience of the poet is not conducive to the making of poetry since it cannot possess that tranquillised or harmonised complexion which is necessary for the creation of poetry. We shall not mind either if it is called "Laukika" or material. Wordsworth's famous remark has already been cited in this connexion. T. S. Eliot, in his well-known Catalytic Theory, has underscored this very fact when he states that the feelings and impressions, accumulated in the poet's mind, are transmutted, by virtue of the Catalytic process, into stabilised "Art Emotion", that is, the emotion which gets delineated in poetry.[6]

In the latter part of his hypothesis, Abhinava stresses the relishable transmutation of 'Laukika' or material experiences before they are translated into poetry. In other

6. 'T. S. Eliot : *Selected Prose*' (Hayward), pp. 15-21.

words, experiences can be the subject--matter of poetry only after they have attained to relish worthiness, "Rasyamānatā" in his words. Now, the chief difference between Abhinava's position and ours is relative to the complexion of the transformation of the original experiences, prior to delineation in poetry. Irrelaxably committed as he is to the Rasa doctrine of his own persuasion, Abhinava identifies this transformation with "Rasyamānatā" or relishability and stretches it so far as to make it coincident with "Rasa-carvaṇā" which characterises the Sahṛdaya's response to poetry. We, on our part, hold that worldly or material experiences undergo a gradual process of internal digestion harmonisation, and assimillation in the crucible of the poet's mind until they assume the form of an organised image which finds expression in poetry. We further hold that the Image continues being modified, developed and better adjusted even during the period of creation so that it achieves its ultimate fullness and grandeur, paradoxically enough, only with the completion of the poem. Considered from this angle of vision, Abhinava's hypothesis that the poet takes to creation when his original experiences achieve cardiac relishability, accompanying "Tanmayī-bhāva", total absorption into them, fails to locate the internal happenings of the creative mind. We do not challenge the poet's identification with his subject-matter without which, indeed, no art creation is possible. Our main thrust is directed to the confutation of the thesis that creation is preceded by a complete absorption, to the point of full-blooded "Rasyamānatā", which has been labelled as "Viśrānti" by Abhinava, on the part of the poet. In yet other words, we refute the assumption that the deep enjoyment such as characterises the Sahṛdaya's response to poetry is available to the poet, at any rate, as long as he is engaged in the act of composition. It will be a different

proposition altogether if the poet enjoys his depictions like the Sāmājika after he has ceased to be the 'poet' and has assumed the role of a 'Sāmājika'.

Abhinava has cited Bhaṭṭanāyaka's remarks in support of his stance : "नायकस्य कवे श्रोतुःसमानोऽनुभवस्ततः" It involves no special mental effort to see the weakness of Abhinava's support. The remark only envisages a certain measure of indentity between the experiences of the Hero, the Poet and the Audience or the Sāmājika. No valid exception can be taken to this observation, but to try to stretch it so as to mean that the Sāmājika's "Rasānubhūti" or enjoyment of Rasa, characterised by "Viśrānti" of Abhinava's own variety, is also available to the Hero or the Poet will be fallacious. Does the Hero experience Rasa? This is again a debatable proposition. The hero's experience will be manifestly "Laukika", intensely personal, not "Alaukika", to quote Abhinava himself[7]? Even when he is deeply absorbed in his experience, it will be difficult for him to get rid of personal associations altogether—, which is supremely necessary for the enjoyment of Rasa.

In this context, we are reminded of the following couplet from the *'Uttara-rāma-carita'*, describing Rama's heart-afflicting grief at the separation from Sītā :—

"अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः" (३।१)

Here the phrase *Rāmasya karuṇo rasaḥ* is misleading and has made several critics, even in modern times, believe that the hero is the repository of Rasa. Let us assert that *Rasaḥ* in the present verse is a 'Lākṣaṇika' usage, signifying

7. *'Hindī Abhinava-bhāratī'* (Vishweshvara), p. 485.

Grief or 'Śoka' which is the Sthāyī of the Karuṇa. Cannot it be conjectured that Abhinava, writing in the first half of the 11th century A.D., was swayed by this utterance of Bhavabhūti who wrote during the first half of the 8th century A.D.—Bhaṭṭanāyaka himself having been inspired by it ? Be that as it may, the expression "Kavi-gata rasa" should be treated no better than a 'Lākṣaṇika' usage, signifying the emotional equipment of the poet.

(E)

The "Sādhāraṇī-bhūta saṃvit" or the Generalised Consciousness of the poet is conterminous with *Rasānubhūti*—this is a proposition which does not possess the capability of standing the test of criticism. We shall have no inflexible objection to the concept that this generalised variety of consciousness is necessary sometimes for the creation of poetry in general. But to invest it with the glory of a Principle of Artisitic Creation is over-shooting the mark. Can it be predicated with any measure of certitude that Lyrics which are intensly personal can spring from this generalised consciousness.[9] Let us affirm that even in the case of the famous verse of Vālmīki, the grief, generated by the piercing shrieks of the male Krauñca in Muni's heart, poignantly shook the moorings of his psychic being which rendered the bird's grief his Own Grief, felt by him with intensest anguish. and in that moment of unredeemed shock, the couplet burst forth. The question of "Kavi-gata rasa" is totally irrelevant here.

Mention of Bhoja's thesis seems called-for in this context. Criticising Bharata, he has enunciated his novel theory of "Ahaṃkāra-Śṛṅgāra" which, broadly speaking, identifies the Ego as Rasa which he holds to be residing

equally in the hero or the characters, the poet, the actor and the spectator or the Sāmājika.[9] Bhoja, indirectly, has accepted Abhinava's concept of the "साधारणीभूत संवित्"". His 'Ahaṃkāra' appears to be a spectacular version of this *Sādhāraṇī-bhūta saṃvit*. But, neither Abhinava nor Bhoja has explained how this Ego or Generalised Consciousness attains relishability which is the soul of Rasa, except that both accept the fact of the Sthāyī becoming relished or relishable by virtue of the combination of the Vibhāvas etc. But, this relishability will be available, again, to the Sāmājika, and to the poet only when he has occupied the ranks of the Sāmājikas. We do not find any reason whatever why we should alter our stance, seeing that Bhoja, too, has toed the line of Abhinava, despite all his striking demonstration of novelty.

(F)

In this concluding section of the article, now, we shall sum up our position as below :—

(i) The present text of the Kārikā in question is corrupted and the emendation, as suggested above, is worth of acceptance inasmuch as only by doing so, Bharata's actual position becomes elucidated.

(ii) Bharata holds that the Rasa, intended by the poet to be aroused, governs the manoeuvring of the Vibhāvas etc. and the Vibhāvas etc. themselves condition the evocation or the development of the

९. Dr. V. Raghavan : *'Bhoja's Śṛṅgāra-Prakāśa* (1963), pp. 433-34.

Rasa. That means that Rasa and vibhāvas etc. are both dependent upon each other, acquiring their respective significance from their mutual relationship. This stand of Bharata is supported by the traditional verses, the "Anuvanśya ślokas".

(iii) The simile in the Kārikā under enquiry is complete in itself—there being no occasion for a divorce between the flowers and the fruits.

(iv) "Kavi-gata rasa" is a fallacy.[9] It is, at best, a *Lākṣaṇika* usage.

---

9. Cf. "कविता-रस-माधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कविः ।
भवानी-भृकुटी-भङ्गं भवो वेत्ति न भूधरः ॥"

—The first 'कवि' means here the critic, 'पंडित" or "बुध", while the second ' कवि ' denotes the poet. For the first, note the following from the *Amara-kośa* :—

"विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः ।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः ॥"

—(2/7/5)

KĀṬAYAVEMA AS A COMMENTATOR

G. SURYANARAYANA MURTI

Waltair

Bhoja's comment on commentators does not hold good in the case of Kāṭayavema. On the basis of his commentary on *Mālavikāgnimitram,* it may be said that Kāṭayavema is at par with other good commentators.

Kāṭayavema[1] is one of the best commentators on the three dramas of Kālidāsa. They are *Abhijñāna-Śākuntalam, Vikramorvaśīyam* and *Mālavikāgnimitram.* While commenting on them, he incorporates some special features along with general points, that every commentator observes. As a mark of respect for Kumāra Rāja, he names his commentary as *Kumārarājīya.* Kāṭayavema's commentary on *Mālavikāgnimitram* is published. Other two are in the manuscript form. The commentaries were printed long before and they are not available now. But there are several manuscripts for study. Here an attempt is made to present the outlines of the special features of the commentary on the *Mālavikāgnimitram.*

He comments on the drama on the basis of the *Nāṭyaśāstra.* That is, he points out Sandhis and their ancillaries at relevant places with proper explanation. He points out

---

1. He belongs to the Reddy dynasty of Andhra Pradesh. He is a very good Sanskrit scholar.

The *Mālavikāgnimitra* of Kālidāsa edited with the commentary of Kāṭayavema by Kasinatha Panduranga Parab (8th ed.), published by Panduranga Jawaji 'Nirnaya Sagar' Press, Bombay, 1935.

the ancillary prayogātiśaya of Āmukha, while dealing with the verse शिरसा प्रथमगृहीतं (1.3). Here it is said as Mukha instead of Āmukha. This may be a printer's devil. While commenting on the passage आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता । गौतम ! चिन्तय तावदुपायम्..........मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवति (p. 12 of the *Mālavikāgnimitram*) he observes that Ārambha is illustrated, which is of the form of the desire to see Mālavikā, who was seen accidentally. In this passage the court jester is appointed to fabricate a plan to see Mālavikā. Here Kāṭayavema observes the presence of Mukhasandhi,[2] keeping in view the presence of Ārambha and Bīja. In this way Kāṭayavema clearly points out other Sandhis and their ancillaries also. In this context he makes a nice remark that there is no wrong even though leaving some ancillaries by the Dramatist and gives the evidence to support his view.[3] He points out a new ancillary of Avamarśa, Calana by name, which is not mentioned in the *Nāṭya Śāstra*. Actually 'Yukti' is an ancillary of Mukha Sandhi. It is defined,[4] but he says it is an ancillary of 'Nirvahaṇa'.[5] It may be supposed that the source for his deviation is based on *Vasantarājīya*; a treatise on dance, written by Kumāragiri Reddy. While dealing with the Nāndī verse, it is given that the definition of Nāndī etc., are given in the commentary on *Śākuntala* and thus he omits the details of it. From this we can easily understand that the commentary on the *Mālavikāgnimitram* is later than that of *Śākuntala*. In this commentary, now and then he refers to the remarks made in earlier commentaries without repeating the same in this

---

2. अत्र बीजारम्भयोर्समन्वयान्मुखसंधिरित्यनुसंधेयम्
Refer to the commentary, p. 12.

3. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैर्नाट्यं न दुष्यति । *ibid.*, p. 23.
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ॥

4. बीजानुकूलसंघटनाविचारो युक्तिः । *ibid.*, p. 82.

5. अत्रोद्वेजनाद्युक्तिर्नाम संध्यङ्गमुक्तं भवति *ibid.*, p. 82.

commentary also. Here he says that there is no restriction in the benedictory verse, regarding the number of words and quotes relevant sūtra पदादि नियमोऽपि वा from Pāṇini.

Kāṭayavema unlike Mallinātha brings in the methods of Ākāṅkṣa and Daṇḍānvaya, while explaining the verse in this drama. The verse एकैश्वर्ये स्थितोऽपि (Act 1, verse 1) is ज an example. In those days this process was used by the teachers to explain the student.

The commentator introduces characters to the readers so that they may not get confusion. Dhāriṇī is mentioned as the wife of the hero. In another context Vāhataka is mentioned as the minister of the king. In this way he introduces us the unknown objects[6] also. This method is seen being adopted by the modern writers also. This is one of the best methods of explaining the verse used by Kāṭayavema and that is to be adopted by every commentator.

This commentator gives the definitions and principles of Dramaturgy in proper places to create clear cut idea in the minds of the reader. He explains the term *Chalika*[7] by giving suitable definition. He explains *Chalika* as a special type of dance. In the same way, he defines and explains Pīṭhamarda.[8] Thus he gives suitable definitions from *vasantarājīya* while explaining the verse दुर्लभः प्रियो मे (II.4.) to explain Nirveda, Vismaya, Harṣa and so on.

Kāṭayavema takes efforts to explain the heart of the poet. देवानामिदमामनन्ति मुनय (1.4) दुर्लभः प्रियो मे (*ibid.*) are the

---

6. मत्स्यण्डिका नाम शर्करविशेषः *ibid.*, p. 42.

7. तदेवं छलिकं नाम...... *ibid.*, p. 4.

8. पीठमर्दः समीपस्थः कार्यालोचनकोविदः। *ibid.*, p. 16.
पीठमर्दो नाम कामपुरुषार्थसहायो नायकसमीपवर्ती पुरुषः कथ्यते

examples. He observes that Kālidāsa treats Nāṭya as a Kratu (sacrifice) because 'Nāṭya Veda' is the main essence of the four Vedas[9] and it is formulated by taking different aspects from four Vedas.[10] In one context he says that even sorrow gives pleasure[11] to all people irrespective of their taste and temperaments, when it is presented through Nāṭya. It is a dramatic convention that all female characters should speak Prākṛta. As an exception, the Buddhist nun Kaiśikī is made to speak in Sanskrit. Kāṭayavema explains the above phenomenon and shows evidence.[12] In the same way in another context, he explains the usage of the word śaṭha by Īrāvatī with a general usage अतिस्नेहादवज्ञा

Kāṭayavema points out the significance of certain words. In the beginning of the third act, he gives the purpose of introducing Praveśaka.[13] It is useful to relate past story to

---

9. सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शनम् ।
नाट्यसंज्ञमिदं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ।। *N. Ś.*, 1.15.
एवं संकल्प्य भगवान् सर्वान् वेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ।। *N. Ś.*, 1.16.

10. ग्राह्य पाठ्यम् ऋवेदात् सामभ्यो गीतमेव च
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।
वेदोपवेदैःसम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना
उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम् ।। *N. Ś.*, 1.17. 18, 19.

11. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।। *N. Ś.*, 1.107.
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते ।। *N. Ś.*, 1.116.

12. देवद्विजनरेन्द्राणां लिङ्गिनां संस्कृतं वचः *ibid.*, p. 16.

13. कविरिदानीमंकान्तरमारभमाणः कथासंघटनार्थं प्रथमं प्रवेशकं नामार्थोपक्षेपकं प्रस्तौति *ibid.*, p. 35.

present. He expresses the same view in the case of Viṣkambha in the first act also. While commenting the verse शिरसा प्रथमगृहीत म् (1.3) he says that intense devotion भक्त्यतिशय is conveyed by using the term *śirasā*. He explains with evidence the word *Satvastha* as avikṛta.[14]

He refers to many texts in his commentary. The texts quoted by him are *Vasantarājīya, Halāyudha, Amarakośa, Nāṭya Śāstra, Saṅgīta-Vidyāvinoda, Saṅgītaratnākara* and the book of Keśavasvāmī. He is the only commentator who quotes from the *Vasantarājīya*. But that text is not available. From this, one comes to know about the general contents and standard of the text and the nature of the text *Vasantarājīya*. The quotations may help in future to identify the original text *Vasantarājīya,* a treatise on dramaturgy, written by Kumāragiri Rāja.[15] Karpūra Vasanta Rāyalu is his honorary name. Basing on this, above text is named as *Vasantarājīya*. The above information is given by Kāṭayavema in his introduction of his commentary on *Abhijñāna Śākuntala*. This is one of the best methods of Kāṭayavema and that is to be adopted by every commentator. From the quotations available in this commentary and other two commentaries, it can be easily said that this text is a standard treatise on dramaturgy. These quotations may be helpful in reconstructing the text also.

He derives technical terms by giving Vigraha-Vākyas and by quoting sūtras from Pāṇini. Pāripārśvika is an

---

14. चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति *ibid.*, p. 26.

15. There is a story mentioning that Kumāragirirāja wrote *Vasantarājīya,* a treatise on dance, basing on the dance of Lakumā, a court dancer.

example. Vigrahavākya here is this परिपार्श्वं यथा भवति तथा वर्तते- Explaining this word, he observes that ठक् (suffix) is enjoined after the word *paripārśva* because of *cakāra* used in the sūtra परिमुखं च (4-4-29). He explains the grammatical implications in the case of every typical word like *bimbādhara śyāmāyate* and so on.

Kāṭayavema in several places reminds the sense in which different prepositions are used and points out intonations at different places.[16] आम्, हि, अहो, आ are the examples. While commenting on the line युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्य.... he feels the presence of intonation. (*Māl.*, III.17). While explaining the line अत्रभवत्यामयं कथं तवाविश्वासः ; he feels the presence of intonation. Actually there is no need or place for intonation. Why Kāṭayavema commented like this, is a question.

Quality of the Commentary

Though Mallinātha does not comment upon Kālidāsian dramas, his commentary on other works of Kālidāsa is brief and to the point. Kāṭayavema's commentary on the other hand, is explanatory. There are some examples,[17] which come under this point. In some places he comments in a scholarly way as Mallinātha has done by giving definitions, technical terms and grammatical explanations. These

---

16. आमित्यभ्युपगमे comm., p. 5 ; हि हेतावधारणे comm., p. 12 ; अहो आश्चर्ये comm., p. 26 ; आ स्मृतौ comm., p. 42.

17. एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले *ibid.*, 1.1—Refer to the commentary of this Verse ; पुराणमित्येव न साधु सर्वं.......... *ibid.*, 1.2. ; अर्थं सप्रतिबन्धं.......... *ibid.*, 1.9 ; पात्रविशेषे न्यस्तं........ *ibid.*, 1.6.

are some examples[18] that come under this type. He in his commentary says स्पष्टोऽर्थः where he feels that no explanation is needed. Here are some examples[19] of this type.

Kāṭayavema invariably gives the Sanskrit version of Prākṛta. He comments there if necessary. This shows his thorough knowledge in Prākṛta. There must be some reason[20] behind it (in giving Sanskrit version). It is unnecessary to give Sanskrit version to Prākṛta if any former commentator had already given, so it is possible to conclude that Kāṭayavema may be the first commentator who gives Sanskrit version to Prākṛta passages in the three dramas of Kālidāsa, or otherwise he wants his commentary as fulfledged in all respects. Even though, if anybody had given Sanskrit version, there is possibility of missing to note it. This way of giving Sanskrit version of the text was most useful at that period. His commentary represents an important version of the text of Kālidāsian dramas.

After deep study, it can be noted that, Kāṭayavema comments only on verses which are conducive for delineation of the sentiments and also on verses which have dramatical importance. He avoids passing comments upon even difficult verses since they are not helpful to the sentiment. While he very rarely speaks of suggested sense, in his commentary on *Mālavikāgnimitram,* he points that very often in his commentary on *Abhijñāna Śākuntala.* Kāṭayavema

---

18. देवानामिदमामनन्ति मुनयः........ *ibid.,* 1.4 ; दुर्लभः प्रियो मे........ *ibid.,* 2.4 ; अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः *ibid.,* 2.8.

19. लब्धास्पदोऽस्मीति........ *ibid.,* 1.13 ; अतिमात्रभासुरत्वं........ *ibid.,* 1.17.

20. प्रयोजनं विना न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।

rarely leaves some verses uncommented, which are representative of beautiful ideas of Kālidāsa.

Kāṭayavema sporadically mentions figures. But it is important duty of the popular commentator to show or point out figures in each verse. This duty is overlooked by the commentator. He points out the presence of the figure upamā in the case of verses पात्रविशेषे न्यस्तं (1.6) and मङ्गलालङ्कृता (1.14). But he does not point out figures in many cases. In the commentary of the verse विपुलं नितम्बे (III.7) etc., we find the presence of two figures "Ullekha" and "Atiśayokti". In the figure भावज्ञानानन्तरं (III.14), 'Arthāntaranyāsa' is the figure. 'Utprekṣā' appears in the verse अथ रथाङ्गनामेव (5.9). This is one of the beautiful verses of Kālidāsa. In the above examples, the commentator Kāṭayavema fails to point out respective figures at proper places. In this way, in many verses, he fails to point out figures. Some of them deserve mention.[21] This way of not pointing out figures in verses is also one of the drawbacks of the commentary.

Concept of Standard Commentary. Commentaries are generally found to be of two types. The first type gives basic things, like meaning of simple words, explanatory notes where the things are clear by themselves and Vigraha-vākyas even in the case of simple compounds. Thus its approach is basic and for a beginner it takes the place of a teacher. The second type of commentaries are intended for a well informed person, who can appreciate śāstraic implications.

---

21. अचिराधिष्ठितराज्यः....... Ref. comm., *ibid.*, 1.8. ; मन्दोप्यमन्दतामेति ...... *ibid.*, 2.7. ; उभावभिनयाचार्यौ...... *ibid.*, 1.10; and 3.8; 5.3, etc.

Bhoja appears to be vexed with first type of commentaries, when he observes :

दुर्बोधं यदतीव तद्धि जहति स्पष्टार्थं इत्युक्तिभिः
स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं निदधति व्यर्थैस्समासादिभिः ।
अस्थानोपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते
श्रोतृणामिति वस्तु विप्लवकृताः सर्वेऽपि टीकाकृतः ।।

A commentary can be said to be a standard one, if the explanation given by it are in accordance with reason and experience. A commentary is meant for reference for scholars but not to the students. Student must study the text under the proper guidance of the teacher. A commentary must always be brief and to the point. Always a loyal commentator should try to see the heart of the poet. The commentator should not tell or is not expected to tell what is not supported by the text and what is not relevant to the text. The commentator must quote definition of technical terms and Alaṅkāras at proper places. He should leave such verses, which need no commentary. He should come forward at places to explain subtle things. The commentator should not give derivation of each and every simple word. If he does so, the commentary becomes bulky. The commentator may give derivations of difficult words. In the case of dramas especially, the commentator should take pains to give Sanskrit version to Prākṛta passages, unless it becomes a point of inconvenience.

The main difference between the two commentaries made by Mallinātha and Kāṭayavema is that Mallinātha composed his commentary keeping scholars in view. Whereas Kāṭayavema commented keeping in view of novices.

Generally commentators are expected to comment on a book, with spirit similar to that of Mallinātha.[22]

Conclusion. It has to be observed how far the view of Bhoja holds good in the case of Kāṭayavema. In the first line, it is given that commentators say that it is clear, which is very difficult to understand. This view does not hold good in the case of Kāṭayavema's commentary on *Mālavikāgnimitram*. In the second line of the verse, Bhoja observes that commentators deal at length with the passages, even though they require no explanation. This view partly holds good in the case of the commentator. He never creates confusion by commenting elaborately. In the last line of the verse Bhoja sums up the methods adopted by the normal commentator. There is no loss to the readers, if the commentator explains simple words in some cases. The readers feel easy, if the commentator gives stress to difficult words, leaving simple words. As discussed above, Bhoja's opinion on commentators does not hold good in the case of this commentator. In the light of his commentary on *Mālavikāgnimitram,* he certainly occupies a place, among the best and popular commentators like Mallinātha.

---

22. इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ।।
9th verse in the beginning of the commentary of Mallinātha on *Raghuvaṃśa* entitled Sañjīvinī.

VEDĀNTA AND ŚŪNYAVĀDA ON SELF-LUMINOSITY

(An exposition based on *Khaṇḍana* polemics)

G. L. CHATURVEDI

Lucknow

The ontological status of the 'self' (identity) of knowledge that is manifested and is the content of the self-luminous, has been the point of controversy between the *Vedāntins* and the *Śūnyavādins*. The Vedāntins identify the manifestation with the 'Reality', whereas the Śūnyavādins identify the manifestation with the appearance only and not more than that. In fact, both the views are radically exclusive.

Śrī Harṣa states and examines the Śūnyavādin view of self-luminosity. The question that poses itself is: 'What is the ontological status of manifestation or illumination?' The Vedāntin holds that barring the Brahman, everything else (the means of knowledge as well as their objects) has only apparent existence. The Śūnyavādin on the other hand, holds that everything has only apparent existence. There is no reality beyond the appearance. They point out that just as existence (being) of jar etc. is the 'knowledge or manifestation in the form of jar', the existence of 'knowledge in the form of jar' is itself another knowledge of

the form 'jar is known'. Hence we are led from appearance to appearance, without ever arriving at the Reality (of knowledge).

The point is very significant for the problem of self-luminosity from the Vedānta standpoint. The Vedāntin maintains that what is revealed by the self-luminous knowledge, is the self or 'being' of knowledge, and that is exactly why the manifestation of knowledge is called 'self-illumination'. 'Illumination' touches the 'Reality' base which underlies every appearance, every 'illumination'. The Śūnyavādin, on the other hand, upholds that an 'appearance' or manifestation can have no reference beyond itself, much less to a 'Reality' and as such its self-luminosity is the manifestation of the void, or the essentiallessness that it is, so much so that when there is curiosity as to ontological status of the 'self' content of its 'self-luminosity', we have in fact another 'appearance' which seeks to apprehend the 'former' appearance but which is just another appearance. The Śūnyavādin points out that it should not be said that in order to know that 'apparent existence', we shall have to admit its being or reality, since when there is curiosity as to the being (existence) of knowledge, our only resort is knowledge of this knowledge. Against this it may be said that the existence of object requires knowledge, and if the existence of that knowledge is made dependent on another knowledge, it will entail the defect of infinite regressus. In reply to it, the Śūnyavādin points out that in the first place, it is not necessary that there should be knowledge of every knowledge. The series of such apprehensions does not go beyond two or three knowledges. There is knowledge in the form 'this is jar', which can itself be apprehended in the

judgment form the 'jar is known'. We are not aware of any series beyond this.[1]

The Śūnyavādin further points out that if we do not admit that the series of knowings does not 'terminate' in the restricted scope of three or four 'knowledge', then even the acceptance of the Reality of knowledge will not help us out of the infinite regressus.[2]

The Reality or unreality of knowledge does not make any difference to it. Just as in the Vedānta system, both the object (jar, etc.) and the knowledge are held real and yet it is the knowledge and not the jar, which is supposed to be the cause of the cognitive usage, in the same way in the case of Śūnyavādin, though there is no difference between the jar and its knowledge (Vijñāna), in so far as their unreality is concerned, yet it is the unreal knowledge (Vijñāna) which is the cause of the usage of its objects and not the jar etc. The jar etc., are causes of their usage only when they have apparent existence.[3]

---

1. न च वाच्यमन्ततस्तदवगमस्यापि सत्ताऽभ्युपेयेति, तस्यापि सत्ता चिन्तायां तत्सत्तावगमान्तरस्यैव शरणत्वात्। न चैवमनवस्था, तदनुसरणावश्यम्भावानङ्गीकारात्। एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मना नाधिकामतिः इति न्यायात्।

Khaṇḍana, p. 14-15.

2. तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्रविश्रान्तेन विचारेण ततः परमननुसरणरमणीयेनैव च समयं बद्ध्वा कथायां मिथः सम्प्रतिपत्त्या प्रवर्तनात्। अन्यथा प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेऽपि ज्ञानानवस्थायाः दुष्परिहरत्वात्।

Khaṇḍana, p. 15-16.

3. यथा च त्वत्पक्षे स्वरूपसत्त्वाविशेषेऽपि विज्ञानस्वरूपसत्तैव परं व्यवहारोपपादिका, न घटादि सत्ता, एवमेवासत्त्वाविशेषेऽपि ज्ञानमेवासत् व्यवहारोपपादकं नान्यत्।

Khaṇḍana, p. 16.

The point of the Śūnyavādin is that the objection of regressus cannot be got rid of by upholding the reality of knowledge, by maintaining that what self-luminosity seeks to manifest is not only the 'self' of knowledge, but the Reality that the self-is, the being-base of it. Against this, the point of the Śūnyavādin is that this is an undue extension of the concept of self-luminosity, and that the 'Reality' or unreality of knowledge is altogether irrelevant in so far as its self-luminosity is concerned. All that this concept stands for, is that the 'Self (identity) of experience is manifestive of itself. However, its ontological status is not a part of the meaning of self-luminosity and as such it does not flow from the analysis of the concept of 'self-luminosity', that the 'knowledge' which is manifested in this manner is 'Real'.

The reasoning of the Śūnyavādin to bring about the 'unreality' of knowledge is plain enough. Knowledge is the cause of its own cognitive usage or propositional form. All causes are unreal and hence, knowledge, which is the cause of its own usage is also unreal.

The aforesaid discussion seems to bring out the two radically exclusive views on the ontology of 'manifestation'. Notably, manifestation is generally held as an 'appearance' of some 'reality' underlying it. The Vedāntin tends to assimilate and identify the 'manifestation' with the Absolute principle of Reality, and maintains that the manifestation of the Absolute is not an appearance, but the very essence of it. The Vedāntin cannot uphold the dichotomy of the appearance (manifestation) and reality at the transcendental level, because that militates against the unqualified monism of the system. Hence the manifestation is identified with the reality. The Śūnyavādin, on the other hand, identifies

manifestation with the 'appearance' and rules out the possibility of an underlying or sustaining reality beyond the 'appearance'. It is noteworthy in this context, that the term 'self-luminous' can be significant only if the two terms the self (being) and manifestation (appearance) are held as separately significant. That the assimilation of the one term to the other, renders the notion of self-luminosity indefinable and redundant, may be shown with reference to the Śūnyavāda as well as the Vedānta system. If the manifestation is devoid of essence (as held by the Śūnyavādin) if it has no self, no being or identity, separate from 'appearance', then the 'self' in the compound 'self-luminous' becomes redundant for him, and the term 'self-luminous' becomes a synonymn for 'luminous' 'apparent' or 'manifest'. Similarly in the case of the Vedānta system, as the fact of manifestation is identified with the self (Ātman), the eternal unchanging immutable principle of being, the term 'luminous' becomes redundant, and no analysable meaning of the compound 'self-luminous' can be applicable to the unqualified identity of the Absolute. The concept of self-luminosity can be significant only if there is some differentiation between the 'self' and 'luminosity', and hence in no conceivable sense can the term be applied to the immortal Absolute. The Vedāntin may, however, still uphold the self-luminosity of the Absolute in some indefinable sense.

SHORT COMMUNICATIONS

AN UNTENABLE REMARK OF DR. RANADE ABOUT THE NON-MENTION OF THE *TANMĀTRAS* IN THE *GĪTĀ* AND ITS PRIORITY TO THE *SĀṂKHYAKĀRIKĀ*

In his well-known work *"The Bhagavad-gītā : philosophy of God-realization"* Dr. R. D. Ranade remarks : "We have to make an important statement here about the *tanmātras* in proof of the priority of the *Bhagavad-gītā* to the systematized Sāṃkhya philosophy. That the *tanmātras* are not mentioned by the *Bhagavad-gītā* might evidently be taken to be an argument for its priority. That these are developed in Sāṃkhya philosophy later is out of question." (pp. 25-26).

In this passage Dr. Ranade seems to formulate three assertions, namely (1) the *tanmātras* are not mentioned in the *Gītā* ; (2) this non-mention proves that the *Gītā* is prior to the systematized Sāṃkhya philosophy ; and (3) the *tanmātras* are developed in the Sāṃkhya philosophy in a later period (i. e. long after the composition of the *Gītā*).

According to us, these assertions are fully baseless and they show lamentable weakness of modern critical research as the following arguments would show.

(A) It is quite wrong to hold that the *Gītā* does not mention the *tanmātras*. The *Gītā* statement पञ्च चेन्द्रियगोचराः (13-5) must be taken as referring to the *tanmātras*. The word *indriyagocarāḥ* (object of the senses) cannot mean

here the *bhūtas,* for the bhūtas are separately mentioned in the first foot of this stanza by using the word *mahābhūta.* The commentators also take this expression as referring to the *tanmātras.*[1]

Similarly the verse 7.4 enumerating the eight *prakṛtis* must be taken as referring to the *tanmātras* (though the very word has not been used). While commenting on this verse the commentators often speak of the *tanmātras.*[2]

In should be noted in this connection that the mere absence of the use of the word *tanmātra* cannot be taken as a sign for proving non-acceptance of the *tanmātra* doctrine by the *Gītā.* We are to observe whether the entity *tanmātra* (which is the product of *ahaṃkāra* and is the material cause of the *bhūtas*) has been referred to directly or indirectly.

(B) Even if the *Gītā* does not mention the *tanmātras,* this non-mention cannot be taken as proving the priority of the *Gītā* to the *Sāṃkhyakārikā,* for the *tanmātras* are mentioned in such works as are prior to or contemporary with the *Gītā* and the author of the *Gītā* cannot be supposed to be ignorant of those works which must have been deemed by him as highly authoritative. If any doctrine is regarded by a teacher as valid, its non-mention (and not refutation) in any of his compositions does not prove that the teacher has shunned the doctrine as invalid.

---

1. इन्द्रियगोचराश्च पञ्चतन्मात्ररूपा एव (Śrīdhara). As Śaṅkara says that this stanza speaks of twenty-four Sāṃkhyan tattvas, he must have taken this expression as referring to the *tanmātras* (पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दादयो विषयाः, तान्येतानि सांख्याः चतुर्विंशति तत्त्वानि आचक्षते). Giri comments: "उक्तेषु तन्मात्रादिषु तन्त्रान्तरीयसंमतिमाह–तानीति"

2. पृथिवीतन्मात्रमुच्यते न स्थूला 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इति वचनात्। तथा अभादयोऽपि तन्मात्राण्येवोच्यन्ते (Śaṅkara's bhāṣya on *Gītā* 7.4).

As for example the statement पृथिवी च पृथिवीमात्रा च in the *Praśna-Up.* (4.8) must be taken as clearly referring to the *tanmātras*. The expression अष्टकैःषड्भिः in the *Śvetāśvatara-Up.* (1.4) contains a reference to the *tanmātras* as they fall under *prakṛtyaṣṭaka* (vide the commentaries on this *Up.*). The word भूतमात्राः in *Kauṣītaki-Up.* 3.8 also refers to them. The expression पञ्च तन्मात्र is found in the *Maitrāyaṇī-Up.* (3.2). Even the *Ṛgveda,* according to Sāyaṇa, speaks of the *tanmātras* ; vide his comment on the expression सप्तार्धगर्भाः in 1.164.36 (सप्त महदहंकारौ पञ्च तन्मात्राणि मिलित्वा सप्तसंख्यानि तत्त्वानि) [We may not accept Sāyaṇa's exposition as valid, but it should be accepted that Sāyaṇa did not take it illogical to hold that the *Ṛgveda-saṃhitā* propounds the theory of the *tanmātras*].

(C) The aforesaid examples are quite enough to show that the author of the *Gītā* was aware of the doctrine of the *tanmātras*. It is needless to say that the aforesaid works were regarded by the author of the *Gītā* as highly authoritative. Inspite of all that have been stated above, if it is proved that the *Gītā* does not contain any reference to the *tanmātras,* then we have no other alternative but to suppose that since the *tanmātras* did not fall under the province of the teachings of the *Gītā,* they were not mentioned in it. Thus it becomes fairly clear that the non-mention of the *tanmātras* in the *Gītā* proves nothing.[3] A considerable number of important yoga-practices have not been stated

---

3. If we take the *Anugītā* and the chapters on Sāṃkhya-yoga in the "Śānti-parvan" (in the *Mbh.*) as by the same author, who composed the *Gītā,* the supposed non-mention of the *tanmātras* in the *Gītā* becomes meaningless, for these sections contain clear mention of the *tanmātras.*

in the *Gītā* (e. g. the means of subjugating sleep). Does this non-mention suggest that these yoga-practices were not known to the *Gītā* or that they were not regarded by the *Gītā* as valid means or that they were invented after the composition of the *Gītā*?

(D) The significance of the expression 'systematized Sāṃkhya philosophy' (used by Dr. Ranade) is not quite clear. According to the Sāṃkhya tradition the work by Pañcaśikha is the first text that represented the systematized Sāṃkhya philosophy. After him, the sage Vārṣagaṇya, Devala and others are said to have composed works that represented the Sāṃkhya views in a systematized way. The literary history of India does not lend any support to the view that the *Gītā* is prior to the works by Pañcaśikha, Vārṣagaṇya and Devala. That the works of these teachers dealt with the *tanmātras* is beyond doubt.[4]

If 'systematized Sāṃkhya philosophy' means the work known as the *Sāṃkhyakārikā* (I do not think that here Dr. Ranade takes the *Sāṃkhya-sūtra* and the *Tattvasamāsasūtra* as the works on systematized Sāṃkhya philosophy) the remarks of Dr. Ranade serve no purpose. Do we get anything philosophically valuable if the *Sāṃkhyakārikā* is proved to have been composed after the *Gītā* (though the dates of these two works have not been determined by modern scholars as yet) if we bear in mind that the pre-Kārikā treatises on Sāṃkhya (most of which were prior to the

---

4. पञ्च तन्मात्राणि is an aphoristic statement of Devala, quoted in the Aparārka comm. on *Yājñavalkya Smṛti* 3.10.9. That Vārṣagaṇya also dealt with the *tanmātras* is clearly proved from the following passage of the *Yuktidīpikā*: "एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये । एकोत्तिराणीति वार्षगण्यः" (on *Kā*. 22).

Gītā) dealt with the *tanmātras*? Thus it is quite clear that there is no ground in holding that the *tanmātras* are developed in the Sāṃkhya philosophy later.

(E) Dr. Ranade seems to suggest that since the *Sāṃkhyakārikā* speaks of the doctrine of the *tanmātras* which is wrong and since the *Gītā* does not mention the wrong doctrine of *tanmātra,* the *Gītā* must be older than the *Sāṃkhyakārikā,* for the authors of later works are not supposed to be as authoritative (*āpta*) as the authors of the older treatises on 'adhyātmavidyā'. It is needless to say that in the case in question this way of argument is wholly irrelevant.

(F) In conclusion I want to draw the attention of my readers to an important point (not historical or literary) in this connection. Does Dr. Ranade mean to assert that before the composition of the *Gītā* there was none in India who directly perceived the *tanmātras* and as such the doctrine of the *tanmātras* was not known to the author of the *Gītā*? The *tanmātras* are perceived through a particular form of the *samprajñāta samādhi.* Was this *samādhi* not practised by yogins at the time of the *Gītā*? Will Dr. Ranade go to the length of saying that this *samādhi* was invented after the composition of the *Gītā*? It should be known that the acquisition of some of the supernormal powers depends upon the realization of the *tanmātras* and these powers are mentioned not only in the *Gītā* but in the pre-*Gītā* works also.

Ram Shankar Bhattacharya

D 38/8 Houz Katora,
Varanasi.

F. 42

A NUMISMATIC NOTE ON KING ŚIVAMAGHA OF THE MAGHA DYNASTY

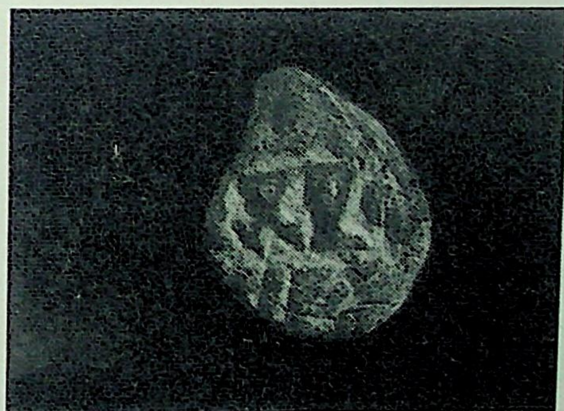
The existence of two rulers named Śivamagha was brought to light earlier by two terracotta sealings from Bhita and a clay sealing unearthed in the excavations of Rajaghat. The former two read *Mahārāja Gautamīputra Śivamagha,* while the reading on the latter one is *Rājan Kautsīputra Śivamagha.* It is obvious from their name-ending that the two kings belong to the Magha dynasty and are distinguishable from each other owing to the difference in their metronymic designations. Till 1979, no attempt had been to distinguish the coins of the two rulers, and all the coins stamping the name Śivamagha were attributed to one and the same ruler without any discrimination. In the said year Prof. Ajayamitra Shastri published as many as 2536 coins of the Magha rulers, which had been brought to his notice by Shri Murarilal Kedia, 'an enlightened collector of antiquities and a well-known figure in the cultural life of the city' (Varanasi). After making a careful analysis of the coins bearing the name 'Śivamagha' in the above collection Prof. Shastri points out that they can not be attributed to the same king. He puts forth palaeographical consideration in support of his thesis, which is too convincing to leave any room for doubt whatsoever. He takes into account letter *Ś* of the coin-legend Śivama (gha) and draws our attention to the medial *i*, which is shown by a small upward stroke attached to the right end of a short horizontal stroke. The same medial has been differently expressed on other pieces bearing the same legend. In the latter case the vertical line shows a very strong curve which goes on top and many a time even to the left of the letter *Ś*. This palaeographical consideration according to Prof. Shastri "leaves

Coin no. 1



Śivamagha I

Coin no. 2



Śivamagha II

no doubt that the coins with the first form of the medial *i* should be attributed to a king, who flourished earlier than the one on whose coins, we come across the second form". He finally concludes that the king represented by the first set of coins should be called Śivamagha I and that by the second set, Śivamagha II.

Essentially under the inspiration of Prof. Shastri's observation on the coins of Śivamagha, an attempt is being made here to examine two coins bearing the name Śivamagha and to analyse the problem of their attribution in the light of palaeographical consideration. These coins are preserved in the cabinet of late Rai Bahadur B. M. Vyas of Allahabad, whose collection has rightly been treated as "a very valuable reservoir of historical and numismatic information". His son Shri R. C. Vyas showed me the favour of permitting me to examine these two and other various coins of the Magha rulers, which have escaped the notice of the scholars so far.

The most noteworthy feature of the two coins under study is the appearance of letter *M* in the depiction of the name Śivamagha. On one coin it has a triangular base and angular top X while in the other one the left portion is expressed by a prominent curve on the extreme right end of the metal leaving no scope for the right limb of the letter. But it can easily be restored as under The former shape of the letter belongs to the so-called early Kuṣāṇa Brāhmī, and there is every reason to believe that the latter shape has its relation to the late Kuṣāṇa Brāhmī, which was shifted to the western variety of the Northern Brāhmī in the Gupta period. This palaeographic feature tends to prove that the two coins discussed in the present note be-

long to two different kings bearing the same name and hailing from the same Magha dynasty.

Thus the observation of Prof. Shastri that the numismatic evidence speaks of two Śivamaghas in the Magha dynasty is well in tune with the coins analysed in the present note.

Reference

1. *Archaeological Survey of India,* Annual Report, 1911-12, p. 51. K. K. Thaplyal, "Studies in Ancient Indian Seals", pp. 37-38.

2. *Journal of Numismatic Society of India,* Vol. XXIII, p. 412.

3. Ajay Mitra Shastri, *Kauśāmbī Hoard of Magha Coins,* (Nagpur University, 1979).

SMT. ANAMIKA ROY

Dept. of Ancient History
Culture and Archaeology
University of Allahabad.

ESCHATOLOGY IN THE KAṬHA UPANIṢAD

I

The *Kaṭha Upaniṣad* is well-known for raising the fundamental eschatological question : does one live on ? It is the third boon which Naciketas asks of Yama.

Naciketas's third wish : knowledge concerning the effect of dying :

[Naciketas :]

20. This doubt that there is in regard to a man deceased :

'He exists', say some ; 'He exists not', say others—
This would I know, instructed by thee !
Of the boons this is boon the third.

[Death :]

21. Even the gods had doubt as to this of yore,
For truly, it is not easily to be understood.
Subtile is this matter *(dharma)*.
Another boon, O Naciketas, choose !
Press me not ! Give up this one for me ![1]

How does Yama answer Naciketas, when he finally does

II

Two points need to be clarified before one proceeds further. Firstly, some ambiguity surrounds the exact nature of the question asked by Naciketas. While it has often been taken to mean : is there life after death, many exegetes are of the view that it could more plausibly be taken to mean : what is the nature of existence after the attainment of *mukti*.[2] Secondly, although ostensibly the text of the *Kaṭha Upaniṣad* appears as a single unit, though divided into two parts, textual criticism has led to the conclusion that it really represents a three-in-one situation. It consists of (1) the original text which covers the first part ; (2) an

1. Robert Ernest Hume, tr., *The Thirteen Principal Upanishads* (Oxford University Press, 1965 [first published 1877]), p. 344.

2. S. Radhakrishnan, ed., *The Principal Upaniṣads* (London : George Allen & Unwin Ltd., 1953), pp. 603-604.

addition which extends up to II.3.15; and (3) a further addition: III.3.16-18.[3]

A discussion of the eschatology in the *Kaṭha Upaniṣad,* therefore, requires that we keep (1) both the interpretations of Naciketas' question in mind and (2) seek out answers given to them in all the three layers of the Upaniṣad.

III

If one takes Naciketas' question to mean: is there life or rather existence after death, then all the three layers offer an answer in the affirmative. The first layer implies this in general and in I.3.7 the doctrine of *saṃsāra* is referred to. As *saṃsāra* implies rebirth and rebirth implies survival after death, the answer is clearly in the affirmative. The second layer also implies an affirmative answer (II.3.12). The third layer is less direct on the point, consisting only of three verses but the implication of the *aṅguṣṭhamātra puruṣa* seems again to imply an affirmative answer.

IV

It is when an answer is sought to the second interpretation of the question asked by Naciketas: does one exist after becoming a *mukta,* that the various layers of the Upaniṣad offer more interesting material. In the first layer, after Yama has overcome his reluctance to answer the question, it is a point of some interest that Yama does not give a categorical Yes or No answer but instead proceeds to describe the way whereby salvation may be achieved. Towards the end of the first layer Naciketas is exhorted to attain Realization (I.3.14) but nowhere is Naciketas' question categorically answered. Interestingly, in the second layer,

3. S. Radhakrishnan, ed., *op. cit.,* p. 647.

again the emphasis is on the means of Realization rather than a direct engagement with Naciketas' question : is there "existence" after *mukti* ; but overtones of a positive response to Naciketas' question can be detected in II.3.12 and 13. In the third layer, again, a distinction is drawn between the paths which lead to *saṃsāra* and to *amṛtatvam* or immortality but it is not *said* whether one continues to exist or not. It is, however, asserted that one becomes immortal and freed from death (II.3.18). It must be added that each layer promises immortality to the realized being (I.3.17 ; II.3.2, 8 ; II.3.16).

V

The discussion may now be brought to a close.

(1) When Naciketas' question is taken to mean : is there life after *death*, the answer by implication is yes in all the three layers as the doctrine of rebirth is clearly accepted (I.3.7 ; II.3.3 ; II.3.17).

(2) When Naciketas' question is taken to mean : is there existence after *Mukti*, the answer is implicitly yes throughout but explicitly yes only in the second layer (II.3.12, 13).

(3) When, however, the answer is explicitly yes (*asti*), it is not directly in response to Naciketas' question. The affirmation is made about the self.

(4) The most direct answer given to Naciketas is in II.3.8 : "By knowing whom, a man is liberated and goes to life eternal."[4]

Why does Yama not say this right away? How is one to account for his hesitation and perhaps even some equi-

---

4. S. Radhakrishnan, ed., *op. cit.*, p. 644.

vocation in that he describes the "object" of realization—*Ātman* or *Brahman* as eternal and *not* the empirical subject *qua* empirical subject, the standpoint from which Naciketas seems to be asking the question?

The suggestion could be made, by way of an answer, that the state of the empirical subject upon Release is hard to describe (I.1.21, 22; etc.); what is easier to describe is how Release is attained and what the nature of the Reality is through whose Realization Release *is* obtained. If one is pressed, the answer could be given that one attains "immortality". This response was probably not fully satisfying so that in the second layer of the Upaniṣad the statement of "immortality" is connected with the *subject*. The third layer, a very brief one, merely fills this out.

ARVIND SHARMA

Temple University
Philadelphia, Pennsylvania
19122.

SOME SANSKRIT WORDS CONTAINING *-ṇḍ-*

The prakritisation of a Sanskrit word and its re-entry into Sanskrit vocabulary has been a regular feature in Indo-Aryan from a very ancient period. In some cases, the original words already exist in the older literature, but their prakritised forms also begin to appear later on, of course with some variation in meanings. Thus the Vedic *sū-nára* (joyous) later appears as *sundara* (beautiful)

through the transformatory stage **sunnara.*[1] The same old tendency has been in operation even very recently, so that Skt. *vānara* (perhaps from *vana* 'forest' +*ra*, originally meaning 'a forester') has changed into Hindi *bender* (monkey) through the transformatory stage **vannara*. It may be supposed that *vānara* like Hanūmān, etc. of the original texts in Vālmīki's *Rāmāyaṇa* is surely different from that of Kālidāsa and the later vernacular poets, in whose times *vānara* 'forester' was easily confused with 'monkey' due to the influence of the colloquial **vandara* from **vannara*.

In some other cases, the original Sanskrit words have been completely forgotten and the prakritised version has been entered in the Sanskrit vocabulary. Thus, on the analogy of Pkt. *kaṭa* from Skt. *kṛta* (done), there are *taṭa* (bank) from **tṛ-ta* (from *tṛ* 'to cross'), *ghaṭa* (jar) from **ghṛ-ta* (from *ghṛ* 'to drip'), *paṭa* (cloth) from **pṛ-ta* (from *pṛ* 'to spread'), and so on.

The words containing *-jñ-* in Sanskrit are typically original, that is, directly descending from roots and, therefore, subject to the influence of prakritisation.

The early transformation of this ligature was in -(*ñ*)*ñ*-, but later it was transformed into (-*ṇ*)*ṇ*-. Thus two transformations of the word *jñāna* (knowledge) are known to us, namely: *ñāṇa* and *ṇāṇa*. Though the word *paññā* for *prajñā* (wisdom) appears in Pali, *paṇḍitá* (wise) begins to appear already from the *Śatapatha-Brāhmaṇa*. The word *paṇḍā* (unattested in actual usage in literature) might well have developed from *paññā* through *paṇṇā*, but it is gene-

---

1. The long vowel in *sū-* shortened by doubling the following *n* in *nara*.

rally taken to be the result of grammarians' deductions from the already attested *paṇḍitá,* which itself is a prakritised form of *prajñ-ita.*

On the ground that a suffix beginning with a long vowel in the Sanskrit language is quite questionable, much more a bisyllabic one, in spite of Pāṇini (3, 2, 155., etc.), Macdonell (*Vedic grammar for students,* p. 256) and others,[2] maṇḍūka (frog) may be analysed as **maṇḍu+ka,*[3] *maṇḍu-* being a prakritised form of **maj-ñu* from *majj* (to dive). Yāska was not very far from truth when he reconstructed a word **majjūka,* probably on the basis of some colloquial word, now available in vulgar *mejukā* (frog).[4]

A still more interesting case is that of *aṇḍa* (egg). It may be derived from some original **ajña.* The root is most probably here *jan* (to be born) with the accented suffix *-á,* which is the cause of the loss of the radical medial *a* : *jan+á=jñ—á.* The initial vowel is the privative particle *a.* Thus **a-jñ-á,* becoming *aṇḍa,* literally means 'unborn, without birth'.

---

2. The suffix *-āka* in p. 3, 2, 155 may be re-analysed as *aH*> *ā+ka,* thus *bhikṣāka* being originally *bhikṣā*<**bhikṣaH+ka.* Even the traditional Sanskrit grammarians analyse, e. g., *yācñā* as *yāc-ña*+fem. suffix *ā.* On the ground of declensional peculiarities in some words and on the basis of the presence of masc. words ending with short vowels and the corresponding fem. words with long vowels, we may assume *-H* as a fem. suffix. Cf. Macdonell, *op. cit.,* p. 89.§100, b.

3. Either the final vowel was lengthened before *-ka* or it was originally *-uH.*

4. Hindi *meṛhək* presupposes an original **maj-ña-ka*> **maṇḍaka,* though the retaining of the final *-ka* and the aspiration of *-ḍ-* is full of difficulties.

There are a dozen of words containing *-ṇḍ-*, but it is difficult to see the combination *-jñ-* in each of them. Whether the word *puṇḍarīka* (lotus) has any relation with *pūj* (to worship), *bhāṇḍa* (vessel) with *bhājana* (id.), and so on, is a problem for penetrating inquiry.

M. MISHRA

Delhi

ON THE CORRECT IDENTIFICATION OF THE SOCALLED "NAVAGRAHA"–TEMPLE OF GAUHATI

Towards the Eastern limit of the Ujan Bazar of Gauhati there stands a majestic hillock mentioned in ancient inscription as *Citrācala*. On the summit of this hillock there stands an ancient circular shrine which is commonly known as Navagraha temple. By virtue of the presence of this temple, the hillock on which it stands is also known Navagraha-Parvata in popular parlance. There is an inscription of the Ahom King Rajeshwar Singh of the year 1674 śaka or 1752 A.D. which refers to this temple as *Navagrahātmaka* showing that the association of this temple with the nine planets is at least 250 years old. It may even be much older.

However, if one were to look around in the temple for the images of the nine planets, one would be utterly disappointed. What the temple contains is in fact nine Śiva Liṅgas, one, the most prominent, in the centre and eight forming a circle around the central one, at the eight cardinal

points. The central *Śiva Liṅga* is identified with the Sun, the foremost of the planets, whereas the other eight smaller Śiva Liṅgas are brought into association with the eight planets of Hindu Astrology, including the *Rāhu* and the *Ketu*.

A closer examination of the iconographical material shall, however, show that this temple was originally dedicated to Lord Śiva in his aspect of Aṣṭamūrti. The hillock seems to have been a centre of the Śaivas and it must have been once littered with Śaiva shrines. In the course of recent constructions on this hillock one has found traces of twelve such Śaiva temples. The temple which was probably constructed in the early medieval age was later misinterpreted as a 'temple of the nine planets' and has continued to be misunderstood as such. The association of number "eight" with Śiva is nothing uncommon. In the town of Puri (Orissa) there are eight shrines of Śiva (*aṣṭa-śambhu*) situated at the eight cardinal points with the great Temple of Lord Jagannātha in the middle. An impressive image of lord Śiva having eight faces (four above and four below) looking towards eight directions and belonging to 8th C. A.D. was salvaged from a river bed in Mandsore and has since been placed in a shrine not far from the bank. It is an exceptionally beautiful image carved out of black chlorite embodying the concept of the eightfoldness of Lord Śiva and attracts a great number of worshippers every day.

Literary references to the *aṣṭamūrti* aspect of Śiva are still older. Kālidāsa refers to Lord Śiva having eight forms identical with the five elements (earth, water, fire, air and *ākāśa*), the sun, the moon and the sacrificer in the famous benedictory verse (*nāndī*) of *Abhijñānaśākuntalam* (I.1). Also in *Raghuvaṃśa* II.35, he refers to Śiva as *aṣṭamūrti*.

The concept of the eight forms of Lord Śiva has a very hoary antiquity. The first explicit mention of this idea is found in the *Kauṣītaki Brāhmaṇa* (VI.1.) of *Ṛgveda,* where the eight names of Śiva, viz., Rudra, Ugra, Paśupati, Īśāna, Mahādeva, Bhava, Śarva and Aśani are brought into association with the moon, plants, air, food, the sun, water, fire and Indra respectively. The *Śatapatha Brāhmaṇa* (VI.1.3.8-17) identifies the foregoing eight names or aspects of Śiva with fire, air, plants, the sun, the moon, clouds, water and lightning. Of these eight natural phenomena or elements, the elements of plants, lightning and clouds have later been replaced by the elements of earth, ether (*ākāśa*) and sacrificer respectively leading to the systematic list utilized by Kālidāsa.*

G. C. Tripathi

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

*For further details see present author's article शिव की अष्टमूर्त्तियाँ और उनकी वैदिक पृष्ठभूमि in *Kosala* (Faizabad), Vol. VI.1-2 (1982-83), Pp. 75-81.

REVIEWS

MANUSMṚTI—Vol. III (V-VI Chapters), Edited by Jayanta Harikrishna Dave, Pub. by Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1978, pp. xii+268 ; Price Rs. 50/- (Cloth bound).

The book under review incorporates two chapters of the *Manusmṛti,* namely, the fifth and the sixth containing 266 verses in all. The fifth chapter deals with the various subjects relating to the eatables and non-eatables, impurities, purifications etc. From verse 37 to 56 of the fifth chapter Manu frames the rules for eatables and non-eatables and such other allied subjects. He says that evil does not lie in eating meat or taking wine or indulging in sexual acts; because these are natural instincts of human beings, but abstaining from such natural acts or habits is highly rewarding. Thus he lays down the norms for the daily food and modes of Hindu life.

From 57th verse onwards, the rules for purifications have been laid down. The impurities caused by child birth or death in a family, impurities of materials and their purification, duties of a woman, and such other subjects form the genesis of these verses. There are certain things which are either self-purificatory or self-purified, such as woolen garments, silk-cloth, beak of a bird, mouth of a woman during cohabitation and so on. According to Manu the puri-

fication of the wealth holds the greatest importance among all the purificatory things. The person who is pure with his wealth is pure by all means, and none can be purified by the water or soil. Thus the means of livelihood decides the end of the life.

From the verse 132 to 167 the duties of the four-fold Hindu social order have been discussed in which duties of women are also included.

The sixth chapter deals with the life of the *yatis* and *parivrājakas* who are supposed to retire from the household life for the attainment of higher stages of human life in order to reach the highest truth or ultimate reality, which is of two kinds—*śabdabrahman* and *Paramabrahman*. After completing a certain age, say fifty or so, a Hindu must retire from social life and after transferring his properties and duties to his sons one must follow the path of the forest. Gradually they should engage in *tapas* and lead a pure and simple life. Manu lays down the rules of this part of life in the verses from 1 to 32 of this chapter. In these verses, various types of *tapas* have been prescribed for the *yatis*.

From 32nd to 97th verses of the sixth chapter Manu deals with the formulations of the life of *parivrājakas* or Sanyāsīs. In between we find a large number of verses associated with the rules and regulations of the modes of Hindu life which is divided into four *āśramas*. Here the ten indicative qualities of religion have been enumerated beautifully. They are self-command, forgiveness, self-restraint, not stealing, purification, restraint of senses, intellect, knowledge, truth and angerlessness. A man has to imbibe and adhere with all these qualities in order to reach the higher

goals of human life. In this very chapter, Manu highlights the greatness of house-hold life which sustains all the āśramas or strata of the human society.

The book comprises with the nine commentaries in all. The foremost among them is Medhātithi's *Manubhāṣya* which is quite extensive and elaborative. Other commentaries are Sarvajña Nārāyaṇa's *Manvarthavṛtti,* Kullūka's *Manvartha Muktāvalī,* Raghavananda's *Manvartha candrikā,* Nandana's *Mānavavyākhyāna,* Ramchandra's *Candrikā,* Maṇirāma's *Sukhabodhinī,* Govindarāja's *Manuṭīkā* and Bhāruci's *Manuśāstravivaraṇam.* Some of these commentaries are incomplete.

The commentaries of Medhātithi, Kullūka, Sarvajña Nārāyaṇa and Govinda Rāja deserve our attention. Among these, Medhātithi and Kullūka are more important than other because of their contents and qualities. Other commentries are very brief but comprehensive. Some of them could have been deleted from the book in order to minimise the cost of production.

The commentary of Govindarāja has not been given a place from verse 57 to 74 of the fifth chapter in this book. The editor has not given any reason for it. Likewise, the commentary of Bhāruci is available only on 40 verses of the sixth chapter. This commentary is sometimes very brief but comprehensive too. The commentary of Rāmachandra has been omitted on page 113 verse No. 103 which indicates an editorial error.

A large number of Hindus, lawyers, advocates etc. consult Manu for various purposes. The researches in the field of religions, Sociology, History etc. also consult *Manusmrti* for various reasons, and most of them do not have an

easy access to the language of Sanskrit. Hence a critical translation of the entire work in English or Hindi could have been a great help to them, and that would have added much more grace to this excellent edition of the work containing such a large number of commentaries together. A Sanskritist can comprehend *Manusmṛti* even without the help of commentaries, but a layman needs translation more than the text or the commentary. Therefore, if the erudite editor takes up this project after the completion of this work, that would really be more beneficial to the entire readership of this compedious work.

The printing, editing, paper binding and get up of the book is excellent. It deserves a place in every library whether public or private. If the cost of book could have been minimised by any means it would have been possible even for comman man to get a copy of it easily. Bharatiya Vidyabhavan society may think over it and try to bring but a cheap paper back edition of the same.

The editor deserves our hearty congratulations and high appreciation for this excellent and valuable presentation of *Manusmṛti* to the lovers of Hindu religion and society. We look forward hopefully for other volumes to come with a critical rendering of the entire work in Hindi or English by the editor himself.

S. N. Shukla

Dept. of Sanskrit
Allahabad University,
Allahabad,

YOGA UNVEILED, U. A. Asrani, Motilal Banarsidas, Delhi, 1977, Pp. 230. Price Clothbound Rs. 40/-, Paperback Rs. 25/-.

An attempt has been made in the book entitled *"Yoga Unveiled"* to establish that the attainment of the state of Yoga (living constantly unified with cosmic life) is useful not for some life beyond but here and now. It effects our mind and body favourably and enables us to fare smoothly through stresses and strains of our day to day life. He hopes, "if this practice becomes the norm in society, then the elimination of social, national and global tensions, will be an easy affair" (p. 47). As it would appear, the author has a rare gift of combination of strict scientific approach for understanding a thing and readyness to explore the world and experience of mystics. He himself has been practising Yoga and in 1943 had a glimpse of a high state of Yoga for nearly 48 hours. He says "A stable mind state, as experienced by me is plastic in its realism and at peace within and without......It integrates mind completely, without any adjustments, dynamisms or mechanisms or even sublimations" (p. 11).

He has attempted well in establishing a direct correlation between the state of high level of consciousness and a better mental as well as physical health of man. His observations are logical, scientific and based on factual findings. This book is an outcome of his lifetime search in the secrets of Yoga and his conclusion "Mysticism of the stable mind state level releases the mind and its creative talents; it enhances one's appreciation of beauty. It's basic unselfishness also tends to make ethical conduct just easy and natural" (p. 14)......It is an easy (sahaj) state free from the stress

of modern living. It looks in fact like very ordinary living. But it is one, which exhibits an elimination of all cobwebs of dichotomies, prejudices and pre-possessions; of distinctions of self and non-self, mine and someone else's" (p. 15). It is, therefore, very natural that if larger number of people are able to attain such state of living, the world would become a happier place to live in.

The author deserves all our thanks for making an attempt at bringing down the knowledge about the experiences of Yoga from the clouds of mysticism to the world of logic and concrete realities. Of course he does not aim at guiding the reader as to how to attain the state of Yoga which the author himself has not perfected as yet. Although the author has suggested methods for a start. "He can begin with a prayer to God if he believes in Him—concentrated and without any guilty complex in it. Pray not for material goods but for Light and Life. Or repeat the name of some prophet or God that sounds sweet to you or simply admire the beauties of nature and meditate on the unity within this diversity—a unity that includes your own little self in it. Such a meditation expands consciousness beyond the narrow self" (p. 46). But he has missed to present the fact with due emphasis that the state of "Sahaj Yoga" is attained only when one persues it single mindedly for its own sake. The advantages gained by the attainment are only incidental and by-product of that state of living. If one has any other object in view and wants to use this only as a means, he is likely to fail in his attempt miserably.

MAYA MALAVIYA

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

LIFE AS YOGA—Vimala Thakar, Motilal Banarsidass, Delhi, 1977, P. 286. Price Clothbound Rs. 50/-. Paperback Rs. 35/-.

This book is published as a collection of two series of lectures delivered by Vimala Thakar at Chorwad (Gujrat) amidst some relatively serious seekers of truth of life. First series consisting of five and the second of eight discourses supplemented by questions and answers make the book all the more useful. Vimala Thakar may be said to be Vedāntic in her exposition of the Ultimate, although she is not a follower of Ācārya Śaṅkara in the strict sense. About life, she says "It is itself......To treat the infinite as finite is Māyā......It is being, it is existence which you cannot qualify by any adjectives......the intellect cannot see without the aid of concept of time......if there is time there must be space......I fail to understand how Māyā means the false and that is why I cannot understand Śaṅkara who says that the world is Māyā" (p. 53).

The freshness, directness and the intimate knowledge of the truth vibrate through her utterances. Her approach is new and she says that to have clear concept of spiritual life we need three things 'vision free from illusion, a mind free from impurity and senses free from fetters of habit' (p. 1).

The book is worth reading by all those who are in any way interested in knowing the truth about spiritual life.

Maya Malaviya

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

THE JOURNEY WITH DEATH, Rohit Mehta, Motilal Banarsidas, Delhi, 1977, Rs. 30/- Clothbound, Rs. 22/- Paperback.

In this book Shri Rohit Mehta, the renowned theosophist, has tried to seek answers of questions about Death. What it is? Why does it come? Whither does it take one? Can we communicate with the person who is dead? Shall we meet again? Shall we recognize each other? This book is an outcome of the shattering experience of feeling the arrival of death of a dear friend of the author. Shri Mehta proceeds to explain the meaning of death as passing of the super-physical existence to some other level (frequency) (p. 17) and that after death mind being something different from the brain itself remains active as before (p. 21). The memory of physical objects and happenings stored by mind starts functioning clearly after death but the individual does not have any physical instrument to act on those memory projections. Through the process of assimilation he can sort out the memory contents and for this he requires the association, help and guidance of the living (p. 22).

To have a communication between the living and the departed, all that may be needed is the establishment of a new focul point of conciousness since the physical brain ceases to exist after the death of the body (p. 28).

"If we can be aware in deep sleep then there can be not only conscious meeting but a clear remembrance of such meeting" (p. 50). Through some practice the capacity to hold images before mind without any activisation of the brain can be developed. "To absorb the basic sensorial impulses in one's mental image and to keep out quietly and

gently the incursion of marginal impulses—this indeed is the way of preventing the brain from getting activised and yet at the same time keeping the mind in a state of intense activity. And it is this which brings to one the blissful experience of communion with one who has physically departed from us" (p. 70).

The author also gives detailed narration of what happens after one leaves his physical existence till his reincarnation (Chapters VIII and IX) and tells the utility of this communion with the departed thus—"if the assimilative process could be given a direction along the last egoic impulses then the departed can be brought nearer to the fulfilment of the objective assigned to him with the help of the living, this can be done more quickly". After reincarnation recognition is assured through the impulsive force of love.

The book is of academic interest in general and may be of some use in particular for those interested in occultism and in contacting the departed ones. The methods prescribed require time to practise and it is not sure that one will be successful in his attempt as many find it difficult even to practise simple meditation. The author tells us to guide the departed ones while they remain at the Astro-mental level and thus expediting the process of their reincarnation and further recognising them through the impulse of love as if the living individual has some guarantee of a very long life for himself. He says 'there is nothing that can separate us. We shall be together, for the physical and the non-physical make no difference whatsoever' (p. 116). What will happen if we also become non-physical in the meanwhile? Who is going to establish communion with us?

Are we going to establish a community of the persons capable to do so? The author is silent on these points.

In fact, talking about spirit with such limited objectives, while our own problem of death-birth cycle still remains unsolved, is ludicrous. For those, who have attained the state of *Nirvāṇa* for themselves, providing help to the living as well as to the departed ones should be no problem at all. Further, is it not desirable and easier to prepare our dear ones ready to seek the answer to the questions of life and death while they are still living and active, as it will eliminate the necessity to communicate with them after death.

R. C. MALAVIYA

Allahabad.

WHY MEDITATION, Vimala Ṭhakar, Motilal Banarsidas, Delhi, 1977, Pp. 82, Rs. 10/-.

For ages, spiritual quest has, unfortunately, been related to the life beyond. Has it nothing to do with today, our present life, its problems? Is man doomed to live the life of turmoil, tension, hatred and wars? Is there any solution available with us?

One will find answers to all these questions in the book '*Why Meditation*', a collection of five talks by Vimala Thakar. With a clarity and straightforwardness which is the quality of the approach of a *sādhaka,* she painstakingly elaborates

and dignoses the melady; layer by layer she expounds the need of a revolution, the necessity of living a harmonious life, a life full of awareness. She gradually leads us to the ultimate condition we have to arrive at......the state of meditation which one starts living—"in a state of isness where there is no experiencing. One is then in the nothingness of life, moving around in daily life like nobody. One is like the emptiness of the space which is full of creativity". (p. 79).

In talk no. 1 "on the Nature of Human Consciousness" Vimala Thakar stresses on the need of looking at and knowing of oneself, that is self-acquaintence, reeducating the physical structure and setting it free of repetitive and... habit patterns (p. 12). The religious inquiry has to be begun with the visible and the known. There is nothing which could be called material, insignificant, worldly and mundane, which could be separated from the divine. "Life is one indivisible whole" (p. 10).

In her second talk on "Verbal Structures" she emphasizes on the purification of verbal structure or reeducation of speech. "Transformation is an event that takes place when one becomes aware of the disorder existing in one's life, at all levels, in all fields of action—physical, verbal, mental, non-mental and so on" (p. 22). Perception of disorder means transformation.

After physical and verbal structure, comes the purification of the cerebral or the psychological structure. "The brain has a complex movement, the conscious and the unconscious, moving simultaneously with different velocities and man tries to cope with these two" (p. 29). But the

unconscious, the past cannot be regulated. "Our relationships are the movements of conditioned energy" (p. 30). One should be free from the prison of the past.

In talk no. 3, on "Real Selves and Images" she explains the importance of working of the inner urge for becoming free from the strings of the past, from the mechanistic nature of mental movement (p. 38). "When a person has found out that his urge for exploring the unknown.........the meaning of life...divinity or God is genuine, then he educates the body, the speech and the mind, to behave accurately and precisely whenever their movements are warranted" (p. 41).

To her, to perceive the darkness as darkness is the beginning of having a light in life. "Observation is a state of non-reactional attention" (p. 44). Through it, "the past goes into abeyance by itself, because it has no role to play. There is no "I" to analyse, interpret, judge or experience (p. 45). Thus the experiencer is transformed into an observer. One is left then with an ocean of consciousness, a new sensitivity of the whole being with an ocean of energy.

In talk no. 4 she explains mainly the nature of meditation and its relevance to our daily life. Meditation is a state of "motionlessness" or pure "isness" of the mind, the conscious, the sub-conscious, the unconscious (p. 49). "We have divided life with inner, outer, individual, collective, political, economic, cultural, educational and so on. But life is one indivisible homogeneous whole (p. 50). It cannot be divided. Meditation is the perspective of life and the way of living. Here there is no short cut. "One has to grow with the totality of being and not suddenly arrive at an experience."

As to question, how to begin for the transformation, she explains in her talk no. 5, that Religion is a personal discovery of truth which everyone has to do for oneself. One should bring the inner as well as the outer change simultaneously, change in the content of the consciousness, in his total way of behaviour, not neglecting ones daily life, socalled commitments, responsibilities (p. 71). As soon as one feels "the futility of mental movements and lets the whole conditioned energy of the individual and the total human psyche go into non-action", a tremendous resource of unconditioned energy contained in the human psyche begins to operate (pp. 76-77). Meditation is a state where there is no motion, not even the movement of awareness that you are one with the universe.......with the totality. For awareness to exist you need the substratum of the intel·lect or brain (p. 78). That awareness is in the form of the "isness" of one's being. In such a condition, one moves in daily life like nobody. "Through such a person, the extra-ordinary things get done" (p. 78). "One is like emptiness of the space which is full of creativity". (p. 79).

The book is very useful for those who want to tread on the path of spirituality, who have an urge for enjoying life in its true sense. The book teaches us how to live freely, harmoniously with the totality of our being, through pain and pleasure, through sorrow and joy, how to develop a new dynamic of relationship with oneself and with others. Everyone has got the light of truth within oneself. One has only to take the lamp of one's own understanding in one's hand and walk in its light. It is only in the non-action of the "I" that there is freedom from the violence, anger etc., the cerebral ways of behavior. One finds love and humility, beauty of silence and spontaneity. Vimala Thakar

deserves our heartiest thanks for such a nice gift of deep knowledge about life, its problems and solutions acquired by herself in course of years of *sādhanā*.

MAYA MALAVIYA

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

THE CONCEPT OF SELF-LUMINOSITY OF KNOWLEDGE IN ADVAITA VEDĀNTA, Dr. Giridhari Lal Chaturvedi, Pub. Adarsha Prakashan, Aligarh, 1982, First Edition pp. Introduction viii, Text 197, References, Bibliography and Abbreviations. Price Rs. 50/-. (Published with the help of Publication grant from U. P. Govt.).

The present book under review is the thesis of the author approved for the degree of Ph. D. in Sanskrit, by the Lucknow University. The author in his learned work has discussed and illustrated the concept of self-luminosity of Knowledge in the Vedānta tradition, particularly in the Advaita Vedānta doctrine of Ātman.

In fact, the problem of 'Knowledge of Knowledge' or the concept of 'Self-luminosity of Knowledge' of Advaita Vedānta has been a subject of deep discussions in the tradition of Indian Philosophy. Many of the traditional and modern thinkers have expressed their views in a manner which sometimes appear as consistent, contrary or contradictory but ultimately converge to the same point. This book is also a link of the past tradition, covering Pre-Vedic,

Vedic, Post-Vedic, Paurāṇic, Medieval, and Modern trends of critiques.

The book is divided into eight chapters. The first three Chapters are lengthy, cover almost half of the book. They elucidate the concept of self-luminosity as described in the Upaniṣads, and Historical Perspective and illustrate the notion of Knowledge as Principle of Revelation.

In the fourth, fifth and sixth chapters, the learned scholar has touched the *'Trinity'* (Tripuṭī) that is the Knowledge, the knower and the knowable and has established that ultimately they end in the Absolute Knowledge which is Self-illuminating. While establishing the Self-luminosity of Knowledge, the author has refuted the views propounded by the Naiyāyikās, Buddhists, Sāṃkhyavādins and Mīmāṃsakās (Bhāṭṭa and Prābhākara).

In chapter seven the author attempts, by purely logical method of syllogism, definition of self-luminosity in the light of the *'Tattvapradīpikā'*, the well known treatise by Citsukhācārya, wherein definitions of self-luminosity have been assigned to different orders of experiences. The meanings of Self-luminosity, which have been illustrated by the Advaitic Schools of thought, importing the well known example of lamp from *'Pañcadaśī'*, has been accepted by the author. Just as a lamp reveals itself while revealing the objects presented to it, in the same way the knowledge illuminates itself while illuminating the objects.

In the eighth and the last chapter, the author has ultimately established the Self-luminosity of Knowledge and has held that Self-luminosity is the key of Brahman-Realisation (Brahma-Sākṣātkāra).

It is noteworthy here, that obstensibly the book is divided into eight chapters but in fact it has two Sections devoted respectively to 'definition' and 'proof' of Self-luminosity. In the first Section eleven definitions of Self-luminosity are put forth and examined from the Vedānta standpoint. The other Section is devoted to proving that the perfect definition corresponds to a fact and is not an assumption.

In this way the author has put forth the Vedānta concept of Self-luminosity as a comprehensive hypothesis. Though the subject is quite familiar to the scholars of Vedānta and may not be called a new research as much research works have been produced, yet the presentation of the subject is unique. It would attract both the scholar and the general reader.

On the whole, Dr. Chaturvedi has given us a very informative and well documented book on Advaita Vedānta which carries a Bibliography of important original sources and Abbreviations at the end. The printing and get-up are also quite upto the mark. I have no hesitation in saying that being comprehensive and richly illustrated, the present work is a valuable addition to our study of the nature of knowledge in Advaita Vedānta.

Nevertheless, it may be stated that the references have been given chapter-wise at the end of the book and not on the same page. The reader, sometimes feels inconvenience. This is because footnotes leave room for improvement.

(Km.) Archana Chaturvedi

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

THE NĀRADĪYA PURĀṆA, A Philosophical Study, by Dr. S. S. Upadhyaya, Jnananidhi Prakashan, Chhata Chowk, Kishore Narain Road, Muzaffarpur, 1983, pp. IV, iii, 195. Rs. 80/-.

The *Purāṇas* are said to be the source for the deep and perfect knowledge of the Veda as well as veritable encyclopaedia of our Indian culture. The *Purāṇas* through their simplicity of language and interesting style prove to be a good tool of popularizing the subtle religious and philosophical thoughts of our *Ṛṣis*. The *Nāradīya Purāṇa* dedicated to the exaltation of Viṣṇu is one of the eighteen *Mahāpurāṇas*. Dr. S. S. Upadhyaya has attempted in his thesis to present the philosophical doctrines described therein.

The author in his scholarly introduction discusses the title of *Nāradīya Purāṇa*, its catagory, position, date and contents. The *Nāradīya Purāṇa* bears two designations—*Bṛhannāradīya* and *Nāradīya*. The colophone informs us that the chapters 1-36 are named *Bṛhannāradīya* and the remaining portion bears the title *Nāradīya*. Another *Bṛhannāradīya Purāṇa* is reckoned among the *Upapurāṇas*. As the *Nāradīya* and the *Bṛhannāradīya* are both separately quoted in clear terms by different commentators, it proves their independent identity. The incorporating of the *Bṛhannāradīya* within the framework of the *Nāradīya* may be due to the ignorance of the scribes and editors, as the author opines.

The problem of cosmogony is the main point of discussion of the Purāṇas and hence, Dr. Upadhyaya in his Chapter I "Cosmogonical speculation of the *Ṛgveda*", discusses the "Puruṣa Sūkta", "Hiraṇyagarbha Sūkta" "Nāsadīya Sūkta" and other cosmogonic hymns of the *Ṛgveda*. Chap-

ter II is devoted to "Cosmogonical Accounts as given in the *Atharvaveda*, the Brāhmaṇas and the Upaniṣads". In this connection, the Sāṃkhya theory of evolution of the universe is also elaborated as it is close to the modern science and is borrowed by the Purāṇas. Chapter III discusses in detail the "Cosmogonical Speculation in the *Nāradīya Purāṇa*". The account of the origin of the universe concurs with that of the *Mahābhārata* (*Śāntiparva* CLXXXII-CXCV). Chapter IV "The Doctrine of Devotion" considers the essential nature of "Bhakti" as expounded in the *Nārada-bhakti-sūtra*, *Śāṇḍilyasūtra* and Madhusudana Sarasvati's *Bhaktirasāyana*. Bhakti is the supreme love for God. Chapter V deals with the "Conception of Devotion in the *Nāradīya Purāṇa*". The whole universe is identical with Viṣṇu. One should perform every action with devotion to Viṣṇu "bhaktim samāśritya" (*Nār.* 1.4.5). It brings forth His Grace, resulting in the Supreme Enlightenment, the ultimate cause of emancipation. Chapter VI discusses the "Problem of Emancipation". According to *Nāradīya Purāṇa* the realization of identity between the individual and Supreme Consciousness cuts away the *pāśas* of the worldly existence (*Nār.* 1.33.60). This state is called emancipation. It is a gift of Lord Viṣṇu to his devotee. *Nāradīya Purāṇa* also makes emphasis on the practising of meditation for attaining enlightenment and knowledge (*Nār. Pu.* 33.72).

The Section I of Chapter VII "The Doctrine of Tantra" discusses the basic features, contents and antiquity of Tantra. Section II deals with the radical principles of the Śaiva philosophy as elaborated in the *Nāradīya Purāṇa*, The Chapter VIII "The Conception of God in the Śaiva Philosophy", quoting *Nyāyamañjarī*, *Śāṅkarabhāṣya*, *Śrī-*

kaṇṭhabhāṣya, and *Śivārkamaṇidīpikā,* throws light on the controversy regarding God as to its being the efficient or material cause of the world.

The book carries bibliography and indices of philosophical terms, books, and names of deities, seers and authors, enhancing the value of the edition. The get up and printing is good, though the 'Preface' is full of misprints and lacks correct diacritically marked words.

The book is a welcome addition to our study of Purāṇas and Religion and Philosophy. Dr. S. S. Upadhyaya has done full justice to the subject for which he deserves applause by the scholarly world.

MAYA MALAVIYA

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

THE SAṂNYĀSA UPANISHAD-S, (on Renunciation), Tr. into English by Prof. A. A. Ramanathan ; The Adyar Library and Research Centre, The Theosophical Society, Madras, 1978, A L Series no. 104, pp. VIII, 240.

The present volume entitled *Saṃnyāsa Upaniṣad-s* is one of the series of the important project of the Adyar Library for publishing "a complete and correct edition of

the Upaniṣads", the idea of which was first initiated by Prof. Max Müller in 1888. The text portion of the *Saṃnyāsopaniṣad* with Upaniṣad Brahmayogin's commentary was first published in 1966. The present English translation of *Saṃnyāsopaniṣads* based on the commentary of Upaniṣad Brahmayogin is the result of the sincere efforts of Prof. A. A. Ramanathan of the Adyar Library which appeared in 1978.

The volume contains the translation of seventeen minor Upaniṣads, namely, the *Avadhūtopaniṣad* (*Kṛṣṇayajurveda*), the *Āruṇyupaniṣad* (*Sāmaveda*), the *Kaṭharudropaniṣad* (*Kṛṣṇayajurveda*), the *Kuṇḍikopaniṣad* (*Sāmaveda*), the *Jābālopaniṣad* (*Śuklayajurveda*), the *Turīyātītopaniṣad* (*Śuklayajurveda*), the *Nāradaparivrājakopaniṣad* (*Atharvaveda*), the *Nirvāṇopaniṣad* (*Ṛgveda*), the *Parabrahmopaniṣad* (*Atharvaveda*), the *Paramahaṃsaparivrājakopaniṣad* (*Atharvaveda*), the *Paramahaṃsopaniṣad* (*Śuklayajurveda*), the *Brahmopaniṣad* (*Kṛṣṇayajurveda*), the *Bhikṣukopaniṣad* (*Śuklayajurveda*), *Maitreyopaniṣad* (*Sāmaveda*), *Yājñavalkyopaniṣad* (*Śuklayajurveda*), *Śāṭyāyanīyopaniṣad* (*Śuklayajurveda*) and *Saṃnyāsopaniṣad* (*Sāmaveda*).

The *Saṃnyāsa Upaniṣad-s* deal with the characteristics, qualifications and life of *Saṃnyāsīs* (those who have renounced the world), duties and rules of renunciation, nature of *Brahman,* means of realizing the Self, its fruit and the life of the Realized Soul. Different stages of *Saṃnyāsīs* namely *Kuṭīcaka, Bahūdaka, Haṃsa, Paramahaṃsa, Turīyātīta* and *Avadhūta* have been explained. The *Saṃnyāsī* of the first stage is a hut-dweller, having a tuft of hair, sacred thread, staff, water-pot etc. and takes food in one place.

The *Saṃnyāsī* of the second stage remains in a holy place of sacred waters, subsisting on eight mouthfuls of food secured as alms. The *Saṃnyāsī* of the *Haṃsa* stage wears matted hair and lion-cloth and lives on five mouthfuls of food secured from five different houses. The *Paramahaṃsa*, clean-headed and ash-smeared-bodied, with no sacred thread, food similar to that of *Haṃsa*, has only a staff and no other possession. The *Turīyātīta*, unclad, takes food into the mouth as alms, from three houses. The *Avadhūta* type, having no worldly attachment and duties takes food with no caste distinction and is ever absorbed in meditation on the true nature of the Self. He is very rare in the world. He is the Brahman itself. He is above all worldly desires, illusions, ties, above all *śāstras* and rituals. He is neither the doer, nor one affected by it. The body may remain engaged in daily routine works but "I" remains witness only. According to *Śāṭyāyanīyopaniṣad*, 1-3, Mind is the cause of bondage and liberation. Mind attached to the objects of the senses leads to bondage. If that mind is directed towards Brahman, one becomes liberated. As the mind is, so one becomes.

The translation is very good as it tries to express the purport of the *Upaniṣads* in original like style, with simplicity and clarity. A short summary has been given at the beginning of the translation of each and every *Upaniṣad*. Quotations from original texts are given in brackets where necessary. Suitable headings to the topics discussed, footnotes where necessary, and a Glossary at the end, are also provided. All these help the readers in understanding the subject matter and thus enhance the value of the work. The Adyar Library and Research Centre, Adyar has actual-

ly done a valuable service for the students of Religion and Philosophy as well as for the seekers of spirituality.

MAYA MALAVIYA

Ganganatha Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha,
Allahabad.

Review Article

THE NAMELESS EXPERIENCE, (A Comprehensive Discussion of J. Krishnamurti's Approach to life), Rohit Mehta, Motilal Banarsidass, Delhi-7, First Edition : Bombay, 1973 ; Second Edition : Delhi, 1976, pp. 473. Price Rs. 55.00 (Cloth bound), Rs. 45.00 (Paper back).

It would be an understatement to say that J. Krishnamurti is one of the most revolutionary thinkers, born in the history of mankind. He is a Seer. He has a vision, uninterrupted by thoughts, which is the priviledge of such rare personalities only. But as it has always happened his simple statement of fact that revolution in society can only be brought through change of individuals has failed to catch imagination of those actively engaged in the field. Actually it is the mode of change which confuses even those who have been listening to him for years. The propositions of Krishnamurti as expounded by Sri Rohit Mehta in his book the Nameless Experience may be summed up as follows :

With the advancement of science and technology the life of modern man has become more and more mechanical, making him increasingly dependent upon outer circumstances for fulfilment of his inner life also. As circumstances are always changing rapidly he increasingly feels insecure. Man is prepared to purchase his own inner peace by strictly following the line of conformity. But it is only by killing his own individual significance that he could be granted a security of social significance. The distance between the subjective demanding significance (survival of the psychological entity) and the objective factor claiming conformity is enormous and is growing more and more each day. Reconciliation of these two factors is possible only when survival is invested with significance. To cater his desire for significance, man wants to use objective conditions for the fulfilment of ones projected values of life. He wants the objects to discharge functions which he has projected into them. The source of these projections is the unfulfilled background—the incomplete experience of the past. The projections create a distance between the subjective and the objective factors of life. Time is sought to be employed for covering the distance between that Which is and that Which ought to be in terms of the projected values. But this, being not possible to fructify creates tension and anxiety. To have an escape from seeing the problem face to face innumerable escapes have been devised. Speed, one of the main characteristics of modern civilization intensifies tension causing immaturity and noise, another characteristic provides escapes and causes insensitivity. Human mind is much too slow, because of its heavy burden, to grapple with the situations created by the factor of speed. Solution lies in accelerating the inner speed so that the subjective response may be adequate to the objec-

tive impact. Thus the complex problem of modern civilization centres not in technology but in psychology, Science and technology, traditional religion, philosophy, social philosophies and modern psychology—none of these can be of any help to human individual in creating a free mind which alone can resolve the strained relationship between the subjective and objective fectors of life, due to one lacuna or the other inherent in their respective approaches. Several mystical thinkers, indicating that the only world of Reality is subjective, have sought to eliminate the conflict by denying the very existence of objective world. But they only sought escape into some world of fantasy. For liquidation of his vast and baffling problem man needs to have a mind—a clear and quick mind—that functions in complete and untrammelled freedom. It is only a free mind that can prevent the coming into existence of a gap between the subjective and the objective factors of life. This means complete shattering of the mind's centre of reactions—the self, the ego. A completely free mind is without any psychological background. It has no burden of the past to carry and so it is ever new and fresh. It is emergence of such a new mind that is the imperative need of today. This is what is called the Mutation of Mind—the fundamental Spiritual revolution of man—in terms of J. Krishnamurti.

How this Mutation of Mind can take place ? "To see the truth in the false is the beginning of wisdom ; to see the false as the false is the highest comprehension. To see that what you have been doing all these years can only lead to further strife and sorrow—*actually to experience the truth of it, which is not mere verbal acceptance—will put an end to that activity... Be passively watchful of your habitual responses ; simply be aware of them without resistence;*

passively watch them as you would watch a child, without the pleasure or distaste of identification" (p. 62). It is at this point that "the chatterings of mind cease, a deep and profound silence descends upon it. In this moment of awareness one sees the false as the false, the false in the true and true in the false" (p. 62). This perception is the right action. Thus mind and its functioning form the central theme in Krishnamurti's approach to life. Passing through narration of intricate functioning of mind and brain and thus deriving at his conclusions, Krishnamurti successfully substantiates his approach and says "It is only when the totality of the mind is still, that the creative, the nameless, comes into being".

Does Krishnamurti offer something totally new? Or, is he not offering the same old wine in a new bottle? When sage Patañjali defined YOGA as *Cittavṛttinirodhaḥ*, was he not advocating for the same stillness of mind which Krishnamurti so painstakingly elaborates? When positive brain and the negative brain meet, then is there a creative moment, a timeless moment, a moment of communion; for here two have merged into one—there is neither the observer nor the observed—*there is only the One, the Reality, the Thing in itself, the person in the majesty of his own quality'* (p. 313). Does it not sound very much as the experience of Advaita? While elaborating the impact of an innocent person over another individual, the author says, "Let A become the centre of energy, pure and boundless energy which is without frontiers (*Citśakti?*), then the action emanating from that energy will sweep away the mask of B and wipe out the points of resistence which the personality of B has created and sustained" (p. 366). Is it

not the same thing, what we call *Śaktipāta* in our tradition. The names that we give to A are immaterial. Of course the condition of passive mind at the end of the receiver is a necessity for the process to operate successfully. Krishnamurti says:

"Love can come into being only when there is total self abandonment. And it is only love that can bring about order, a new culture, a new way of life...There is beauty only when your heart and mind know what love is. Without love and that sense of beauty there is no virtue...without love there is only ugliness and poverty in your heart and mind. But when there is Love and Beauty, whatever you do is right, whatever you do is in order" (p. 472-473). Who can deny this statement? But does it not remind us of Jesus?, who told us "Love is God".

Finally, choiceless awareness is the real state of Meditation and the state of consciousness attained seems to be nothing different from *Saṃprajñāta samādhi.*

Those who describe Krishnamurti as—all negations—cannot be said to have understood him at all. He negates only to snatch away from us all the rubbish and worthless possessions which we prize most and in return he offers something very positive, the life full of LOVE.

Sri Mehta emphasises that Krishnamurti's "is an approach rather than a teaching. Being an Approach, it stands or falls as a whole. Either one accepts the Approach or one rejects it...There are no parts to an Approach" (p. 29). This is equally true in connection with the other seers of the past. When we miss the approach and cling to a subject, as we are most inclined to do, we move away

from a real understanding of what is intended to be delivered. We miserably fail to achieve anything whatsoever.

During the history of mankind the Creative, the Nameless has expressed itself several times and attempted from different angles, to draw mankind in its lap. But only a few could avail of the opportunities offered. We have always failed to answer the Call. J. Krishnamurti is another and fresh approach of the same to deliver us from our present day lives full of tensions and troubles, agony and trauma. Logic and lectures apart, if one really wants to derive any benefit from Krishnamurti he should present himself passively in His presence. *Nāyamātmā pravacanena labhyo na medhayā na bahunā Śrutena* (Kaṭh. 1.2.23).

Sri Rohit Mehta fully deserves our heart-fealt gratitude for presenting J. Krishnamurti in one volume and make us at least understand what Krishnamurti wants to deliver.

RAMESH CHANDRA MALAVIYA

Allahabad.

लीलाशुकप्रणीतम् श्री कृष्णकर्णामृतम्—सम्पादक—डॉ० रसिक बिहारी जोशी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)। प्रकाशक—रामप्रताप शास्त्री, चैरिटेबुल ट्रस्ट, ब्यावर, राजस्थान। प्रकाशन—१९७९ ई०, पृष्ठ ८+१७४। रॉयल साइज। मूल्य ३५ रु०।

भक्ति आगम की उपज है तथा पुराणों में भी इसका पल्लवन हुआ है। इसकी सम्पूर्णता तो श्रीमद्भागवत में ही देखी जा सकती है। यद्यपि आलम्बन या उपास्य के भेद से इसकी तीन धाराएँ प्रस्फुटित हुई हैं—शैव शाक्त तथा वैष्णव तथापि इसकी वैष्णवी धारा अधिक गम्भीर एवं ऊर्मिमयी परिलक्षित होती है। इस वैष्णवी भक्ति के भी अनेक रूप हैं—राम की उपासना, लक्ष्मीनारायण की उपासना, जगन्नाथ की उपासना, वेङ्कटेश की उपासना या चतुर्व्यूह की उपासना बाल कृष्ण की उपासना तथा राधामाधव रूप युगल किशोर की उपासना। सभी उपासनाएँ वैष्णवी भक्ति के आधार पर ही यत्र-तत्र प्रचलित हैं। इसका मूल कारण भक्तों की रुचि का वैचित्र्य ही है। इन सभी उपासनाओं से भक्ति का साहित्य परिपूर्ण है। फिर भी इन सबों में अधिक प्रचार मधुर उपासना का है जिसके आलम्बन युगलकिशोर राधामाधव हैं। इसमें सख्यभाव से भक्त अपने उपास्य की लीलाओं का निरन्तर चिन्तन करता रहता है। श्रीमद्भागवत के "रास पञ्चाध्यायी" का अधिक आदर इसी का प्रमाण है।

भक्तप्रवर लीलाशुक का कृष्णकर्णामृत भी इसी मधुर उपासना-धारा का गम्भीर प्रवाह है। इसके प्रत्येक पद में ध्येय की प्राप्ति हेतु भक्त की आन्तरिक व्याकुलता, एकतान ध्यान, अपनी आतुरता, विवशता तथा राधा-माधव की मधुर लीलाएँ देखी जाती हैं, जो प्रत्येक सहृदय को आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। अतएव श्रवण पुट पेयामृत तथा लोकोत्तर आह्लाद के जनक होने से यह ग्रन्थ सर्वथा अन्वर्थ संज्ञक है।

सारस्वत समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् सम्पादक डा० रसिक बिहारी जोशी का हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्यान सुवर्ण को सुरभित करने जैसा कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ पाठक जहाँ एक ओर लाभान्वित होंगे, वहीं दूसरी ओर विदग्ध सहृदय भी स्वादु रसास्वाद कर कृतार्थ होंगे और भक्त तो आनन्द विभोर होंगे ही। गवेषकों के लिए भी यहाँ पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। यह व्याख्यान सम्पूर्ण वैष्णव भक्तिपरक साहित्य का आलोडन कर, निम्बार्क दर्शन तथा

चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्तों का मन्थन कर "रास पञ्चाध्यायी" प्रभृति भागवत रूप भक्ति सागर का अवगाहन कर पाठकों के समक्ष तत्त्व रत्न सार या नवनीत प्रस्तुत करने का सफल प्रयास कहा जा सकता है।

इस व्याख्यान में भगवान् कृष्ण की दो प्रकार की लीलाएँ वर्णित हुई हैं—अन्तरङ्ग लीला तथा बहिरङ्ग लीला। दोनों ही लीलाओं में आलम्बन एक ही है—श्रीकृष्ण, किन्तु आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। अन्तरङ्ग लीला का आश्रय श्री राधा हैं और बहिरङ्ग लीला का लीलाशुक। एक सिद्ध भक्त है तो दूसरा साधक; एक अलौकिक है तो दूसरा लौकिक। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए व्याख्यान में विशदता तथा विस्तार स्वाभाविक है। अतएव इस व्याख्यान को विशद, विस्तृत, प्रामाणिक तथा आलोचनापूर्ण कहना उचित एवं यथार्थ है।

यहाँ भूमिका में अद्यावधि प्रकाशित सभी संस्करणों तथा उपलब्ध समस्त टीकाओं की सूचना दी गई है। इससे गवेषकों का लाभ होना स्वाभाविक है। विद्वान् सम्पादक ने हंसवृत्ति का अवलम्बन कर बङ्गाल के संस्करण को ही यहाँ आदर्श मानकर अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया है। हाल में ही १९७१ ई० में हैदराबाद से प्रकाशित एवं डॉ० पी० जी० लाले द्वारा सम्पादित इस ग्रंथ के तीन आश्वास मिलते हैं। प्रत्येक आश्वास में क्रमशः ११०, ११० तथा १०८ पद्य दिये गये हैं। किन्तु उत्तरवर्ती दो आश्वासों के पद्य परवर्ती काल में किसी अन्य की रचना हैं, जो लीलाशुक के नाम से जोड़ दिये गये—ऐसी धारणा बङ्गाल के सुप्रसिद्ध साहित्यालोचक डॉ० एस० के० डे० महाशय की है, जिससे प्रस्तुत संपादक पूर्णतः सहमत हैं। अतएव भूमिका में इस बात का उल्लेख विशद रूप से यहाँ किया गया है।

इस तरह का आलोचनात्मक व्याख्यान प्रामाणिक एवं रोचक अनुवाद तथा वैदुष्यपूर्ण भूमिका से मण्डित परिशुद्ध संस्करण परम्परागत पाण्डित्य तथा आधुनिक आलोचना पद्धति के परिचय के बिना संभव नहीं है। अतएव विद्वान् सम्पादक प्रशंसा के पात्र हैं तथा यह ग्रन्थ भक्त, सहृदय तथा साधारण आस्तिक पाठक के लिए भी समान रूप से संग्रहणीय है। छपाई शुद्ध एवं स्वच्छ है। मुखपृष्ठ आवरण आदि ग्रन्थ के गौरव के अनुकूल तथा स्पृहणीय हैं।

किशोरनाथ झा

प्रवाचक
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
प्रयाग

———

THE DOCTRINE OF THE *TANTRAYUKTI-S*

By Dr. W. K. Lele, Reader in Marathi, Banaras Hindu University. Published by—Chaukhamba Surbharati Prakashan, Varanasi, Pp. 8+179. First Edition, 1981, Price Rs. 50/-.

प्राचीनकालादेव भारतीयतत्त्वविद्यायाः सम्यगवबोधाय समृद्धये च विविधेषु शास्त्रेषु निरन्तरं ग्रन्थाः निर्मीयन्ते । तत्र यया पद्धत्या जिज्ञासवः सौलभ्येन प्रतिपाद्यानवगच्छेयुस्तस्याः पद्धतेरपि निर्माणं कृतमेवास्माकं पूर्वजैस्तद्‌विद्भिरिति प्रायः सर्वेषामनुमतं स्वाभाविकं च । अस्याः पद्धतेरपरिज्ञानेन शास्त्रीयग्रन्थेषु प्रतिपादिताः सिद्धान्ताः शीघ्रं नैवावगता भवितुमर्हन्ति । यथा सुगृहीतं शस्त्रं शस्त्रधारिणं संरक्षति दुर्गृहीतं च तत् क्षिणोत्येव तम् तथा शास्त्रमपि अनुपदमेव वक्ष्यमाणया तन्त्रयुक्त्यैव सुगृहीतं सत् निश्चयेन बुद्धिमन्तं संरक्षति—इति नाविदितं धीमताम् । तस्मात् यथा ग्रन्थप्रणेतॄणां कृते पद्धतेरस्याः परिचय आवश्यकस्तथैव ग्रन्थप्रतिपाद्यजिज्ञासूनां कृतेऽपीति नात्र प्रयत्नप्रतिपादनीयतापेक्षिता ।

इयमेव पद्धतिस्तन्त्रयुक्तिपदेन प्राचीनैर्धीधनैर्व्यवहृता । यस्याः परिचयः सविस्तरमस्मिन् ग्रन्थे समुपलभ्यते । तन्त्रेषु शास्त्रेषु याभिर्युक्तिभिः प्रतिपाद्यानां यथाक्रमं सुश्रृङ्खलं प्रसङ्गसंगतं च प्रतिपादनं सञ्जायते ता एव तावत् तन्त्रयुक्तयः । युज्यन्ते संबद्धयन्ते परस्परमर्थाः सम्यक्तया प्राकरणिकेऽभिमतेऽर्थे विरोधव्याघातादिदोषजातमपास्यानयेति युक्तिपदव्युत्पत्तिर्यस्या उपायोऽर्थः । तथा च पदानां साधुत्वे व्युत्पत्तावर्थकरणे च शब्दशास्त्रम्, पदार्थानां निर्वचनपरीक्षणयोर्न्यायशास्त्रम्, वाक्यानामर्थावधारणे च मीमांसाशास्त्रमुपकुर्वन्ति विदुषस्तथैव तत्रयुक्तयोऽपि ग्रन्थनिर्माणविधौ ग्रन्थप्रतिपाद्यावगतौ च साहाय्यमाचरन्ति । पद्धतेः परिचये सति तत्पथपथिकानामुपकारः स्वाभाविक इति नात्र विमतेः संशीतेर्वावसरः ।

चरकसंहितायामस्यास्तन्त्रयुक्तेर्महती प्रशंसावलोक्यते—

यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।
प्रबोधप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ।।
एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात् प्रबुध्यते ।।
अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विना भिषक् ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा ।। इति ।

यद्यप्यस्यास्तन्त्रयुक्तेः षट्‌त्रिंशद्‌द्वात्रिंशद्वा प्रकाराः सन्ति शास्त्रेषु वर्णितास्तथापि नहि प्रत्येकं ग्रन्थे समेषामस्याः प्रकाराणामुपयोगो भवति अपि तु ग्रन्थस्य स्वारस्यानुकूलं प्रतिपाद्यानुरूपमेतास्तत्र यथायथमुपयुज्यन्ते ।

चरकसंहितायामेवास्मिन् प्रसङ्गेऽभिहितम्—

तन्त्रे समासव्यासोक्ते भवन्त्येता हि कृत्स्नशः ।
एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहिते तथा ।।

कौटिल्यस्यार्थशास्त्रे चरकसंहितायां विष्णुधर्मोत्तरपुराणे च प्रधानतयाऽन्यत्र ग्रन्थेषु प्रसङ्गतयासां तन्त्रयुक्तीनां समुल्लेखः स्वरूपपरिचयः प्रकारनिर्वचनं चोपलभ्यन्ते । सर्वत्रैवैताः विकीर्णाः सन्तीत्यापाततो नाकर्षन्ति सुधियां ध्यानम् । अतएव प्रायोऽस्पृष्टः रोचकश्च विषयः पुरातनोऽप्यल्पपरिचिततया नवीनः व्याख्यानाय ग्रन्थकृता परिगृहीतः ।

प्रथमकल्पानुसन्धानकर्मणि नितरां कुशलः शास्त्राणामवगाहने निपुणः चिन्तने चतुरः विद्वद्वरेण्यः डा० वामन केशव लेले महाभागोऽस्य ग्रन्थस्य रचयिता शास्त्रार्णवेभ्यस्तन्त्रयुक्तिरत्नान्याहृत्य सरलया सुबोधया भाषया स्फुटया व्यासात्मिकया रीत्या स्वरूपप्रकारप्रयोगाणां प्रदर्शनात्मिकया साङ्गोपाङ्गविवेचनया च तानि पुनः संस्कृत्य भारतीयविद्याव्यसनिनां समक्षं समुपस्थापयन् महदुपाकरोत् ।

पञ्चसु भागेषु विभक्तेऽस्मिन् पुस्तके सुधीः लेखकः यथाक्रमं तन्त्रयुक्तीनां समयनिर्देशपूर्वकमुद्भवविकासौ स्वरूपप्रकारौ विविधशास्त्राणां प्रामाणिकग्रन्थेषु तासां प्रयोगं व्याख्यानं च तन्त्रयुक्तिमनुसृत्यैव न केवलं साधु प्राकाशयदपि तु विषयममुमधिकृत्याधुनिकैर्धीधनैर्विहितमालोचनमप्यालोचयत् । समुपलभ्यमानाः सकलाः संबद्धाः कृतीः गभीरतया परिशील्य सूक्ष्मतया समीक्षितवान् । "नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते" इति प्रसिद्धव्याख्यातुर्मल्लिनाथस्य सूक्तिमनुस्मृत्य प्रवृत्त इह लेखकः न कदापि प्रमाद्यति । तस्मादनितरसाधारणीयं कृतिर्लेले महाशयस्य विद्वद्भिरवश्यं संग्राह्या । मुद्रणप्रकाशनावरणसज्जादिकमपि मनोहारीति सर्वथा श्लाघनीयौ ग्रन्थकृत् प्रकाशकश्चेति शम् ।

किशोरनाथ झा

प्रवाचकः
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
इलाहाबाद

——

किरातार्जुनीयशिवपुराणयोस्तुलनात्मकमध्ययनम्—लेखकः—पं० वेदव्यास शुक्लः; प्रकाशनवर्षम्-१९७८-७९, प्राप्तिस्थानम्—गर्गप्रकाशन, खोड़ा, पत्रालय बारादीक्षित, मण्डलम्-देवरिया (उ० प्र०) मूल्यम् ११·००।

पुराणलक्षणलक्षितस्य शिवपुराणस्य, महाकाव्यलक्षणलक्षितस्य किरातार्जुनीयस्य च तुलनारूपोऽयं ग्रन्थोऽस्ति। द्वयोस्तुलनायां प्रवृत्तेन ग्रन्थकारेण अर्थसाम्यं शब्दसाम्यं च भजमानाः केचन श्लोकाः प्रदर्शिताः (पृ० ४३-४५-११४-११९) ते प्रायः संवादरूपेणैव ग्रहीतुं शक्यन्ते, नतु तुलनात्मकरूपेण। ग्रन्थस्य पूर्वभागे किरातार्जुनीयस्य, उत्तरभागे शिवपुराणस्य च विभिन्नविषयकं साङ्गोपाङ्गं विवेचनं कृतम्। स्वतन्त्ररूपेण विवेचितौ तौ नितरामुपादेयभूतौ।

पञ्चभिः वर्णनाभिः विभक्तोऽयं ग्रन्थः। प्रथमे किरातार्जुनीयस्य, द्वितीये शिवपुराणस्य च विश्लेषणपुरःसरं विषयः चर्चितः। तृतीये साहित्यपुराणयोस्तुलना कृता। चतुर्थे साहित्यपुराणयोः साम्यवैषम्ये प्रतिपादिते। पञ्चमे च साहित्यपुराणयोर्लाभहानी उपन्यस्ते। रुचिकरा अनुसन्धानात्मकाः विषया संकलनरूपेण सुचारुतया प्रस्तुताः वरिवृतति।

उत्साहभरितेन, नूत्नविषयान् अनुसंधातुकामेन ग्रन्थकारेण क्वचित् क्वचित् स्थलेषु तादृशाः विषयाः प्रतिपादिताः येषामुपादेयता नितरां मृग्या वर्तते। यथा—

महाकविना केवलं निम्नलिखितवर्णैः श्लोकारम्भो न कृतः।—लॄ, ऐ, ङ, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, थ, घ, फ, वश्च। पृ० ६६।

भामहदण्डिपरिभाषानुसारं कालिदासीयरघुवंशस्य महाकाव्यता सङ्गता नासीत्। पृ० ६४।

अस्मादनन्तरं कोऽपि समर्थमहाकाव्यलक्षणकारो न मिलति। (पृ० ६३)।

वस्तुतस्तु विश्वनाथादनन्तरं विद्यानाथेन महाकाव्यलक्षणं कृतं वर्तते।

नैकान् विभिन्नशास्त्रीयविषयान् किरातार्जुनीये शिवपुराणे च समन्वयदृष्ट्या दर्शयितुं (द्र० पृ० १३८-१७४) ग्रन्थकर्त्रा महान् प्रयासः व्यधायि, यश्च साफल्यमभजत्।

अनयैव रीत्या अन्यान्यपि महाकाव्यानि तत्तन्मूलस्रोतोभिः सह तुलनां विधीयेरन्, ततश्च ग्रन्थकर्त्रा एतद्ग्रन्थ इव ग्रन्थाः निर्मीयेरन् साहित्यशास्त्रज्ञानां कृते महते उपकाराय कल्प्येत इति मदीयो विश्वासः।

गोपराजु रामा

प्रवक्ता,
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद–२

———

पदमञ्जर्याः समालोचनम्—लेखक—डॉ० तीर्थराज त्रिपाठी । प्रकाशकः—भावना प्रकाशनम्, एच. ६/१४ मालवीयनगरम्, नव देलही—१७ । प्रथम संस्करणम्—१९८१, पृष्ठसंख्या – ३१ + २६८ = २८९ । मूल्यम् —७५ रूप्यकाणि ।

प्रातिशाख्येभ्यः आरभ्याधुनिकविविधसंस्कृतव्याकरणग्रन्थान् अवलोक्य संस्कृतभाषायाः व्याकरणस्य सुसमृद्धपरम्परा प्राचीनत्वं च सहजमेवानुमातुं शक्यते । अस्मिन् क्रमे भगवतः पाणिनेः सर्वथा वैज्ञानिकं परिपूर्णम् अष्टाध्यायीति नाम्ना जगति प्रसिद्धं व्याकरणं सर्वमपि व्याकरणान्तरमतिशेते इति नाविदितचरं सारस्वतसमाजे । अष्टाध्याय्याः व्याख्याप्रसंगे अध्ययनाध्यापनक्रमे च द्विविधः मार्गः अनुप्रियते । प्रथमे क्रमे पाणिनिसूत्राणां यथास्थितं सूत्रक्रममनुसृत्य व्याख्यानम् कृतम् व्याख्यातृभिः। द्वितीयः क्रमः प्रक्रियाक्रमः श्रीमतः रामचन्द्रस्य प्रक्रियाकौमुद्यां श्रीमतः भट्टोजिदीक्षितस्य वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां च स्पष्टमस्माकं दृष्टिपथमारोहति । अष्टाध्यायीक्रमानुसारं पाणिनिसूत्राणां परवर्तिव्याख्यातृषु सर्वोत्कृष्टौ व्याख्यातारौ श्रीमन्तौ जयादित्यवामनावभूताम् इति कथनं नायुक्तं न वा पक्षपातपूर्णं भवेत् । इयमेव व्याख्या काशिकावृत्ति इति नाम्ना सर्वत्र व्याकरणजगति प्रसिद्धा । काशिकावृत्तेः व्याख्याकारौ श्रीमन्तौ जिनेन्द्रबुद्धिहरदत्तौ । जिनेन्द्रविरचितः न्यासः हरदत्तविरचितपदमञ्जर्यपेक्षया प्राचीनः । त्रयोदशख्रिस्ताब्दे विद्यमानस्य श्रीमतः हरदत्ताचार्यस्य पदमञ्जरी व्याख्या अतीव प्रौढा पूर्णा चेत्यस्मिन् विषये नास्ति संशयलेशस्यावसरः ।

प्रस्तुत समीक्ष्यः "पदमञ्जर्याः पर्यालोचनम्" इत्ययं ग्रन्थः संस्कृतव्याकरणक्षेत्रे संस्कृतभाषायामेकः नूतनः उपहारः मूलतः दिल्लीविश्वविद्यालयीय पी-एच० डी० इत्युपाधिसम्पादनार्थं श्रीतीर्थराजत्रिपाठिना उपायनीकृतः । ग्रन्थस्य नवसु अध्यायेषु पर्यालोचितान् विषयान् अवलोक्य अत्र ग्रन्थे प्रतिपादितानां विषयाणाम् अवबोधः कर्तुं शक्यते । तथा हि—

प्रथमाध्याये—हरदत्ताचार्यस्याविर्भावः ।

द्वितीयेऽध्याये—संस्कृतव्याकरणे पदमञ्जर्याः स्थानं महत्वञ्च ।

तृतीयेऽध्याये—पदमञ्जर्यां पूर्ववर्तिनां वैयाकरणानां प्रभावः ।

चतुर्थेऽध्याये—परवर्तिव्याकरणग्रन्थेषु पदमञ्जर्याः प्रभावः ।

पंचमेऽध्याये—पदमञ्जर्याः प्रतिपादनशैली काशिकावृत्तिव्याख्याने चास्याः योगदानम् ।

षष्ठेऽध्याये—पदमञ्जर्याः संस्करणानि मातृकाग्रन्थानामितिवृत्तं च ।

सप्तमेऽध्याये—काशिकावृत्तेर्व्याख्यानानि ।

अष्टमेऽध्याये—न्यासपदमञ्जर्योः साम्यम् ।

नवमेऽध्याये—न्यासपदमञ्जर्योः वैषम्यम् । इति ।

इत्थं नवसु अध्यायेषु काशिकावृत्तिटीकायाः पदमञ्जर्याः समीचीनः प्रयासः विहितः श्रीमता त्रिपाठिनेत्यत्र न संशयः ।

ग्रन्थस्यारम्भे "द्विधाः शब्दाः" इति शीर्षके श्रीमतां चारुदेवशास्त्रिवर्याणां पृष्ठात्मकः अभिप्रायः, 'पुरोवाक्' इति शीर्षके ग्रन्थकर्तुः पृष्ठचतुष्टयात्मकं संस्कृतभाषामनं प्रास्ताविकं, ग्रन्थकर्तुः एव आंग्लभाषामयी पञ्चपृष्ठात्मिका भूमिका चास्य ग्रन्थस्य उपयोगित्वं वर्धयति ।

परिशिष्टे पदमञ्जर्याम् उद्धृतानां वाक्यपदीयगतश्लोकानाम् एकत्र संकलनं ग्रन्थकर्तुः गवेषणाकर्मणि विशिष्टमवधानं श्रद्धां च ख्यापयति । विषयेऽस्मिन् एतदवधेयं यत् इतः पूर्वमपि गवेषकैः पदमञ्जर्याम् उद्धृतानां वाक्यपदीयगतश्लोकानां संकलनम् आकारि । परन्तु मन्ये तत्र संकलने पदमञ्जर्यां स्थिताः सर्वेऽपि वाक्यपदीयगतश्लोकाः नान्तर्भाविताः । अत एव श्री त्रिपाठीमहाभागः पूर्वसंकलनापेक्षया कांश्चन अधिकान् वाक्यपदीयगतश्लोकान् पदमञ्जर्यामन्विष्य अत्र संकलने संयोजितवान् इत्येतदेवास्य परिशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् । अन्यथा एतत् परिशिष्टं पिष्टपेषणमेव भवेन्नाधिकं ततः ।

ग्रन्थस्यादौ पुरोवाचि ग्रन्थकारः "दशमे चोपसंहारात्मकेऽध्याये पूर्वपूर्वाध्यायविमृष्टानां वर्ण्यविषयाणां ससंग्रहावृत्तिरपि संक्षिप्य प्रतिपादिता" (पृ० Xii) इति लिखन् ग्रन्थेऽस्मिन् दशममप्यध्यायं प्रतिज्ञातवान् । परन्तु ग्रन्थेऽत्र "न्यासपदमञ्जर्योः वैषम्यम्" इति नामकः अन्तिमः अध्यायः नवम एव । नात्र ग्रन्थे दशमः अध्याय. अवलोक्यते । वस्तुतस्तु ग्रन्थेऽस्मिन् ग्रन्थकर्तुः स्वकीयं विशिष्टमवदानं स्पष्टमुपस्थापयितुं तादृशस्योपसंहारात्मकस्यैकस्याध्यायस्य आवश्यकतास्त्येव ।

सत्यपि समीचीने प्रयासे अस्मिन् ग्रन्थे अनेके मुद्रणदोषाः दृष्टिपथमायान्ति । यथा ९ पृष्ठे—२५ पङ्क्तौ—'अलन्कार', ५३ पृष्ठे, १४ पङ्क्तौ 'क्षत्रप्रतिहन्तुं' २३९ पृष्ठे २ पङ्क्तौ—मुद्धताः वाक्य पदीयताः, अत्रैव पृष्ठे—१२ पंङ्क्तौ—'गीता', १७ पङ्क्तौ 'शस्त' इत्यादयः । ग्रन्येऽपि मुद्रणदोषाः आगामिनि संस्करणे अपाकरिष्यन्ते इति आशासे ।

संस्कृतव्याकरणस्य प्रशस्ते विस्तृते क्षेत्रे सामान्यतः तुलनात्मकविषयपर्यालोचनपरस्य ग्रन्थस्याभावपूरकः श्रीत्रिपाठिमहाभागस्य अयं ग्रन्थः अभिनन्दनीयः । एतादृशस्य तुलनात्मकपर्यालोचनपरस्य ग्रन्थकल्पनस्य संस्कृतव्याकरणक्षेत्रे विद्यते महान् अवसरः । एतादृशग्रन्थलेखनार्थं लेखकः प्रकाशनार्थं प्रकाशकश्च धन्यवादार्हौ ।

राघव प्रसाद चौधरी

प्रवाचक,
श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
शास्त्रीनगर, जम्मू (तवी)-४

जैन संस्कृत महाकाव्य परम्परा और अभयदेव कृत जयन्तविजय— लेखक—डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी, प्रकाशक-साहित्य निकेतन, शिवालारोड, गिलिस बाजार, कानपुर २०८००१, प्रथम संस्करण मार्च १९८४; मूल्य रु० ९५.०० ।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय जैन संस्कृत महाकाव्यों, चरित नामान्त तथा इतर नामान्त महाकाव्यों की पुष्कल चर्चा प्रस्तुत करता है जो अपने आप में प्रस्तुत अध्ययन का बड़ा ही उपयोगी पक्ष है । द्वितीय अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक जयन्त महाकाव्य के महाकाव्यत्व, ऐतिहासिकता, रीति, गुण, अलंकार, छन्द, वर्णन प्रसंग, रस तथा आदान-प्रदान की विवेचना की गयी है ।

यह लेखक की अंशतः ही उद्भावना सही प्रतीत होती है कि जैन आचार्य अपने धर्म के तथा दर्शन के प्रचार के उद्देश्य से काव्यनिर्माण की ओर प्रवृत्त हुए । फलतः उन्होंने न केवल महाकाव्य, प्रत्युत संस्कृत में तिलकमञ्जरी, गद्यचिन्तामणि, यशस्तिलकचम्पू आदि कथात्मक ग्रन्थों और चम्पू काव्यों का भी निर्माण किया । यहाँ तक कि उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे । निःसन्देह जैन कवियों ने उन्हीं कथानकों का चयन किया जो उनकी धार्मिक पौराणिक परम्परा से प्राप्त होते थे और उनसे बहुत कुछ मेल खाते थे । किन्तु जैसा कि लेखक ने एक विद्वान् का मत उद्धृत किया है (पृ० ३) जिसके अनुसार यह कथन कि "जैनों को अपने मत एवं दर्शन को अभिजात वर्ग पर थोपने के लिए, साथ ही ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए संस्कृत को चुनना पड़ा" बहुत कुछ पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है । हो सकता है अनेक जैन कवि या आचार्य ऐसे हों किन्तु सर्वात्मना अपने विचारों को 'थोपने' के तथा ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं के खण्डन के लिए उन्होंने ऐसा किया हो यह सम्भव नहीं प्रतीत होता । यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो कालिदास के रघुवंश, कुमारसम्भव तथा अन्य महाकवियों के ग्रन्थ भी ब्राह्मण धर्म के प्रचार के उद्देश्य से लिखे गये कहे जा सकते हैं, जो सर्वथा ठीक नहीं है ।

लेखक ने जैन कवियों के काव्य-निर्माण सम्बन्धी मान्यताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । वास्तव में जैन कवियों द्वारा रचित चाहे महाकाव्य हो अथवा कथाकाव्य, हमें उनके आकलन के लिए हमारी प्रचलित मान्यताओं की भूमि से थोड़ा अलग होना होगा, अन्यथा हम उनके साथ न्याय नहीं कर सकेंगे । सबसे पहली बात जैन साहित्य के आकलन की यही है कि उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण वैदिक मान्यताओं के सर्वथा अनुकूल नहीं है । कहीं कहीं बाह्य सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति वे नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते से लगते हैं । फिर भी तप, त्याग और संयम के प्रति उनका उसी प्रकार का पक्षपात होता है जैसा किसी भी प्राचीन मर्यादावादी कवि का होता था ।

लेखक ने अपने अध्ययन में विश्लेषण की दृष्टि को अधिक प्रश्रय दिया है और अपनी विश्लेषणात्मक जागरूकता का कहीं परित्याग नहीं किया है। फलतः 'अध्ययन' पूर्णतया उपयोगी बन पड़ा है। प्रथम अध्याय जैन संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा के विवेचन की दृष्टि से एक उपादेय अध्याय है। इसके २७ महाकाव्यों के विषय में अपेक्षित चर्चा के पश्चात् अभयदेव के प्रस्तुत आलोच्य महाकाव्य का परिचय एवं कवि के काल-निर्धारण आदि का विवेचन है। तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न इस जैन संस्कृत कवि की रचना को अध्ययन का विषय बनाने के पीछे आलोचक का कोई विशेष अभिनिवेश लक्षित नहीं होता।

यद्यपि श्री त्रिपाठी भारतीय काव्यशास्त्रीय आलोचना की परम्परागत मान्यताओं से कुछ अलग होकर कहीं विचार करते प्रतीत नहीं होते तथापि 'अध्ययन' अपने मूल धरातल से कहीं असम्पृक्त नहीं हुआ है। अन्त में, हम इतना अवश्य कहेंगे कि संस्कृत के उद्धरण यत्र-तत्र त्रुटिपूर्ण हैं, जिनका अगले संस्करण में संशोधन होना चाहिए।

जगन्नाथ पाठक

प्रवाचक
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद

संस्कृत काव्यशास्त्रीय भावों का मनोवैज्ञानिक विवेचन—लेखक—डॉ० हरिदत्त शर्मा, प्रकाशक—चौखम्भा ओरियन्टालिया, पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२, गोकुलभवन, के ३७।१०९ गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–२२१००१, प्रथम संस्करण १९८३ ई०, पृ० सं० ३९१, मू० ५०·०० ।

प्रस्तुत आलोच्य शोध प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। भावों का विवेचन भारतीय साहित्य शास्त्र में रस सिद्धान्त के प्रकरण में, उसका अङ्गभूत होकर प्राप्त होता है। भावों के सम्बन्ध में लिखित डॉ० शर्मा का यह बृहत्काय शोधप्रबन्ध अपने विषय का 'विश्वकोश' कहा जा सकता है। इस अध्ययन की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसकी कुक्षि में पाश्चात्य जगत् के मनोवैज्ञानिक चिन्तन को भी संक्षिप्त रूप में समेटने का प्रयास किया गया है। ऐसा लगता है कि लेखक इस ग्रन्थ में अपने वक्तव्य के प्रति पद-पद पर जागरूक है और विषय की गरिमा के अनुरूप संकोच एवं विस्तार करता है। वह जितना ही भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों के प्रति निष्ठावान् है

उतना ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तकों के प्रति आस्थावान् है। दोनों पक्षों की तुलना में लेखक ने अपनी असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है।

एक ओर, जहाँ भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य भावों के विवेचन की उस गहराई तक जाने के लिए प्रयासशील नहीं प्रतीत होते वहाँ पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्र के चिन्तकों का विश्लेषण तलस्पर्शी हो चुका है, इसका कारण स्पष्ट है। भारतीय आचार्यों को भावों की मात्र सूचना देनी थी, और आज के पाश्चात्य विचारकों को उसी विषय पर शास्त्र का निर्माण करना है। फिर भी हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने बहुत कुछ गहरे उतर कर ही भावों की परिभाषायें दी हैं।

डॉ० शर्मा अपने 'अध्ययन' के माध्यम से दोनों प्रकार की सामग्री का व्यवस्थापन करते हैं और स्वयं जो निर्णय लेते हैं उसमें उनके अपने मौलिक चिन्तन की भी छाप अनुभूत होती है।

हम निःसंकोच कह सकते हैं कि प्रस्तुत 'अध्ययन' भारतीय साहित्य शास्त्र के प्रत्येक अध्येता के लिए संग्राह्य है। यह ग्रन्थ प्रत्येक भाव के सम्बन्ध में आगे होने वाले विश्लेषणात्मक 'अध्ययन' की दिशा को प्रशस्त करेगा और राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए एक गौरव ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत होगा।

जगन्नाथ पाठक

प्रवाचक
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद

गीता स्वरूप निर्णय—लेखक—डॉ० राजेन्द्र कुमार गर्ग, दर्शन विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ, उत्तर प्रदेश। प्रकाशक—पुनीत प्रकाशन, २६ दाल मण्डी, सदर बाजार, मेरठ कैण्ट। प्रथम संस्करण १९८४, पृ० ४८+२८८, साइज डबल डिमाई, मूल्य १५ रुपये।

भगवद्गीता भारतीय तत्त्व विद्या की निधि है। इसकी व्याख्या-परम्परा की धारा चिरकाल से निरन्तर प्रवाहित होती आ रही है। आचार्य शङ्कर, रामानुज तथा मधुसूदन सरस्वती प्रभृति प्राचीन विद्वानों ने, लोकमान्य तिलक, विनोवाभावे आदि आधुनिक चिन्तकों ने, ज्ञानेश्वर, नामदेव, चिन्मयानन्द आदि सन्तों ने, एक शब्द में, सभी भारतीय दार्शनिकों ने यथा मति गीता का व्याख्यान एवं प्रवचन कर अपने को

कृतार्थ किया है। इससे जीवन में प्रेरणा पाकर सफलता पायी है। न केवल भारत की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद एवं व्याख्यान मिलते हैं अपितु विदेशों में इसका प्रचार-प्रसार पर्याप्त हुआ है जो इसके सार्वदिक् आदर का सच्चा प्रमाण कहा जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ को भी इसी धारा का तरङ्ग कहा जाए तो अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

इस पुस्तक में प्राक्कथन एवं भूमिका के अतिरिक्त सात अध्यायों में प्रतिपाद्य विषय कहे गये हैं। प्रथम अध्याय में तथाकथित सच्ची गीता का चीरमर्दन, द्वितीय में सच्ची गीता के पक्षधरों का मान मर्दन, तृतीय में चोरी और सीनाजोरी अर्थात् पूर्व विषय के विरोध की पुष्टि हुई है। चतुर्थ में श्री कृष्णावतार की मीमांसा हुई है। पञ्चम अध्याय आत्म-निवेदनात्मक, षष्ठ उद्बोधनात्मक और सप्तम में राष्ट्र निर्माण की योजना बतायी गयी है।

चूंकि यह पुस्तक आर्य समाज की मान्यता के विरोध में लिखी गयी है अतः यह तीव्रतम एवं कटुतम प्रतिक्रिया से परिपूर्ण है। लिखते समय क्रोधवश लेखक असंयत हो गये हैं अतः परिशुद्ध तथा विशद होती हुई भी भाषा विशृङ्खलित, अशिष्ट एवं स्तरहीन है। प्रतिपाद्य बहुत उपादेय नहीं है, न श्रेयस्कर है, न प्रेयस्कर है। लेखक का वैदुष्यमूलक दम्भ, रूढ़िवादिता, हठधर्मिता तथा दुराग्रह लक्षित होते हैं।

इस प्रसंग में आचार्य उदयन की एक पंक्ति याद आती है—"चक्षुषी निमील्य त्वमेव परिभावय तावत् निःप्रामाणिकेऽर्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान्"। किसी समय भले ही किसी कारणवश इस तरह की रचना समादृत हुई हो, आज तो स्वतन्त्र भारत के प्रबुद्ध एवं तत्त्व जिज्ञासु साधक व्यर्थ के बकवास में समय गँवाने से विरत होकर तत्त्व-चिन्तन की ओर उन्मुख हैं तथा युक्तिसंगत श्रेयस्कर हृदयाह्लादक रचना की अपेक्षा करते हैं। उत्तेजनापूर्ण विचार को कम प्रश्रय देते हैं।

किशोर नाथ झा

प्रवाचक
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद

भाति मे भारतम्—डा० रमाकान्त शुक्लः, प्रकाशक—देववाणी परिषद्, दिल्ली ५९, संस्करण—प्रथम नवम्बर १९८०, पृष्ठ १०८।

काव्यमेतत् "भाति मे भारतम्" सरलायां सरससुबोधायां प्रसादमय्यां च भाषायामस्त्युपनिबद्धम्। अस्मिन् झटित्यवबोधाय श्लोकेषु संस्कृतातिरिक्तानां आंग्लादि-

भाषाणां प्रचलितपदानां संस्कृतीकृतरूपाणां प्रयोगो विहितः । अन्यासाम् भाषाणां प्रचलितपदानां संस्कृतीकृतरूपप्रयोगैरेभिः संस्कृतकाव्यरचनायां नूतनायाः विधायाः विकासः दृश्यते तथा च व्यावहारिक्याः संस्कृतभाषायाः समृद्धिः पुष्णाति । ललितं, गेयं, सरलं च संस्कृतच्छन्दः "स्रग्विणी" सम्पूर्णे काव्ये प्रयुक्तम् । इदं स्रग्विणी छन्दः लोकनाटकसंवादेषु हिन्दी भाषायाः "बहर तवीलेति" नाम्ना विशेषेणाभिप्रयुज्यते । छन्दसोऽस्य सर्वग्राह्यता कवेश्चास्य जनकवित्वं प्रसिध्यति ।

निखिलस्य भारतराष्ट्रस्य आत्मा वर्णितः । सम्पूर्णं काव्यं राष्ट्रप्रेम्णः देशप्रेम्णश्च भावनाभिः भावितम्, परवर्तिषु प्रेरणाप्रदं च वर्तते । लेखकोऽस्य परमप्रसिद्धस्य बंगकवेः बंकिमचन्द्रचटर्जी महोदयस्य "वन्दे मातरम्" इति काव्यस्य विस्तृतां व्याख्यां प्रास्तौदिहेत्यहं मन्ये । वैदिककालादेव प्रचलितायाः गौतमबुद्ध-महावीरस्वामि-महात्मागान्धिमहोदयैश्च प्रचारितायाः अक्षुण्णायाः अहिंसापरम्परायाः डिण्डिमघोषोऽप्यत्र विहितः । "वसुधैव कुटुम्बकमिति" "यत्र विश्वमेकनीडमिति" भारतीयस्य विश्वकवेः रवीन्द्रनाथटैगोरमहोदयस्य परिकल्पना चेह प्रतिपदमभिव्यज्यते, विश्वमानवसमाजस्य यस्मात् परिकल्पनास्ति स्वतः विश्वबन्धुत्वं विश्वकुटुम्बत्वं चेह प्रश्रयं लभेते ।

देशस्य वैविध्यवर्णनव्याजेन व्यक्तं राष्ट्रप्रेमानुसृता च

"अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

इति गर्वोक्तिः । देशस्यार्थिकी वैज्ञानिकी सांस्कृतिकी सामाजिक्यैतिहासिकी भौगोलिकी प्राकृतिकी च दशाः वर्णिताः याभिः नानाक्षेत्रेषु विविधशास्त्रीयशोधकर्मसामग्री समुपलभ्यते ।

भारतं विविधैः संस्कारैः नैकविधैः धर्मैः बहुप्रकारकैः सम्प्रदायैः बहुषु प्रान्तेषु विभक्तम् यस्यैकत्वमखण्डत्वं च कविः पश्यति प्रदर्शयति च । अतएवैकस्मिन्ननेकतानैकस्मिन्नेकता च वर्णिता भवति । भिन्नास्वपि वासपद्धतिषु मान्यतासु विविधेषु विश्वासेषु जलपानभोजनेषु आबालवृद्धानां व्यवहारेषु देशस्य अखण्डत्वं व्यक्तम् । संस्कृत-प्राकृत-तमिल-तेलुगू-कन्नड।केरली-बंगलांग्लभाषाश्च मातृभाषारूपेणेह परिगृहीताः । पुनः हिन्दीभाषोपभाषाक्षेत्रभाषाणां च वक्तारो विद्यन्ते एव । सन्त्यत्र मन्दिराणि, मसजिदः गिरिजागृहाणि, गुरुद्वाराः आर्यसमाजमन्दिराणि च यानि प्रेरयन्ति कर्मणां धर्माणां जीवनमर्मणां च ज्ञानाय प्रतिबोधनाय च । विश्वपूज्यास्य संस्कृतिः परमप्रसिद्धं चास्य दर्शनम् ।

वार्तमानिकमपि देशस्य वर्णितम् । प्रजातन्त्रादिकमेतेन परिपुष्टम् साहित्यं हि समाजस्य दर्पणमिति प्रसिद्धोक्तिः । विविधैः वैज्ञानिकैर्वर्णनैः देशस्योन्नतिः वर्णितात्र । देशस्य शक्तिरपि वर्णिता जाता । त्रिवर्णध्वजोऽपि काव्यस्य विषयः कवेः । देशस्य

परममहत्वं तस्य स्वाभिमानमस्ति यत्र नग्नेऽपि बुभुक्षितेऽपि अगेहेऽपि स्वमानं न त्यजन्ति मानवाः ।

कविः देशं प्रति निष्ठायुक्तः । काव्याध्ययनेनास्य कवेः बहुमुख्यः प्रतिभायाः ज्ञानं भवति । देशस्य प्रतिकोणानां सम्यगनुभूतिः । कवेः शरीरं, मनः, वचनानि, कर्माणि च सर्वाणि स्वदेशमेव । तद् भावभावितो भूत्वा गीतकानि गीतानि, अस्मादेव काव्ये वर्णनेषु क्रमाणामपेक्षा परिलक्ष्यते । काव्ये कवेः देशं प्रति भावानुरागोत्कर्ष व्यक्तं अतएव वसुन्धरादारभ्याकाशं यावत् भारतीयक्रियाकलापानां सौन्दर्येण नैपुण्येन, रोचकं स्तोत्रबद्धं काव्यमकरोत् कविरित्यहं मन्ये । अतएव काव्यं अभिनन्द्यं, स्तुत्यं सहृदयानांमावर्जकं च । किं बहुना इमे श्लोकाः स्तथा रसमाधुर्येण सिक्ताः यत् देशप्रेमप्रेरकास्तु सन्त्येव, गेयाः सभासु गोष्ठीषु वीथिषु, उत्सवेषु, पर्वसु, युद्धभूमिषु, अरण्येषु च आबालवृद्धयुवकैः ।

पुस्तकमिदं सुन्दरं । मुद्रणं शुद्धं स्पष्टं च । श्लोकाना मनुवादः कविना स्वयमेव कृतोऽस्मात् अवबोधने सारल्यं जातमेव । काव्यस्य च पूर्णता जाता । कलेवरं युक्ति-युक्तं बन्धनं काव्यपृष्ठानि च समीचीनानि । पृष्ठेषु भारतदेशस्य मानचित्रम् चित्रितम् यत् तदावर्जकमस्ति ।

कृष्णचन्द्र त्रिपाठी

गङ्गानाथझा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद

———

OBITUARY

SIVARAMAMURTI : A PIONEER OF INDIAN ART

Sivaramamurti was one of the great exponents of Indology in the world. He may be regarded as one of the modern Vivekānandas who glorified the Indian past in the realm of art not only in our own country but also abroad.

Sivaramamurti's father was a great scholar of Sanskrit. Sivaramamurti inherited from his father his love of Sanskrit classical literature. He made a special study of the Sanskrit classics, especially the works of Kālidāsa and thus developed in himself a deeper understanding of Sanskrit literature. He had a keen insight for observation of the art-panels and he had explained their inner meaning conceived by the sculptor. In this way, he followed the path shown by Dr. A. K. Coomaraswamy, Dr. Stella Kramrisch, Dr. Motichandra and Dr. V. S. Agrawala, and the result of his efforts was seen in his pioneering work, *Sanskrit Literature & Art : The Mirror of Indian Culture,* published in the Memoires of the Archaeological Survey of India, No. 73 of 1955.

The scholar and art critic in Sivaramamurti was recognised as early as in 1942 when he published, for the first time, the cultural wealth of the Amarāvatī sculptures housed in the Madras Government Museum, Madras. This

work of Sivaramamurti earned him a great applause and he was promoted from the post of curator in the Madras Government Museum to that of the Director, National Museum, New Delhi where he produced dozens of his scholarly works till his retirement. Sivaramamurti was not only a Sanskrit *pandita* and an art critic but also a good artist. Many of his works on Indian art contain fine illustrations of various sculptures, which were drawn by himself.

Sivaramamurti had a magic in his speech. His style and language full of literary touch was fascinating and for this reason he was invited from each and every corner of the world to deliver his lucid lectures on Indian art and culture. He was a member of many committees associated with Indian and foreign museums and he remained quite busy till the end of his life. He was taking part in the deliberations of a purchase committee when he breathed his last and passed away.

Sivaramamurti has to his credit a number of art-books published not only in English but also in some other Indian and foreign languages. Some of his reputed writings are : *Amarāvatī Sculptures in the Madras Government Museum, Madras* (1942) ; *Sanskrit Literature & Art : Mirrors of Indian Culture* (1955) ; *Indian Sculpture* (1961) ; *5000 Years of the Art of India, Indian Painting* (1970) ; *The Art of India* (1971) ; *Naṭarāja in Art, Thought & Literature* (1974) ; *Rāmo Vigrahavān Dharmaḥ, Lakṣmī in Indian Art & Thought* (1982), etc. Besides, hundreds of his research papers were published in Indian and foreign journals. In post-Independence India, no art-work was regarded complete without the contribution of Sivaramamurti. He contributed a lot on Indian art and culture for our present and

future generations. His works will prove a beacon light to the students of Indian art and culture.

Sivaramamurti was not only a great scholar of art and literature but also a great man. Though a giant among scholars he was quite simple in his life. In him there was a rare combination of erudite knowledge, clear conception, simplicity and humility.

Sivaramamurti justified his name by contributing very noble works on Lords Śiva and Rāma. The works produced by Sivaramamurti will make him immortal in the realms of art and literature. He was a pioneer in Indian art.

A. L. Srivastava

136, *Tularambagh,*
Allahabad.

OUR CONTRIBUTORS

1. AVASTHI, SHIVA SHANKAR—

Retired Reader, Deptt. of Sanskrit, University of Gorakhpur, Bilandpur, Gorakhpur—273001.

2. BAJPAI, K. D.—

Visiting Professor, Saugar University, 25, Padmakar Nagar, Makaronia, Saugar—470004.

3. BHATTACHARYA, MANUDEVA—

Goyanka Sanskrit Mahavidyalaya, Varanasi.

4. CHATURVEDI, ARCHANA—

Research Assistant, Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Allahabad.

5. CHATURVEDI, BRAJ MOHAN—

Deptt. of Sanskrit, University of Delhi, Delhi.

[Residence—272, M. M. S. Birla Hall, Moti Mahal, Lucknow.]

6. CHATURVEDI, G. L.—

Lecturer, Deptt. of Sanskrit, Lucknow University, Lucknow.

DASS, AYODHYA CHANDRA—

Deptt. of Sanskrit, Kurukshetra University, Kurukshetra—132119.

DURGA PRASAD—

Deptt. of Sanskrit, University of Allahabad, Allahabad.

9. DWIVEDI, SHANKAR DAYAL—

Deptt. of Sanskrit, University of Allahabad, Allahabad.

10. GOODFRIEND, DOUGLAS E.—

175, West, 76 Street, Apt. 2-D, New York—10023, U.S.A.

11. HERMAN, A. L.—

Professor, Deptt. of Philosophy, University of Wisconsin, Stevens Point, Wisconsin—54481.

12. JHA, NARESH—

Principal, Adarsh Rani Chandravati Shyama Mahavidyalaya, Kachauri Gali, Varanasi.

13. JHA, RAMAKANTA—

Head, Deptt. of Sanskrit, Raja Harpal Singh Mahavidyalaya, Singra Mau, Jaunpur (U.P.).

14. KALA, JAYANTIKA—

C/o Dr. S. C. Kala, 63-E, Stanley Road, Allahabad.

15. KRISHANA, Y.—

D-12, Anand Niketan, New Delhi—110021.

16. LELE, VAMAN KRISHNA—

B-27/62 D-1A, Durga Kunda Road, Varanasi—221005.

17. MISHRA, DEVI PRASAD—

20-D, Beli Road, Naya Katra, Allahabad—211002.

18. MISRA, SATYA SWARUP—

Head, Deptt. of Linguistics, Banaras Hindu University, Varanasi—221005.

[Residence—B 1/4 A/1, Ravindrapuri Extn., Varanasi.]

19. MISRA, SRINARAYANA—

Reader, Deptt. of Sanskrit & Pali, Banaras Hindu University, Varanasi.

20. MITRA, ABHAY—

1143, Old Katra, Allahabad—211002.

21. MOGHE, S. G.—

Lecturer in Sanskrit, Post Graduate Teacher, Govt. Arts & Science College. Aurangabad (Marathawada).

[Residence—74-B, Tatya Gharpure Path, J. S. S. Road, Bombay—400004.]

22. MONE, NEELIMA N.—

Centre of Advanced Studies in Sanskrit, University of Poona—411007.

23. MUKERJEE, SANDHYA—

Reader, Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Arch., University of Allahabad, Allahabad.

[Residence—5, Auckland Road, Allahabad.]

24. MURTI, G. SURYANARAYANA—

Deptt. of Sanskrit, Andhra University, Waltair.

25. MUSALGAONKER, GAJANAN SHASTRI—

D-14/42, Tedhi Neem, Dashasvamedha Ghat, Varanasi.

26. OJHA, A. P.–

Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, University of Allahabad, Allahabad.

27. PANDEY, MURLI DHAR–

Principal, Shri Ranbir Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, 256-A, Shastri Nagar, Jammu Tavi.

28. PANDEY, REWATI RAMAN–

Reader, Deptt. of Philosophy, Banaras Hindu University, Varanasi–221005.

29. PANDEY, SHAMBHU NATH–

Banaras Hindu University, Varanasi.

30. ROY, ANAMIKA–

Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, University of Allahabad, Allahabad.

31. SHARMA, DEBA BRATA SEN–

Reader, Deptt. of Sanskrit, Pali and Prakrit D-2, University Campus, Kurukshetra University, Kurukshetra–132119.

32. SHARMA, D. D.–

Prof. of Sanskrit & Prakrit, Panjab University, E-53, Sector-14, Chandigarh–160014.

33. SHARMA, DEO PRAKASH–

23, Church Lane, Allen Ganj, Allahabad–211002.

34. SHARMA, KAMALANAYANA–

Lecturer, Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Allahabad.

35. SHARMA, KRISHNA KANTA–

Deptt. of Music, Banaras Hindu University, Varanasi–221005.

36. SHARMA, SUMAN–

Deptt. of Sanskrit, University of Delhi, Delhi.

[Residence–363, Kucha Ghasi Ram, Chandani Chowk, Delhi–6.]

37. SHASTRI, DAMODAR–

Deptt. of Jainism, Lal Bahadur Shastri Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Katvaria Sarai, New Delhi–16.

38. SHUKLA, TRIBHUVAN NATHA–

Lecturer, Deptt. of Hindi and Linguistics, Jabalpur University, Jabalpur.

39. SINGH, HARI SAHAI–

Deptt. of Ancient History, Culture & Archaeology, Allahabad University, Allahabad.

40. SINGH, MAAN–

Prof. and Head, Deptt. of Sanskrit, Gurukul Kangri Vishvavidyalaya, Haridwar–249404.

41. SINGH, TAHSILDAR–

Accounts Officer, U. P. Higher Education Service Commission, 29/1, Nyaya Marg, Allahabad–211001.

[C/o Shri Brahmananda Singh, Grām–Bahuchara, P. O.–Bahuchara, Dist.–Pratapgarh (U.P.).]

42. SINHA, ATUL KUMAR—

Deptt. of Ancient Hist., Cult. & Arch., University of Allahabad.

43. SRIVASTAVA, A. L.—

136, Tularam Bagh, Allahabad.

44. SRIVASTAVA, SURESH CHANDRA—

Head, Deptt. of Sanskrit, University of Allahabad, Allahabad.

[Residence—37/2, Baghambari Road, Daraganj, Allahabad.]

45. TIWARI, RAMA SHANKAR—

177, Mughal Pura, (20, Lakshman Puri Colony), Faizabad—224001.

46. TRIPATHI 'VAGISH SHASṬRI', BHAGIRAṬHA PRASAD—

Director, Research Institute, Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi—221002.

47. TRIPATHI, GAYA CHARAN—

Principal, Ganga Nath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Allahabad.

48. TRIPATHI, HARIHARA NAṬH—

Deptt. of Politics, Banaras Hindu University, Varanasi.

49. TRIPATHI, RAMA SHANKAR—

Banaras Hindu University, Varanasi.

50. TRIVEDI, PRAMOD KUMAR—

Archaeological Survey of India, Utkhanana Shakha-2, Purana Kila, New Delhi—110003.

51. WAKANKAR, SIDDHARTHA Y.—

Research Officer, Oriental Institute, M. S. University, Baroda—390002, (Guj.).